5.5

कघर-मनीगाछी,
ा।

र में, बी. ए.
लय से, दो वर्षों

विश्वविद्यालय,
भारतीय एवं
: पर।
ारत युगोस्लाव
गोस्लाविया के
ार व्याख्यान,
जर्मनी और
क व्याख्यान
म एशियायी
पढ़ा जिसकी

अधिवेशन में
पर अकबर
ीय इतिहास
बन्धी चतुर्थ
।
) History
uddhism
ints and
t Indian
Homicide
k Bharat
dhubani

पत्र भारत
व्यक्तियों
की है।

॥ श्रीः ॥

जयकृष्णदास-हरिदास गुप्त—नहीं
जह्नवकुँवर राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१७

प्राचीन भारत

द्वितीय खण्ड

(३२१ ई० से १२०६ ई० तक)

लेखक

डॉ० उपेन्द्र ठाकुर

एम. ए., डी. फिल. (कलकत्ता),

प्राध्यापक एवं अध्यक्ष

प्राचीन भारतीय एवं एशियायी अध्ययन विभाग,

मगध विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार)

एवं

डॉ० महेश कुमार शरण

एम. ए. (द्वय), पीएच. डी., डी. लिट्., डी. आर. एस.,

रीडर एवं अध्यक्ष

प्राचीन भारतीय एवं एशियायी अध्ययन विभाग,

गया कॉलेज, गया (बिहार)

(मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)



चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं विक्रेता

वाराणसी दिल्ली

प्रकाशक
चौखम्भा ओरियन्टालिया
पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२
गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
टेलीफोन : ६३३५४ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

शाखा—बंगलो रोड, ९ यू० बी० जवाहर नगर
दिल्ली-११०००७ फोन : २२१६१७

प्रथम संस्करण : १९८२
मूल्य : रु० ४०-००

अन्य प्राप्तिस्थान :

१. चौखम्भा संस्कृत संस्थान
पो० बाक्स नं० १३९
जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६५८८९

२. चौखम्भा विश्वभारती
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६५४४४

३. चौखम्भा भारती अकादमी
आकर ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक
गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६३३५४

मुद्रक—श्रीगोकुल मुद्रणालय, वाराणसी

JADAUKUNWAR RASTRABHASHA SERIES
No. 17

PRĀCĪNA BHĀRATA

Vol. II

(From 321 A. D. to 1206 A. D.)

By

Dr. UPENDRA THAKUR

M, A., D. Phil. (Calcutta),

Professor and Head

Department of Ancient Indian & Asian Studies,

Magadh University, Bodh-Gaya (Bihar)

and

Dr. MAHESH KUMAR SHARAN

M. A. (A. I. A. S.), M. A. (Hist.), Ph. D., D, Litt., D. R. S.

Reader and Head

Department of Ancient Indian & Asian Studies,

Gaya College, Gaya, (Magadh University)

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

A House of Oriental and Antiquarian Books

VARANASI **DELHI**

Publisher :

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32
Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (India)
Telephone : 63354 Telegram : Gokulotsav

Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar
DELHI-110007 Phone : 221617

First Edition 1982
Price Rs. 40-00

Also can be had of :

1. **CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN**
   Post Box No. 139
   Jadau Bhawan, K. 37/116
   Gopal Mandir Lane
   VARANASI-221001 (India)
   Phone : 65889

2. **CHAUKHAMBHA VISVABHARATI**
   Chowk (Opposite Chitra Cinema)
   VARANASI-221001
   Phone : 65444

3. **CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY**
   Gokul Bhawan, K. 37/109
   Gopal Mandir Lane
   VARANASI-221001 (India)
   Phone : 63354

भूमिका

'प्राचीन भारत' द्वितीय खण्ड पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुये हमें अपार हर्ष हो रहा है। हमने इसे विद्यार्थियों की हर आवश्यकता की पूर्ति को ध्यान में रखकर सरल भाषा में रखने का प्रयास किया है। विषय को सरल और सुबोध बनाने के साथ-साथ सरल शैली में प्राचीन भारतीय इतिहास के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन प्रस्तुत करना पुस्तक का मुख्य ध्येय रहा है।

हम जानते हैं कि प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति एक विकास शील विषय है। नये स्रोतों की प्राप्ति तथा शोधों से इसका स्वरूप बराबर निखरता रहा है। इस पुस्तक में प्राचीन भारतीय इतिहास के राजनीतिक् एवं सांस्कृतिक स्वरूप को, प्राप्त सभी साक्ष्यों, आधुनिकतम शोधो एवं अनुसंधानो के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पुस्तक के बीच-बीच में मानचित्रो को आवश्यक स्थानों पर दिया गया है जिससे छात्र राज्य-विस्तार तथा तत्कालीन राजनीतिक अवस्था को सरलता से समझ सकें। प्राचीन भारतीय इतिहास पर विश्वविद्यालय की परीक्षाओ के लिये हिन्दी में संतुलित प्रामाणिक पुस्तकों की कड़ी में प्रस्तुत ग्रन्थ को एक और नयी कड़ी के रूप में रखने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक को हमने दो खण्डो में प्रकाशित किया है। प्रथम खण्ड सन् १९७९ में ही प्रकाशित हुआ जिसमें ९ अध्याय हैं तथा भारतीय इतिहास का सामान्य निरीक्षण से लेकर पूर्वगुप्तकालीग भारत तक का इसमें समावेश है। आदि काल से लेकर कुषाणकालीन भारत के लिये समस्त उलझी हुयी समस्याओं एवं शंकाओं, मत-मतान्तर आदि पर जितना सम्यक् प्रकाश इस पुस्तक में डाला गया है, उतना निश्चय ही अबतक प्रकाशित किसी भी हिन्दी ग्रन्थ में प्राप्त नहीं है। द्वितीय खण्ड में हमने गुप्त काल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास को प्रस्तुत किया है। इसके साथ-साथ भारत में मुसलमानों का आक्रमण और विदेशों में भारतीय संस्कृति का विस्तार

जैसे महत्वपूर्ण अध्याय भी हैं जिनके अध्ययन से हमें तत्कालीन राजनीतिक अवस्था के साथ-साथ समाज, धर्म, साहित्य, कला और अर्थ आदि की विशेष जानकारी मिलती है। इन प्रयासों का उद्देश्य प्राचीन भारतीय इतिहास को सन्तुलित और सर्वाङ्गीन रूप में पाठकों के समक्ष रखना है। सामान्य रूप से विद्यार्थियों के साथ-साथ प्रबुद्ध हिन्दी भाषी जनता को इस ग्रन्थ से प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास को जानने में भरपूर सहायता मिलेगी।

हम उन सभी प्राचीन तथा आधुनिक विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करते हैं जिनकी बहुमूल्य कृतियों से इस ग्रन्थ की रचना में सहायता ली गयी है। साथ ही इस ग्रन्थ के प्रणयन तथा प्रकाशन में हमें कई व्यक्तियों से बहुमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है—हम उन सबों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी के अधिकारी धन्यवाद के पात्र हैं जिनकी लगन तथा तत्परता से इस पुस्तक का प्रकाशन संभव हो सका है।

सम्भव है, पुस्तक में कुछ त्रुटियाँ रह गयी हो। इस सम्बन्ध में हमें जो भी सुझाव मिलेंगे, हम, उन्हें धन्यवाद स्वीकार करेंगे तथा आगामी संस्करण में उन सुझावों का समावेश भी करेंगे। आशा है 'प्राचीन भारत'-प्रथम खण्ड के समान ही इस द्वितीय खण्ड का विद्वानों और पाठकों द्वारा आदर होगा।

बोधगया
श्रीरामनवमी
दिनांक २-४-१९८२

उपेन्द्र ठाकुर
महेश कुमार शरण

विषय सूची

(३२० ई० से १२०६ ई० तक)

अध्याय १

अध्याय २

अध्याय ३

अध्याय ४

अध्याय ५

अध्याय ६

अध्याय ७

अध्याय ८

अध्याय ९



प्राचीन भारत

(द्वितीय खण्ड)

गुप्तकालीन भारत वर्ष

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का राज्य

समुद्रगुप्त की दक्षिण विजय-यात्रा

चीनी यात्री फाहियान का मार्ग

अध्याय १

गुप्तकालीन भारत

मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद लगभग पाँच सौ वर्षों तक भारतीय राजनैतिक एकता प्रायः छिन्न-भिन्न हो गयी थी। देश अनेक राजतान्त्रिक और गणतांत्रिक राज्यों के रूप में विघटित हो गया। विदेशी यवन, शक, पह्लवों ने उत्तर-पश्चिम भारत पर अपने-अपने राज्य स्थापित कर लिये। कुछ काल के लिये मध्यदेश में शुङ्ग-कण्व राजवंशों ने किसी हद तक राजनैतिक स्थिरता कायम की। पर, पहली शताब्दी में कुषाणों ने अपना साम्राज्य काश्मीर से बनारस या पाटलिपुत्र तक स्थापित कर लिया। यद्यपि कुषाणों ने इस क्षेत्र में सबसे अधिक सफलता प्राप्त की पर उनकी प्रभुता न तो पूरे उत्तर भारत में, और न तो दक्षिण के किसी भाग पर सर्वमान्य हुयी। उत्तर पश्चिम तथा मध्य भारत में अनेक छोटे-छोटे गणराज्यों ने विदेशी प्रभुता के विरोध में झण्डा खड़ा किया तथा छोटे-छोटे स्वाधीन गणराज्य स्थापित हुये जिसका वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। गंगा-यमुना की घाटियों में अनेक नाग राज्य स्थापित हुए। इस तरह देखा जाये तो तीसरी-चौथी शताब्दी में भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट चुका था।

उत्तर पश्चिम से होने वाले आक्रमणों से ऊबकर भारतीय जनता ने एक ऐसे शक्तिशाली शासन की आवश्यकता का अनुभव किया जो इस उत्पात को रोकने में समर्थ हो सके। मध्यदेश के पश्चिमी भाग में नाग अथवा भारशिव, दक्षिण में वाकाटक नरेश तथा पूर्व में गुप्तों का उदय हुआ जिन्होंने अपने संघटित प्रयत्नों से भारत स्थित कुषाण-साम्राज्य को मिट्टी में मिला दिया। पिछले अध्याय में हमने नाग अथवा भारशिव तथा वाकाटकों के विषय में विस्तृत प्रकाश डाला है। गुप्तों की शक्ति उत्तर प्रदेश के एक कोने से छोटे से राज्य के रूप में प्रकट हुयी जिन्हें अपने काल की सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ तथा गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के साम्राज्य के अन्तर्गत विन्ध्य के उत्तर का सारा भू-प्रदेश शामिल था तथा दक्षिण पर भी उन्होंने अपना प्रभाव डाल रखा था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने बचे खुचे शक राज्यों को समाप्त कर देश को विदेशी चंगुल से बचाया। कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त ने विदेशी बर्बर हूणों से देश की रक्षा की।[1]

---

१. देखिये—डॉ० उपेन्द्र ठाकुर, हूणाज इन इन्डिया, वाराणसी, १९६८।

इन गुप्त राजाओं के समय में देश में चारों ओर उत्साह की लहर व्याप्त थी। गुप्तवंशों के दो सौ वर्षों के शासन में भारतीय हिन्दू-साम्राज्य की परम्परा अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। शिक्षा और साहित्य, ललित कला स्थापत्य कला, धर्म, विज्ञान वणिज-व्यापार और औपनिवेशीकरण की दृष्टि से यह काल भारतीय इतिहास में बहुत ही महत्त्व का है। गुप्तवंशी राजाओं को अपने पूर्व के साम्राज्यों की प्रशासनिक पद्धति का लाभ प्राप्त हो सका था। राजनैतिक एकता के साथ-साथ सांस्कृतिक प्रौढ़ता और वैज्ञानिक विकास की चतुर्मुखी आभा से देश देदीप्यमान था।

गुप्त इतिहास के अध्ययन के लिए उत्कीर्णलेख सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए अभिलेख सबसे अधिक महत्त्व के सिद्ध हुये हैं। अबतक बयालीस ऐसे अभिलेख मिले हैं जिनका सम्बन्ध गुप्तवंशीय राजाओं और उनके समय का है। ये अभिलेख पत्थरों के चट्टानों, शिला-फलकों, स्तम्भों तथा मूर्त्ति आसनों पर हैं। लौहस्तम्भ तथा ताम्रपत्रों पर भी इन राजाओं की प्रशस्तियाँ हैं। मिट्टी की भी मुहरें पर्याप्त मात्रा में वैशाली में मिली हैं। इनके लेखों से राजा की वंशावली, दानशीलता, राजनीतिक निपुणता तथा उनकी कुशलता का भी वर्णन हो जाता है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर भी विस्तृत प्रकाश पड़ता है। उनके साम्राज्य-विस्तार का ज्ञान हमें उनके लेखों और उनकी प्राप्ति-स्थानों से लगता है। तिथि-निर्धारण में भी उनके लेख हमें काफी सहायता प्रदान करते हैं। प्रयाग—प्रशस्ति तथा मन्दसोर अभिलेख संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि है।

उत्कीर्ण लेखों की ही भाँति मुद्रा का भी गुप्त-इतिहास के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुप्तों ने सोने के सिक्कों को चलाया। उनके सिक्कों से उस समय का साज-शृङ्गार, वेश-भूषा, रहन-सहन, व्यक्तित्व, धार्मिक विचार, दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं का परिचय हमें मिलता है। उन्होंने अश्वमेघ सिक्के चलाये जिनसे हमें अश्वमेध यज्ञ के विषय में ज्ञान मिलता है। उनके चाँदी के सिक्के शक क्षत्रप शैली के हैं जिससे यह तथ्य साफ-साफ मिलता है कि उन्होंने मालवा तथा गुजरात के क्षत्रपों को हराया था और वहाँ पर अपनी प्रभुता कायम की थी। इसके साथ ही इनके सिक्कों पर कुषाणों के भी सिक्कों की नकल मिलती है। सोने के सिक्कों के अनुपात में चाँदी के सिक्के कम मिले हैं। ताँबें के सिक्के अत्यल्प मात्रा में पाये गये हैं तथा वे कुछ ही शासकों के हैं।

गुप्तों के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली साहित्यिक सामग्री अनेक देशी विदेशी ग्रन्थों में पायी जाती है। साहित्यिक दृष्टिकोण से यह काल निस्सन्देह स्वर्णयुग

कहला सकता है क्योंकि संस्कृत साहित्य का काफी विकास हो पाया था। पुराणों में 'ब्रह्माण्ड', 'वायु' तथा 'विष्णु पुराण' प्रमुख हैं जिनमें गुप्तों से सम्बन्ध रखने वाली काफी बातें मिलती हैं। 'भविष्योत्तर पुराण' तो गुप्त वंश के इतिहास के अध्ययन का प्रमुख साधन ही माना गया है। इस पुराण के माध्यम से हमें गुप्तों के पूर्व की राजनैतिक अवस्था का पता तो चलता ही है, साथ ही गुप्तों के आरम्भिक शासकों पर काफी प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार हमें मगध का आन्ध्र शासक चन्द्रश्री घटोत्कचगुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम के विषय में जानकारी मिलती है। ऐसा माना जाता है कि दोनों की पत्नियाँ लिच्छवी राजकुमारियाँ थीं। सेनापति के रूप में चन्द्रगुप्त प्रतिष्ठित हुआ और वाद में अपनी साली के बहकाने पर उसने चन्द्रश्री की हत्या कर दिया और खुद मगध की गद्दी पर बैठ गया। इसके साथ ही पुलोप जो उसकी साली का लड़का था, उसने हत्या कर दी। यह चन्द्रश्री, चन्द्रश्री शातकर्णि वशिष्ठपुत्र के नाम से भी जाना जाता है।

इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक नाटक जैसे—वज्जिका रचित कौमुदी-महोत्सव एवं विशाखदत्त रचित देवीचन्द्रगुप्तम् का भी गुप्तों के इतिहास के सम्वन्ध में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक संस्कृत नाटकों, काव्यों और अन्य साहित्यिक रचनाओं की प्रस्तावनाओं, भरत-वाक्यों आदि में गुप्त शासकों के उल्लेख होने की बात कही जाती है। कालिदास की रचनाएँ, कामन्दकीय नीतिसार, कथासरित्सागर एवं चन्द्रगर्भपरिपृच्छा में वर्णित कहानियों और अनुश्रुतियों में गुप्तों के प्रच्छन्न उल्लेख होने का अनुमान किया जाता है। मुद्राराक्षस, मंजुश्रीमूलकल्प, कामसूत्र तथा परमार्थकृत वसुबन्धु का जीवन-वृतान्त भी गुप्त इतिहास के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक साधन हैं।

विदेशी यात्रियों का वर्णन भी उपर्युक्त साधनों को पुष्ट करता है। इस प्रसंग में प्रायः निम्नलिखित विदेशी साहित्यिक सूत्रों का उल्लेख किया जा सकता है जिनमें अबुल हसन अली कृत मजमलुत-तवारीख, अल-बरूनी वृतान्त एवं वांग-ह्यू न-त्से, फाह्यान, ह्वेनसांग और इत्सिंग नामक चीनियों का वर्णन उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन विभिन्न साधनों के वैज्ञानिक अध्ययन से ही हम गुप्त-साम्राज्य के इतिहास का सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत कर सकते हैं।

वंश परिचय तथा इनकी जाति—गुप्त राजाओं ने अपने प्रसिद्ध उत्कीर्ण लेखों में अपने वंश, सामाजिक पद, वर्ण या जाति आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है। अतः यह अब तक निर्णय नहीं हो पाया है कि वे कहाँ के थे और कैसे उनकी उत्पत्ति हुयी। इसलिये उनकी उत्पत्ति का इतिहास बहुत कुछ अन्धकारमय है। उनके नाम के अन्त में गुप्त से बहुत से इतिहासकारों ने ऐसा अनुमान लगाया

है कि गुप्त वंश वैश्य वर्ण का था।[1] इस अनुमान के विरुद्ध दो आपत्तियाँ हैं। पहला, गुप्त उपाधि नहीं, नामान्त है और प्रायः सभी नामों के अन्त में गुप्त आने से सुविधा के लिए इसे गुप्त वंश मान लिया गया है। दूसरे, प्रयोग में उपर्युक्त उपाधियाँ ठीक तरह से काम में नहीं आतीं। इतिहास में हम ऐसा भी पाते हैं कि बहुत से ब्राह्मणों के नाम भी ब्रह्मगुप्त, विष्णुगुप्त, देवभूति, भवभूति आदि पाये जाते हैं। प्राचीन मध्यप्रदेश में दक्षिश कोसल के राजा शिवगुप्त की सीरपुर प्रशस्ति में उसे सोम (चन्द्र) वंशी कहा गया है।[2] इसके आधार पर कुछ विद्वानों का यह मत है कि गुप्त क्षत्रिय थे। क्षत्रिय राजवंशों के साथ गुप्तों के विवाह सम्बन्ध से भी यही अनुमान किया जाता है।

के० पी० जायसवाल ने गुप्तों को शूद्र कहा है। उनका कहना है कि वे मूलतः जाट थे जो पीछे सुसंस्कृत होकर उच्च कोटि के क्षत्रिय हो गये। जायसवाल ने अपने मत के प्रतिपादन के लिए कौमुदीमहोत्सव का सहारा लिया है जिसमें चण्डसेन को कारस्कर कहा गया है तथा इसी आधार पर गुप्तों को शुद्र कहा है।[3] पर इनका मत सर्वमान्य नहीं हो सका। मंजुश्रीमूलकल्प में गुप्तों को कहीं क्षत्रिय और कहीं वैश्य कहा गया है। इनका विवाह-सम्बन्ध क्षत्रिय नागों, लिच्छवियों और ब्राह्मण कदम्बों तथा वाकाटकों के साथ होता था। पर विवाह अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार के हुआ करते थे जिससे वर्ण का ठीक पता नहीं लग सकता। प्रभावती गुप्त (चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की पुत्री) ने पूना ताम्रपट्ट में अपने को 'धारण' गोत्र का बतलाया है। वाकाटकों का गोत्र विष्णु वृद्ध था। अतः 'धारण' अवश्य ही गुप्तों का गोत्र था। इसकी पुष्टि हमें अग्निपुराण से मिलती है जिसके अनुसार 'धारण' गोत्र ब्राह्मणों का था। डॉ० राजवली पाण्डेय ने ऐसा अंदाज लगाया है कि शुंगों की परम्परा में ही गुप्त भी ब्राह्मण-वंशी थे तथा इससे अनुमान दिया जा सकता है कि अपने शासन काल में गुप्त क्षत्रिय ही माने जाते थे।[4] कदम्ब (ब्राह्मण) वंश के साथ अनुलोम विवाह के आधार भी माना जा सकता है। शुंग, सातवाहन और कुषाण-काल के लेखों में गुप्त नामान्त अधिकारियों के नाम पाये जाते हैं। संभव है इन परिवारों से गुप्त वंश की उत्पत्ति हुई हो, पर इससे उनके सामाजिक वर्ण का पता नहीं लगता है।

---

१. शर्मा देवश्च विप्रस्य वर्मा त्राता च भूभुजः।
भूतिर्गुप्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत्॥
२. एपिग्राफिया इन्डिका, खण्ड—२३।
३. हिस्ट्री ऑव इण्डिया।
४. प्राचीन भारत, वाराणसी, १९६८, पृ० २५४।

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार गुप्त लोग क्षत्रिय थे। उन्होंने मगध-शासक सुन्दरवर्मन को भी क्षत्रिय कहा है तथा इसी आधार पर गुप्त वंश को क्षत्रिय कहा जाता है। बाद के उज्जैन के शासक अपने को चन्द्रगुप्त द्वितीय का वंशज मानते थे क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य को सोमवंशीय क्षत्रिय भी कहा गया है जिसकी पुष्टि हमें मंजुश्रीमूलकल्प से भी होती है। वैशाली के लिच्छवियों से उनका वैवाहिक सम्बन्ध उनके क्षत्रियत्व के पक्ष में बतलाया जाता है। लिच्छवी क्षत्रिय थे। नेपाल वंशावली में लिच्छवियों को सूर्यवंशी क्षत्रिय कहा गया है। अतः इन्हीं सब तर्कों के आधार पर कुछ इतिहासकारों ने गुप्तों को क्षत्रिय माना है। पर गुप्तों के परिचय के सम्बन्ध में अभी भी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।

उदय एवं मूल स्थान

पुराणों के अनुसार गुप्तों का उदय प्रयाग और साकेत (अयोध्या) के बीच सम्भवतः प्रयाग के पास कौशाम्बी में लगभग तीसरी शताब्दी के अन्त में हुआ। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तम्भ लेख से भी यही संकेत मिलता है। गुप्तों का वंश-धर्म वैष्णव होने और समुद्रगुप्त के गया (जाली) अभिलेख को जो अयोध्या से प्रचलित हुआ था, ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि गुप्तों की प्रारम्भिक राजधानी अयोध्या थी। पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता है कि प्रयाग-सांकेत क्षेत्र ही गुप्तों की आदि शक्ति का उद्गम था।

वायुपुराण में ऐसा कहा गया है कि—'अनुगंगा प्रयागं च साकेतं मागधांस्तथा, एतान् जनपदान् सर्व्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्त वंशजाः।" वायुपुराण और ब्रह्माण्डपुराण में गुप्तों का वर्णन नागों के बाद किया जाता है पर विष्णुपुराण में गुप्तों का प्रारंभ नागों के समय से ही किया जाता है—'नवनागा पद्मावत्यां कान्तिपुर्यां मथुरायाम नुगंगा प्रयागं मागधा गुप्ताश्चे मोक्षयन्ति।' इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि प्रारम्भ में गुप्त शासक प्रयाग के ही आस-पास शासन करते थे। पुराणों के अध्ययन से तो यह पता लगता है कि प्रयाग, साकेत और मगध अवश्य ही गुप्तों के आदि स्थल थे पर बंगाल का उल्लेख इनमें नहीं मिलता है। कुछ बंगाली इतिहासकार जिसमें डॉ० डी० सी० गांगुली प्रमुख हैं का मत है कि गुप्तों का उदय वरेन्द्र (पूर्वी बंगाल) में हुआ था पर यह मत तथ्यहीन होने के कारण सर्वमान्य नहीं हो सका है। मगध या उत्तर प्रदेश ही गुप्तों का आदिस्थल था—यह सर्वमान्य है।

इत्सिङ्ग ने एक बौद्ध विहार का वर्णन अपनी यात्रा-वृत्तों में किया है जो श्रीगुप्त नामक एक राजा ने चीनी बौद्ध भिक्षुओं के लिए मृगशिखावन के निकट बनवाया था। ऐलन ने इस बौद्ध विहार को मगध में ही माना है। कुछ इतिहास-

कारों का ऐसा मत है कि वरेन्द्र जिसकी मान्यता पूर्वी बङ्गाल से की गई है, वह गुप्तों के अधीन था। डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय के अनुसार प्रारम्भिक काल में गुप्त लोग मगध, गंगा के तटवर्त्ती प्रदेश जिसमें बंगाल का उत्तरी-पश्चिमी भाग भी सम्मिलित था, के शासक थे। प्रयाग-सांकेत क्षेत्र को ही गुप्तों का आदि स्थल कहा जाता है जिसकी पुष्टि समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तम्भ लेख से भी हो जाती है।

श्रीगुप्त

श्रीगुप्त गुप्तवंश का संस्थापक था। गुप्त लेखों में इस राजा के नाम के आगे 'महाराज' की पदवी लगी हुयी थी जिससे ऐसा पता चलता है कि वह कोई साधारण सामन्त राजा था। इसके समय की किसी भी राजनीतिक घटना का पता हमें नहीं चलता। कुछ इतिहासकारों की तो यह भी धारणा है कि गुप्त सम्राटों के ये पूर्वज छोटे जमींदार मात्र थे।

श्रीगुप्त के सम्बन्ध में भारतीय सूत्रों से हमें कुछ भी ज्ञात नहीं होता है। इत्सिङ्ग के आधार पर हम यह जानते हैं कि श्रीगुप्त (चेलिकेटो) ने चीनी बौद्ध भिक्षुओं के लिए मृगशिखावन में एक बौद्ध विहार बनवाया था तथा चीनी भिक्षुओं को उसके आस पास का एक गाँव दान में दिया था।[१] समुद्रगुप्त ने अपने को महाराज श्रीगुप्त का प्रपौत्र माना है। वह पाटलिपुत्र तथा उसके आस-पास के प्रदेशों पर शासन करता था। उसका समय २७५ ई० माना गया है तथा 'श्रीगुप्तस्य' लिखा हुआ एक मिट्टी की मुहर भी मिली है। डॉ० सी० के० एस० राव, आर० एन० दण्डेकर और एच० सी० रायचौधरी ने गुप्त वंश के इस संस्थापक राजा को तीसरी शताब्दी के अन्त अथवा चौथी शताब्दी के आरम्भ में मानते हैं।[२] पर दण्डेकर तथा रायचौधरी चीनी अनुश्रुति के आधार पर श्रीगुप्त को गुप्त वंश का संस्थापक मानते हैं तथा तिथि के आधार पर उसे गुप्तवंश का पितामह मानते हैं।[३] किन्तु जॉन ऐलन ने 'श्री' को नाम का अनिवार्य अंश मानना उचित नहीं समझा है। उन्होंने यह दलील पेश की है कि चीनी लेखकों ने प्राय 'श्री' का उपयोग आदर और सम्मान के लिए किया है। गुप्त अभिलेखों से भी यही बात प्रकट

---

१. जे० आर० ए० एस० खण्ड १३ (N.S. पृ० ५७१, ए), पि० इ० खण्ड-१०, पृ० ११०, मृगशिखावन को कुछ इतिहासकार मुंगेर के निकट बतलाते हैं। बी० सिन्हा, डी० सी० गांगुली, डॉ० गोयल, डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय इस सम्बन्ध में अपने-अपने मत दिए हैं लेकिन सब एक दूसरे के विरोधी हैं।

२. जर्नल ऑव द मिथिक सोसायटी, खण्ड—२४, पृ० २१८-२२३, हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज, पृ० २१, पौलिटिकल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, ५ वां स्करण, पृ० ५२६।

३. पी० एल० गुप्त, गुप्त साम्राज्य, वाराणसी, पृ० २२८।

होती है और इत्सिग ने जिस राजा का उल्लेख किया है उसका नाम केवल गुप्त था— ऐसा डॉ० पी० एल० गुप्त भी मानते हैं।[1]

इत्सिङ्ग के कथन को ध्यान में रखते हुए डॉ० आर० के० मुकर्जी ने श्रीगुप्त के शासन-काल २४०-२८० ई० के बीच माना है।[2] इसी आधार पर डॉ० आर० एन० सलाटोर ने इसका शासन-काल २४५-२४७ माना है।[3] पर वी० ए० स्मिथ ने ३१९ ई० (गुप्त संवत् का आरम्भ वर्ष) को चन्द्रगुप्त प्रथम का आरम्भिक वर्ष मानकर श्रीगुप्त का समय २७५-३०० ई० के बीच निर्धारित किया है।[4] इस तिथि को ही सर्वमान्य माना गया है।

घटोत्कच

श्रीगुप्त के बाद उसका पुत्र घटोत्कच राजा बना। वह भी अपने पिता की ही भाँति 'महाराज' पदवी को धारण किया। उसके समय में गुप्त वंश की शक्ति और प्रतिष्ठा में कोई भी वृद्धि नहीं हो सकी। घटोत्कच का पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम हुआ जिसे गुप्त-साम्राज्य स्थापित करने और महाराजाधिराज कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लेकिन यह एक आश्चर्य की बात है कि सुपिया अभिलेख जो स्कन्दगुप्त के समय का है उसमें घटोत्कच को गुप्त वंश का आदिराज कहा गया है और उसमें उनके नाम के साथ 'महाराज' उपाधि का प्रयोग नहीं मिलता है।[5] के० पी० जायसवाल ने भी यह स्वीकार किया है कि घटोत्कच को ही वाकाटक राज्ञी प्रभावती गुप्ता के अभिलेखों में 'आदिराज' कहा गया है।[6] पूना ताम्रशासन में गुप्ताधिराजो महाराज श्री घटोत्कच का अनुवाद प्रस्तुत किया गया है—'घटोत्कच जो आदिराज गुप्त के रूप में था।' इस अनुवाद से यह सिद्ध होता है कि वाकाटक लोग घटोत्कच को पहला गुप्त राजा मानते थे। पर यह अनुवाद गलत है ऐसा डॉ० पी० एल गुप्त ने माना है।[7] इसकी पुष्टि के लिए डॉ० गुप्त ने रिद्धपुर ताम्रशासन का सहारा लिया है जिसमें यह स्पष्ट लिखा हुआ है 'गुप्तानामादिराज'।

घटोत्कच के सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतैक्य नहीं है। वैशाली से मिली एक मुहर पर 'श्री घटोत्कचगुप्तस्य' लिखा हुआ है। इस घटोत्कच के विषय में

---

१. वही, पृ० २२८।
२. गुप्त इम्पायर, पृ० ११।
३. लाइफ इन द गुप्त एज, पृ० ६।
४. एपि० इण्डिका १९०२, पृ० २५७।
५. एपि० इण्डिका ३२, पृ० ३०६।
६. हिस्ट्री-ऑव-इण्डिया, पृ० २४२।
७. गुप्तसाम्राज्य, पृ० २३२।

इतिहासकारों ने ऐसा कहा है कि वह चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन गवर्नर था।[1] पर टी ब्लाख तथा वी० ए० स्मिथ ने वैशाली के इस मुहर तथा लेनिनग्राद संग्रहालय के एक सोने के सिक्के को इसी राजा का बतलाया।[2] तुमैन के लेख में भी (गुप्त संवत् ११६ से ४३६ ई०) घटोत्कच का नाम मिलता है। प्रो० राधाकृष्ण चौधरी ने इसे कुमारगुप्त का भाई माना है जो मालवा का शासक था।[3] गुप्तवंश के शिला लेखों में महाराज घटोत्कच के नाम के साथ 'गुप्त' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। इसके काल की अन्तिम सीमा निश्चय ही ३१९ ई० ही रही होगी, जो गुप्त संवत् का आरम्भ वर्ष है तथा इसके राज्य का आरम्भ ३०० ई० के आस-पास रहा होगा।

चन्द्रगुप्त प्रथम

चन्द्रगुप्त (प्रथम) घटोत्कच का पुत्र था तथा गुप्त वंश के शासकों में इसका तीसरा स्थान है। यह अपने कुल का पहला राजा था जिसने अपने राज्य को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र कर उसका विस्तार किया तथा महाराजाधिराज की पदवी पायी। उसने अपने राज्य की सीमा का विस्तार गंगा तथा यमुना के संगम तक किया। तिरहुत, दक्षिण बिहार, अवध तथा इसके आस-पास के प्रदेश उसके राज्य के अन्तर्गत थे। वैशाली भी गुप्त साम्राज्य के अधीन था।

के० पी० जायसवाल ने 'कौमुदी महोत्सव' नामक नाटक के आधार पर ऐसा कहा है कि पाटलिपुत्र कोटकुल के राजा सुन्दरवर्मन ने चन्द्रगुप्त (चण्डसेन चन्द्रसेन) को गोद लिया था। इसके कुछ दिनों बाद उसको अपनी रानी से कल्याण वर्मन नामक पुत्र हुआ। यह स्वाभाविक था कि सुन्दरवर्मन अपने निजी पुत्र को गद्दी देना चाहता था तथा अव पुत्र उत्पन्न हो जाने के बाद चन्द्रगुप्त को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा। चन्द्रगुप्त बचपन से ही महत्त्वाकांक्षी और चतुर था। उसने कोटकुल के शत्रु वैशाली और नेपाल के लिच्छवियों की राजकुमारी कुमार देवी से विवाह किया तथा उन सबों की सहायता से सुन्दरवर्मन को युद्ध में हत्या कर पाटलिपुत्र की गद्दी पर अधिकार कर लिया। अब कल्याण वर्मन वहाँ से भागा और दक्षिण की ओर चल दिया। पाटलिपुत्र की प्रजा तथा वहाँ के मन्त्री चन्द्रगुप्त के ऐसे कार्यों से जिसमें उसे पितृघाती की भी संज्ञा दी गई, काफी असंतुष्ट हो गए। एकबार चन्द्रगुप्त जंगली जातियों के उपद्रवों को दबाने

१. जॉन ऐलन, ब्रिटिश म्युजिम मुद्रासूची, गुप्त वंश, भूमिका, पृ० ५४।

२. जे० आर० ए० एस०, १९०५, पृ० १५३, अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० २९६, आरकेलौजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, १९०३-४, पृ० १०२।

३. प्रा० भा० रा० एवं सां० इति० पृ० ३०९।

के लिए विन्ध्य पर्वत की ओर गया और इधर प्रजा मौका की ताक में बैठी हुयी थी। ऐसे अवसर पर मंत्रियों ने कल्याण वर्मन को दक्षिण की ओर से वापस बुलाया तथा चन्द्रगुप्त को पुनः पाटलिपुत्र में घुसने नहीं दिया। चन्द्रगुप्त को अपने पैतृक राज्य में वापस चला जाना पड़ा।[1] डॉ० राजवली पाण्डेय ने इस कहानी की सत्यता में विश्वास प्रकट किया है।[2] उन्होंने इसकी पुष्टि उत्कीर्ण लेखों एवं सिक्कों से भी की है।[3] लिच्छवियों से विवाह-सम्बन्ध चन्द्रगुप्त के जीवन के लिए एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।[4] और यही कारण था कि उसका पुत्र समुद्रगुप्त 'लिच्छवि-दौहित्र' कहलाता था।[5] उसने राजारानी शैली का सिक्का चलवाया जिसके एक ओर चन्द्रगुप्त और कुमार देवी की मूर्त्तियाँ और दूसरी ओर सिंह के ऊपर बैठी शक्ति या दुर्गा के नीचे 'लिच्छवयः' अंकित है।

लिच्छवियों ने सुन्दरवर्मन के विरुद्ध चन्द्रगुप्त की सहायता की। इसके बाद ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने वैशाली के पास का अपना प्रदेश चन्द्रगुप्त को दे दिया तथा मगध का कुछ भाग पुनः जीतने में उसकी सहायता की। इसी राज्य-विस्तार के साथ चन्द्रगुप्त अपने पैतृक राज्य के सिंहासन पर ३१९-२० ई० में आरूढ़ हुआ। इस समय उसके राज्य में प्रयाग (पुराना वत्स), कोसल (साकेत) पश्चिमोत्तर और दक्षिण-पश्चिम विहार थे।[6] वह पाटलिपुत्र पर अधिकार नहीं कर सका तथा पन्द्रह वर्षों तक गद्दी पर रहा।

कौमुदी महोत्सव तथा भविष्योत्तर पुराण के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि मगध में गुप्तों के उत्थान के पहले आन्ध्र-सातवाहनों का शासन शुरू हो चुका

---

१. के० पी० जायसवाल, हिस्ट्री ऑव इण्डिया।

२. वही, पृ० २५६।

३. अ० स० अल्तेकर, गुप्त मुद्राएँ।

4. (i) "The matrimonial alliance with the Lichchavis so increased his power that he was able to extend his dominion over Oudh as well as Magadh and along the Ganges as far as Prayag." —V. A. Smith

(ii) "As a result of this matrimonial alliance Chandragupta liberated Magadha from Scythians." —R. D. Banerjee

(iii) "The marriage alliance of Chandragupta I was highly important far from a political rather than a social point of view." —Majumdar and Altekar

५. इलाहाबाद अभिलेख—(फ्लीट—गुप्त अभिलेख)।

६. अनुगंगा प्रयागञ्च साकेतं मगधास्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः।—वायुपुराण

था जो लगभग ३१५ ई० तक चलता रहा। पुराण और अन्य साहित्यों के आधार पर जो भी सूचनाएँ मिलती हैं, उनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि वास्तविक स्थिति क्या थी, पर गुप्तों के पूर्व मगध का शासक चण्डसेन था। मत्स्यपुराण में चन्द्रश्री शातकर्णि और पुलुमावी का उल्लेख है।

चाहे जो भी हो चन्द्रगुप्त प्रथम एक सफल शासक था और उसने एक संवत् भी चलाया जो गुप्त संवत् के नाम से प्रसिद्ध है और इसी संवत् का प्रयोग उसके वंशजों ने किया है। यह तिथि अल-वेरुनी के इस कथन पर आधारित है कि शक संवत् और गुप्त संवत् के बीच २४० वर्ष का अन्तर है।

शक संवत् ७८ ई० से प्रारम्भ होता है, अतः गुप्त संवत् की शुरुआत ३१९ ई० में हुयी।

काच

चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने जीवन के अन्तिम काल में एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उसने भरी सभा में अपने सब पुत्रों में से समुद्रगुप्त को सबसे अधिक योग्य समझकर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति में इसका वर्णन है। इसमें ऐसा लिखा गया है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने पुत्र समुद्रगुप्त को गले लगाया। प्रसन्नता के कारण उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा तथा उसकी आँखों में आँसू भरे हुए थे। उसने अपने बेटे से कहा—'तुम योग्य हो, पृथ्वी पर राज्य करो।'[1] सभा के समस्त व्यक्ति हर्षित हुए किन्तु अन्य राजकुमारों के मुख ईर्ष्या के कारण काले पड़ गये क्योंकि उनको सभा के सम्मुख समुद्रगुप्त से हीन समझा गया था।

अतः इससे ऐसा समझा जाता है कि समुद्रगुप्त के अन्य भाइयों ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। उसने अपने राज्य के प्रारम्भिक दिनों में ही गृह-कलह का दमन किया था। ऐसा लगता है कि समुद्रगुप्त के भाइयों ने उसके विरुद्ध एक होकर अपने में से किसी को समुद्रगुप्त के स्थान पर राजा बनाने की योजना की थी। एच० हेरास ने ऐसा अनुमान लगाया है कि यह विद्रोही भाई काच था जिसका परिचय हमें उसके सिक्कों से चलता है।[2] काच के सोने के सिक्कों पर सर्वंराजोच्छेता अंकित है। समस्त राजाओं को नष्ट करने का श्रेय समुद्रगुप्त को ही दिया जाता है अतः कुछ विद्वान समुद्रगुप्त को ही काच मानते हैं। उनका ऐसा कहना है कि समुद्रगुप्त का ही दूसरा नाम काच था तथा उसने अपने नाम के इन सिक्कों का निर्माण कराया। पर ऐसा पाया जाता है कि गुप्त सम्राटों ने सर्वदा एक ही नाम के सिक्के बनवाये थे। चन्द्रगुप्त का एक और दूसरा नाम

१. प्रयाग प्रशस्ति, पंक्ति ७-८।
२. अ० भ० ओ० रि० इ० खण्ड ९, पृ० ४८।

देवगुप्त था, पर देवगुप्त नाम से प्रचलित कोई भी सिक्के हमारे सामने नहीं। कई इतिहासकारों ने ऐसा स्वीकार किया है कि यह काच समुद्रगुप्त का बड़ा भाई रहा हो और चन्द्रगुप्त के समय में ही वह मगध के युद्ध में मारा गया हो। आर० डी० बनर्जी ने इस मत का ही प्रतिपादन किया है तथा इसकी पुष्टि के लिए उन्होंने ऐसा कहा है कि उसी भाई की स्मृति में समुद्रगुप्त ने सिक्के बनवाये हों।[1] इन सिक्कों पर ऐसा लिखा हुआ पाया जाता है कि—'काचो गमवजित्वा दिवंजयति कर्मभिरु तमैः' (काच इस संसार को जीतकर अपने उत्तम कर्मों से स्वर्ग भी विजय करता है)।

सिक्कों के दूसरे भाग में 'सर्वराजोच्छेता' शब्द लिखा हुआ है जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। चूंकि ये सिक्के सोने के हैं पर शुद्ध सोना का व्यवहार इसमें नहीं हुआ है। समुद्रगुप्त ने अपने सभी सोने के सिक्कों में खरा सोना का व्यवहार किया है। इसमें ऐसा संदेह लगता है कि अपने बड़े भाई की स्मृति में क्या समुद्रगुप्त मिश्रित सोने के सिक्के बनवा सकता था?

कुछ इतिहासकारों ने काच के सिक्कों को घटोत्कच द्वारा निर्मित बतलाया है पर यह सत्य नहीं। घटोत्कच तो एक साधारण सा शासक था—वह इतनी बड़ी उपाधि कैसे धारण कर सकता था। इस सम्बन्ध में सबसे उपयुक्त मत डॉ० आर० एन० दण्डेकर का है जिन्होंने इसे स्वीकार किया है कि जब समुद्रगुप्त को भरी सभा में चन्द्रगुप्त ने अपना उत्तराधिकारी घोषित किया तो अन्य राजकुमारों को इससे ईर्ष्या हुयी और संभवतः उन सब राजकुमारों का नेतृत्व समुद्रगुप्त के बड़े भाई काच ने किया था। यह भी सम्भव हो सकता है कि अपने पिता की मृत्यु के समय समुद्रगुप्त राजधानी में उपस्थित नहीं था तथा उसकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर काच ने अपने को सम्राट् घोषित कर दिया हो और इसी अवधि में अपने नाम के सिक्के भी चला लिये हो। ये सिक्के बहुत ही कम संख्या में मिले हैं क्योंकि काच अधिक दिनों तक राज्य नहीं कर पाया।

एक अन्य इतिहासकार बी० एस० शिथोले का ऐसा मत है कि इन सिक्कों का प्रचलन करने वाला काच गुप्त वंश का नहीं था बल्कि वह एक बाहरी घुसपैठिया था। इस सम्बन्ध में उन्होंने तोरमाण एवं मुहम्मद गोरी जैसे आक्रामकों का उदाहरण दिया है जिन्होंने अपने विरोधियों के सिक्कों का अनुसरण किया था, साथ ही इस प्रकार के अनेक उदाहरण भारतीय मुद्राओं में मिले हैं।[2] अतः यह कथन सच हो सकता है कि जब समुद्रगुप्त राजधानी में उपस्थित नहीं था तथा वह दक्षिण के अभियान में व्यस्त रहा हो, उसी समय कोई विद्रोह उठा हो और

---

१. दि एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० ९।

२. ज० न्यू० सो० इ० खण्ड १२, पृ० ३८।

इसका लाभ उठाने के लिए बाहरी घुसपैठ हुआ हो। डॉ० पी० एल० गुप्त ने इसे कोरी कल्पना कहा है तथा उन्होंने साहित्यिक सामग्रियों पर बल देते हुए ऐसा स्वीकार किया है कि 'उसके एक भाई ने ही गद्दी हड़पने की चेष्टा की थी।'[1]

'मंजूश्रीमूलकल्प' में भस्म नामक एक राजा का वर्णन मिलता है जो तीन दिनों के लिए बंगाल का राजा हो गया था। बाद में समुद्रगुप्त ने उसे पराजित कर दिया था। भस्म कोई दूसरा नहीं बल्कि काच ही था। काच और भस्म दोनों ही एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। आप्टे और मोनियर विलियम्स ने संस्कृत डिक्शनरी में काच का अर्थ क्षारीय भस्म (अलकलाइन ऐशेज) बतलाया है। समुद्रगुप्त के इस भाई के सम्बन्ध में और कुछ ज्ञात नहीं है। ऐसा संभव है कि वह समुद्रगुप्त के असाधारण शौर्य से भयभीत होकर उसके सामने नतमस्तक हो गया हो या समुद्रगुप्त के विरुद्ध युद्ध करते हुए मारा गया हो। अगर वह शासक भी हुआ होगा तो बहुत कम दिनों के लिए ही तथा उसकी ऐतिहासिकता अभी भी निश्चित नहीं की जा सकी है।

समुद्रगुप्त पराक्रमांक

भारतीय सम्राटों में समुद्रगुप्त का एक विशिष्ट स्थान है। बाल्यावस्था से ही वह होनहार दिखलाई पड़ता था। अस्त्र-शस्त्र की उसकी अच्छी शिक्षा हुयी थी। जब वह राजकुमार था तभी उसने वीरता और नीति कुशलता का परिचय दिया था। उसके पिता चन्द्रगुप्त प्रथम ने उसके गुणों के कारण ही उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। वह एक वीर और पराक्रमी राजा था, जो सारी पृथ्वी को अपने अधिकार में लाने की कामना रखता था। वह भारत में राजनैतिक संगठन व एकता लाने के लिए कटिबद्ध था और इसीलिए उसने उत्तर भारत में लड़ाइयाँ लड़ीं और दक्षिण भारत की ओर दिग्विजय के लिए निकला। वह संभवतः ३२० ई० के बाद ३४० ई० में गद्दी पर बैठा और ३८० ई० के पहले मर गया क्योंकि ३२० ई० उसके उत्तराधिकारी की प्रथम ज्ञात तिथि है।

सौभाग्य से समुद्रगुप्त का विस्तृत इतिहास हमारे पास उपलब्ध है। कौशाम्बी में जो अशोक-स्तम्भ था, उसी पर समुद्रगुप्त की विस्तृत प्रशस्ति अंकित है। यह स्तम्भ अभी इलाहाबाद के किले में खड़ा है। समुद्रगुप्त सभी गप्त सम्राटों में कई अर्थों में अद्वितीय था तथा अपने कृत्यों में उसने अपने पिता की दूरदर्शिता को प्रमाणित किया तथा उसने अपने पिता की आशाओं को पूरा किया।

राजनीतिक आदर्श :—भारतवर्ष को राजनैतिक एकता के सूत्र में बाँधना तथा अपने को महापद्म के समान एकमात्र (एकराट्) शासक बना लेना

१. वही, पृ० २४६।

ही समुद्रगुप्त का उद्देश्य था। उसका आदर्श भारत के प्राचीन क्षत्रियों का परम्परागत आदर्श दिग्विजय और भारत का राजनीतिक एकीकरण था। उसके सामने महापद्म नन्द एवं चन्द्रगुप्त मौर्य उदाहरण स्वरूप थे। अपनी राजनीतिक विचारधारा में वह अशोक का बिल्कुल ही उलटा रूप था। उसने अशोक की मानवतावादी एवं शान्तिवादी नीति तथा धर्मविजय की अवहेलना करते हुये उसी के स्तम्भ पर अपने साम्राज्यवादी आदर्श और दिग्विजय की प्रशस्ति अंकित करवायी थी। उसे सब छोटे-छोटे राज्यों का उच्छेद करने वाला कहा गया है। छोटे-छोटे राज्यों की अनुपयोगिता का आभास उसे विदेशी आक्रमणों से हो चुका था। इससे उसकी साम्राज्यवादी नीति को काफी प्रोत्साहन मिला। उसने अपने राजनीतिक आदर्श की पूर्ति के लिए दिग्विजय की योजना बनाई। पाटलिपुत्र के पश्चिम और पूरब के दुश्मनों को वह पहले ही समाप्त कर चुका था।

प्रारम्भिक विजय :—पिछले पृष्ठों में हमने यह देखा है कि किस प्रकार चन्द्रगुप्त प्रथम लिच्छवियों की मदद से एक स्वतन्त्र एवं साधारणतः बड़ा राज्य स्थापित करने में सफल रहा। उत्तर भारत में उस समय गुप्त-राज्य के दो प्रबल शत्रु विद्यमान थे—पहला पाटलिपुत्र का कोटकुल और दूसरा मथुरा एवं पद्मावती के नागवंश जो कोटकुल के सम्बन्धी थे। जिस समय समुद्रगुप्त पाटलिपुत्र पर चढ़ाई कर रहा था, सम्भवतः उसी समय पीछे से दो नाग राजाओं ने जिसके नाम अच्युत और नागसेन थे, पीछे से उसके राज्य पर चढ़ाई कर दिये। समुद्रगुप्त पश्चिम और पूरब दोनों रणक्षेत्रों के लिए तैयार था। वह पहले अच्युत और नागसेन को बुरी तरह हरा दिया और पुनः पाटलिपुत्र में प्रवेश किया जहाँ पर उसने कोटकुल का विनाश किया। पाटलिपुत्र की विजय गुप्तों के इतिहास में एक क्रान्तिकारी घटना थी। पाटलिपुत्र कई शताब्दियों तक मगध राज्य की राजधानी थी। गुप्तों को इसकी प्राप्ति से साम्राज्यवादी आकांक्षाएँ और जागृत हो गयीं। अब से गुप्तों की राजधानी पाटलिपुत्र में आ गयीं। वह पाटलिपुत्र जिसमें एक बार चन्द्रगुप्त प्रथम को घुसने नहीं दिया गया और पितृघाती होने के कारण भगा दिया गया था उसी पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र समुद्रगुप्त द्वारा राजधानी बनायी जाना चन्द्रगुप्त प्रथम के स्वप्न को पूरा करना माना जाता है। इसके बाद समुद्रगुप्त की दिग्विजय यहीं से प्रारम्भ हुयी।[1]

दिग्विजय

प्रयाग-प्रशस्ति में हमें समुद्रगुप्त की दिग्विजय का बोध होता है तथा उसके सामरिक जीवन पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। प्रशस्तिकार हरिषेण समुद्रगुप्त का सेनानायक तथा सन्धिविग्रहिक सेनानायक था। समुद्रगुप्त के जीवन की सबसे

१. के० पी० जायसवाल, हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० १३२-४०।

बड़ी घटना उसकी दिग्विजय है। उसने आर्यावर्त्त के नौ राजाओं तथा दक्षिणापथ के बारह नरेशों को हराया तथा मध्यभारत के सभी जंगल के राजाओं को अपना सेवक बनाया था और सीमा-प्रदेश के शासकों तथा गणराज्यों को कर देने के लिए बाध्य किया था। दूरस्थ नरेशों से उसने मैत्री सम्बन्ध स्थापित की।

समुद्रगुप्त की गणना देश के महान् और प्रतिभायुक्त सनिकों में की जाती है। उसका शासन-काल विस्तृत सैनिक अभियानों से भरा हुआ है। वह कौटिल्य के इस सिद्धान्त में विश्वास करता था कि—"जो भी शक्ति में बड़ा होगा, वह अवश्य ही युद्ध छेड़ेगा जिसके पास आवश्यक साधन भरे होंगे वह अपने शत्रु पर अवश्य ही धावा करेगा।'

डूब्रेल का ऐसा मत है कि हरिषेण ने समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा का वर्णन काल-क्रम के ही अनुमार किया है। के० पी० जायसवाल ने कौमुदी महोत्सव के आधार पर यह निश्चय किया है कि गुप्तों ने पाटलिपुत्र से हारकर अयोध्या में शरण ली थी तथा वहीं से समुद्रगुप्त ने पुनः अपने राज्य की स्थापना की। प्रयाग-प्रशस्ति के आधार पर प्रशस्तिकार ने वर्णन करते समय अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों का ही ध्यान रखा है, तिथि क्रम का नहीं।' पर यहाँ पर हमने तिथि क्रम से विजयों का वर्णन किया है :—

आर्यावर्त्त का विजय :—समुद्रगुप्त ने अपने दिग्विजय की योजना में आर्यावर्त (उत्तर भारत) का विजय किया। विन्ध्य तथा हिमालय के बीच की भूमि का प्राचीन नाम आर्यावर्त्त था। उसने सभी उत्तरी भारत के राजाओं को हराकर एकछत्र राज्य की स्थापना की। राजनीति में ऐसे विजेता को 'असुर विजयी' कहा जाता है। आर्यावर्त्तीय राजाओं की सूची प्रयाग प्रशस्ति में इस प्रकार दी गयी है :—

१. रुद्रदेव,
२. मतिल,
३. नागदत्त
४. चन्द्रवर्मन
५. गणपतिनाग
६. नागसेन,
७. अच्युत,
८. नन्दि, और
९. वलवर्मा।

इन राजाओं के अतिरिक्त समुद्रगुप्त ने अन्य राज्यों को भी पराजित किया होगा। ये समीपवर्त्ती राज्य थे और बहुत संभव है कि समुद्रगुप्त ने पहले इन्हीं पर आक्रमण किया हो। ई० जे० रैप्सन ने विष्णुपुराण के आधार पर इन्हें नवनाग नरेश के नाम से सम्बोधित किया है। इन नागवंशी राजाओं ने एक सम्मिलित राज्य की स्थापना की थी जिसे उन्मूलित करके समुद्रगुप्त ने अपने राज्य

में मिला लिया था।[1] पर इसके समर्थन में कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये भिन्न-भिन्न स्थानों के शासक थे। नीचे की पङ्क्तियों में इन सवों के ऊपर थोड़ा-थोड़ा प्रकाश डाला जाएगा :—

(१) रुद्रदेव—इतिहासकारों में इस नाम को लेकर बड़ा मतभेद है। जायसवाल तथा दीक्षित रुद्रदेव का सम्वन्ध वाकाटक वंश से स्थापित करते हैं। वे रुद्रदेव तथा वाकाटक-नरेश रुद्रसेन प्रथम को एक मानते हैं।[2] पर प्रयाग-प्रशस्ति में रुद्रदेव की गणना आर्यावर्त्त के शासकों में की गई है पर वाकाटक-नरेश रुद्रसेन प्रथम दक्षिणापथ का शासक था[3] तथा यह इसलिये मान्य नहीं है कि वाकाटक साम्राज्य उस समय गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था। समुद्रगुप्त के समय में गुप्तसाम्राज्य मालवा के दक्षिण विस्तृत नहीं था। प्रो० राधाकृष्ण चौधरी ने रुद्रदेव को कौशाम्बी का शासक वतलाया है, क्योंकि वहाँ से उसके सिक्के मिलते हैं।[4]

(२) मतिल—बुलन्दशहर (उत्तर प्रदेश) से प्राप्त मिट्टी की मुहर पर जो मत्तिल नाम है, वही यह मतिल है। फ्लीट और ग्राउस ने भी उसे स्वीकार किया है। पर ऐलन ने उचित रूप से इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि इस मुहर में कोई भी उपाधि नहीं है जिससे ऐसा कहा जाए कि उसका स्वामी किसी रूप में सत्ताधारी था।[5] जायसवाल इसको भी नाग-नरेश मानते हैं। इसके विषय में ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता।

(३) नागदत्त—नागसेन और गणपति नाग की ही भाँति यह भी कोई नागराज रहा हो। जायसवाल इसे भी नागवंशी शासक मानते हैं। उनका ऐसा कहना है कि लाहौर से चौथी शती ई० की जो महेश्वर नामक नागराज की मुहर प्राप्त हुयी है, उसी महेश्वर नाग का यह पिता होगा।[6] डॉ० डी० सी० सरकार के अनुसार वह उत्तरी बङ्गाल का शासक और गुप्तों के दत्त नामान्त उपरिकों का पूर्वज होगा।[7] पर डॉ० पी० एल० गुप्ता केवल नामान्त के

---

१. जे० आर० ए० एस (१९३७), पृ० २४१।
२. हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ७७।
३. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १, पृ० २५५।
४. वही, पृ० ३१२।
५. ब्रिटिश म्युजियम मुद्रासूची, गुप्त, भूमिका, पृ० २३।
६. हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ३४, १४२।
७. प्रो० इ० हि० कॉ०—खण्ड ७, पृ० ७८।

आधार पर उसके उत्तरी बङ्गाल का शासक होने की कल्पना में विश्वास नहीं करते हैं।[1]

(४) चन्द्रवर्मन—पूर्वी बंगाल के बाँकुड़ा जिले में सुसुनिया पर्वत पर एक शिलालेख मिला है जिसपर चन्द्रवर्मन का नाम खुदा हुआ है जिसके आधार पर इसे पुष्करण नामक स्थान का शासक होने का अनुमान किया गया है।[2] डॉ० हरप्रसाद शास्त्री पुष्करण और मारवाड़ स्थित पोकरण को एक मानते हैं तथा चन्द्रवर्मन को मारवाड़ का शासक बताते हैं।[3] डॉ० एस० के० चटर्जी ने पुष्कर को बाँकुड़ा जिले में बताया है।[4] डॉ० भण्डारकर भी डॉ० हरप्रसाद शास्त्री के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि पुष्करण पोकरण है तथा वे प्रयाग प्रशस्ति के चन्द्रवर्मन तथा सुसुनिया शिला-लेख के शासक को समान मानते हैं।[5] जायसवाल इसे पूर्वीपंजाब का शासक मानते हैं। कुछ इतिहासकार इसे मेहरौली-स्तम्भ लेख का चन्द्र भी मानते हैं।

(५) गणपतिनाग—यह नागवंशी राजा था और इसकी राजधानी पद्मावती थी जो ग्वालियर में नगर के निकट वर्तमान पद्म-पवाया है। गणपतिनाग ३१० ई० से ३४४ ई० तक शासन किया। नारवार तथा बेसनार में इसके सिक्के भी पाये गये हैं। डॉ० भण्डारकर ने विष्णुपुराण के आधार पर उसे विदिशा शाखा का शासक कहा है।

(६) नागसेन—इस राजा का उल्लेख प्रयाग-प्रशस्ति में आर्यावर्त्त के राजाओं की सूची के पूर्व भी मिलता है। यह भी नागवंशी राजा था तथा यह नागों की दूसरी शाखा पर शासन करता था। यह गणपति नाग के समकालीन था। ई० जे० रैप्सन ने प्रयाग-प्रशस्ति के नागसेन तथा हर्षचरित के नागसेन को समान माना है। जायसवाल के अनुसार बाण का नागसेन पद्मावती का शासक था, जैसा कि हर्षचरित से ही स्पष्ट हो जाता है तथा ऐसा संभव है कि यह गुप्तों के अधीन था। प्रयाग प्रशस्ति का नागसेन मथुरा का शासक जान पड़ता है जिसकी पुष्टि जायसवाल ने की है।

(७) अच्युत—अच्युत के सम्बन्ध में इतिहासकारों में काफी मतभेद है। जायसवाल ने अच्युत तथा नन्दि को एक ही माना है। ऐलन ने बरेली के अहिच्छत्र वर्तमान रामनगर (उत्तरप्रदेश) में प्राप्त मुद्राओं पर 'अच्यु' शब्द पढ़ा है। इस

---

१. वही, पृ० २६०।
२. एपि० इ०—१२, ६।
३. इण्डियन एन्टिक्वरी १६१३।
4. Origin and development of Bengalī civilization.
5. IHQ I p. 244.

आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि ये 'अच्युत' की ही मुद्राएं हैं। उसका सम्बन्ध भी नाग राजाओं से जोड़ा जाता है। डॉ० भण्डारकर ने उनके सिक्कों की बनावट तथा पद्मावती की नाग-सिक्कों की बनावट में समता पायी है जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि अच्युत भी कोई नागवंशीय राजा रहा हो और मथुरा के निकट राज्य करता रहा हो। जायसवाल ने अच्युत को अहिच्छत्र का शासक माना है। अच्युत तथा नागसेन के संबंध में प्रयाग प्रशस्ति में 'उन्मूल्य' शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे यह पता चलता है कि ये दोनों राज्य समुद्रगुप्त द्वारा समाप्त कर दिये गये।

(८) **नन्दि**—संभवतः यह भी नागवंशीय शासक था पर निश्चितरूप से इसके विषय में कहना कठिन मालूम पड़ता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मध्य-भारत के रूप में पुराणों में नंदियशस् के साथ उल्लिखित नागराज शिवनन्दि होगा, पर पुराणों में जिन राजाओं का उल्लेख हुआ है, वे बहुत पहले के हैं। अतः इस कारण यह पहचान सम्भव नहीं है।

(९) **बलवर्मा**—कुछ इतिहासकारों की ऐसी धारणा है कि वह हर्षवर्धन के समकालिक आसाम नरेश भास्करवर्मन का पूर्वज था।[1] पर वर्मन नामान्त होने के कारण उसे आसाम-नरेश कहना उपयुक्त नहीं होगा। अभिलेख में आसाम का उल्लेख आर्यावर्त्त से भिन्न स्वतंत्र रूप में हुआ है।

आर्यावर्त्त के इन नौ राजाओं के सम्बन्ध में ई० जे० रैप्सन की ऐसी धारणा थी कि वे कदाचित् पुराणों में उल्लिखित नव नाग हैं। उनकी इस कल्पना में असंभव जैसी कोई भी बात नहीं जान पड़ती है। डॉ० पी० एल० गुप्त ने इन नव नागवंशी राजाओं की पुष्टि इस तरह की है कि नागों के 'उच्छेदक के रूप में गुप्तों का लांछन गरुड़ सार्थक है।'[2] उसे आर्यावर्त में दो बार अपना अभियान चलाना पड़ा था। इसकी सत्यता हमें प्रयाग प्रशस्ति के १३–१४ एवं २१–२३ पंक्तियों में मिलती है। उसने प्रथम अभियान में अच्युत और नागसेन को हराया था किन्तु २१ वीं पंक्ति में फिर उनका उल्लेख है। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्हें समाप्त नहीं किया गया होगा। पद्मावती क्षेत्र में भी संभवतः उसको दो बार जाना पड़ा। निकटवर्ती राज्यों को हराकर उनको अपने राज्य में मिलाकर उसने गुप्त साम्राज्य की सीमा काफी विस्तृत कर ली थी। डॉ० आर० के० मुकर्जी ने भी इस बात का समर्थन किया है कि दूसरे आर्यावर्त्त के युद्ध में उसने शेष राज्यों को बलपूर्वक खतम करके अपने साम्राज्य में मिला लिया था।

---

१. देखिए राखालदास बनर्जी, दि एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० १३, आर० एन० दण्डेकर—हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज, पृ० ५८।

२. वही, पृ० २६१।

(ख) अटवी-राज्य—आर्यावर्त्त के नरेशों को पराजित कर समुद्रगुप्त दक्षिण-विजय की ओर बढ़ा पर मार्ग में पड़ने वाले भू-भाग पर अधिकार स्थापित करना आवश्यक हो गया। अतः समुद्रगुप्त ने आटविक नरेशों को युद्ध में हराकर अपना सेवक बनाया (परिचारिको कृत सर्वाटविक राजस्य—प्रयाग-प्रशस्ति)। ये आटविक नरेश दक्षिण जाने वाले मध्यभारत के जंगलों में अवस्थित थे। फ्लीट के मतानुसार गाजीपुर से लेकर जबलपुर तक ये फैले हुये थे। प्रयाग-प्रशस्ति में कहीं भी इनके नाम तथा उनकी संख्या का उल्लेख नहीं मिलता। पर परिव्राजक-वंश के एक राजा के एक शिलालेख से ऐसा पता चलता है कि आटविक राज्यों की संख्या १८ थी। इस क्षेत्र को 'महाकान्तार' भी कहा गया है जिसे डॉ० एच० सी० राय चौधरी ने मध्य भारत का जंगल माना है तथा एक अन्य इतिहासकार ने जबलपुर से छोटा नागपुर तक झारखंड का क्षेत्र माना है।[1] इन राजाओं को हराने के बाद ही समुद्रगुप्त दक्षिण की ओर बढ़ सका।

आटविक का सामान्य अर्थ 'वनवासी' होता है। मोनियर विलियम्स द्वारा उल्लिखित विन्ध्याटवी सम्भवतः मथुरा से नर्मदा तक की भूमि को कहते थे। इस भू-भाग पर समुद्रगुप्त के अधिकार की बात एरण अभिलेख से भी प्रकट होती है। यह संभव हो सकता है कि इसी भू-भाग को प्रयाग प्रशस्ति में आटविक की संज्ञा दी गयी हो।

(ग) दक्षिणापथ—दक्षिण-विजय के सम्बन्ध में इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है। गंगा और यमुना के दोआब में अपनी प्रभुता स्थापित कर लेने के बाद समुद्रगुप्त दक्षिण-विजय की ओर बढ़ा। प्रयाग-प्रशस्ति की १९ वीं और २० वीं पंक्ति में ऐसा कहा गया है कि उसने सर्व-दक्षिणापथ राज को हरा दिया तथा उसके इस दक्षिण-विजय की तीन विशेषताएँ थीं—(१) ग्रहण (शत्रु पर अधिकार), (२) मोक्ष (शत्रु की मुक्ति) और (३) अनुग्रह (राज्य को लौटाकर शत्रु के प्रति उदारता)। इस अभिलेख में दक्षिणापथ के बारह राजाओं का नाम दिया हुआ है जिसे पराजित कर देने पर उन्हें पकड़ लिया गया और फिर कृपापूर्वक ये मुक्त कर दिए गये थे।

प्रयाग-प्रशस्ति से यह पता लगता है कि समुद्रगुप्त आटविक राज्यों को अपने राज्य में मिलाकर मध्यप्रदेश में पहुँचा और वहाँ से महाकोसल तथा महाकान्तार के मार्ग से होता हुआ कलिंग के पास उसने सभी नरेशों को हरा दिया। अब वह दक्षिण-पूर्व के प्रदेशों को अपने अधीन करते हुए उसने कांची पर आक्रमण किया अगर हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि स्वामिदत्त, दमन तथा कुबेर ने विष्णु-गोप के साथ संघ बनाकर समुद्रगुप्त का विरोध किया तो हमें यह भी मानना

1. IHQ, I, p. 684.

पड़ेगा कि उसका आक्रमण-मार्ग महाकोसल से दक्षिण-पूर्वी भाग से होते हुए कृष्णा तक था। उसके लौटने के मार्ग के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। कुछ लोग यह स्वीकार करते हैं कि वह पश्चिम के मार्ग से लौटा, पर यहाँ यह याद रखना होगा कि उसके अभिलेख में वाकाटकों की पराजय का वर्णन हमें कहीं नहीं मिलता है। वाकाटकों का केन्द्र मध्यभारत में था तथा उसका विस्तार बुलन्दशहर से कर्नाटक तक था। अतः यह ठीक लगता है कि वह जिस पूर्वी भाग के मार्ग से गया था, उसी से लौटा। पश्चिम से अगर वह लौटता तो यह संभव था कि उसे वाकाटकों से उलझना पड़ता। दक्षिण के राज्यों में उसका प्रभाव चेर-राज्य तक पहुंच गया। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने ठीक ही लिखा है कि "वह महाराष्ट्र तथा खानदेश के रास्ते अपनी राजधानी को लौटा।"[1]

दक्षिणापथ के पराजित राजाओं की नामावली इस प्रकार है :—

(१) कोसल का महेन्द्र—यह दक्षिण कोसल था जिसमें महाकोसल, विलासपुर, रायपुर और सम्भलपुर के जिले शामिल थे। इसकी राजधानी श्रीपुर (आधुनिक सिरपुर मध्यप्रदेश में विलासपुर से ४० मील पूरब उत्तर थी)।[2] वहाँ का राजा महेन्द्र था। इस राजा के विषय में हमें किसी अन्य स्रोत से कुछ भी पता नहीं चलता है।

(२) महाकान्तार का व्याघ्रराज—के० पी० जायसवाल ने महाकान्तार का समीकरण कंकर एवं बस्तर से की है और व्याघ्रराज की समानता वाकाटक सामंत युवराज व्याघ्र से स्थापित करते हैं। व्याघ्रराज नामक राजा की चर्चा गंज और नचना कुठारा से प्राप्त अभिलेखों में हुई है। कुछ इतिहासकारों ने इस व्याघ्रराज को बुन्देलखण्ड में उच्छकल्प राजवंश का माना है तथा उसे उसी वंश के जयनाथ का पिता अनुमान किया जाता है। पर इससे इतिहासकारों में मतभेद है क्योंकि जयनाथ का समय कलचुरि संवत् १७४ के रूप में ज्ञात है, इस प्रकार वह चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन था। अतः उसका पिता समुद्रगुप्त का समकालिक कहा जा सकता है। इसी को आधार मानकर आर० डी० बनर्जी ने ऐसा कहा है कि महाकान्तार पूर्वी गोंडवाना का वन्य प्रदेश (विन्ध्य के जंगल) है।[3] स्मिथ के मतानुसार यह राज्य उत्तर में नयना (अजयगढ़) तक फैला रहा होगा।[4] पर इस एकात्मकता के विरुद्ध मुख्य बात तो यही है कि व्याघ्रराज को दक्षिणापथ के शासकों में ही होना चाहिए था उत्तरापथ के शासकों में नहीं।

---

१. प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १८५।

२. का० इ० इ० ३, पृ० २९३, एपि० इण्डि० २३, पृ० ११८।

३. द एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० १४।

४. ज० रॉ० ए० सो०, १९१४, पृ० ३३०।

बुंदेलखण्ड में उसके राज्य के निश्चय हो जाने से वह विन्ध्याचल के उत्तर का नरेश बन जाता है जो तर्कसंगत नहीं है। दूसरी बात यह है कि वह अटवीराज के क्षेत्र में भी आ जाता है जो उसे नहीं आना चाहिए, क्योंकि उसी अभिलेख में अन्य स्थल पर अटवीराज का पूर्ण रूप से अलग उल्लेख मिलता है एवं अन्य विद्वान ने व्याघ्रराज को जयपुर वन (उड़ीसा में) का शासक बतलाया है। इस जयपुर वन को महावन कहा गया है। अतएव महावन एवं महाकांतार में पर्याप्त समरूपता पर इतिहासकारों ने अपनी एकात्मकता प्रस्तुत कर दी पर उचित स्रोत के अभाव में हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि कौन सी एकात्मकता सत्य है।

(३) कुराल का मण्टराज—कीलहर्न के अनुसार यह प्रदेश गोदावरी तथा कृष्णा के बीच कोलेरुकासार था। सम्भवतः यह प्रान्त उड़ीसा तथा मद्रास के बीच था। कुराल अथवा कौरल की पहचान फ्लीट किसी देश अथवा नगर के रूप में करने में समर्थ न हो सके। उन्होंने इसे केरल का अपभ्रंश माना है। पर भौगोलिक कठिनाइयों से उनका यह कहना सर्वमान्य नहीं हो सका। कीलहर्न ने कौरल को कुणाल का अपरूप माना है।[1] कुणाल का उल्लेख ऐहोल अभिलेख में हुआ है जिसे पुलकेशिन द्वितीय ने विजित किया था। के० पी० जायसवाल ने इसकी तुलना कोल्लुरु (कोलेर झील) से करने का प्रयास किया है।[2] जॉन ऐलन ने इनके इस मत का समर्थन किया है।[3] पर यह स्थान वेंगीपुर के निकट है, और दण्डी ने इसे झील के किनारे स्थित आन्ध्रनगरी कहा है। अतः यह वेंगी नरेश हस्तिवर्मन के राज्य के अन्तर्गत रहा होगा, जिनका अभिलेख में स्वतन्त्र रूप से उल्लेख है। डी० आर० भण्डारकर ने इसकी पहचान महानदी के किनारे सोनपुर जिले के ययाति नगर से की है। कवि धोयी के पवनदूतम् में इसका सम्बन्ध केरली से है।[4] पर इस ग्रन्थ में केरली अस्पष्ट है। एल० डी० बार्नेट ने कोरद से इसकी एकात्मता स्थापित की है।[5] आयंगर ने केरल को चेरल मानकर पूर्वी गोदावरी जिले में नागपुर से एकात्मकता मानी है। संथानाथियर ने भी इसे ही स्वीकार किया है।[6]

यह एक विवादास्पद प्रश्न इतिहासकारों के समक्ष है। कोई भी इतिहासकार किसी एक मत पर नहीं आते और अपनी-अपनी दलीलें पेश करते हैं। बी० बी०

---

१. एपि० इ० ६, पृ० ३, इ० ए०, १४, पृ० ५७।
२. वही, पृ० १२७।
३. वही, पृ० २३।
4. IHQ, I, p. 252.
५. बुलेटिन स्कूल ऑव ओरियंटल स्टडीज, २, पृ० ५७०।
६. स्टडीज इन द एन्सियन्ट हिस्ट्री ऑव टोण्डमण्डलम्, पृ० १५।

कृष्णराव ने कुराज की पहचान वेलनौती राजेन्द्र चोल प्रथम के महेन्द्र गिरि स्तम्भ लेख[1] में वर्णित कुलूत (मध्यप्रदेश स्थित चाँदा जिला) के साथ करने की बात कही है।[2] डॉ० एच० सी० रायचौधरी का यह कहना है कि यह गंजाम जिले में रसेलकोण्ड के निकट अवस्थित कोलड है।[3] यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह पूर्वी तटवर्ती पट्टी में ही कहीं अवस्थित था, डेकन के दक्षिणी भाग में नहीं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वह महाकान्तार से अधिक दूर न था तथा वहाँ का राजा मण्टराज था।

(४) पिष्टपुर का महेन्द्रगिरि—गोदावरी जिले में पिष्ठपुर ही आधुनिक पीठापुरम है। उस समय वहाँ का राजा महेन्द्रगिरि था। फ्लीट ने एक वाक्य 'पैष्ठपुरक महेन्द्रगिरि कौहूरक स्वामिदत्त' को इस प्रकार पढ़ा है 'पैष्ठपुरका महेन्द्र तथा गिरि काहूरका स्वामिदत्त।' डॉ० भगवानदास इन्द्र जी ने इसे इस प्रकार कहा है—'पैष्ठपुरक, महेन्द्रगिरिक, अहूरक तथा स्वामिदत्त' (स्वामिदत्त पिष्ठपुर, महेन्द्रगिरि तथा अहूर का शासक था)। किन्तु यह मत इतिहासकारों ने नहीं माना है। उनका ऐसा मत है कि महेन्द्रगिरि एक पर्वत श्रेणी का नाम तो हो सकता है पर एक देश का नहीं। व्याकरण की दृष्टि से भी यह गलत मालूम होता है। अगर यह देश या पर्वत का नाम होता तो इसे माहेन्द्रगिरिक होना चाहिए था न कि 'महेन्द्रगिरिक'। वी० ए० स्मिथ ने इसे पैष्टपुर का महेन्द्रगिरि (पिष्ठपुर का महेन्द्रगिरि) तथा कौहूख स्वामिदत्त (कोहूर का स्वामिदत्त) कहा है जो सर्वमान्य है।

(५) कोहूर का स्वामिदत्त—फ्लीट ने इसे कोयम्बटूर जिले में अन्नमलाई पर्वत के एक दर्रे के नीचे स्थित कोत्तूर से की है। आयंगर ने इसे कोयम्बटूर से ही एकात्मकता स्थापित की है।[4] श्री डुब्रेल ने इसे गंजाम जिले का कोहूर माना है। गंजाम आन्ध्र प्रदेश का एक मुख्य नगर है। सैलेटोर उसे बेलारी जिले में कुडलिगी तालुका स्थित कोत्तूर मानते हैं।[5] संथानाथियर इसे पूर्वी गोदावरी जिले में तूनी के नजदीक कोत्तूर समझते हैं।[6] पर भौगोलिक दृष्टि से इसे गंजाम

१. साउथ इन्डियन इन्सक्रिप्सन्स, ५, सं० १३५।
२. अर्ली डाइनेस्टिज ऑव आंध्रदेश—पृ० ३६६।
३. वही, पृ० ५३९।
४. स्टडीज इन गुप्त हिस्ट्री, पृ० २७।
५. अ० भ० ओ० रि० ई० २६, पृ० १२०।
६. वही, पृ० १५।

जिले में महेन्द्रगिरि से १२ मील दक्षिण-पूर्व स्थित कोथूर[१] या विजिगापट्टम (विशाखापत्तन) जिले में पहाड़ियों के बीच कोत्तूर करना उचित माना गया है।[२] यह राजा स्वामिदत्त के अधीन था।

(६) एरण्डपल्ल का दमन—दमन के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं है तथा यह स्थान गंजाम जिले में चिकाकोल के पास एरण्डपल्ली में है। पर इसके भी समीकरण में इतिहासकारों में मतभेद है। ऐसा कहा जाता है कि एरण्डपल्ल खानदेश का एरण्डोल है।[३] जॉन ऐलन[४] तथा वाई० आर० गुप्ते[५] ने इसका समर्थन किया है। एरण्डपल्ल का वर्णन कलिंग के देवेन्द्र वर्मन के सिद्धान्तम् ताम्रशासन में हुआ है और वह कलिंग में था। श्री डुब्रेल ने हमारा ध्यान इस ओर स्पष्टतः आकर्षित किया है। उनका कहना है कि कलिंग में इसकी पहचान तीन स्थानों से हो सकती है। सर्वप्रथम विजिगापट्टम (विशाखापत्तन) जिले के शिकाकुल के नजदीक स्थित एरण्डपल्ली हो सकता है। इसकी दूसरी पहचान उसी जिले के एण्डपल्ली से भी हो सकती है तथा तीसरी पहचान एलोर तालुका के एण्डपल्ली से भी हो सकती है।[६] पर संथानाथियर की ऐसी धारणा है कि वह पश्चिमी गोदावरी जिले के चेण्टलपुडी तालुका स्थित एर्रगुण्टपल्ली है।[७]

काञ्ची का विष्णुगोप—विष्णुगोप काञ्ची का शासक था। इसे प्रारम्भिक पल्लव नरेश माना गया है जिनका उल्लेख उरुवयाकी एवं नेडुंगराय अभिलेखों में मिलता है। काञ्ची आधुनिक चेंगलपुट जिले का प्रसिद्ध काञ्चीपुरम है। यह राज्य संभवतः कृष्णा के मुहाने से लेकर पालेर नदी और कहीं-कहीं तो कावेरी नदी के दक्षिण फैला हुआ था।

(८) अवमुक्त का नीलराज—इसकी राजधानी गोदावरी के निकट पिथुंडा थी। यह कांची और वेंगी के मध्य कोई छोटा-सा राज्य रहा हो। के० पी० जायसवाल ने इस नाम और हाथीगुम्फा अभिलेख में वर्णित आवा जिसकी राजधानी पिथुंडा कहा गया है, समानता स्थापित की है।[८] एच० सी० रायचौधरी को यहाँ के राजा नीलराज के नाम से गोदावरी जिले में येमाम के नजदीक नील-

१. वही, पृ० ५३६।
२. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, विजिगापट्टम्, १, पृ० १३७।
३. फ्लीट, कॉ० इ० इ०, ३, पृ० १३।
४. वही, पृ० २३-२६।
५. हिस्ट्री ऑफ द गुप्ताज—पृ० ५२।
६. ऐनसियन्ट हिस्ट्री ऑफ डेकन, पृ० ५२-६१।
७. वही, पृ० १५।
८. वही, पृ० १३८।

पल्ली नामक समुद्रतटवर्त्ती प्राचीन पत्तन का ध्यान हो आया है।[1] ब्रह्मपुराण (११३।२२) में गोदावरी (गौतम) के किनारे अविमुक्त क्षेत्र से इसकी तुलना की गयी है।

(९) वेंगी का हस्तिवर्मन—हस्तिवर्मन वेंगी का राजा था। यह स्थान एलेर में पेडपेगी से मिलता है। यह वेंगी या पेडपेगी गोदावरी जिले के एल्लोर तालुका में एक गाँव है। हुल्श ने हस्तिवर्मन की तुलना सन्त आनन्द के वंश के अत्तिवर्मन या अहोवर्मन से की है।[2] यह पल्लव जाति के कन्दर नरेश के परिवार से सम्बन्धित था। आयंगर ने ऐसा मत दिया है कि वह एल्लोर तालुके का शालंकायन महाराज था।[3]

(१०) पालक का उग्रसेन—पालक का राजा उग्रसेन था। यह स्थान नेलोर जिले में है किन्तु कुछ लोग इसे कृष्णा जिले में मानते हैं। प्रारम्भ में वी० ए० स्मिथ ने[4] इसकी पहचान मालावार जिले के उत्तर स्थित पाल घाट या पलल्लडु से की थी पर बाद में डुब्रेल ने[5] यह सिद्ध कर दिया कि समुद्रगुप्त मालावार की ओर कभी गया ही नहीं। रायचौधरी ने पालक को गुण्टूर या नौलोर स्थित पलक्कड या पालत्कट से समीकरण किया है।[6] वेंकैया ने यह स्वीकार किया है कि अनेक पल्लव शासनों में राजधानी के रूप में पालक नाम का वर्णन हुआ है अतः यह वही पालक हो सकता है जो नेलोर जिले में कृष्णा के दक्षिण स्थित था।[7] ऐलन[8] तथा रामदास[9] ने भी पालक को नेलोर जिले में माना है।

(११) देवराष्ट्र का कुबेर—श्री वाई० आर० गुप्ते, फ्लीट तथा स्मिथ ने देवराष्ट्र को महाराष्ट्र में माना है। संथानाथियर ने भी इसी में विश्वास किया है पर डुब्रेल ने इतिहासकारों का ध्यान विजिगापट्टम (विशाखापत्तन) जिले के कासिम कोट से जो ताम्रशासन प्राप्त हुआ है, उस पर आकृष्ट करता है तथा उसमें देवराष्ट्र का उल्लेख एक प्रदेश के रूप में किया गया है। यह ताम्रशासन पूर्वी

१. वही, पृ० ५४०।
२. इ० ए०, ९, पृ० १०२, इ० हि० क्वा; १, पृ० २५३।
३. इ० हि० क्वा; १९२७, पृ० ४२९, १९३३, पृ० २१२।
४. अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, ४ था सं०, पृ० ३०१।
५. ऐन्सियन्ट हिस्ट्री ऑव डेकन, पृ० ६०।
६. वही, पृ० ५४०।
७. हिस्ट्री ऑफ दि गुप्ताज, पृ० ५४।
८. वही, पृ० २३।
९. इ० हि० क्वा०, १, पृ० ६९८, एपि० इ०—२४, पृ० १४०।

चालुक्य भीम प्रथम का है। उसमें देवराष्ट्र प्रदेश में स्थित एलमांची नामक गाँव की चर्चा है। एलमांची की तुलना विशाखापत्तन जिला स्थित एलामांचिली से की जा सकती है। इसकी पुष्टि एक अन्य अभिलेख से होती है जिसमें ऐसा कहा गया है कि पिष्टपुर गुणवर्मन शासित देवराष्ट्र राज्य का अङ्ग था।[1] कुवेर वहाँ का शासक था।

(१२) कुस्थलपुर का धनंजय—कुस्थलपुर का शासक धनंजय था। दक्षिण अभियान में विजित राज्यों की सूची में यह अन्तिम नाम है। निश्चित रूप से इस स्थान की अभी तक पहचान नहीं हो सकी है। उत्तरी अर्काट में पोलर के नजदीक कुट्टलूर नामक स्थान को एल० डी० बार्नेट ने स्वीकार किया है।[2] पर आयंगर का मत है कि यह प्रदेश कुशस्थली नदी के आस-पास था।[3]

(घ) सीमान्त राज्य और गण—

आर्यावर्त्त एवं दक्षिणापथ में समुद्रगुप्त के विजयों ने सीमान्त राज्यों और गणों को भयभीत कर दिया जिससे उन्होंने विना किसी प्रकार का युद्ध किये ही समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली तथा वे सभी सर्वकर दान (सभी प्रकार के वार्षिक कर, उपहार), आज्ञाकरण (आज्ञा पालन) तथा प्रणामागमन आदि से उसके प्रचण्ड शासन का परितोष करने को उत्सुक रहने लगे थे (सर्वकर दान-आज्ञाकरण-प्रणाम-आगमन-परितोषित-प्रचण्ड-शासनस्य)। इन सीमान्त नृपों में पूर्व और उत्तर के पाँच राजे तथा पश्चिम एवं उत्तर-पश्चिम के नौ गणराज्य थे—

सीमान्त राज्य

(१) समतट (गंगा का मुहाना),
(२) दवाक (ढाका के आस-पास की भूमि),
(३) कामरूप (आसाम),
(४) नेपाल और
(५) कर्तृपुर (पूर्वोत्तर पंजाब एवं पश्चिमोत्तर युक्त प्रान्त)।

गणराज्य

(१) मालव (अजमेर-टोंक-मेवाड़),[4]
(२) आर्जुनायन (अलवर-पूर्वी जयपुर),
(३) यौधेय (यमुना के बहावलपुर तक सतलज की घाटी),

---

१. ए० इ०, २३, पृ० ५७।

२. कलकत्ता रिव्यु, फरवरी १९२४, पृ० २५३।

३. वही, पृ० २७।

४. गणराज्यों के विस्तृत इतिहास के लिए देखिये—डॉ० महेश कुमार शरण—ट्राइबल क्वायन्स-ए स्टडी, दिल्ली, १९७२।

(४) मद्र (रावी और चेनाव के बीच)
(५) आभीर (सुराष्ट्र, मध्यभारत में पार्वती और वेतवा के बीच),
(६) प्रार्जुन (मध्यप्रदेश में नृसिंहपुर के पास),
(७) सनकानिक (भिलसा के पास),
(८) काक (भिलसा के ही पास),
(९) खरपरिक (मध्यप्रदेश में दमोह के पास),

सीमान्त राज्य

(१) समतट—गंगा तथा ब्रह्मपुत्र की धाराओं के बीच के भाग में स्थित यह पूर्वी वङ्गाल के समुद्रतट का प्रदेश है। कोमिल्ला के नजदीक कर्मान्त इसकी राजधानी थी। बृहत्संहिता के आधार पर भारत का पूर्वी भाग समतट कहलाता था। ह्वेनसांग ने इसे ताम्रलिप्ति से पूर्व समुद्रतटवर्ती प्रदेश बताया है।

(२) दवाक—समतट तथा कामरूप के मध्य में दवाक का वर्णन मिलता है। फ्लीट ने इसकी पहचान आधुनिक ढाका (बंगलादेश) से की है।[1] स्मिथ ने ऐसा माना है कि इसका तात्पर्य बोगरा, दिनाजपुर और राजशाही जिलों के प्रदेश से है।[2] भण्डारकर ने इसे चटगाँव एवं त्रिपुरा का पर्वतीय भू-भाग बतलाया है।[3] पर पी० एल० गुप्त ने इसे आसाम में नवगाँव स्थित डवाक माना है।[4] अतः यह राज्य कपिलो-यमुना (कोलोंग) की घाटी में फैला हुआ था।[5]

(३) कामरूप—आसाम के गौहाटी जिले से इसका तात्पर्य है। उस समय यहाँ वर्मन राजा राज्य करते थे।

(४) नेपाल—समुद्रगुप्त के समकालीन नेपाल का राजा जयदेव था। इसी राजा के समय में नेपाल में गुप्तसंवत् का प्रचलन हुआ था।

(५) कर्तृपुर—नेपाल के बाद समुद्रगुप्त ने कर्तृपुर पर आक्रमण किया था जिससे यह पता लगता है कि कुमायूं, गढ़वाल एवं रुहेलखण्ड के इलाके पहले इसमें सम्मिलित थे जिसमें कटपुर राज्य थे।[6] इसका आधुनिक नाम कर्त्तारपुर भी बतलाया जाता है जो पंजाब के जालंधर जिले में है। यहीं से समुद्रगुप्त पश्चिम

---

१. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० ९।
२. वही, पृ० ३०२।
३. इ० हि० क्वा०—१, पृ० २५७।
४. वही, पृ० २६२।
५. क० ल० बरुआ—अर्ली हिस्ट्री ऑव कामरूप, पृ० ४२
६. जे० आर० ए० एस०, १८९८, पृ० १९८-१९९।

की ओर मुड़ा था। कुछ लोगों ने इसकी पहचान मुल्तान और लोहानी के बीच स्थित कहरोर से की है।[१]

गणराज्य

(१) मालव—मालव अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध है। इन्होंने अपनी वीरता से सिकन्दर के भारत पर आक्रमण के समय उसके सैनिकों के दाँत खट्टे कर दिए थे तथा स्वयं सिकन्दर को घायल कर आगे बढ़ने के वदले पीछे मुड़ने की ओर बाध्य किया।[२] उस समय यह जाति उत्तर-पश्चिम सीमा पर रहती थी पर बाद में इन्हें राजपूताना (अजमेर-टोकं-मेवाड़) की ओर जाना पड़ा। इनके नाम पर ही उस स्थान का नाम मालवा पड़ा। समुद्रगुप्त के आक्रमण के समय ये जाति मध्यभारत में थी। मालव मल्लोई के भी नाम से प्रसिद्ध हैं। महाभारत में भी इनका वर्णन है।[३] पाणिनि ने भी इसका वर्णन अपनी काशिकावृत्ति में किया है। राजस्थान के टोंक के निकट कर्कोटनगर से इनके सिक्के काफी मात्रा में मिले हैं। यहीं उनका उषवदत्त—(जो नहपान का दामाद था) से संघर्ष हुआ था और ऐसा संभव है कि वे कुछ काल के लिए परास्त भी कर दिये गये थे।[४] पर शीघ्र वे स्वतन्त्र हो गये तथा शक्तिशाली वन गये। इनके सिक्कों पर 'जय मालवगणस्य जयः' लिखे हुए हैं। समुद्रगुप्त के समय मालवों का अधिकार मेवाड़, टोंक और दक्षिण-पूर्वी राजस्थान के सटे हुए भू-भाग पर था।

(२) आर्जुनायन–बृहत्संहिता में यौधेयों के साथ इनका उल्लेख मिलता है तथा प्रयाग प्रशस्ति में मालव एवं यौधेय के मध्य में। इनका प्राचीनतम उल्लेख पाणिनि के अष्टाध्यायी के भाष्य में मिलता है।[५] ई० पू० १०० के आस-पास के इसके सिक्के कनिंघम को मथुरा से प्राप्त हुये थे।[६] वे आगरा और मथुरा के पश्चिम, दिल्ली-जयपुर-आगरा के बीच के रहनेवाले वतलाये जाते हैं। भरतपुर एवं अलवर राज्य में भी इनके सिक्के मिले हैं जिनपर 'अर्जुनायनानां जयः' लिखा हुआ है।[७]

(३) यौधेय—पाणिनि ने इन्हें आयुधजीवि संघ के रूप में वर्णन किया है।[८]

---

१. जर्नल इण्डियन हिस्ट्री, १४, पृ० ३०।

२. देखिए ट्राइबल क्वायन्स ए स्टडी—महेशकुमार शरण—अध्याय ३—द मालवाज Cf. "Alexander and the Mālavas", The Māgadhī, MUJ, 1971, p. 121–127.

३. सभापर्व ३२।७।

४. इ० ऐ०—१२, पृ० २७, १३९, एपि० इ० ८, पृ० ७८, पंक्ति ४।

५. ४।२; ५।३।

६. क्वायन्स ऑव ऐन्सियन्ट इण्डिया, प्लेट ८, सिक्का २५।

७. इण्डियन म्युजियम कैट०, पृ० १६१।

८. अष्टाध्यायी, २५।३। ११४।

महाक्षत्रप रुद्रदामन द्वारा १५० ई० में योधेयों के हराये जाने का उल्लेख मिलता है। ये यौधेय वीर की उपाधि धारण करने वाले क्षत्रिय थे।[1] भरतपुर के बयाना के समीप विजयगढ़ से प्राप्त एक लेख में यौधेयों का नाम लिखा हुआ है जिसमें उनके 'महाराज महासेनापति' उपाधि धारण करने वाले राजा का उल्लेख है।[2] पंजाब की बहावलपुर के याहिया नामक जाति यौधेयों के वंशज कहलाते हैं तथा यौधेयों के नाम पर ही उस प्रदेश का नाम योहियावार पड़ा है। यौधेयों के सिक्के काफी प्राप्त हुये हैं जिन पर 'यौधेयानां-गणस्य जयः' और 'भगवतो स्वामिन ब्राह्मण यौधेयदेवस्य' लिखे हुये हैं।[3] उनके प्राचीनतम सिक्के दूसरी-पहली शती ई० के हैं। उनसे यह ज्ञात होता है कि उन दिनों वे लोग बहुधान्यक प्रदेश (हरियाणा) में रहते थे तथा रोहितक (रोहतक) उनकी राजधानी थी। वे लोग स्वतंत्र प्रिय थे और वे किसी की अधीनता स्वीकार करना पसन्द नहीं करते थे। यही कारण है कि उन्हें अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए भटकना पड़ा था। ई० पू० पहली शताब्दी में वे किसी समय पश्चिमी आक्रामकों से रक्षा करने के लिए दक्षिण-पूर्व की ओर चल पड़े तथा भरतपुर तक उत्तर-पूर्वी राजस्थान में फैल गए पर जब वे रुद्रदामन से पराजित हो गए तो वे पुनः हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में चले आये। तीसरी शताब्दी में वे पश्चिम की ओर चले गए और व्यास तथा सतलज के बीच के मैदान में अपना आवास बनाया। उन दिनों उनकी राजधानी लुधियाना के पास सुनेत थी। समुद्रगुप्त के समय वे लोग इसी प्रदेश में थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय इन्होंने कुणिन्द एवं आर्जुनायनों के साथ संघ बनाकर उनका मुकाबला किया था।

(४) मद्र—पाणिनि ने इनकी भी गणना अपने अष्टाध्यायी में की है।[4] ये प्राचीन-काल में उत्तर पश्चिम में निवास करते थे। झेलम रावी के बीच का भाग मद्रदेश के नाम से जाना जाता था। इनका उल्लेख उपनिषदों के साथ-साथ महाभारत में भी हुआ है।[5] उनकी राजधानी शाकल (सियालकोट) थी तथा वे वाहीक देश (पंजाब) में रहते थे। उनका विभाजन पूर्व और अपर दो भागों में हुआ था। पूर्व मद्र रावी से चिनाव तक तथा अपर मद्र चिनाव से झेलम तक फैले हुए थे।[6] समुद्रगुप्त के आक्रमण के समय इनका निवास-स्थान यौधेयों के

---

१. 'सर्वक्षत्राविष्कृतवीर शब्द जातोत्सेका विधेयानां यौधेयानां।
२. कॉ० इ० इ०, इ० न० ५८, पृ० २५१-२५२।
३. महेश कुमार शरण—ट्राइबल क्वायन्स ए स्टडी अध्याय—२ द यौधेयाज।
४. 'मद्रवृज्ययो कन्। ४।२।१३१।
५. महाभारत—उद्योगपर्व अध्याय ८, वनपर्व, अ० २९२, कर्णपर्व अ० ४५।
६. वासुदेव शरण अग्रवाल—इण्डिया ऐज नोन टू पाणिनि, पृ० ५२।

दक्षिण राजस्थान में पग्घर के किनारे बीकानेर के उत्तर-पूर्वी सीमा पर भद्र नामक स्थान पर रहते थे। पाणिनि ने भद्र और मद्र दोनों को एक ही माना है।

(५) आभीर—सिकन्दर के आक्रमण के समय यह जाति भी विद्यमान थी। यूनानियों ने इसे शूद्र (Sodrai) कहा है। आभीरों का वर्णन महाभारत में भी मिलता है। उनका निवास स्थान सरस्वती और विनशन के नजदीक अर्थात् निचले सिन्धु काँठे और पश्चिमी राजस्थान में बतलाया गया है। पातंजलि के महाभाष्य में भी इस जाति का उल्लेख है।[1] इनकी दो शाखाएँ थीं जिनमें प्रथम शाखा पंजाब तथा दूसरी शाखा मध्यभारत में निवास करती थी। दूसरी शताब्दी में इनकी शक्ति काफी बढ़ गई थी। आभीरों का सेनापति ईश्वरसेन था। इसकी सत्यता गुण्डा अभिलेख से प्राप्त होती है। पेरिप्लस एवं टालमी ने इन्हें अबीरिया कहा है।[2] आभीर लोग पश्चिमी क्षत्रपों की सेना के सेनापति पदों पर थे और बाद में वे मध्यप्रदेश में बस गए जिसके कारण झाँसी और विदिशा के बीच का प्रदेश 'अहीरवार' कहलाता है।[3] यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता है कि समुद्र-गुप्त ने आभीरों की दोनों शाखाओं को अपने अधीन कर लिया था।

(६) प्रार्जुन—ऐतिहासिक रूप में इस जाति के निवास–स्थान का कोई निश्चित समीकरण नहीं हो सका है। वी० ए० स्मिथ ने प्रार्जुनों को मध्यप्रदेश के नृसिंहपुर जिले में बतलाया है।[4] पर कौटिल्य ने इनका उल्लेख गान्धारों के साथ किया है।[5] अर्थशास्त्र की एक टीका में उन्हें चाण्डाल-राष्ट्र कहा है जिसका मतलब होता है कि वे अपनी संस्कृति में असभ्य एवं अभारतीय थे।

(७) सनकानिक—चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि के अभिलेख में सनकानिक महाराज का उल्लेख मिलता है जिससे यह पता लगता है कि ये लोग गुप्तों के अधीन थे। इन लोगों का निवान-स्थान विदिशा के प्रदेश में था।[6] पर उसी काल में एक और गणपतिनाग थे जिन्हें विदिशा का शासक कहा जाता था। प्रयाग-प्रशस्ति के प्रशस्तिकार श्री हरिषेण ने उन्हें प्रार्जुनों और काकों के बीच रखा है।

(८) काक—ये सनकानिकों के पड़ोसी थे। महाभारत में काकों का उल्लेख मिलता है जो ऋषिक, तंगण, प्रतंगण और विट्भ लोगों के साथ रहनेवाले

---

१. १।१।३।
२. इ० ऐ०, ३, पृ० २६६।
३. जे० आर० ए० एस०, १८९७, पृ० ८९१।
४. वही।
५. शामशास्त्री कृत अनुवाद, पृ० १०४।
६. पौ० हि०, ऑव ए० इ०, ५ वां सं०, पृ० ५४६।

बतलाये गये हैं।[1] ऋषिक यू-ची हैं, तंगण पुराणों के आधार पर काश्मीर के निकट के रहनेवाले तथा विट्ल लोग यू-ची की ही एक शाखा थे। अतः यह स्पष्ट हो गया है कि काक लोग भी उत्तर-पश्चिम के रहे होंगे। डॉ० आर० डी० बनर्जी ने काकों की पहचान कश्मीर के काकों से की है।[2] पर वी० ए० स्मिथ ने इसकी तुलना साँची के प्रदेश से जोड़ा है और ऐसा इसलिए कि वहाँ काकनादवोट नामक एक विहार था।[3]

बम्बई गजेटियर में काक की समता विठुर के निकट काकपुर से की गयी है।

(९) खर्परिक—भण्डारकर ने खर्परिक को मध्यप्रदेश के दमोह जिले में बसा हुआ माना है।[4] वतिहगढ़ या वटियागढ़ अभिलेख में खर्पर जाति का उल्लेख मिलता है।[5] पर इस अभिलेख से यह एकदम पता नहीं लगता कि खर्पर उस प्रदेश के ही मूल निवासी रहे हों।

उपर्युक्त सभी गणराज्य मध्यप्रान्त तथा मध्य भारत के प्रदेशों में रहनेवाले थे तथा समुद्रगुप्त ने इन्हें अपनी अधीनता स्वीकार करने को वाध्य किया था।

(ङ) विदेशी राज्य

समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमाओं से सटे भारत के भीतर और बाहर विदेशी राज्य थे जिनसे समुद्रगुप्त ने राजनीति की उचित चाल चलकर उनसे मित्रता स्थापित कर ली। ये विदेशी राज्य इस प्रकार वर्णित किये गए हैं :—

(१) दैवपुत्रशाही शाहानुशाही—[6]
(२) शक
(३) मुरुण्ड और
(४) सैंहल

(१) दैवपुत्रशाही शाहानुशाही—यह कुषाण राजाओं का उपाधिमात्र है पर कुषाणों ने भी इसे चीनियों से ग्रहण किया था। देवपुत्र, चीनी सम्राट् की

---

१. महा० ६।६।६४।
२. वही, पृ० २३।
३. जे० आर० ए० एस० १८९७, पृ० ८९२।
४. इ० हि० क्वा० १९२५, पृ० २५८।
५. एपि० इ० १२, पृ० ४६।
६. 'दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहि शकमुरुण्डैः।
सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्म ॥
निवेदन कन्योपायन दानगरुत्मदंक।
स्वविषयभुक्ति शासन याचनाधुपाय सेवाकृत वाहवीर्य प्रसर धरणि बन्धस्य।'

उपाधि तेन-त्ज का शाब्दिक अनुवाद है। शाहानुशाही ईरानी सम्राटों की उपाधि है जो बैक्ट्रियन और भारत के शक राजाओं के माध्यम से उनके कुषाण उत्तराधिकारियों तक पहुँची थी। यह महाराजाधिराज का ईरानी रूप है। शाही, शाहानुशाही में प्रयुक्त मूल शब्द हैं जिसका प्रयोग कनिष्क के एक लेख में हुआ है।[1] अतः इतिहासकारों ने यह माना है कि दैवपुत्रशाही शाहानुशाही उत्तर पश्चिम स्थित कुषाण वंश के उन परिवारों से है जो अपनी उत्पत्ति दैवपुत्र कनिष्क से मानते थे। किन्तु यह भी सर्वमान्य नहीं हो सका और इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में विभिन्नता है। आर० सी० मजूमदार ने इन सब दैवपुत्र शाहीशाहानुशाही पद को केवल एक कुषाण शासक का बोधक माना है जिसका राज्य काबुल, पंजाव के कुछ भाग तथा आगे पश्चिम की ओर कुछ दूर तक था।[2] स्मिथ ने इसे ग्रम्बेट माना जिसने सन् ३५० ई० के लगभग सासानी राजा शापुर द्वितीय की भारतीय हाथियों के एक दल से मदद की थी।[3] एच० सी० रायचौधरी ने कुषाणों के अलावे सासानियों को भी इसमें बतलाया है।[4] बुद्ध प्रकाश ने इन समस्त पदों को कुषाणों की उपाधि माना है तथा इन्होंने इसका काल ३५० से ३५६ ई० के बीच निर्धारित किया है, उस समय कुषाणों पर सासानियों का दबाव जोरों पर था। इस काल में कुषाण नरेश ने समुद्रगुप्त की उभरती हुयी शक्ति के साथ मैत्री-सम्बन्ध करके उनकी सहायता प्राप्त की थी जिसकी झलक प्रयाग अभिलेख में मिलती है।[5] अल्तेकर ने इसे किदारों की उपाधि स्वीकृत किया है जो 'मूलतः सासानियों के करद थे।'[6]

ऐसा संकेत मिलता है कि यह एक राजा की उपाधि न होकर तीन छोटे-छोटे राज्यों का बोधक रहा हो जिनमें कुषाण-सम्राज्य बंट गए थे। इस सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि चीनी इतिहासकारों ने बार-बार भारत के दैवपुत्र (ति-पोनो-फो-तान-लो) का वर्णन किया है जिसका मतलब भारत के किसी अज्ञात सम्राट् से न होकर दैवपुत्र उपाधि-धारी राजा से है। कैनेडी का यह कहना है कि भारत के देवपुत्र को पंजाब में होना चाहिए था क्योंकि चौथी शताब्दी के चीनी इतिहासकारों ने इस देश को हाथियों के लिए प्रसिद्ध बताया है।[7] शाहि के सम्बन्ध में

१. एपि० इ० १७, पृ० ११।
२. वाकाटक गुप्त एज, पृ० १३५।
३. जे० आर० ए० एस० १८९७, पृ० ३२।
४. वही, पृ० ५४५।
५. स्टडीज इन इन्डियन हिस्ट्री ऐण्ड सिविलिजेसन, पृ० २६८।
६. वाकाटक गुप्त एज, पृ० २२।
७. जे० आर० ए० एस० १९१२ पृ० ६८२, १९१३, पृ० १६२।

ऐलन का यह सुझाव है कि इसका प्रयोग किदार कुषाण करते थे जिसे उन्होंने अपने पूर्वाधिकारियों से ग्रहण किया था। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि शाहि कुषाणों की एक शाखा विशेष की उपाधि थी जिसका सम्बन्ध गान्धार से था।[1]

(२) शक—प्राचीन काल में शकों का आधिपत्य पश्चिम तथा मध्यभारत में था। यहाँ शक नरेशों का अभिप्राय सौराष्ट्र के शक क्षत्रप तथा मध्यभारत के शक नरेशों से है। इन्हीं शक नरेशों का एक अभिलेख साँची के निकट प्राप्त हुआ जिससे यह पता चलता है कि महादण्डनायक श्रीधर वर्मन सन् ३१९ के लगभग शासक था।

(३) मुरुण्ड—मुरुण्डों की कोई पृथक् जाति नहीं थी ऐसा स्टेन कोनो ने स्वीकार किया है। उन्होंने मुरुण्ड का अर्थ स्वामिन् वतलाया है। अतः इस शक मुरुण्ड से शकराजा का वोध होता है। मत्स्य पुराण में यवन और तुषार के साथ मुरुण्ड शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे यह पता लगता है कि यह जाति यवनों के साथ पश्चिमोत्तर प्रान्त में निवास करती थी। इसमें चाहे जो भी हो, पर इसमें तनिक भी सन्देह करने की जरूरत नहीं है कि यह जाति उत्तर-पश्चिमी सीमान्त में निवास करती थी तथा उन्होंने समुद्रगुप्त से मित्रता स्थापित की थी।

कुछ विद्वानों ने शक-मुरुण्ड को कुषाण-उपाधि-धारी राजा से भिन्न किसी राजा अथवा राज्य से अर्थ वतलाया है। उनका ऐसा कहना है कि ये पश्चिम भारत के शक होंगे जो क्षत्रपों के नाम से विख्यात हैं और जिनकी राजधानी उज्जयिनी थी तथा वे चष्टन और रुद्रदामन के वंशज थे। पर प्रयाग-प्रशस्ति में वे जिस रूप में प्रयुक्त हुए हैं उससे ये राजे उत्तर-पश्चिम के थे न कि पश्चिम के। कुछ इतिहासकारों ने शक को शाक माना है जिनके सिक्कों का अनुकरण समुद्रगुप्त ने किया था। इसी प्रकार कुछ इतिहासकारों ने मुरुण्ड को शक से भिन्न माना है। स्टेन कोनो ने इन्हें कुषाण कहा है।[2] विल्सन ने इसे हूणों की एक जाति बतलाया है और उनकी पहचान टॉलमी के मुरुण्डाई से की है।[3] सिल्वाँ लेवी ने उन्हें शक अथवा कुषाण कहा है।[4] उन्होंने इसे चीनी शब्द म्यूलोन में पहचाना है जिसका प्रयोग तीसरी शताब्दी में फूनान (कम्बोडिया) जानेवाले चीनी राजदूत ने भारत के किसी प्रादेशिक राजा की उपाधि के रूप में किया है। टॉलमी ने मुरुण्डाई को गंगा के बायें किनारे पर घाघरा नदी से दक्षिण की ओर बतलाया

१. ब्रि० म्यु० मु० पू० गु० वं० भूमिका, पृ० २७।
२. का० इ० इ० १, पृ० १४३।
३. एशियाटिक रिसर्चेज ८, पृ० ११३।
४. मेनगेज चार्ल्स द हार्ल्स, लाइडन, १८९६, पृ० १७६-८५।

है। लेवी का ऐसा कहना है कि यूनानी और चीनी विवरण काफी मिलते हैं और उनका समर्थन जैन-ग्रन्थों से भी हो जाता है। जैन ग्रन्थों में मुरुण्डराज को कान्यकुब्ज का शासक माना गया है तथा वह पाटलिपुत्र में रहता था। पर इन सब तथ्यों से यही पता चलता है कि ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में गंगा के किनारों में मुरुण्डों का एक शक्तिशाली राज्य था। मत्स्यपुराण में उन्हें विदेशी तथा वायुपुराण में आर्य म्लेच्छ कहा गया है। संभव है ये लोग लम्पाक के निवासी हों जो अलीयाल और कुमार नदी के बीच काबुल नदी के उत्तरी किनारे पर था।[1]

कुछ इतिहासकारों का ऐसा भी मत है कि समूचा पद दैवपुत्र-शाही-शाहानुशाही-शक-मुरुण्ड केवल एक राज्य का द्योतक है। इसे कनिंघम ने सबसे पहले कहा था।[2] उनका यह कहना है कि दैवपुत्र-शाही-शाहानुशाही के साथ-साथ शक-मुरुण्ड भी उत्तरवर्त्ती कुषाणों का बोधक है। उन्होंने हमारा ध्यान जेडा अभिलेख पर आकर्षित किया है जहाँ मुरुण्ड के बदले मोरेंड (राजा की उपाधि) का प्रयोग हुआ है और वह कनिष्क के ११ वें राजवर्ष का है। इसकी व्याख्या कोनो ने राजा या लॉर्ड के रूप में की है। इन सबों से यही निष्कर्ष निकलता है कि वह कुषाण सम्राट् के उपयुक्त राजकीय उपाधि थी। टॉलमी के कथनानुसार गंगरिडाइ—गंगा के किनारे के उत्तर-पश्चिम का भाग मुरुण्डों का निवास-स्थान था। इन दोनों बातों को जोड़कर वीवर ने इस प्रकार कहा है कि—'मुरुण्ड उपाधि का प्रयोग कुषाणों ने कनिष्क के समय आरम्भ किया, पीछे वह गंगा के उपरले काठे में रहनेवाले कुषाण उपनिवेशकों के लिये सामान्य रूप में व्यवहृत होने लगा। इस प्रकार समुद्रगुप्त के अभिलेख में कुषाण सम्राटों द्वारा प्रयुक्त उपाधियों के माध्यम से कुषाण साम्राज्य के शक-कुषाण राजाओं की चर्चा की गई है। वे या तो पुराने कुषाण वंश के अवशेष थे अथवा वे सासानी सामन्त थे जिन्हें उभरते हुये गुप्तों ने पूर्ववर्त्ती कुषाणों के चिर-परिचित उपाधियों के माध्यम से उल्लेख किया है। उनका यह भी कहना है कि समुद्रगुप्त ने सम्भवतः कुषाणों पर सासानियों के विजय का लाभ उठाकर ध्वस्त मुरुण्ड-साम्राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा की। वे अपनी इस बात का समर्थन उन सिक्कों में देखते हैं जिनपर समुद्र नाम मिलता है तथा जो बनावट में उन कुषाण सिक्कों के समान है जिनके मुरुण्डों के सिक्के होने का अनुमान वे करते हैं। उनका यह भी कहना है कि गुप्त सिक्कों की भाँति के सिक्के पश्चिम के राजाओं ने भी चलाये थे। यह इस बात का द्योतक हो सकता है कि समुद्रगुप्त और उनके

१. लैसेन, इण्डिशे अलतरतुम्स कुण्डे, १, पृ० ५४८, जे० आर० ए० एस०, १८९७, पृ० ८८४-८६।

२. न्यु० क्रॉ०, १८९३ पृ० १७६।

उत्तराधिकारियों का इन विदेशी राजाओं पर किसी रूप में प्रभुत्व था।"[1] इन समस्त पदों के औचित्य एवं अनौचित्य के पचड़े में पड़े बिना हम यह कह सकते हैं कि अफगानिस्तान और उसके आस-पास जो शक-कुषाण राजा अथवा राजे थे, उनके साथ गुप्तों के मैत्री सम्बन्ध काफी दृढ़ हो चुके थे।

(४) **सैंहल**—ऊपर हमने उत्तर-पश्चिमी सीमान्त विदेशी राज्यों का उल्लेख किया है जिन्होंने समुद्रगुप्त के आक्रमण से सुरक्षित रहने के वास्ते मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया था पर इनके अतिरिक्त समुद्र पार के मित्रों के रूप में प्रयाग-प्रशस्ति में केवल सिंहल का नाम आया है। सिंहल द्वीप से लंका का तात्पर्य है। मेघवर्ण यहाँ का शासक था जो समुद्रगुप्त के समकालीन था। उसने समुद्रगुप्त से मैत्री स्थापित की थी तथा अपने दूत के हाथ बहुमूल्य रत्नादि उसे भेंट के रूप में भेजे थे। मेघवर्ण ने ही समुद्रगुप्त से आज्ञा लेकर बोधगया में एक बौद्ध मठ एवं विश्रामगृह का निर्माण कराया था जिसका वर्णन ह्वेनसांग ने किया है।[2]

इसके अतिरिक्त प्रयाग-प्रशस्ति में 'सर्वद्वीपवासिभिः' लिख दिया गया है। अन्य कौन-कौन द्वीप थे, इसका उल्लेख नहीं किया गया है। एच० सी० रायचौधरी ने इस अभिलेख के आधार पर जिसमें समुद्रगुप्त को वरुणेन्द्रसम कहा गया है, कहा है कि पड़ोसी समुद्र के द्वीपों पर उनका किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण अवश्य था।[3] आर० सी० मजूमदार का भी मत है कि अभिलेख में संभवतः मलय प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा तथा भारतीय द्वीप समूह के अन्य द्वीपों के हिन्दू उपनिवेशों की ओर संकेत किया गया है। भारतीयों ने गुप्त काल में अथवा उससे पहले ही इन भूभागों में अपने उपनिवेश एवं राज्य स्थापित कर लिए थे। उन पर गुप्तकालीन संस्कृति की गहरी छाप देखने को मिलती है। अतः मजूमदार का कहना है कि 'अन्य सभी द्वीप वासियों' द्वारा की जाने वाली बात कोरी कल्पना नहीं कही जा सकती।[4]

समुद्रगुप्त ने उपर्युक्त विदेशी शासकों से मैत्री स्थापित की। उसने उन लोगों के साथ निम्नलिखित शर्तों पर सेवा और सहयोग की संधियाँ की :—

(१) आत्मनिवेदन (मैत्री का प्रस्ताव-समर्पण)।

(२) कन्योपायन (राजमहल में सेवा के लिए कन्याओं का उपहार—मैत्री को दृढ़ बनाने के लिए राजकुमारियों का दान)।

---

१. पी० एल० गुप्त, वही, पृ० २७१।

२. गेगर, महावंस, अनु० पृ० ३९।

३. पी० हि० ऑव० ए० इ०—५ वाँ सं०, पृ० ५४७।

४. वाकाटक गुप्त एज, पृ० १५१।

(३) दान—(उपहार—स्थानीय वस्तुओं की भेंट) ।

(४) अपने देशों में शासन करने के लिए गुप्तों का गरुत्मदङ्क (गरुड़ की मूर्त्ति से अंकित मुद्रा) स्वीकार करना—(उनकी स्वायत्तता और सुरक्षा (स्वविषयभुक्ति) को प्रमाणित करनेवाली मुद्रांकित सनदों का याचन) ।

इन शर्तं से ऐसा मालूम पड़ता है कि विदेशी राज्य उसके अधीन मित्र थे ।

साम्राज्य-विस्तार

चन्द्रगुप्त प्रथम के काल में गुप्त-साम्राज्य में दक्षिण-विहार, प्रयाग, साकेत तथा गंगा तटवर्त्ती मध्यदेश शामिल थे पर इस दिग्विजय के बाद इनके चारों ओर के दूरस्थ भू-भाग भी साम्राज्य की सीमा में आ गये । उसके प्रत्यक्ष शासन के अन्तर्गत पूर्व में सुदूर दक्षिण-पूर्वी भाग को छोड़कर सारा बंगाल था । उत्तरी सीमा हिमालय के पर्वतीय भागों तक थी । पश्चिम में वह यौधेय, मद्र और आर्जुनायनों को छूती थी तथा उसके अन्तर्गत लुधियाना के पूर्व के जिले सम्मिलित थे । उसकी सीमा लुधियाना से दक्षिण हिसार तक एक कल्पित रेखा को छूती थी तथा वहाँ दिल्ली की ओर दक्षिण-पूर्व बढ़ती थी तथा दिल्ली से यमुना के किनारे-किनारे चलकर फिर पूरब की ओर मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश) की ओर आ जाती थी । वहाँ से वह दक्षिण रीवाँ के भू-भाग को बचाती हुयी पश्चिम की ओर बढ़ती जाती थी तथा सागर और दमोह के जिलों को अपने में पूरा कर लेती थी । दमोह से जबलपुर तथा वहाँ से पूरब की ओर विन्ध्य पर्वत-माला के किनारे-किनारे घने जंगलों वाले पर्वतीय प्रदेशों से होते हुए महानदी तक और पुनः महानदी के किनारे-किनारे समुद्र तक पहुँचती थी । इस तरह उसके साम्राज्य के अन्तर्गत कश्मीर, पश्चिमी पंजाब, राजस्थान, सिन्ध और गुजरात को छोड़कर लगभग सारा उत्तर भारत था और जबलपुर के पूर्व मध्यभारत का पठार भी उसके राज्य में सम्मिलित था । चीन से भी उसके सम्पर्क की बात कही जाती है ।

इन सब को देखते हुए यह पता चलता है कि समुद्रगुप्त ने अपने को एक विस्तृत साम्राज्य का स्वामी बना लिया । उसने आर्यावर्त, दक्षिणापथ, आटविक राज्यों, सीमान्त राज्य एवं गण तथा द्वीपों के नरेशों पर विजय प्राप्त की, पर समस्त विजित देशों को अपने अधिकार में नहीं किया । विभिन्न देशों के प्रति उसकी पृथक्-पृथक् नीति थी । सुदूर देशों से उसने मैत्री की, दक्षिण के शासकों को अपनी छत्रच्छाया में रखकर उन्हें स्वतंत्र रूप से शासन करने का अधिकार दिया तथा आर्यावर्त एवं आटविक राज्यों को अपने राज्य के अन्तर्गत मिला लिया । उसने देशवर्द्धन की नीति नहीं ग्रहण की बल्कि उसकी दिग्विजय का मुख्य ध्येय अपनी विजय पताका फहराना था ।

अश्वमेध यज्ञ—अपने विजयों के फलस्वरूप उसने सारे भारत पर अपने आधिपत्य को नियमतः स्थापित करने के लिए समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया जिसका परिचय सिक्कों तथा उनके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों से मिलता है। इस यज्ञ का अनुष्ठान सार्वभौम प्रभुता का सूचक था। इसने इस उपलक्ष में सोने के सिक्के भी ढलवाये। उन सिक्कों पर एक ओर यूप में बँधे हुये घोड़े की मूर्त्ति है तथा दूसरी ओर हाथ में चँवर लिए हुए उसकी रानी का चित्र अंकित है तथा सिक्कों पर 'अश्वमेध पराक्रमः' लिखा हुआ है।

एक उत्कीर्ण गुप्त लेख से यह मालूम होता है कि उसने बहुत दिनों से उच्छिन्न अश्वमेध का पुनरुद्धार किया। आंध्रों, भारशिवों तथा वाकाटकों ने भी अश्वमेध यज्ञ किये थे पर वास्तव में विदेशी सत्ता से मुक्त सम्पूर्ण भारत की राजनीतिक एकता का द्योतक अश्वमेध बहुत दिनों के बाद समुद्रगुप्त ने ही किया। समुद्रगुप्त के लिए उसके वंशजों ने 'चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्त्तुः' कहा है जिससे यह स्पष्ट होता है कि चिरकाल से न होने वाले अश्वमेध यज्ञ का उसने फिर से अनुष्ठान किया। समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ को बहुत ही विस्तार से किया था और संभवतः भूले जा चुके कर्मों को फिर से उसने उसमें सम्मिलित करने का प्रयत्न किया था। हमने ऊपर यह कहा है कि समुद्रगुप्त के पूर्व भी आन्ध्र, भारशिव तथा वाकाटकों ने भी अश्वमेध का अनुष्ठान किया था पर इनमें से किसी भी राजा ने दिग्विजय नहीं किया था। समुद्रगुप्त ने अश्वमेध के पहले दिग्विजय किया था और तब बाद में अश्वमेध किया जो विधिवत् था। इसी से गुप्त लेख पर कहे गए तथ्य सार्थक मालूम पड़ते हैं कि समुद्रगुप्त ने दीर्घकाल के बाद पूर्ण रूप से राजसूय यज्ञ किया था।

मुद्राएँ—समुद्रगुप्त ने विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ जारी की। ध्वज प्रकार की मुद्राओं से उसकी प्रभुशक्ति प्रकट होती है। धनुर्धर तथा युद्ध-परशु प्रकारों से उसकी सामरिक शक्ति का आभास मिलता है। वीणा-वादक प्रकार से उसके संगीतप्रेम का तथा अश्वमेध प्रकार से उसकी सामरिक विजय का परिचय प्राप्त होता है। व्याघ्रहन्ता-प्रकार की मुद्राओं से वन्य पशुओं पर प्रेम तथा वनभूमियों पर उसकी विजय का पता लगता है। उसके सिक्कों पर राजा की वेशभूषा, दुर्गा, लक्ष्मी, कार्त्तिकेय आदि देवी-देवताओं के चित्र, व्याघ्र, सिंह, गैंडा, हाथी आदि भारतीय पशुओं के चित्र तथा गरुडध्वज का अंकन मिलता है। उसके सिक्कों पर कुषाणों का भी प्रभाव देखने को मिलता है। मुद्राओं पर उसे निम्नलिखित उपाधियाँ या उपनाम दिये गए हैं:—अप्रतिवार्यवीर्य, अजितराजजेताजितः, व्याघ्रपराक्रमः, धरणीबन्धस्य, मृदुहृदय, अनुकंचा, लोकानुग्रह, विग्रहवान, अमनुज और कविराज भी कहा गया है। उसके सिक्के ६ प्रकार के हैं:—

(१) गरुड़ध्वजांकित—इस प्रकार के सिक्कों में सम्राट् के बायें हाथ के नीचे समुद्र या समुद्रगुप्त अंकित है तथा पास में पराक्रम लिखा हुआ है।

(२) दूसरी श्रेणी के सिक्कों में अप्रतिरथो विजित्य क्षिति सुचरितैः दिवे जयति लिखा हुआ है।

(३) तीसरी श्रेणी के सिक्कों में चारों ओर गोलाई में कृतान्त परशुर्जय-त्याजतराजजेताजितः लिखा हुआ है।

(४) चौथे प्रकार के सिक्के में व्याघ्रपराक्रमः और राजा समुद्रगुप्त लिखा हुआ है।

(५) पाँचवीं श्रेणी के सिक्कों में संगीत प्रेमी सम्राट् का चित्र है।

(६) छठे प्रकार के सिक्के में राजाधिराजः पृथ्वीं विजित्वा दिवंजयत्याहृत बाजिमेधः एक ओर तथा दूसरी ओर अश्वमेध पराक्रमेः लिखा हुआ हे। उसने सोने तथा तांबे के सिक्कों का प्रचलन किया था।

समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व, चरित्र एवं इतिहास में उसका स्थान और मूल्यांकन :—

व्यक्तित्व—वह वहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति था। वह कुशल राजनीतिज्ञ एवं अद्वितीय योद्धा था। वह एक सुसंस्कृत व्यक्ति था और काव्य के क्षेत्र में उसकी प्रतिभा अद्वितीय थी। विद्वानों का आदर करना एवं उनसे संवन्ध वनाये रखना वह अपना परम कर्त्तव्य समझता था। संगीत से उसे बड़ा ही प्रेम था। उसके सिक्के पर वीणा वजाती हुयी उसकी आकृति उसके इस रुचि को प्रदर्शित करती है। प्रख्यात कवि हरिषेण उसके दरबार में था जिसने प्रयाग प्रशस्ति को रचा। वह स्वयं काव्यरचना करता था। एरण अभिलेख से हमें उसके पारिवारिक जीवन के विषय में पता चलता है। उसका पारिवारिक जीवन वड़ा ही सुन्दर और सुखमय था। शास्त्रज्ञ, कवि और संगीतज्ञ समुद्रगुप्त विद्वानों, कवियों और कलाकारों का आश्रयदाता था। उसने अपने उदार पुरस्कारों के माध्यम से सरस्वती और लक्ष्मी के विरोध को मिटा दिया था।[1]

धर्म के मामले में वह बड़ा ही उदार था। धार्मिक क्षेत्र में वह परम्परागत धर्म की मर्यादा को स्थापित करने वाला था। वह शास्त्रों के अनुकूल मार्ग पर चलने वाला था। वह गरीवों, असहायों, अनाथ तथा आतुर लोगों का उद्धारक था। सांसारिक जीवों के प्रति कृपा करना—उसके जीवन का परम कर्त्तव्य था।

---

१. यह माना गया है कि सरस्वती के उपासक विद्वानों के पास धन (लक्ष्मी) नहीं होता। वे गरीब और असहाय रहते हैं।

"सत्काव्य श्रीविरोधान्बुधगुणितगुणाज्ञाहतानेव कृत्वा।
विद्वल्लोकेऽविना शिस्फुट बहुकविता-कीर्तिराज्यं भुनक्ति ।। प्रयाग प्रशस्ति।

समुद्रगुप्त विष्णु भगवान का भक्त था—यह उसके गरुत्मदङ्क (गरुड़ की मूर्त्ति से अंकित मुद्रा) से मालूम होता है। वह बौद्ध धर्मावलम्बियों को भी आदर एवं सम्मान देता था। उसने नालन्दा विश्वविद्यालय को अपार धनराशि दान के रूप में दी थी तथा अनेक जैन मतावलम्वी उसके दरबार में आश्रय प्राप्त करते थे। बौद्धभिक्षु वसुबन्धु को उसने अपने उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त का गुरु नियुक्त किया था। प्रयाग प्रशस्ति में उसकी उपमा चार देवताओं से की गई है। उसमें लिखा गया है कि वह कुवेर के समान धनी, वरुण के समान दानी, इन्द्र के समान वीर तथा यम के समान दण्ड देने में कठोर था।

समुद्रगुप्त का मूल्यांकन एवं इतिहास में उसका स्थान—विश्व के सभी दिग्विजयी राजाओं में समुद्रगुप्त का स्थान सर्वोपरि है। वह वड़ा ही पराक्रमी, शूर तथा रणकुशल था। वह सरस्वती का वरद-पुत्र भी था। वह एक प्रतिभा-सम्पन्न शासक भी था। वह राजनीति में भी चतुर और होशियार था। वह अपनी सार्वभौमिकता के लिए कभी भी कठोरता का व्यवहार नहीं करता था बल्कि निर्वल और पराजित राष्ट्रों के प्रति उसने उदारता का बर्ताव किया। अपने साम्राज्यवादी विस्तार के क्रम में उसने साम, दाम, दण्ड और भेद का व्यवहार किया। इस सिलसिले में प्रयाग-प्रशस्ति में निम्नलिखित नीतियों का उल्लेख है :—(१) राजग्रहण मोक्षानुग्रह, (२) राज प्रसभोद्धारण, (३) परचारीकृत, (४) करदानाज्ञाकरण प्रणामागमन, (५) भ्रष्ट्रराज्योत्सन्न राजवंश प्रतिष्ठा, (६) आत्मनिवेदन, (७) कन्योपायनदान, (८) गरुत्मदंक स्वविषय-भुक्ति शासन याचना, एवं (९) प्रत्यर्पणा। इन सवों से उसकी नीति निपुणता तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कुशलता का पता चलता है। उसने एकराष्ट्र साम्राज्य की स्थापना की और स्वतंत्रता का फिर से शंखनाद किया। इससे गुप्तसाम्राज्य को उसने स्थायित्व प्रदान किया।

वी० ए० स्मिथ ने समुद्रगुप्त की तुलना नेपोलियन से की है। नेपोलियन एक महान् विजेता एवं कुशल सेनानायक था। उसने अपनी विजयों से सम्पूर्ण यूरोप को भयभीत कर दिया था। उसने अपने जीवन में अनेक युद्धों को अद्भुत तरीके से सम्पन्न किया तथा इसमें उसे आश्चर्यजनक सफलताएँ प्राप्त हुयीं। ठीक इसी प्रकार समुद्रगुप्त ने अपने रण-कौशल से सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त किया तथा दक्षिण पर भी उसने अपनी वीरता की छाप अंकित कर दी। उत्तरी भारत के नौ राजा तथा दक्षिण के वारह राजाओं को लड़ाई में हराकर उसने उन्हें अपना सेवक बना लिया तथा उसके अद्भुत रण-कौशल से प्रभावित होकर अनेक सम्राटों तथा गणराज्यों ने बिना युद्ध के ही उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। विदेशी राज्यों ने भी भयभीत होकर उसको अपना सम्राट् स्वीकार कर लिया तथा उसके सम्मुख

नत-मस्तक होने लगे। इस दृष्टिकोण से समुद्रगुप्त नेपोलियन के समान ही प्रतीत होता है। नेपोलियन ने यूरोप में जो कुछ किया था वही समुद्रगुप्त ने भारत में किया। पर समुद्रगुप्त नेपोलियन से भी महान् प्रतीत होता है क्योंकि नेपोलियन ने जहाँ इतनी विलक्षण सफलताएँ प्राप्त की थीं वहाँ उसे ट्रैफलगार तथा वाटरलू के युद्धों में भीषण असफलताओं का मुख भी देखना पड़ा था। वाटरलू के युद्ध में तो उसका सम्पूर्ण साम्राज्य विनष्ट करके उसको सेण्ट हेलेना के निर्जन द्वीप में रहने के लिए विवश कर दिया गया। पर समुद्रगुप्त को अपने जीवन में किसी भी पराजय का अनुभव नहीं हुआ। वह जीवन भर सफलताएँ प्राप्त करता रहा तथा लगभग बीस वर्षों तक शासन किया। समुद्रगुप्त भारतीय इतिहास में पराक्रमांक की उपाधि से जाना जाता है। ३७५ ई० में उसकी मृत्यु हुयी जिसे सभी स्वीकार करते हैं पर उसके राज्यारोहण के सम्बन्ध में विवाद है। ३२५ या ३३५ ई० से वह ३७५ ई० तक शासन किया।

रामगुप्त

समुद्रगुप्त के बाद कौन गुप्त साम्राज्य की गद्दी पर बैठा, यह अभी तक एक विवादास्पद प्रश्न है। लगभग ५० वर्ष पूर्व किसी भी इतिहासकार को यह पता नहीं था कि रामगुप्त नाम के एक महान् सम्राट् ने भी भारतवर्ष पर राज्य किया था।[1] समुद्रगुप्त के एरण उत्कीर्ण लेख से यह मालूम होता है कि उसके बहुत से पुत्र और पौत्र थे। उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त उसके बाद सिंहासन पर बैठा। पर उत्कीर्ण गुप्त वंशावलियों में रामगुप्त का नाम नहीं मिलता। इसका यह भी कारण हो सकता है कि उसका शासन-काल अल्प और अयशपूर्ण था। उसको कोई पुत्र नहीं था। अतः समुद्रगुप्त के बाद उसके दूसरे पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय से राजवंश चला। पर, अल्तेकर तथा अन्य इतिहासकारों ने यह सिद्ध किया है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के पहले रामगुप्त का शासन था।[2]

साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर समुद्रगुप्त के बाद शर्मगुप्त या रामगुप्त गद्दी पर बैठा। वह बड़ा ही कमजोर शासक सिद्ध हुआ। शक-शासक ने रामगुप्त पर आक्रमण किया। इस आक्रमण को दबाने के लिए दोनों में संधि प्रस्ताव लाया गया। संधि के फलस्वरूप रामगुप्त ने अपनी धर्मपत्नी ध्रुवदेवी को शकों को देने का वादा किया। पर उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त को, जो स्वयं वीर और साहसी था, यह बात नहीं जँची। उन्होंने ध्रुवदेवी को शत्रु-शिविर में न जाने देकर स्वयं

---

१. देखिये—डॉ० उपेन्द्रठाकुर, *'The Rāmagupta Legend'*, Some Aspects of Ancient Indian History and Culture, New Delhi, 1974, pp. 1–21.

2. J. B. O. R. S., vol. XIV, pp. 223–253; XV, pp. 134–41.

उसके वेश में जाने का निश्चय किया। तब 'नारी वेशधारी' कुछ अन्य सैनिकों के साथ चन्द्रगुप्त ने शक शिविर में प्रवेश किया। ऐसा करने में वह सफल हुआ तथा उसने शकपति को मार डाला। तत्पश्चात् रामगुप्त भी मार डाला गया। रामगुप्त की मृत्यु के बाद ध्रुवदेवी ने चन्द्रगुप्त द्वितीय से विवाह कर लिया।

विशाखदत्त रचित 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक संस्कृत नाटक में रामगुप्त का उल्लेख है। उसकी ऐतिहासिकता की पुष्टि हर्षचरित (६२० ई०), संजन ताम्रपत्र (८७१ ई०), काम्बे तथा संगलीदानपत्र, मुजमुलुत् तवारीख (१०२६ ई०), शृंगार-प्रकाश (१०१८–६० ई०) तथा शंकर प्रणीत हर्षचरित-टीका से होती है। इन अभिलेखों एवं साहित्यिक प्रमाणों के अलावे मुद्राओं से भी उसके ऐतिहासिक अस्तित्व का प्रमाण हमें मिल पाता है।

वाणरचित 'हर्षचरित' में ऐसा उल्लेख है कि चन्द्रगुप्त ने 'कामिनीवेश' में मीरपुर में 'परकलत्र कामुक शकपति' की हत्या की।[1] राष्ट्रकूट अमोघवर्म प्रथम के संजन ताम्रपत्र अभिलेख में इस बात का ऐसा वर्णन है कि किसी दानी-गुप्त-नरेश ने अपने भाई का राजसिंहासन ले लिया तथा उसकी दीन स्त्री को भी। इसके आधार पर कुछ इतिहासकार उपर्युक्त घटना की पुष्टि करते हैं। इस ताम्रपत्र में 'गुप्तान्वय' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसकी पहचान गुप्त + अन्वय = गुप्त का वंशज = चन्द्रगुप्त द्वितीय से है। इसी प्रसंग में काम्बे तथा संगलीदान पत्रों में 'साहसोक' का उल्लेख है जिसे चन्द्रगुप्त द्वितीय ही माना गया है। 'मुजमुलत् तवारीख' नामक फारसी ग्रंथ में वर्णित रवाल तथा वरकमारीश की पहचान क्रमशः राममुप्त तथा विक्रमादित्य से की गयी है। के० पी० जायसवाल के अनुसार इस ग्रन्थ में काव्यमीमांसा की इस कथन की पुष्टि होती है कि रामगुप्त शकपति द्वारा रुद्धमति कर दिया गया क्योंकि इस ग्रन्थ में ऐसा उल्लेख है कि रासल के पुत्र ने रवाल (रामगुप्त) को एक पर्वतीय दुर्ग में घेर लिया। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि अपने मंत्री की सलाह पर रवाल ने ध्रुवदेवी को देना स्वीकार किया था।

काव्यमीमांसा के अनुसार श्री शर्मगुप्त = रामगुप्त खषाधिपति द्वारा अवरुद्ध होकर ध्रुवस्वामिनी को देने के लिए वाध्य हुआ। काव्यमीमांसा के साक्ष्य का देवीचन्द्रगुप्तम् से यहाँ प्रत्यक्ष विरोध है। देवीचन्द्रगुप्तम् में रामगुप्त द्वारा ध्रुवस्वामिनी को शकराज को देने की अनुमति का उल्लेख है पर काव्यमीमांसा से ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुवस्वामिनी वस्तुतः दे दी गयी थी। इस विरोध के निवारण के लिए वी० वी० मिराशी यह तर्क देते हैं कि काव्यमीमांसा के

१. "परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तः चन्द्रगुप्तः शकपतिमासतयत्।"

लेखक राजशेखर का उद्देश्य रामगुप्त की कायरतापूर्ण असफलता का चित्रण कर अपने नाम का महत्त्व बढ़ाना था। वास्तव में ध्रुवस्वामिनी दी गई या नहीं, उसके लिए विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं पर भोज के शृंगार प्रकाश में भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि चन्द्रगुप्त ने 'स्त्री वेश' धारण कर अलिपुर में शत्रु के स्कन्धागार में शकपति की हत्या की।

'हर्षचरित टीका' में रामगुप्त सम्बन्धी घटनाओं के सूक्ष्म सूत्रों की व्यापकता दी गई है। उपर्युक्त सभी साधनों से रामगुप्त-सम्बन्धी घटनाओं का ज्ञान होता है और इन सब से यही निष्कर्ष निकलता है कि रामगुप्त अत्यन्त शक्तिहीन एवं असमर्थ था। विभिन्न साधनों से उसके और शकों के बीच हुये युद्ध का वर्णन मिलता है पर गुप्त लेखों से इसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो पाती। साहित्यिक प्रमाणों से हमें उस स्थान का पता नहीं लगता जहाँ पर रामगुप्त तथा शकों में युद्ध हुआ था। काव्यमीमांसा के लेखक राजशेखर ने पर्वतीय प्रदेश में कार्त्तिकेय नगर के समीप इस युद्ध के होने की सम्भावना प्रकट की है।[1]

किसी भी गुप्त अभिलेख में जो राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये गए हैं, रामगुप्त का उल्लेख नहीं है और यह सम्पूर्ण कहानी बाद की उपज मालूम पड़ती है। बाण ने रामगुप्त या ध्रुवदेवी का उल्लेख किया है। अगर हम इस बात को मान भी लेते हैं कि किसी रामगुप्त की शकों के साथ लड़ाई हुयी थी तो वह रामगुप्त भिलसा क्षेत्र का कोई स्थानीय शासक रहा होगा, न कि गुप्तवंशीय समुद्रगुप्त का वास्तविक उत्तराधिकारी।[2] अतएव विरोधी इतिहासकारों ने इसी से रामगुप्त की ऐतिहासिकता मानने से इन्कार कर दिया है। एक इतिहासकार ने ऐसा लिखा है कि लेखों में उत्कीर्ण सूचियाँ अधिक अंश में वंशावलियाँ होती हैं। वे किसी एक ही परिवार के सदस्यों की सूचना देती हैं। अतएव उनसे यथार्थता की अपेक्षा करना दुष्कर कार्य है। राजवंशीय सूचियाँ इन अभिलेखों में कम ही होती हैं और समकालीन शासकों को तो अक्सर ये उपेक्षित करती हैं।[3] एक इतिहासकार ने ऐसा लिखा है कि यह कदापि विश्वास करने की चीज नहीं है कि जिन शक-मुरुण्डों को स्वयं समुद्रगुप्त ने गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत किया था, वे तुरंत कैसे

1. "The praises of (Chandragupta) are sung by women of Kārttikeyanagar, just on that Himalaya from where śarma (Rama?) Gupta was forced to retreat, after giving over his queen to the king of Khasas (Shakas)."

२. राधाकृष्ण चौधरी, वही., पृ० ३२३।

3. "Epigraphical lists are usually genealogical and not dynastic and they often omit collateral rulers."

उठ खड़े हुये और उसके पुत्र को पराजित किया। और अगर किया भी तो किस स्थान में ? इतनी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख गुप्त-अभिलेखों में क्यों नहीं है ? एवं महान् समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी को एक विदेशी नरेश ने इतनी बुरी तरह हराया कि वह अपनी स्त्री देने तक को विवश हो गया। अपने शत्रु को स्त्री उपहार रूप में देना जितना निन्दनीय कार्य है, उसके लिए हमारे पास शब्द नहीं है और उस नरेश द्वारा जिसकी नसों में समुद्रगुप्त का खून बहता था, यह कार्य करना घोर अपमान एवं तिरस्कार है।[1]

लेकिन उपर्युक्त वर्णित मुजमुलूत् तवारीख की घटनाओं की सत्यता का अध्ययन करते हैं तो यह साफ-साफ जाहिर होता है कि रामगुप्त की सेना शक नरेश द्वारा पूर्णरूपेण हटा दी गई थी तथा रामगुप्त शकाधिपति की दया पर स्थिर था। अतएव ऐसी हालत में उसने शक-नरेश की अपमान जनक शर्त को स्वीकार कर ली। इतिहासकारों में रामगुप्त की स्थिति को लेकर काफी मतभेद है। कुछ इतिहासकार तो यहाँ तक कहते हैं कि वह सम्राट् न रहा हो और वह एक प्रान्तीय राज्यपाल रहा हो। इसकी पुष्टि वे यों करते हैं कि उसका नाम महान् गुप्त वंशावलियों में नहीं आता है। यह हम जानते हैं कि गुप्तकाल में राज-परिवार के व्यक्ति प्रान्तीय गवर्नर के रूप में नियुक्त किये जाते थे। गोविंद गुप्त वैशाली का गवर्नर था। रामगुप्त और चन्द्रगुप्त संभवतः भाई या भतीजे थे जो बुन्देलखण्ड में राज्य कर रहे थे। शकाधिपति ने प्रान्तीय गवर्नर रामगुप्त की पत्नी की माँग की थी न कि सम्राट् रामगुप्त की।

अगर इसकी सत्यता हम जाँचेंगे तो साहित्यिक साक्ष्यों के विरुद्ध जा पायेंगे। इन साहित्यिक साक्ष्यों में रामगुप्त का वर्णन नरेश के रूप में है न कि प्रान्तीय गवर्नर के रूप में। संजन ताम्रपत्र में अज्ञात गुप्त-नरेश की दानवीरता का वर्णन किया गया है जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है। एक गवर्नर इतने लाख रुपये दान में व्यय नहीं कर सकता। समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त जैसे महान् सम्राट कभी भी अपने गवर्नर की जो कि उनका निकट सम्बन्धी हो; इस प्रकार की दयनीय परिस्थिति नहीं देख सकते तथा वे अपने वंश पर कलंक का टीका नहीं

---

1. 'It is difficult to believe that the inheritor of the mighty empire of Samudragupta could be so decisively by a Śaka king that he had no means of saving his army or kingdom save by consenting to an act which would be regarded as the most ignomisious by any king in any age or country, not to speak of mighty emperor of the golden age of India who had the blood of Samudragupta running in his veins.'

थोप सकते। हमने यह देखा है कि इस विषम परिस्थिति में रामगुप्त और चन्द्रगुप्त किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करते हैं। यह वास्तव में उनके पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न सम्राट् होने का ही प्रमाण है। अगर वे प्रान्तीय गवर्नर होते तो अनिवार्य रूप से अपने स्वामी की सहायता लेते।

रामगुप्त के सम्बन्ध में उपलब्ध साक्ष्यों में परस्पर विरोध है। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के एक उद्धरण के आधार पर अल्तेकर चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा रामगुप्त की हत्या की संभावना स्वीकार करते हैं। लेकिन जायसवाल इस प्रकार का निष्कर्ष उचित नहीं मानते हैं। हर्षचरित में न तो 'भ्रातृजाया' का उल्लेख है न ध्रुवदेवी का और न रामगुप्त की हत्या का।

रामगुप्त सम्बन्धी सभी साक्ष्यों को लेकर जो ऐतिहासिक स्वरूप खड़ा किया गया है, उसकी सबसे बड़ी कमजोरी रामगुप्त की मुद्राओं का अभाव है तथा जो मुद्राएँ साक्ष्य के रूप में मिलती भी हैं, वे भी निर्णायक नहीं हैं। भंडारकर का ऐसा मत है कि 'राम' 'काच' का अशुद्ध रूप है। उन्होंने सोने के सिक्कों के कांच और अनुश्रुतियों के रामगुप्त को एक मानकर इसे दूर करने की चेष्टा की थी। उनका ऐसा कहना है कि रामगुप्त, जो देवीचन्द्रगुप्तम् के उपलब्ध अवतरणों में केवल एक बार आया है, काचगुप्त का अपपाठ है।[1] पर स्वयं इन सिक्कों से ज्ञात होता है कि उन्हें रामगुप्त का नहीं ठहराया जा सकता। वे सिक्के काचगुप्त के हैं जो रामगुप्त से बहुत पहले हुआ था।

रामगुप्त के सिंह-प्रकार के सिक्कों को कुछ विद्वान गुप्तवंशीय रामगुप्त के ही मानते हैं। पर कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो उसे मालवा का स्थानीय शासक मानते हैं। उसके कुछ ताँबे के भी सिक्के मिले हैं जो विदिशा एवं अन्य स्थानों में पाये गये हैं। उन पर स्पष्ट रूप से रामगुप्त गुप्तकालीन अक्षरों में लिखा हुआ है।[2] ये सिक्के बनावट, शैली एवं तौल में चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिक्कों के बराबर हैं। इन सिक्कों पर गरुड़ की भी आकृति है जो अन्य गुप्त राजाओं के सिक्कों पर मिलती है। इनसे यह साफ-साफ सिद्ध हो जाता है कि ये सिक्के गुप्तवंश के हैं तथा रामगुप्त भी गुप्तवंश के अवश्य होंगे। जबतक रामगुप्त के गरुड़ प्रकार के सिक्के हमारे पास नहीं मिले थे, आर० सी० मजूमदार ने रामगुप्त को गुप्तवंशीय शासक होने में सन्देह व्यक्त किया था। इन्होंने उसे मालवा का कोई स्थानीय राजा समझा था।

रामगुप्त की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए हमारे पास अभी एक और नयी सामग्री मिली है। विदिशा नगर के नजदीक वेस नदी के तटवर्ती एक टीले से खुदाई

---

१. मालवीय कॉमोमोरेसन वाल्यूम, पृ० १८६।

२. ज० न्यू० सो० ऑफ इ०, १२, पृ० १०३; १३, पृ० १२८।

करते समय कुछ मूर्त्तियाँ मिली हैं। इन मूर्त्तियों की संख्या तीन हैं तथा वे जैन तीर्थङ्करों की हैं। पहली तथा दूसरी मूर्त्ति पहचान ली गयी है पर तीसरी मूर्त्ति की पहचान नहीं हो पायी है। मूर्त्तियों पर लेख भी हैं, कुछ तो विल्कुल ही नष्ट हो गए हैं और कुछ पढ़ने लायक हैं। लेखों को पढ़कर भारतीय पुरातत्त्व विभाग के लिपि-विशेषज्ञ श्री जी० एस० गाइ ने यह सिद्ध किया है कि उन मूर्त्तियों को महाराजाधिराज रामगुप्त ने निर्मित करवाया था। उनका यह कहना है कि लिपि के आधार पर ये प्रतिमाएँ गुप्त काल की कही जा सकती हैं। के० डी० वाजपेयी ने लेख की लिपि को चौथी शताब्दी का माना है क्योंकि उनकी लिपि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के साँची और उदयगिरि के गुहा लेखों से मिलती है। इस तथ्य के साथ रामगुप्त के लिये लेख में 'महाराजाधिराज' उपाधि का प्रयोग इस बात को सवल रूप से प्रमाणित करता है कि रामगुप्त गुप्तवंश का सम्राट् था।

हमने ऊपर लिखा है कि राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये गये किसी भी गुप्त अभिलेख में रामगुप्त का उल्लेख नहीं है। इस क्रम में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि स्कन्दगुप्त गुप्त-वंश का प्रसिद्ध राजा था पर उनके उत्तराधिकारियों ने अपने अभिलेखों में उसकी उपेक्षा की है। उनके किसी भी अभिलेख में उनकी कोई चर्चा नहीं है।[1] इस प्रकार के उदाहरण अन्य वंशों में भी पाये गये हैं जहाँ दायादों की उपेक्षा की गयी है। पश्चिमी क्षत्रपों में दामधसद प्रथम एक प्रसिद्ध क्षत्रप और महाक्षत्रप हुये हैं पर उसके भाई रुद्रसिंह प्रथम और भतीजे रुद्रसेन प्रथम के अभिलेखों में जो वंशावली दी गई है, उसमें कहीं भी उनका नाम नहीं दिया गया है। इस आधार पर पी० एल० गुप्त ने ऐसा स्वीकार किया है कि यदि गुप्त शासकों के अभिलेखों में रामगुप्त का कोई उल्लेख नहीं मिलता तो वह आश्चर्य जैसी तो कोई बात नहीं है।[2]

इन सभी सामग्रियों को देखते हुये इसमें तनिक भी संदेह करने की जरूरत नहीं है कि समुद्रगुप्त का पुत्र और चन्द्रगुप्त द्वितीय का बड़ा भाई रामगुप्त एक गुप्त सम्राट् था तथा राधाकृष्ण चौधरी का यह विश्वास करना कि 'राज्यारोहण के पूर्व ही रामगुप्त की मृत्यु हो गयी होगी और समुद्रगुप्त के मरने पर चन्द्रगुप्त द्वितीय ही गद्दी का अधिकारी हुआ होगा'[3] तर्कसंगत नहीं मालूम पड़ता क्योंकि विदिशा की मूर्त्तियों के प्रकाश में आ जाने पर यह साफ-साफ जाहिर होता है कि उसका काल उतना अल्प नहीं रहा होगा जितना साधारणतया समझा जाता रहा है। इन मूर्त्तियों को देखकर ऐसा अंदाज लगता है कि वह जैन धर्मावलम्वी था।

---

१. नालन्दा ऐण्ड इट्स प्रि-एपीग्रैफिक मैटेरियल्स, पृ० ६६–६७।
२. गुप्त-साम्राज्य, पृ० २८४।
३. प्रा० भा० का रा० एवं सां० इ०, पृ० ३२३।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७५-४१४ ई०)

चन्द्रगुप्त द्वितीय भारतवर्ष का महानतम सम्राट् माना जाता है। रामगुप्त के अल्प शासन के बाद समुद्रगुप्त का दूसरा पराक्रमी पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसकी माता का नाम दत्तदेवी था। वह अपने कायर भाई रामगुप्त का वध कर गद्दी पर आसीन हुआ। पर कुछ प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि समुद्रगुप्त ने चन्द्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था।

वह अपने योग्य पिता का योग्य पुत्र था। उसने न केवल पिता द्वारा छोड़े हुये विस्तृत साम्राज्य को कायम रखा, वरन् अपने विजयों से उसे बढ़ाया भी। उसका दूसरा नाम 'देवराज' और 'देवगुप्त' भी था। साँची के लेख में 'महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्य—देवराजदूतिप्रियंनाम' मिलता है। प्रवरसेन के चमक लेख में इसका दूसरा नाम 'देवगुप्त' भी मिलता है। सोने के सिक्कों पर 'देवश्री' मिलता है।[1] उसकी प्रथम रानी का नाम कुवेरनागा था, जो नागवंश की लड़की थी। इस पत्नी से उत्पन्न पुत्री प्रभावती गुप्त का विवाह वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय से हुआ था। इसकी दूसरी रानी का नाम ध्रुवस्वामिनी (गोविन्दगुप्त की माता) था, जिससे कुमार गुप्त भी पैदा हुआ था। उसके शासन काल के ६ अभिलेख—मथुरा स्तम्भलेख, उदयगिरि गुहालेख, गढ़वा का शिलालेख, साँची का लेख, उदयगिरि का गुफा लेख, मथुरा का शिला-लेख एवं मेहरौली का लौह-स्तम्भ लेख—उसके शासन-काल के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं।

राज्यारोहण—यह गुप्त वंश का पहला शासक है, जिसके राज्यारोहण की तिथि निश्चित रूप से ज्ञात है। इसका राज्यारोहणकाल ३७५ ई० है। गुप्त संवत् ६१ (३८० ई०) के अभिलेख में उसके उस राजवर्ष को 'पंचमे' कहा गया है।[2] चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यारोहण के सम्बन्ध में हमें निम्नलिखित तथ्य मिलते हैं :—

The Eran Stone inscription of Samudragupta (Fleet No. 2) refers to the 'many sons and grandsons' of Samudragupta, while the Mathura stone inscription of Chandragupta II (Fleet No. 4) states that he was chosen for the throne out of all his sons (Katparigrihtena) by Samudragupta. The same fact is repeated in the Bihar and Bhitari Stone Pillar inscription of year 61...........Samudragupta in fact pays to his son the same compliment as was paid to him by his

१. क्वायनेज ऑव गुप्त इम्पायर, पृ० ९३, ९९।

२. एपि० इ०—२१, पृ० ८, पङ्क्ति ३।

father who acclaimed him before all his kinsmen (tulyakulaj) as the fittest to succeed him on the throne.[1]

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति—जिस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय गद्दी पर वैठा उस समय भारत की विभिन्न जातियों एवं राज्यों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। उसके पिता समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के राज्य, आटविक राज्य, दक्षिणापथ के राज्य, सीमान्त एवं गणराज्य आदि का दमन कर दिया था फिर भी यह दमन स्थायी रूप में नहीं रह सका था क्योंकि दासता में स्थायित्व लाने के लिए अधीन राज्यों को समय की लम्बी दूरी पार करके अभ्यस्त कराना आवश्यक था। समुद्रगुप्त की मृत्यु के वाद रामगुप्त गुप्तवंश का सम्राट् हुआ जिसके विषय में पिछले पन्नों में काफी व्याख्या की जा चुकी है। वह कायर शासक था तथा उसकी दुर्बलता का परिचय हमें उसकी पत्नी ध्रुवदेवी को शकाधिपति को सौंपने के लिए तैयार हो जाने से लगती है। उसके समय में यत्र-तत्र विद्रोह प्रारम्भ हो गये थे जिनमें प्रमुख रूप से शकों ने ही भाग लिया। उन दिनों शकों के दो केन्द्र थे—(१) सीमाप्रान्त अफगानिस्तान तथा (२) मालवा तथा पश्चिमी भारत।

दिग्विजय—उसके शासन-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है पश्चिम तथा उत्तर के प्रदेशों की विजय का अभियान। उसका राज्य समुद्रगुप्त के राज्य से अधिक विशाल था। इस सिलसिले में हम निम्नलिखित क्रमों में इसका अध्ययन करेंगे :—

(१) **गणराज्यों का नाश**—पश्चिमोत्तर भारत के कुषाण और अवन्ति के महाक्षत्रपों तथा गुप्त-साम्राज्य के वीच में मद्र-गण से लेकर खरपरिकगण तक छोटे-छोटे गणों की एक शृङ्खला-सी थी। ये गण वड़े ही स्वतंत्रता प्रेमी थे। पर वे इस समय ऐसी अवस्था में आ गये थे कि किसी संगठित विदेशी आक्रमण का सामना करने में असमर्थ थे। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय ने प्रथमतः इन्हीं गणों का विनाश किया। उदयगिरि में मिले हुये उत्कीर्ण लेखों से यह पता लगता है कि मध्यभारत की तरफ दिग्विजय करने के लिए चन्द्रगुप्त गया हुआ था—(कृत्स्न-पृथ्वी-जयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः)। इस घटना के वाद भारत के इतिहास में गणतन्त्रों का कोई अस्तित्व नहीं रहा। वह केवल 'शकारि' नहीं 'गणारि' भी था।

अवन्ति के क्षत्रपों का अन्त—मध्यभारत के गणों का नाश करने के वाद उसी दिशा में चन्द्रगुप्त ने विजय-यात्रा की तथा अवन्ति के क्षत्रपों का विनाश किया। सन् ३८८ ई० के रुद्रसिंह तृतीय के सिक्के मिलते हैं। इसके बाद का कोई सिक्का नहीं मिलता है। रुद्रसिंह तृतीय ही अन्तिम क्षत्रप था जिसका वध चन्द्रगुप्त ने किया। इस घटना का समय संभवतः ३९५ ई० और ४०० ई० के बीच का है।

---

१. राधाकुमुद मुकर्जी, 'दि गुप्त इम्पायर', पृ० ४५।

उनके सिक्कों के ही अनुकरण पर मालवा में चन्द्रगुप्त ने अपने चाँदी के सिक्के चलाये ।

पूर्वी सीमान्त राज्यों का अन्त—मेहरौली लौह-स्तम्भ लेख से ऐसा मालूम होता है कि गुप्त-साम्राज्य के शत्रु प्रत्यन्त-नृपति समतट, दवाक और कामरूप के राजा बंगाल में गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिए संगठित हो गये पर उन्हें बलपूर्वक पराजित कर चन्द्रगुप्त ने अपनी भुजाओं से तलवार के बलपर यश कायम किया । इससे गुप्त साम्राज्य की सीमा आसाम तक फैल गई ।[1]

पश्चिमोत्तर भारत पर विजय—पूरब के सीमान्त राज्यों को नाश करने के बाद चन्द्रगुप्त ने पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण किया । यहाँ पर अभी भी कुषाणों के वंशज शासन कर रहे थे । मेहरौली लौहस्तम्भ के लेख से यह मालूम होता है कि उसने सिन्धु नदी की सात सहायक नदियों (सतलज से लेकर काबुल तक) को पार कर बाह्लीकों को हराया था ।[2] उसने पंजाब और सीमान्त पर अधिकार जमाकर भारत के प्राचीन दिग्विजयी राजाओं की श्रेणी में आकर हिन्दू-कुश के पास तक दिग्विजय करते हुये बाह्लीकों को हराया था । 'बाह्लीक' शब्द को लेकर यहाँ पर कुछ विवाद उठता है । एस० चट्टोपाध्याय 'बाह्लीक' की स्थिति पंचनद प्रदेश में मानते है और अल्तेकर इस विजय से किदारा कुषाण वीरों पर उसकी विजय समझते हैं । कई शताब्दियों तक शक भारतीय राजनीति की एक विकट समस्या थे । शक-विजय के फलस्वरूप गुप्त-साम्राज्य को मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र और काठियावाड़ तो मिले ही, साथ ही इससे गुप्त साम्राज्य तटवर्त्ती पत्तनों के सम्पर्क में आ गया । इससे व्यापार में काफी वृद्धि हुयी । विदेशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित हुआ । देशी व्यापार को भी बल मिला । उज्जैन व्यापार के लिए सबसे बड़ा केन्द्र बन गया । शक-विजय के बाद उज्जैन वस्तुतः धार्मिक और राजनीतिक केन्द्र भी हो गया और चन्द्रगुप्त ने उसे गुप्त-साम्राज्य की द्वितीय राजधानी बना दी । राजशेखर ने भी उज्जैन के महत्त्व का वर्णन किया है । इसको राजधानी बनाकर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी राजनीतिज्ञता और चतुराई का परिचय दिया । ५७ ई० पूर्व में उज्जयिनी के विक्रमादित्य ने शकों को हराकर संवत् का प्रवर्तन किया था । चन्द्रगुप्त ने भी उत्तरापथ और अवन्ति के शक-क्षत्रपों का विनाश करके 'विक्रमादित्य' का विरुद धारण किया । उसने अपने पराक्रम और प्रताप से गुप्त-साम्राज्य को दृढ़ किया ।

दक्षिणापथ पर पुनः आधिपत्य—मेहरौली लौहस्तम्भ लेख से ही यह जान

---

१. "यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागतान्वङ्गेष्वाहव-वर्त्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे ।"—मेहरौली लौह-स्तम्भ-अभिलेख ।

२. तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः ।"—वही ।

पड़ता है कि सम्भवतः रामगुप्त के शासन-काल में दक्षिण-भारत के राजाओं ने गुप्तों के साम्राज्य से निकलने का प्रयत्न किया पर चन्द्रगुप्त ने अपने पराक्रम और प्रताप से फिर अपना आधिपत्य वहाँ दृढ़ किया।[1]

चन्द्रगुप्त की नीति एवं वैवाहिक सम्बन्ध—वह एक महान् विजेता होने के साथ-साथ एक कुशल नीतिज्ञ भी था। अपने समय की शक्तियों को अपने वश में लाने के लिए उसने केवल शस्त्र का ही प्रयोग नहीं किया बल्कि नीति से भी काम लिया। ऐसी स्थिति में उसे सतर्कता से भी काम करना था। उसने अपने अधीन उन असंतुष्ट राज्यों से जो शक्तिमान् थे, विवाह सम्बन्ध करके उनको अपना मित्र बना लिया। उसने पराजित और असन्तुष्ट नाग-सामन्त कुबेरनाग की लड़की कुबेरनागा से विवाह किया। दक्षिण के राज्य में वाकाटक-राज्य सबसे शक्तिमान् था। उसने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह द्वितीय रुद्रसेन (वाकाटक राजा) से करके वाकाटकों को अपना सच्चा मित्र बना लिया।[2] उत्तर-कर्नाटक के कुन्तल-राज ('कदम्ब-वंशी) की कन्याएँ भी गुप्तराज-वंश में व्याही गयीं। ये सभी वैवाहिक सम्बन्ध राजनीतिक दृष्टिकोण से महत्त्व के और गुप्त-साम्राज्य को मजबूत करने वाले थे।

शासन-कुशलता एवं शासकीय संगठन—सम्पूर्ण भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के बाद गुप्त शासन-प्रबन्ध को संगठित करने का श्रेय भी चन्द्रगुप्त को ही है। समुद्रगुप्त और रामगुप्त को इसके लिए पर्याप्त अवसर नहीं प्राप्त हुआ था। इसके आदर्श शासन की प्रशंसा चीनी-यात्री फाहियान (३९९–४१४ ई०) ने विस्तृत रूप में किया है। विस्तृत और सुव्यवस्थित शासन से देश की आर्थिक अवस्था और व्यापार की उन्नति हुयी। इसकी समुचित शासकीय-व्यवस्था को हम आगे प्रस्तुत करेंगे, पर यहाँ हम उन प्रमुख कर्मचारियों का नाम दे रहे हैं जो बसाढ़ से प्राप्त मुद्राओं पर और दामोदरपुर ताम्रलेख में मिले हैं। राजकुमारों को प्रान्तीय शासक के रूप में नियुक्त करने की प्रणाली अब भी थी। गोविन्दगुप्त वैशाली में गवर्नर था, इसका प्रमाण वहीं से प्राप्त एक मुहर है। उसके काल के कुछ अफसरों के नाम इस प्रकार हैं :—

---

१. "यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः।"—मेहरौली।

२. पृथिव्याम् प्रतिरथः सर्वराजोच्छेत्ता चतुरुदधिसलिलास्वादितयशा अनेक–गो–हिरण्य–कोटि–सहस्रपदः परमभागवतः महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तः तस्य दुहिता धारण सगोत्रा नागकुल-संभूतायां श्री महादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्ना उभयकुलालंकारभूता अत्यन्त भगवद्भक्ता वाकाटकानां महाराज श्री रुद्रसेनस्य अग्रमहिषी···। —एपि० इ०—जिल्द १५, पृ० ४१।

(१) उपरिक—गवर्नर ।
(२) कुमारपालाधिकरण—राजकुमार के मंत्री का कार्यालय ।
(३) रणभाण्डाधिकरण—सैनिक-खजाने का कार्यालय ।
(४) दण्डपाशाधिकरण—प्रधान-पुलिस अधिकारी ।
(५) महादण्डनायक—प्रमुख दण्डाधिकारी ।
(६) विनयस्थिति स्थापक—कानून और व्यवस्था का मन्त्री ।
(७) महाश्वपति—पैदल तथा अश्वसेना का प्रधान ।
(८) महाप्रतिहार—
(९) विनयसूर—
(१०) तलवर—

उसके समय में स्थानीय शासन पर भी ध्यान दिया गया था। सामन्तों में उदयगिरि-गुफा लेख में तीन पीढ़ियों का उल्लेख है—चगलग, विष्णुदास और उसका लड़का। एक अन्य अभिलेख में सामन्त त्रिविक्रम का उल्लेख है। सामन्त भी प्रदेशों पर शासन करते थे। कुछ प्रमुख कर्मचारियों और मन्त्रियों में आम्रकार्दव, शाववीरसेन; शिखरस्वामी और गोविन्दगुप्त के नाम मिलते हैं। राज्य के प्रशासकीय विभाग इस प्रकार थे—विषय, भुक्ति और प्रदेश। गोविन्द गुप्त तीरभुक्ति का राज्यपाल था और घटोत्कच गुप्त ऐरिकिण-प्रदेश का। निगमों और श्रेणियों के द्वारा आर्थिक जीवन का संचालन होता था। श्रेष्ठी (सेठ), सार्थवाह (व्यापारी) और कुलिक (कारीगर) की श्रेणियों का उल्लेख वैशाली से मिली हुयी मुद्राओं और अन्य अभिलेखों में है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में चीनी यात्री फाहियान एवं अभिलेखों से अनेक तथ्य ज्ञात होते हैं। उसके विवरण का थोड़ा-सा अंश इस प्रकार है :—

"लोग सुखी हैं। उन्हें शासक या कर्मचारियों के पास नहीं जाना पड़ता है। जो लोग राजकीय भूमि जोतते हैं, उन्हें उपज का कुछ अंश देना पड़ता है। राजा बिना शारीरिक दण्ड दिये शासन करता है। अपराधियों को केवल अर्थदण्ड दिया जाता था। समस्त देश में लोग जीवहिंसा नहीं करते। मद्य, लहसुन-प्याज नहीं खाते। केवल चाण्डाल ये चीजें खाते हैं। खरीदने और वेचने में कौड़ी का प्रयोग होता है।"

मुद्राएँ—उसकी मुद्राओं को हम पाँच श्रेणियों में बाँट सकते हैं :—(१) धनुष-वाण लिये चन्द्रगुप्त की मूर्त्ति और दूसरी ओर कमल पर बैठी हुयी लक्ष्मी की मूर्त्ति, (२) राजा का एक हाथ तलवार की मूठ पर और दूसरी ओर कमल पर खड़ी लक्ष्मी की मूर्त्ति, (३) सम्राट् पर्यंक पर आसीन और दूसरी

और लक्ष्मी का चित्र, (४) सम्राट् को सिंह से युद्ध करते हुये दिखाया गया है और (५) अश्वारोही सम्राट् का चित्र है और दूसरी ओर आसन पर देवी की मूर्त्ति अंकित है। उसके सिक्कों पर निम्नलिखित उक्तियाँ हैं :—महाराजाधिराज चन्द्रगुप्तः, क्षितिमवजित्य सुचरितैः दिवं जयति विक्रमादित्यः; नरेशचन्द्र; प्रथित दिवं जयत्यजेयो भुवि सिंहविक्रमः, नरेन्द्रसिंहः चन्द्रगुप्तः पृथिवीं जित्वा दिवं जयति। उसकी चाँदी की मुद्राओं पर सम्राट् का अर्द्धशरीर है और दूसरी ओर गरुड़ का चित्र है तथा उस पर निम्नलिखित उक्तियाँ हैं :—परमभागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य; गुप्तकुलस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त विक्रमांकस्य। चाँदी के सिक्कों के अतिरिक्त उसके ताँबे के भी सिक्के मिले हैं।

चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व, धर्म और उसका इतिहास में स्थान—महान् सम्राटों के सभी गुण चन्द्रगुप्त द्वितीय में उपलब्ध होते हैं। वह एक महान् विजेता था। पिता की ही तरह वह एक वीर और उदार शासक था। अपने भुजबल से ही उसने गुप्त साम्राज्य को विस्तृत एवं शक्तिशाली बनाया था। पंजाब, मालवा, सौराष्ट्र एवं बंगाल के विभिन्न प्रदेशों को विजय का श्रेय उसी को है। अपने भाई रामगुप्त के काल में भी अपनी कूटनीति तथा वीरता के बल पर ही वह गुप्त साम्राज्य की रक्षा करने में समर्थ हो सका था तथा इसी नीति का उसने अपने जीवन भर अनुसरण किया। अपने ध्येय की पूर्त्ति के लिए उसने निःसंकोच अपने अयोग्य भाई की हत्या करके गुप्त राज्य प्राप्त किया। उसने भी अनेक पदवियाँ धारण की थीं। उसके शिलालेखों में उसके लिए विक्रमांक, विक्रमादित्य, श्रीविक्रम, अजितविक्रम, सिंहविक्रम, नरेन्द्रचन्द्र आदि उपाधियों का व्यवहार हुआ है। सिक्कों पर उसके शरीर का जो चित्र मिलता है, उससे उसके शारीरिक गठन का ज्ञान होता है और उसकी वीरता का भी। शकों के अत्याचार से प्रजा को मुक्त करने का श्रेय उसी को था। यही उसके राज्य की सबसे प्रधान घटना थी। उसके समय में गुप्त साम्राज्य अपने उत्कर्ष पर था। 'गृहीतप्रतिभुक्ति' की नीति को छोड़कर उसने अपनी प्रबल भुजाओं से समस्त देशों को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया था।

वीर होने के साथ ही चन्द्रगुप्त राजनीतिज्ञ भी था। उसने वैवाहिक-सम्बन्धों के द्वारा भारत के महत्वशाली राजवंशों से सम्बंध स्थापित कर लिये जिससे गुप्त साम्राज्य को महान् लाभ हुआ। वह एक कुशल शासक था तथा प्रजा उसके राज्य में अत्यन्त सुखी थी। चीनी यात्री फाहियान से हमें यह पता लगता है कि उसने राज्य का भार योग्य अधिकारियों को सौंपा था जिस कारण उसके देश में सुख और शान्ति स्थापित थी।

चन्द्रगुप्त द्वितीय एक प्रतापी और विद्या व कलाप्रेमी सम्राट् था। उसके समय

में संस्कृत साहित्य का अत्यन्त विकास हुआ था। वह विद्वानों एवं कलाकारों का आश्रयदाता था। महान् कवि कालिदास उसके दरवार की शोभा वृद्धि करते थे। इसके अतिरिक्त अन्य आठ रत्नों से राजदरवार सुशोभित था, ऐसा अनुमान किया जाता है। उसके राज्य में देश की समृद्धि, विकास और उन्नति हुयी। अनेक प्रकार के सोने के सिक्के राजा की आर्थिक सुदृढ़ता व उसके कला-प्रेम के प्रतीक माने जा सकते हैं। भारत से विदेशी शकों के राज्य का अन्त कर वह रास्ट्र की स्वतन्त्रता का दूत कहा जा सकता है।

यद्यपि वह परम वैष्णव था पर हिन्दू धर्म का वह प्रवल पोपक था। अपने पिता के ही समान वह अन्य धर्मों के प्रति उदार तथा सहिष्णु था। उसने अन्य धर्मावलम्बियों को अपने राज्य में उच्च पदों पर आसीन किया। वीरसेन शाव, जो उसका सेनापति था—शैव मत का अनुयायी था तथा आम्रकार्दव वौद्ध था। इस प्रकार उसकी धार्मिक सहिष्णुता भी उच्च कोटि की थी। इन्हीं चारित्रिक गुणों के कारण इतिहास में उसका उच्च स्थान प्राप्त है।

उसके राष्ट्रध्वज का प्रधान चिह्न गरुड़ था। उदयगिरि गुफा में विष्णु और लक्ष्मी से सम्वद्ध अनेक मूर्त्तियाँ मिली हैं। वहाँ वाराह अवतार की भी एक वृहद् मूर्त्ति है। दूसरी गुफा शम्भु को समर्पित है। मथुरा के शिलालेख से माहेश्वर नामक एक शैव सम्प्रदाय का पता चलता है। मथुरा के शैव आचार्य अदिनाचार्य का भी उल्लेख है। फाहियान भी इसकी धर्मसहिष्णुता और दानशीलता की प्रशंसा करता है। इसके द्वारा भी अश्वमेध यज्ञ का आयोजन हुआ, इसका एक अप्रत्यक्ष प्रमाण काशी के नगवा गाँव से प्राप्त घोड़े की मूर्त्ति पर 'चन्द्रगुप्त' लेख माना जाता है। चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व अत्यन्त महान् था। वह भारतवर्ष का महानतम सम्राट् माना जाता है। इसकी महानता प्रत्येक क्षेत्र में परिलक्षित होती है। यह क्षेत्र चाहे शासन का हो, चाहे साम्राज्य-विस्तार का हो, चाहे कलापक्ष का हो, चाहे आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र हो--प्रत्येक में वहाँ वह चोटी के उच्चतम भाग पर विराजमान था। उसके ही कारण गुप्तकाल स्वर्णयुग कहलाया तथा उसने भारत की कोटि-कोटि जनता में भारतीय संस्कृति का मंत्र फूँक कर उन्हें शुद्ध भारतीय बनाने का प्रयत्न किया था। विभिन्न साधनों के आधार पर उसका शासन सन् ३७५ ई० से ४१४ ई० तक माना जाता है।

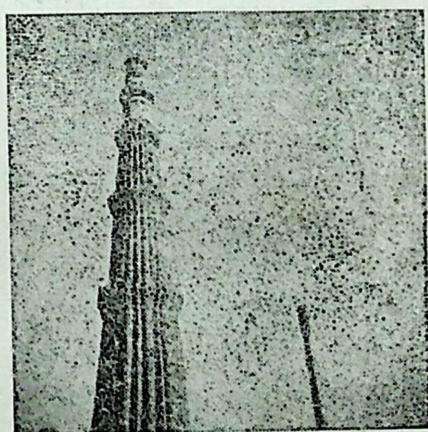
चन्द्रगुप्त द्वितीय के ध्रुवस्वामिनी की कोख से जन्मे दो बेटे गोविन्दगुप्त और कुमारगुप्त प्रथम और कुवेर नागा से उत्पन्न एक कन्या प्रभावती गुप्ता थीं। इस कन्या का विवाह वाकाटक कुल में हुआ था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय अपने पिता समुद्रगुप्त के आदर्श का अनुगमन करते हुये विजय अभियान में उन्मुख हुआ। उसके उदयगिरि के अभिलेख में से हमें उसके

उत्कट अभिलाषा का पता चलता है। वीर वेन के अभिलेख में उसने विश्वविजय की कामना व्यक्त की थी। डॉ० आर० सी० मजूमदार ने उसकी प्रशंसा इस प्रकार की है :—

"समुद्रगुप्त जो समरशतशौण्ड था, वह इतिहास का एक चरित्र नायक था। चन्द्रगुप्त द्वितीय, जिसने राजनीतिक महानता और सांस्कृतिक पुनर्जीवन के नवीन युग को प्रौढ़ता पर पहुँचाया, उसने लोकहृदय में अपना स्थान बना लिया।"[1] बिना कठोर दण्ड के ही शान्ति स्थापित रखना चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-प्रबन्ध की सफलता का प्रमाण है।

मेहरौली का लौह-स्तम्भ—दिल्ली के पास मेहरौली नाम का एक गाँव है जो प्राचीन काल से ही आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है क्योंकि यहाँ की दो वस्तुएँ विश्व-प्रसिद्ध हैं—एक तो कुतुबमीनार और दूसरा लौहस्तम्भ। इस लौहस्तम्भ को लेकर इतिहासकारों में काफी मतभेद है। इस लौह-स्तम्भ पर संस्कृत में कुछ श्लोक



कुतुबमीनार तथा लौहस्तम्भ का ऊपरी भाग।

उत्कीर्ण हैं। कुतुबमीनार और लौहस्तम्भ दोनों आस-पास ही में अवस्थित हैं। इस स्तम्भ के अभिलेख में 'चन्द्र' नाम के एक राजा का उल्लेख है। अभिलेख में कोई भी तिथि नहीं है। इस अभिलेख के 'चन्द्र' नामक राजा के सम्बन्ध में काफी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। इस राजा की किस भारतीय नरेश से एकात्मकता स्थापित की जाये यही समस्या विवाद का विषय है। विविध विद्वानों ने विभिन्न सम्राटों से इस 'चन्द्र' की एकात्मकता स्थापित करने का प्रयास किया है पर अभी तक कोई संतोषजनक समाधान नहीं निकला है।

---

१. क्लासिकल एज, पृ० २८।

अभिलेख के इस 'चन्द्र' को कुछ विद्वानों ने चन्द्रगुप्त मौर्य, कुछ ने कनिष्क प्रथम, कुछ ने नाग चन्द्रांश, कुछ ने मालवा के पुष्करण का चन्द्रवर्मन, कुछ ने मगध के गुप्तवंश का चन्द्रगुप्त प्रथम, कुछ ने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य एवं कुछ ने मिहिरकुल का भ्राता माना है।

एच० सी० सेठ इसे चन्द्रगुप्त मौर्य का अभिलेख मानते हैं। पर वे अपने मत के समर्थन में कोई सटीक तर्क उपस्थित नहीं कर सके हैं। उनका कहना है कि लौह-स्तम्भ का निर्माता चन्द्रगुप्त मौर्य था और समुद्रगुप्त ने लगभग ६०० वर्षों के बाद, चन्द्रगुप्त मौर्य को अपना नायक मानते हुये, इस स्तम्भ पर वर्तमान प्रशस्ति लिखवाई। ये केवल कल्पना की उड़ाने हैं तथा यह बिल्कुल ही अमान्य है!

आर० सी० मजूमदार ने कनिष्क से चन्द्र की पहचान के पक्ष में अनेक तर्क दिये हैं। उनके मत का मुख्य आधार एक खोतानी पाण्डुलिपि है। इस पाण्डुलिपि में कनिष्क को चन्द्रकनिष्क के नाम से सम्बोधित किया गया है। पर उनका भी मत सर्वमान्य नहीं है। ऐसा हो सकता है कि यह चन्द्र कनिष्क का उपनाम हो, जब कि अभिलेख में राजा का नाम चन्द्र है। एच० सी० रायचौधरी ने पुराणों के आधार पर नागवंश के परवर्त्ती आन्ध्र-नरेश 'चन्द्रांश' से इस स्तम्भ लेख में वर्णित 'चन्द्र' को मिलाते हैं। इस आन्ध्र-नरेश का विरुद 'द्वितीय नरववंत' (द्वितीय नहपाण) दिया गया है। इसी विरुद को आधार मानकर चौधरी ने यह अनुमान लगाया है कि चन्द्रांश एक शक्तिशाली सम्राट् था पर यह चन्द्रांश पहली बार इसी 'चन्द्र' की समस्या के समाधान के लिए आया है। अतः ऐसे उपेक्षित एवं अस्पष्ट नरेश 'चन्द्र' की तुलना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है।

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने बंगाल के राजा चन्द्रवर्मन को मेहरौली स्तम्भ का चन्द्र माना है। पर समुद्रगुप्त द्वारा पराजित चन्द्रवर्मन मेहरौली का चन्द्र कैसे हो सकता है? फ्लीट, आयंगर एवं राधागोविन्द बसक ने चन्द्रगुप्त प्रथम को मेहरौली-स्तम्भ का चन्द्र माना है पर यहाँ यह जानना जरूरी हो जाता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम इतना शक्तिशाली नहीं था जितना कि मेहरौली का चन्द्र। जहाँ तक चन्द्रगुप्त प्रथम के साम्राज्य का सम्बन्ध है वह पर्याप्त सीमित था जिसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के नरेशों को परास्त करने के लिए अभियान किया था। चन्द्रगुप्त प्रथम का राज्य गंगा की घाटी तक सीमित था पर 'चन्द्र' ने तो भारत को जीतकर भारत से परे विदेशों में भी विजय पताका फहराई थी। अतः चन्द्रगुप्त प्रथम को हम लौहस्तम्भ का नायक नहीं मान सकते हैं। इस मत के प्रतिपादकों को ही स्वयं इसकी प्रामाणिकता में संदेह है। उन्होंने इस मत का विकल्प भी प्रस्तुत कर दिया है और कहा है कि मिहिरकुल का एक छोटा भाई मेहरौली स्तम्भ का 'चन्द्र' है। इस मत की पुष्टि के लिये

उन्होंने केवल ह्वेनसांग का साक्ष्य दिया है जिसे इतिहासकारों ने स्वीकार नहीं किया है।

एक अन्य इतिहासकार ने भी पुराण में वर्णित एक राजा को चन्द्र से एकात्मकता निर्धारित की है। यह राजा देशरक्षित वंश का था जिसकी शक्तिशालिता का प्रमाण यह वाक्यांश है—'ताम्रलिप्तान ससागरान।' पर केवल एक वाक्यांश को लेकर एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना मूर्खता है।

हार्नले, कैलासचन्द्र ओझा एवं एस० के० अरोड़ा ने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य से इस 'चन्द्र' का समीकरण करने का प्रयास किया है तथा इस पक्ष में उन सवों ने काफी तर्क प्रस्तुत किया है। उन्होंने इसकी पुष्टि इस प्रकार की है :—

(१) स्तम्भ की लिपि गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि है।

(२) चन्द्र ने वंगाल पर विजय प्राप्त की थी और उसने वहाँ अपने पराक्रम से अपने शत्रुओं का पीछा किया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शक विजय के द्वारा पश्चिमी समुद्र के किनारे के व्यावसायिक केन्द्र पर अपना अधिकार किया और पूरव में बङ्गाल के विद्रोह को दवाकर उसे भी अपने साम्राज्य में मिला लिया।

(३) स्तम्भ वहीं स्थापित किया गया जहाँ चन्द्र के राज्य की सीमा थी।

(४) चन्द्र वैष्णव धर्म का समर्थक था।

(५) दक्षिण में भी उसका आधिपत्य था।

(६) उसने सिन्ध के सात मुहानों को पार कर मध्य एशिया में वाह्लीकों को जीता था और

(७) वह एक प्रतापी शासक था।

अगर हम इन सवों की सत्यता की जाँच करें तो गुप्तकाल में इन सभी गुणों से सम्पन्न चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिवा कोई नहीं था तथा कालिदास द्वारा वर्णित रघु के दिग्विजय के अध्ययन से यह और भी पुष्ट हो जाता है। डॉ० भण्डारकर ने ऐसा माना है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने वाह्लीक विजय के वाद ही इस स्तम्भ को स्थापित किया होगा। पर ऐलन ने इसे नहीं स्वीकार किया है। प्रो० गोवर्धनराय शर्मा ने इसे चन्द्रगुप्त द्वितीय का स्वीकार किया है और उनका ऐसा कहना है कि इस अभिलेख में 'परमभागवत' तथा 'विक्रमादित्य' शब्द का उल्लेख नहीं है क्योंकि यह स्तम्भ चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन के आरम्भ में ही उत्कीर्ण हुआ था और 'चन्द्र' का प्रयोग छन्द की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया गया है। डॉ० कैलासचन्द्र ओझा ने इनके विचारों का खण्डन किया है। जिस रूप में मेहरौली लौह-स्तम्भ लेख प्राप्त है उसमें सव प्रकार की अटकलवाजियाँ समाहृत हो सकती हैं पर प्रो० राधाकृष्ण चौधरी ने भाषागत विशिष्टताओं के आधार पर इसे गुप्त-

काल का ही स्वीकार किया है तथा उन्होंने इसे भी स्वीकार किया है कि स्वयं कालिदास ही इस पद्य के रचयिता रहे हों ।[1]

मेहरौली-स्तम्भ में वर्णित 'चन्द्र' को अधिकांश इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त द्वितीय ही माना है । इस स्तम्भ लेख से यह ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सिन्धु नदी के सात मुखों को पार कर वाह्लीक (वल्ख) के शासकों को जीता ।[2] उसने बंग में सम्मिलित रूप से आये हुये शत्रुओं को पराजित किया । उसके यश से 'दक्षिण समुद्र' भी सुवासित हो रहा था ।[3] उसने सुचिरं एकाधिराज्यं को अपने भुजबल से अर्जित किया । अभिलेख के उत्कीर्ण किये जाने के समय शरीर से वह दूसरे लोक (स्वर्ग) में था अर्थात् उसकी मृत्यु के बाद यह अभिलेख लिखा गया हो । इस अभिलेख के अनुसार उसने विष्णु-पद पर्वत पर विष्णु-ध्वज की स्थापना की ।

यह पहला अभिलेख है जिसमें वंग का उल्लेख मिलता है । इसके पूर्व के अभिलेखों में वंग के अन्तर्गत विक्रमपुर (फरीदपुर) तथा नाव्य (वकरगंज) का उल्लेख है । इससे वंग के अन्तर्गत आधुनिक पूर्वी बंगाल सूचित होता है जो आज का बंगलादेश हो गया है । इस अभिलेख के अध्ययन से यह पता लगता है कि चन्द्र ने साम्राज्य-विस्तार के लिए स्वेच्छा से बंगाल पर आक्रमण नहीं किया वरन् विद्रोहियों के मोर्चों को तोड़ने के लिये उनका मुकाबला किया । इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि उसके अभियान की दिशा पूर्व से पश्चिम की ओर थी ।

'सिन्धु के सप्तमुखों' तथा बाह्लीक की भौगोलिक व्याख्या विवादास्पद है । डॉ० चन्द्रवली पाण्डेय 'सप्तमुखानि' का अर्थ 'सप्तांग' करते हुये यह व्याख्या करते हैं कि उसने सिंध में स्थित बाह्लीक राज्य के सप्तांगों पर कब्जा कर, इस राज्य पर विजय पाई । पर 'सप्तमुख' का सप्तांग अर्थ अत्यन्त ही काल्पनिक है । एस० एन० मजूमदार ने 'सप्तमुखानि' का तात्पर्य सिंध की सात सहायक नदियों से माना है ।

'बाह्लीक' का अर्थ कुछ इतिहासकारों ने बैक्ट्रिया से लगाया है । लेकिन ऐसा कहा जाता है कि बाद में पञ्चनद प्रदेश के बाह्लीक का पर्यायवाची बाह्लीक शब्द हो गया । डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय के विचार में बाह्लीक की स्थिति 'पञ्चनद' प्रदेश से ही है । बाह्लीक विजय से शक-क्षत्रपों पर विजय का संकेत है, ऐसा वे मानते हैं । डॉ० अल्तेकर बाह्लीक विजय से किदर कुषाण पीरो पर विजय का

१. प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ३२५ ।
२. 'तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता बाह्लिकाः ।'
३. 'यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्य्यानिलैर्दक्षिणः ।'

सकत मानते हैं। एस० एन० मजूमदार बाह्लीक की पहचान 'वरके नायक' स्थान से करते, जो टॉलमी के अनुसार कच्छ की खाड़ी में स्थित था।

कुछ इतिहासकारों ने यह माना है कि यह अभिलेख 'चन्द्र' की मृत्यु के बाद का है और इस अर्थ में इसे एक स्मृति-अभिलेख कहा जा सकता है पर डॉ० दशरथ शर्मा ने इसे राजा के जीवन काल का सिद्ध करने का प्रयास किया है। यदि यह अभिलेख राजा के देहावसान के बाद का है तो उसकी तिथि के निर्धारण में गुप्त-लिपि का प्रयोग कोई सहायक नहीं है। यह स्वीकार कर लिया गया है कि यह अभिलेख गुप्त लिपि में है। पर गुप्त लिपि में किसी बहुत पहले के मृत राजा की भी प्रशस्ति लिखी जा सकती है। लिपि तिथि-निर्धारण के लिए सबसे दुर्बल आधार है। प्रवरसेन द्वितीय के जिन अभिलेखों को फ्लीट ने लिपि के आधार पर ८ वीं शताब्दी का माना था—वे अब प्रभावती गुप्ता के अभिलेख के मिलने के बाद ५ वीं शताब्दी के माने जाते हैं।

'देवी चन्द्रगुप्तम' में चन्द्रगुप्त के राज्य के सम्बन्ध में स्वभुजार्जित कहा गया है। यह अभिलेख चन्द्रगुप्त द्वितीय का है, इसका एक प्रमाण यह भी दिया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त के कतिपय ताम्रसिक्कों पर केवल 'चन्द्र' नाम ही मिलता है। वह वैष्णव था—इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। काव्यमीमांसा के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय का यश कार्त्तिकेय नगर तक फैला था—जिसकी पहचान अफगानिस्तान में स्थित कोइरनर से की गई है। अतः बाह्लीक बैक्ट्रिया हो सकता है। चन्द्रगुप्त की बंगाल-विजय पर शंका की गुंजाइश है ही नहीं, क्योंकि वहाँ पर गुप्त-शासन के प्रमाण उसके बाद भी मिलते रहे हैं। इस स्तम्भ लेख के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने बंगाल के ऊपर अपना पूर्ण आधिपत्य कर लिया और उत्तर पश्चिम में शक-कुषाणों का अवशेष सर्वथा नष्ट कर दिया।[1]

फाहियान का यात्रा-वर्णन—चन्द्रगुप्त द्वितीय के ही शासन काल में फाहियान भारत आया। वह चीन का रहनेवाला था। वह गोबी मरुप्रदेश, खोतान, पामीर, स्वान और गांधार होते हुये भारत आया था। पेशावर में पहाड़ियों को पार कर उसने उत्तर-पश्चिम मार्ग से पंजाब में प्रवेश किया तथा उसके बाद मथुरा,

---

1. On whose arm fame was inscribed by the sword, when, in battle in the Vanga Countries, be kneaded (and turned) back with (his) breast to the enemies who, uniting together, came against (him); he, by whom, having crossed in warfare the seven months of the (river) Sindhu, the Bahlikas were conquered.

—Mehrauli Pillar Inscription.

संकाश्य, कन्नौज, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वैशाली, पाटलिपुत्र काशी आदि नगरों का भ्रमण किया। लौटते समय उसने ताम्रलिप्ति, सिंहल और जावा के मार्ग को अपनाया। भारत की यात्रा करने में उसका मुख्य कार्य था—विनय ग्रन्थों की खोज। उसने बौद्ध धर्म के प्रमुख केन्द्रों और विहारों के सम्बन्ध में टिप्पणियाँ दी हैं। उसकी मुलाकात मार्गों में हीनयानी और महायानी सम्प्रदायों के कई मतावलम्बियों से हुयी। जब वह यहाँ आया था खोतान में १४ विहार थे। पेशावर के कनिष्क द्वारा बनाये गये स्तूप का भी उसने जिक्र किया है। मथुरा में उस समय २० बौद्ध विहार थे। वह मुख्य रूप से पाण्डुलिपियों के ही संकलन में लगा रहा। वह इस काम में इतना संलग्न था कि उसने अपने यात्रा-विवरण में कहीं भी तत्कालीन भारतीय सम्राट् का नाम भी नहीं दिया है।

गांधार, तक्षशिला तथा पेशावर के बौद्ध प्रदेशों का उसने निरीक्षण किया था। नगरहार में बुद्ध के अवशेषों पर बने मन्दिर को उसने देखा था। उस समय अफगानिस्तान में हीनयान तथा महायान सम्प्रदायों के ३००० बौद्ध भिक्षु थे। संकिसा और श्रावस्ती बौद्ध भवनों से भरपूर थे। काशी, पाटलिपुत्र, बोधगया, राजगृह तथा नालन्दा का भी उसने भ्रमण किया था। उस समय २४ विहारों से भरा-पूरा तायलूक एक प्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र था। फाहियान दो वर्षों तक वहाँ रहा तथा उसने वहाँ बौद्ध-सूत्रों की प्रतिलिपि की, साथ ही उसने बौद्ध प्रतिमाओं के चित्र भी बनाये। उसके मतानुसार भारत में सारिपुत्त, मोग्गलायन, आनन्द एवं अभिधम्म, विनय और सुत्तों आदि धर्मग्रन्थों के भी सम्मान में मंदिर बनवाये गये थे। गृहस्थ जो धर्मपरायण थे, वे भिक्षुओं के लिये भोजन आदि की व्यवस्था के लिए चंदे का प्रबन्ध करते थे। उस समय हिन्दू धर्म विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों में विभक्त था। उसने ९६ सम्प्रदायों का वर्णन किया है। उसने उन स्थानों का भी विवरण प्रस्तुत किया है, जहाँ सिद्धार्थ से पहले बुद्धों की पूजा होती थी। इन बुद्धों में काश्यप, ककुच्छन्द और कनकमुनि प्रमुख हैं।

फाहियान के विवरण से ऐसा पता चलता है कि मध्यप्रदेश में भारतीय सभ्यता अपने उत्कृष्ट रूप में थी। किसी भी प्राणी की हत्या करना उस समय पाप समझा जाता था। लोग मद्यपान का सेवन नहीं करते थे और न प्याज-लहसून का ही प्रयोग भोजन में किया जाता था। लोगों को स्वतंत्र रूप में घूमने की छूट थी। लोग पूर्णरूपेण समृद्ध और प्रसन्न थे। अपराधों के लिए जुरमाने किये जाते थे। अपनी उपज का एक भाग किसान कर के रूप में राजा को देता था। लोग पशुओं का व्यापार नहीं करते थे और न सुअर और मुर्गियाँ पालते थे। मद्यशालाओं और बूचड़खानों का सर्वथा अभाव ही था। धनी व्यक्ति एवं जमींदार लोग मन्दिरों का निर्माण करवाते थे तथा उनका प्रबन्ध दानद्वारा किया जाता था। भूमि, गृह,

उद्यान, बैल तथा कृषि के सामानों की व्यवस्था के लिए दान दिये जाते थे और उन्हें ताम्रपट्टों के माध्यम से स्थायित्व प्रदान किया जाता था। दानी लोग परोपकार के लिए यात्रियों के वास्ते धर्मस्थानों में धर्मशालाएँ वनवाते थे, जहाँ यात्रियों को पलंग, चटाई और खाना-कपड़ा आदि मिलता था। चाण्डाल समाज से बहिष्कृत कर दिये गये थे। उनका मुख्य काम शिकार कर माँस वेचना था। वे अस्पृश्य थे तथा नगरों से वाहर ही उनका घर होता था। नगर में प्रवेश करते समय अथवा बाजार में जाते समय वे लकड़ियाँ बजाते थे जिससे अन्य व्यक्तियों को यह पता चल जाता था कि चाण्डाल का प्रवेश हो रहा है। मध्यप्रदेश में वौद्धधर्म लोकप्रियं नहीं था क्योंकि यहाँ ब्राह्मण-धर्म का प्रभाव था और वहाँ का राजा स्वयं वैष्णव था। धार्मिक असहिष्णुता नहीं थी।

पाटलिपुत्र में उसने अशोक के राजभवन को देखा, जो अव भी अनेक मण्डपों से सुसज्जित था। उसकी ऐसी कल्पना थी कि यह नगर देवताओं द्वारा वनाया गया हो। मगध वहुत ही सम्पन्न और समृद्ध था। वहाँ के लोग पड़ोसियों के प्रति हार्दिक और नैतिक उदारता प्रकट करने में एक दूसरे से होड़ लगाते थे। धनी लोगों ने अपने नगरों में अस्पताल खुलवा रखे थे, जहाँ असहाय, रोगियों, अनाथ बच्चों, विधवाओं और लंगड़े-लूलों को शरण मिलती थी। उनकी काफी देखरेख होती थी। डॉक्टर उन्हें ध्यानपूर्वक देखते थे तथा उन्हें आवश्यकतानुसार भोजन और दवा मिलती थी। पाटलिपुत्र नगर में एक वहुत बड़ा अस्पताल था, जहाँ देश के कोने-कोने से लोग चिकित्सा के लिए आते थे। वहाँ उसने अशोक का विहार देखा, जिसमें एक स्तम्भ पर लेख खुदा था। एक अन्य स्तम्भ का शीर्ष सिंह की आकृति से सुसज्जित था। वहाँ उसने ब्राह्मणों की रथयात्रा भी देखी। नालन्दा में उसने प्राचीन विहार के दर्शन किये और गृद्धकूट पर्वत (राजगृह) पर वह फूट-फूट कर रो पड़ा था। उसने तीन वर्षों तक संस्कृत का अध्ययन पाटलिपुत्र में किया था। यहाँ हीनयान एवं महायान दोनों वौद्ध-सम्प्रदाय के दो वौद्धविहार उसने देखा था जिनमें ६००–७०० विद्वान भिक्षु निवास करते थे। दूर-दूर देशों के विद्वान भी उनके पास शिक्षा के लिए आया करते थे। वहाँ के निवासी धर्म के अनुकूल रहते थे। हर वर्ष द्वितीय मास की अष्टमी को बुद्ध और बोधिसत्व का जुलूस २० रथों पर सजकर निकलता था। बड़े-बड़े नगरों तथा राजपथों पर आराम के लिए विश्रामगृह भी बने थे। यात्रा निरापद हुआ करती थी। प्रजा के सुखी और सम्पन्न होने का भी विवरण मिलता है। लोगों को न तो घर की रजिस्ट्री करानी पड़ती थी और न मजिस्ट्रेट के समक्ष उपस्थित ही होना पड़ता था। दण्डविधान भी विनम्र था। आवागमन में रुकावट नहीं थी। शारीरिक यंत्रणाएँ नहीं दी जाती थीं। प्राणदण्ड की प्रथा नहीं थी पर उसके स्थान पर

अंगछेद का विधान था। राजकर्मचारी वैतनिक थे। कौड़ी का प्रयोग होता था। फाहियान बिना किसी उपद्रव के ही उत्तरी भारत में भ्रमण कर सका था। गया, श्रावस्ती, कुशीनगर और कपिलवस्तु जैसे बड़े नगर उजड़ गये थे।

गोविन्दगुप्त

किसी भी भारतीय इतिहासकार ने गोविन्दगुप्त के अस्तित्व के विषय में नहीं लिखा है। लेकिन इतना हम जानते हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य को ध्रुवस्वामिनी की कोख से उत्पन्न दो पुत्र थे जिसमें बड़े का नाम गोविन्दगुप्त और छोटे का नाम कुमारगुप्त प्रथम था। अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का अन्तिम ज्ञात अभिलेख गुप्त संवत् (४१८–४१९ ई०) है तथा उसके छोटे पुत्र कुमारगुप्त प्रथम गुप्त संवत् ९६ (४१५–४१६ ई०) में गद्दी पर आसीन था। यह गुप्त संवत् ९६ उसके शासन का प्रथम वर्ष था। इन दोनों अवधियों के बीच थोड़े दिनों तक गोविन्दगुप्त शासक रहा होगा। गोविन्दगुप्त के अस्तित्व को उठाने वाले डॉ० पी० एल० गुप्त ही पहले इतिहासकार है, जिन्होंने अभिलेखों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि गोविन्दगुप्त भी भारत का शासक था।[1]

वसाढ़ (वैशाली) में एक मिट्टी की मुहर मिली है जो ध्रुवस्वामिनी की है और उस मुहर से यह पता लगता है कि उसे गोविन्दगुप्त नामक एक पुत्र था।[2] डी० आर० भण्डारकर ने इस मुहर के लेख का विवेचन करते हुये हमारा ध्यान आकृष्ट कराया है कि 'किसी रानी के मुहर में उसके शासक पति और उसके युवराज पुत्र के नाम की ही अपेक्षा की जा सकती है।'[3] इस मुहर से यह भी पता चला है कि जिन दिनों यह मुहर प्रचलित की गयी थी उन दिनों चन्द्रगुप्त द्वितीय जीवित थे। अगर चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका प्रचलन हुआ होता तो ध्रुवस्वामिनी ने अपने को राजमाता कहने में गौरव का अनुभव किया होता। इससे एक और बात का पता चलता है कि इस मुहर के प्रचलन के समय तक कुमारगुप्त प्रथम युवराज नहीं घोषित हुये थे। अगर वे युवराज होते तो मुहर पर उसका अवश्य नाम होता।

इतिहासकारों ने अभी तक ऐसा स्वीकार नहीं किया है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद गोविन्दगुप्त शासक था या नहीं। इसे अनेक विद्वान सन्दिग्ध मानते हैं। राजकीय वंशावली जो अभिलेखों में हैं, उनके आधार पर वे ऐसा मानते हैं कि

१. गुप्त-साम्राज्य, पृ० २९७।

२. 'महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त-पत्नी महाराज गोविन्दगुप्त माता महादेवी श्री ध्रुवस्वामिनी।'— आ० स० इ० ऐ० रि०, १९०३–०४, पृ० १०७।

३. गुप्त-साम्राज्य, पृ० २९७, इ० क० ११, पृ० २३१।

कुमारगुप्त प्रथम अपने पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद गद्दी पर बैठा। गोविन्दगुप्त के राजगद्दी पर बैठने की बात का समर्थन मन्दसोर अभिलेख से ज्ञात होता है जो मालव संवत् ५२४ (४६७ ई०) में उत्कीर्ण हुआ था।[1] इस अभिलेख में राजा प्रभाकर के सेनापति दत्तभट्ट ने चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र गोविन्दगुप्त का वर्णन किया है और कहा है कि अधीनस्थ नृप उसके पादपद्म को सिर नवाते थे[2] तथा इन्द्र भी उसकी शक्ति से भयभीत रहते थे।[3] इन दोनों वाक्यों से यह साफ-साफ पता चलता है कि गोविन्दगुप्त अवश्य कुछ समय के लिये राजगद्दी पर बैठा।

पर ऐसे भी इतिहासकार हैं जिनका ऐसा मत है कि गोविन्दगुप्त अपने भाई कुमारगुप्त प्रथम के समय में मालवा का गवर्नर था।[4] कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि गोविन्दगुप्त अपने भाई कुमारगुप्त प्रथम या भतीजे स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद मालवा के स्वतंत्र शासक हो गये थे। इसके मानने वाले में डॉ० डी० सी० सरकार प्रमुख हैं जिन्होंने इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की है कि अधीनस्थ सामन्त भी अपने राजाओं द्वारा पूजित होते थे। इस प्रसंग में उन्होंने कई अभिलेखों को उद्धृत किया है जिनके माध्यम से उन्होंने ऐसा कहना चाहा है कि युवराज भी कभी-कभी सत्तारूढ़ शासक के समान ही सम्राटीय सम्मान का उपयोग किया करते थे। अतः उन्होंने मन्दसोर अभिलेख के उपर्युक्त तथ्य को महत्त्वहीन समझा है।[5]

हमारे पास कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे मालवा के साथ गोविन्द गुप्त का सम्बन्ध का पता चल सके। डॉ० पी० एल० गुप्ता इसमें संदेह व्यक्त करते हैं। 'मात्र इतने से ही दत्तभट्ट मन्दसोर-नरेश प्रभाकर के सेनापति थे, यह नहीं कहा जा सकता कि दत्तभट्ट के पिता अथवा उनके पिता के स्वामी गोविन्दगुप्त का भी मालवा से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध था।'[6] मन्दसोर के समीप चार अभिलेख प्राप्त हुये हैं जिससे यह पता लगता है कि उक्त प्रदेश उस काल में वर्मन नामान्त एक स्थानीय वंश के शासकों द्वारा शासित था।[7] इस कुल के प्रथम दो नरेश—जयवर्मन और उनके पुत्र सिंहवर्मन चतुर्थ शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में स्वतंत्र शासक थे। वहाँ सिंहवर्मन के पुत्र नरवर्मन ४०४ ई० में और उनके पुत्र विश्ववर्मन

१. एपि० इन्डि०—२७, पृ० १२।
२. 'नृपेरस्तमित-प्रतापैश्शिरोभिरालिंगितपादपद्मे।'
३. विचारदोलां विबुधाधिपोऽपि शंकापरीतः समुपारुरोह।
४. एपि० इन्डि०—२७, पृ० १३।
५. इ० हि० क्वा०, २४, पृ० ७३—७४।
६. गुप्तसाम्राज्य, पृ० २९९।
७. एपि० इन्डि० १३, पृ० ३१५।

४२३ ई० में शासन करते थे। यह काल चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त प्रथम का है। मन्दसोर के इन सभी राजाओं के किसी भी अभिलेख में ऐसी किसी भी बात का प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह पूर्णरूप से प्रकट हो कि उन्होंने कभी भी गुप्तों का प्रभुत्व स्वीकार किया था। विश्ववर्मन के पुत्र बन्धुवर्मन के समय में पहली बार ऐसा अभिलेख मिलता है जिसमें कुमारगुप्त प्रथम का उल्लेख चतुस्समुद्रान्त पृथ्वी के शासक के रूप में हुआ है। यह अभिलेख मालव संवत् ४९३ (४३६ ई०) का है। गुप्तसंवत् १३६ (४५५ ई०) के गिरिनार शिलालेख से हमें पश्चिमी भारत पर स्कन्दगुप्त के शासन का पता चलता है। प्रभाकर ने मालव संवत् ५२४ (४६७ ई०) में मन्दसोर पर शासन किया था। पुनः मालव संवत् ५२९ (४७२ ई०) के एक अन्य लेख में ४३६ और ४७२ ई० के बीच अन्य राजाओं का उल्लेख हुआ है।[1]

इन सबों से यही निष्कर्ष निकलता है कि मन्दसोर पर गुप्त सम्राटों का आधिपत्य ४२३ और ४३६ ई० के बीच किसी समय स्थापित हुआ था और वह ४७२ ई० से बहुत पहले ही समाप्त भी हो गया। दत्तभट्ट के लेख से हमें यह पता चलता है कि ४६७ ई० में गोविन्दगुप्त जीवित न थे क्योंकि उनके शासन की भर्त्री पूर्वकाल (भूतकाल) में की गयी है। अतः मालवा में गोविन्दगुप्त के स्वतन्त्र अथवा प्रतिद्वन्द्वी शासक के रूप में शासन की कभी भी कल्पना नहीं की जा सकती है। डॉ० पी० एल० गुप्ता ने तो इसे और भी हास्यास्पद माना है कि छोटे भाई के अधीन बड़े भाई ने काम किया हो।[2]

इस अभिलेख में ऐसी कोई भी बात नहीं मालूम पड़ती जिससे यह कहा जा सके कि गोविन्दगुप्त का पद किसी प्रकार निम्न था अथवा वे सम्राट् नहीं थे और उनका आधिपत्य अनेक सामन्तों पर नहीं था। पर इसके विपरीत कई ऐसे तथ्य मिले हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि गोविन्दगुप्त अपने पिता के समय युवराज था तथा अपने पिता की मृत्यु के तुरत ही बाद वह गद्दी पर आसीन हो गया था।

डॉ० पी० एल० गुप्ता ने वसुबन्धु चरित के आधार पर यह सिद्ध किया है कि वसुबन्धु के ज्येष्ठ संरक्षक चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ही थे तथा उनके कुमार बालादित्य की पहचान उन्होंने गोविन्दगुप्त से लगायी है, क्योंकि दूसरे कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य कहे जाते थे।[3] हरप्रसाद शास्त्री तथा डी० आर० भण्डारकर ने भी इसे स्वीकार किया है। अगर हम इन सबों की बात मानकर

१. इ० ऐ०, १५, पृ० १९४।
२. गुप्तसाम्राज्य, पृ० २९९।
३. गुप्तसाम्राज्य—पृ० ३००।

गोविन्दगुप्त के अस्तित्व को जानना चाहेंगे तो यह साफ-साफ पता लगता है कि गोविन्दगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के जीवन काल में युवराज थे और उनकी मृत्यु के वाद उनके उत्तराधिकारी वने। 'वसुवन्धु चरित' के परमार्थ ने गद्दी पर आने की वात कही है।

गोविन्दगुप्त अधिक दिनों तक शासक नहीं रहा। उसका शासन-काल अत्यन्त ही अल्प था और यह शासन-काल अधिक से अधिक दो वर्षों से अधिक का नहीं था। यह स्पष्ट है कि गद्दी के लोभ में उसके अनुज कुमारगुप्त प्रथम ने उसकी हत्या कर गद्दी का अधिकारी वन वैठा। उसका शासन-काल ४१२ ई० और ४१५ ई० के वीच रखा जाता है।

देवगढ़ मन्दिर के प्रांगण का एक स्तम्भलेख 'केशवपुरस्वामिपादाय भागवत गोविन्दस्य दानं' के आधार पर डॉ० वी० एस० अग्रवाल ने यह स्वीकार किया है कि यह गोविन्दगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का पुत्र रहा होगा जिसने देवगढ़ स्थित विष्णुमन्दिर का निर्माण कराया था।[1] पर यह एक विवादास्पद प्रश्न है और हमें गोविन्दगुप्त अथवा उनके समय के सम्बन्ध में किसी प्रकार की कोई और जानकारी किसी सूत्र से नहीं प्राप्त होती है।

कुमारगुप्त प्रथम के शासन-काल के १३ अभिलेख प्राप्त हुए हैं पर इनमें किसी भी राजनीतिक घटना का उल्लेख नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसका शासन-काल काफी शान्तिपूर्ण रहा होगा और उसने अपने पूर्वजों से प्राप्त विस्तृत साम्राज्य को अक्षुण्ण वनाये रखा। गुप्तसंवत् ९६ (४१५ ई०) के विलसद स्तम्भ अभिलेख में इसकी वंशावली का वर्णन है एवं इसके अभिवर्धमान विजय राज्य का उल्लेख है। गुप्तसंवत् १०६ (४२५ ई०) के उदयगिरि, अभिलेख में उसे सर्वोत्तम शासक कहा गया है। गुप्तसंवत् ११७ (४३६ ई०) के करमदण्डा अभिलेख में उसके "चतुरुदधि सलिल-स्वादित-यश" का उल्लेख है। इस अभिलेख के अनुसार पृथ्वीषेण उसके अधीन था। मालवसंवत् ४९३ (४३६ ई०) के मन्दसोर अभिलेख में उसे "चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलाशबृहत्पयोधरपृथिवी" का शासक कहा गया है। यह अभिलेख उसके राज्य की चौहद्दी का वर्णन करता है। सुमेरु और कैलास गुप्त साम्राज्य की उत्तरी सीमा तथा विन्ध्य वनान्त उसकी दक्षिणी सीमा थी एवं शेष दो दिशाओं में उसकी सीमा समुद्र तक थी। साहित्यिक दृष्टिकोण से इस अभिलेख का काफी महत्त्व है। इसमें कुमारगुप्त के प्रतिनिधि शासक वन्धुवर्मा का वर्णन मिलता है। गुप्तसंवत् १२४ या १२९ (४४३–४४८ ई०) के दामोदरपुर ताम्रपत्र में भूमिविक्रय

---

१. स्टडीज इन इन्डियन आर्ट, पृ० २२४–२५।

विषयपति तथा उसके सभासदों के नाम मिलते हैं। गुप्तसंवत् ११३ एवं १२८ के धनैदहका एवं वंग्राम ताम्रपत्रों से भूमिदान के प्रमाण एवं उसकी नियमावली का वर्णन मिलता है। इन सब के अतिरिक्त गढ़वा अभिलेख (गुप्त संवत् ९८ = ४१७ ई०), मनकुवार अभिलेख (गुप्तसंवत् १२९ = ४४८ ई०), साँची अभिलेख (गुप्तसंवत् १३१) एवं मथुरा अभिलेख भी हैं।

कुमारगुप्त एक विशाल और सुव्यवस्थित राज्य का अधिकारी हुआ। वह एक महान् विजेता तो नहीं था पर उसने अपने पैतृक साम्राज्य को सुरक्षित रखा। पुराणों के अनुसार उसने अपने साम्राज्य का विस्तार कलिंग और माहिषक को मिलाकर किया था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कुमारगुप्त ने अपने पितामह समुद्रगुप्त के समय के अनेक दक्षिण-पूर्वी सामन्तों को, जिन्होंने उसके पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय के साथ मैत्री बनाये रखी थी, मिटा दिया। उसके अभिलेखों एवं उसके सिक्कों से यह प्रकट होता है कि गुप्त-साम्राज्य के दूर-दूर के प्रान्त उसके अधिकार में थे। उसके समय में चिरातदत्त पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल), बन्धुवर्मन दशपुर (मालव) एवं घटोत्कच गुप्त एंकिण (उत्तरी चेदि) के राज्यपाल थे। इस तरह इसके समय में गुप्तों का आधिपत्य सारे भारत पर बना रहा। शान्ति, स्थिरता और सुव्यवस्था के कारण गुप्त-साम्राज्य इस समय अपनी समृद्धि की चरम सीमा पर था। इस बात की पुष्टि हमें इस समय के सिक्कों की विशुद्धता और सौन्दर्य, स्थापत्य एवं मूर्त्तिकला के विकास तथा आर्थिक और व्यापारिक समृद्धि से सिद्ध होती है।

कुमारगुप्त के समय में पश्चिम की ओर गुप्त-साम्राज्य के विस्तार का प्रमाण हमें उसके चाँदी के सिक्कों से मिलता है जो पश्चिमी भारत में भावनगर तक बिखरे मिले हैं। उसके इस ओर के अभियान और सफलता के विषय में हमें कोई विशेष जानकारी नहीं है पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसके पश्चिमी अभियान की प्रारम्भिक सफलताओं में दशपुर (मन्दसोर) नरेशों पर विजय अवश्य था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में दशपुर के वर्मन शासकों में से दोनरवर्मन और विश्ववर्मन ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम रखी थी। विश्ववर्मन के पुत्र बन्धुवर्मन को पहली बार हम कुमारगुप्त की अधीनता स्वीकार करते पाते हैं। जिससे स्पष्ट है कि वर्मनों को कुमारगुप्त ने ही अपने अधीन किया होगा। गुजरात-सौराष्ट्र की ओर कुमारगुप्त प्रथम ने सर्ववंश के राजाओं का नाश किया था।

राज्य-विस्तार—हमें उसके अभिलेखों से तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं का कुछ भी पता नहीं लगता पर शिलालेखों के प्राप्ति-स्थानों से उसके राज्यविस्तार का बहुत कुछ पता चल जाता है। मन्दसोर शिलालेख से ज्ञात होता है कि वह

'चारों समुद्रों की चंचल लहरों से घिरी हुई पृथ्वी पर' शासन करता था।[1] ऊपर कहा जा चुका है कि सौराष्ट्र से बंगाल तक उसका राज्य फैला था। उसके चाँदी के सिक्के एलिचपुर[2] और ब्रह्मपुरी[3] (कोल्हापुर) में भी मिले हैं। इससे दक्षिण-पश्चिम डेकन में गुप्त प्रभाव का संकेत मिलता है पर यह सिद्ध नहीं हो पाया है कि उस ओर इसने कोई विजय प्राप्त की थी। उसनें पैंतीस वर्षों से अधिक काल तक अपने साम्राज्य को संघटित कर उसकी समृद्धि, शान्ति और सुरक्षा बनाये रखी। मंजुश्री-मूल-कल्प के अनुसार वह नृपवर मुख्य था। पर, हम इस बात को कदापि इन्कार नहीं कर सकते कि उसके शासन के अन्तिम दिनों में उसे पराभव का भी सामना करना पड़ा था। उसके पुत्र स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भलेख से ऐसा ज्ञात होता है कि उसके अन्तिम दिनों में युद्ध के कारण गुप्त साम्राज्य की नींव हिल गई थी और साम्राज्य कुछ समय के लिए अस्त-व्यस्त सा हो चला था। इसका विस्तृत विवरण हम आगे की पंक्तियों में प्रस्तुत करेंगे।

अश्वमेध यज्ञ—कुमारगुप्त प्रथम ने भी अपने पितामह समुद्रगुप्त की तरह अश्वमेध प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित की थीं, जो दो प्रकार की है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे कुछ विशिष्ट सफलताएँ अवश्य मिली थीं। इनके सिक्कों पर अंकित 'अश्वमेध महेन्द्रः' उपाधि से ऐसा ज्ञात होता है कि इसने दो अश्वमेध यज्ञ किये थे क्योंकि इनके सिक्कों पर दो भिन्न अश्वों का अंकन हुआ है। यह यज्ञ एकाधिपत्य तथा प्रभुता का सूचक था। ये सिक्के सोने के हैं जिन पर एक ओर यज्ञ के खम्भे में बँधा हुआ अश्व और दूसरी ओर हाथ में चँवर लिये राजमहिषी की मूर्त्ति है। यह तो स्पष्ट है कि उसने यज्ञ किया था, पर किन विजयों के उपलक्ष में, यह कहना कठिन है। संभवतः अपने पितामह के अनुकरण में या राजनीतिक प्रभुता के प्रदर्शन में या पुण्य के लिए उसने अश्वमेध का अनुष्ठान किया था।

शासन-व्यवस्था—साम्राज्य कई खण्डों में विभक्त था तथा इसे 'पृथिव' कहा जाता था। राज्य, प्रान्त, जिले और वीथी इसकी इकाइयाँ थीं। विषय में चार गैरसरकारी सदस्य हुआ करते थे जिनका मुख्य काम परामर्श देना था। नगर श्रेष्ठ, सार्थवाह, प्रथम कुलिक एवं प्रथम कायस्थ विषय के सदस्य थे जो नगर;

---

१. फ्लीट-गुप्तअभिलेख :—चतुस्समुद्रान्त-विलोल मेखलां
सुमेरु-कैलास-वृहत्पयोधराम्।
वनान्त-वान्त-स्फुट-पुष्पहासिनीम्
कुमार गुप्ते पृथिवीं प्रशासति।

२. जे० आर० ए० एस० १८८९, पृ० १२४।

३. डेकन कॉलेज बुलेटिन, २१, पृ० ५१।

व्यापार, उद्योग और शासन के प्रतिनिधि होते थे। वीथी-सभा में स्थानीय बड़े लोग (महत्तर) और पारिवारिक गृहस्थ (कुटुम्बी)—ये दो प्रकार के सदस्य हुआ करते थे। दफ्तरों में पुस्तपाल, कायस्थ और कुलिक काम करते थे। अभिलेखों से भूमि के आदान-प्रदान की बातों का भी पता लगता है। दान में जमीन दी जाती थी जिसे बेचने की प्रथा नहीं थी। विभिन्न प्रकार की जमीनों का उल्लेख हमें अभिलेखों से मिलता है जिनमें—क्षेत्र, बंजर, अप्रहत, अप्रतिकर प्रमुख हैं। ग्रामों में अपनी भूमि-समिति हुआ करती थी जिसमें ग्राम महत्तर, अष्टकुलाधिकरण, ग्रामिक और कुटुम्बी सदस्य हुआ करते थे। इस समिति का मुख्य काम पुस्तपाल द्वारा लिखित बन्दोबस्त की मिसिलों के अनुसार और स्वयं मौके पर मुआइना करने के बाद दान के प्रस्ताव को समर्थन करना होता था। दान के न्यासों को अक्षय नीवी कहते थे। ये स्थायी धन न्यास होते थे जिनके ब्याज से श्रेणियाँ अपने अनेक उद्देश्यों की पूर्ति करती थीं। इस न्यास का मुख्य काम बैंक के समान था। गढ़वा के अभिलेख में 'दीनार' का वर्णन मिलता है।

पुष्यमित्रों का विद्रोह तथा हूणों का आक्रमण—कुमारगुप्त का शासन-काल बड़ा लम्बा था। उसके राज्यकाल के अन्तिम समय में गुप्त साम्राज्य पर एक भयानक विपत्ति आई जिसके फलस्वरूप कुछ समय के लिए साम्राज्य की शांति भंग हो गयी। डॉ॰ राजबली पाण्डेय ने उसकी वृद्धावस्था और बुढ़ापे में अधिक विलासिता को इसका कारण माना है जिसका प्रमाण उन्होंने 'वृद्ध राजा और युवती रानी' वाले सिक्के से दिया है।[1] उस समय पश्चिम-भारत में गुप्त साम्राज्य शिथिल होने लग गया था। कुमारगुप्त ने अपने उत्तरी-पश्चिमी सीमान्तों की सुरक्षा का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं किया था। फलस्वरूप उसी दिशा से शत्रुओं ने गुप्त साम्राज्य पर धावा बोल दिया। ये लोग इतने आगे बढ़ गये कि 'गुप्तकुल-लक्ष्मी' संकट में पड़ गयी। यह आक्रमण इतना भयंकर था कि इसको फिर से प्रतिष्ठापित करने के लिए कुमारगुप्त प्रथम के वीर पुत्र स्कन्द गुप्त को पृथ्वी पर लेटे-लेटे ही रात बितानी पड़ी थी।

ये शत्रु कौन थे? इस विषय में बड़ा ही मतभेद है। स्कन्दगुप्त के भितरी-स्तम्भ लेख से यह मालूम होता है कि सबसे पहले नर्मदा नदी के किनारे पुष्यमित्रों ने जिन्होंने काफी सेना और धन एकत्र कर रखा था, विद्रोह किया।[2] पर वे दबा दिये गये। पर इस अभिलेख के श्लोक का कुछ दूसरा भी अर्थ लगाया गया है।

---

१. प्राचीन भारत, पृ० २२६

२. फ्लीट—गुप्त अभिलेख—"समुदित—वलकोषात्पुष्यमित्राँश्च जिला।
क्षितिय—चरण—पीठे स्थापितो वामपादः ॥"

श्री एच० आर० दिवंकर ने 'पुष्यमित्रांश्च' के बदले 'युद्धयमित्रांश्च' पाठ का सुझाव दिया है[1] जिसका अर्थ होता है कि स्कन्दगुप्त ने युद्ध में (युधि) अमित्रों (शत्रुओं) को पराजित किया था। डॉ० ठाकुर ने इसका दूसरा ही पाठ प्रस्तुत किया है। आगे के श्लोक में ऐसा लिखा हुआ है कि अपने वंश की विलुप्त लक्ष्मी को फिर से प्रतिष्ठापित करके स्कन्दगुप्त ने अपनी विजय का समाचार अपनी अश्रुपरिप्लुत नेत्रों वाली माता को उसी प्रकार दिया जिस प्रकार विजयी कृष्ण देवकी को संवाद देने गये थे।[2] डॉ० एच० सी० रायचौधरी ने डॉ० आर० सी० मजुमदार के मत का खण्डन करते हुए इसे गृहयुद्ध की संज्ञा दी थी। उनका कहना है कि इन रिपुओं से मतलब बाह्य शत्रुओं से है भीतरी शत्रुओं से नहीं। ये शत्रु पुष्यमित्र थे जिनका उल्लेख अन्य कई जगहों में मिलता है। विष्णुपुराण में ये लोग नर्मदा के उद्गम स्थल में—कल क्षेत्र के बताये गये हैं जिसे फ्लीट ने नर्मदा के आस-पास का क्षेत्र माना है।

पर पुष्यमित्रों से कहीं बड़ा संकट इस समय हूणों से उपस्थित हुआ। यद्यपि वे भारतीय नहीं थे पर वे बहुत पहले से ही भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से टकरा रहे थे। उन्होंने गुप्तों के शस्त्रों की शिथिलता की गन्ध पाकर जल्द ही भारत पर आक्रमण कर दिया जिससे सामना करने के लिए कुमारगुप्त का पुत्र स्कन्दगुप्त वहाँ भेजा गया। उसने हूणों के विरुद्ध इतना भयंकर युद्ध किया कि सारी पृथ्वी कम्पित हो गयी। पर हूणों ने भी अपनी प्रचंड शक्ति से गुप्त साम्राज्य को डाँवाडोल कर दिया। किन्तु स्कन्दगुप्त के पराक्रम के सामने हूण टिक नहीं सके और मार भगाये गये तथा गुप्तवंश की शक्ति और प्रतिष्ठा पुनः स्थापित हो गयी। जिस समय स्कन्दगुप्त इन शत्रुओं से युद्ध कर रहा था उसी समय सम्भवतः कुमार गुप्त की मृत्यु हो गयी क्योंकि रणभूमि से लौटकर स्कन्दगुप्त अपने पिता के दर्शन नहीं कर सका था।

अपने पिता के समान ही कुमारगुप्त एक सहनशील सम्राट था। उसके शासन-काल में स्वामी महासेन (कार्त्तिकेय), बुद्ध, शिवलिंग, सूर्य तथा विष्णु की उपासना साथ-साथ होती थी। वह परम भागवत था। उसके सिक्कों पर कार्त्तिकेय की मूर्त्ति अंकित है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि वह कार्त्तिकेय का उपासक होगा। उसके राज्य-काल में अनेक मन्दिरों एवं धर्मशालाओं का निर्माण उसकी धनी प्रजा ने करवाया। मन्दसोर में बुनकरों की एक श्रेणी ने सूर्य

---

१. ए० भ० ओ० रि० इ० १९१९–२०, पृ० ९९–१०३

२. विचलित कुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन क्षितितलशयनीये येन नींता त्रियामा।
समुदितबलकोशान पुष्यमित्रांश्च जिला क्षितिपचरणकोटे स्थापितो वामपादः॥

का एक मन्दिर बनवाया था और इस प्रकार उसके साम्राज्य में पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता थी।

मुद्राएँ—कुमारगुप्त अपने पूर्वजों के समान वीर एवं योग्य नहीं था फिर भी उसने कई प्रकार के सोने के सिक्के प्रचलित किये जिनमें धनुर्धारी प्रकार, खड्‌गधारी प्रकार, अश्वारोही प्रकार, सिंहनिहंता प्रकार, गैंड़ाहंता प्रकार, व्याघ्रहंता प्रकार, गजारोही प्रकार, मयूर प्रकार, अश्वमेध प्रकार, प्रताप प्रकार, छत्रप्रकार, वीणावादक प्रकार, अप्रतिघ प्रकार एवं राजदंपति प्रकार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अश्वारोही प्रकार की मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर एक देवी मोर को खिलाती हुयी अंकित है। गैंडाहंता प्रकार की मुद्राओं पर अश्वारोही सम्राट् तलवार से एक गैंडे को मारता हुआ दिखाया गया है। गजारोही प्रकार के सिक्कों पर 'क्षतरिपु गोप्ता राजा' लेख मिलता है। कुछ अन्य मुद्राओं पर सिंहनिहन्ता लेख उपलब्ध है। पश्चिमी भारत में उसके चाँदी के सिक्के प्रचलित थे। कार्त्तिकेय प्रकार के सिक्के के आधार पर कुमारगुप्त के शासन काल में किसी विजय-अभियान की संभावना मिलती है। उसके सभी सोने के सिक्के १२५ से १२६ ग्रेन तक के हैं एवं उसके चाँदी और ताँबें के भी सिक्के मिले हैं।

व्यक्तित्व, प्रताप एवं पराक्रम—कुमारगुप्त विद्वानों का आश्रयदाता भी था। उसके विभिन्न प्रकार के सिक्कों से उसके रूप, आकृति और गुणों का पर्याप्त परिचय मिलता है। उसके सिक्कों से उसके नाटे होने का संकेत मिलता है। साथ ही सुडौल शरीर एवं मांसल बाहु तथा वक्ष चौड़ा होने का भी प्रमाण हमें सिक्कों से मिलता है। वह शिकारी भी था तथा घुड़सवारी और हाथी पर चढ़ने में उसकी काफी रुचि थी। वह अपने पितामह की तरह संगीतज्ञ भी था क्योंकि इसका प्रमाण हमें वीणा-वादक प्रकार सिक्कों से पता चलता है। उसकी प्रभुता का परिचय हमें उसकी उपाधियों से मिलता है। सिक्कों एवं अभिलेखों में उसे 'महेन्द्रादित्य', 'अजित महेन्द्र', 'श्रीमहेन्द्र', 'सिंहमहेन्द्र', 'महेन्द्रकुमार', 'गुप्तकुल-व्योमशशि' आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है। वह दयालु था तथा प्रजा का कल्याण उसका सर्वोपरि लक्ष्य था। आर० एन० दण्डेकर के शब्दों[1] में यद्यपि कुमारगुप्त ने अपनी तुलना प्रायः देवताओं के सेनानायक से की है पर वह न तो समुद्रगुप्त की तरह वीर योद्धा ही था और न चन्द्रगुप्त द्वितीय की ही तरह मनुष्यों का एक निर्भीक नेता ही। उसका शासन-काल सुख, शान्ति और समृद्धि के लिए विख्यात है। कुमारगुप्त के तेरह अभिलेखों में केवल एक उसकी सैन्य कार्यवाही का विवरण प्रस्तुत करता है किन्तु उसके अभिलेखों के विस्तृत विवरण से यह

१. ए हिस्ट्री ऑफ दि गुप्ताज, पृ० १०१

प्रमाण मिलता है कि वह अपनी प्रभुता और साम्राज्य को प्रायः अन्त तक बनाये रख सका। उसके साम्राज्य के अन्तर्गत पूर्व में बंगाल और पश्चिम में सौराष्ट्र शामिल था तथा उत्तर और दक्षिण की सीमाएँ हिमालय और नर्मदा थीं।

पारिवारिक जीवन—उसके कई रानियों की चर्चा मिलती है पर केवल एक ही रानी अर्थात् महादेवी अनन्तदेवी का नाम ज्ञात है। वह कदम्ब राजकुमारी थी और पुरुगुप्त की माता जिसका प्रमाण तालगुण्डा अभिलेख से मिलता है। पुरुगुप्त के अतिरिक्त उसे स्कन्दगुप्त नाम का एक और पुत्र था जिसकी माता का नाम संदिग्ध है। स्कन्दगुप्त एक महान् योद्धा एवं वीर था जिसकी ख्याति एक राष्ट्रीय वीर के रूप में हुयी है। परमेश्वरी लाल गुप्त ने उसे एक "सुरैतिन पुत्र" कहा है।[1] इन दोनों के अतिरिक्त कुमारगुप्त को घटोत्कच नाम का एक तीसरा भी लड़का था जो संभवतः सबसे बड़ा था जिसने कुमार गुप्त के पश्चात् राजगद्दी पाने के लिए चेष्टा भी की थी। कुमारगुप्त की मृत्यु ७५ वर्ष की अवस्था में ४५५–५६ ई० में हो गयी।

घटोत्कचगुप्त—अभी तक प्राचीन भारतीय इतिहास में कुमारगुप्त प्रथम के बाद स्कन्दपुप्त का नाम उसके उत्तराधिकारी के रूप में आता रहा है। पर कुछ विद्वानों ने इन दोनों पिता और पुत्र के बीच एक नये राजा का समावेश किया है जिसके सम्बन्ध में उन्होंने बहुत से प्रमाण दिये हैं। जिस समय स्कन्दगुप्त पुष्यमित्रों एवं हूणों से लड़ने के पश्चात् पश्चिमी भारत से लौटा तो उसके पिता कुमारगुप्त की मृत्यु हो गयी थी। इसी अवधि में कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद स्कन्दगुप्त के विजय-अभियान से लौटने से पूर्व कुछ काल के लिए स्कन्दगुप्त के भाई घटोत्कचगुप्त ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया था। यह घटना गुप्त संवत् १३० (४४९ ई०) और १३६ (४५५ ई०) के बीच किसी समय घटी होगी। इस बात की पुष्टि हमें निम्न साक्ष्यों से होती है।

घटोत्कचगुप्त का परिचय हमें तुमेन अभिलेख से मिलता है। यह अभिलेख पूर्ण नहीं है बल्कि खण्डित है। इस अभिलेख की दूसरी पंक्ति में चन्द्रगुप्त द्वितीय; तीसरी पंक्ति में कुमारगुप्त प्रथम और चौथी पंक्ति में घटोत्कचगुप्त के नाम अंकित हैं। इस अभिलेख में घटोत्कचगुप्त के सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है कि उसने अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित यश को अपने बाहुबल से प्राप्त किया।[2] इन पंक्तियों से यह पता चलता है कि घटोत्कचगुप्त कुमारगुप्त प्रथम के वंश का था पर अभिलेख के खण्डित हो जाने के कारण इतिहासकारों को इस समस्या का कोई संतोषजनक

---

२. गुप्त साम्राज्य, पृ० ३१२

१. "पूर्वजानां स्थिरसत्वकीर्तिर्भुजार्जितां।"

समाधान नहीं मिल सका है, तथापि यह मान लिया गया है कि वह कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र था।

बसाढ़ से प्राप्त मिट्टी की मुहर की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं जिसमें ध्रुव-स्वामिनी की मुहर मिली थी। उसी मुहर के साथ एक और मुहर मिली थी जिसमें केवल एक पंक्ति का निम्न अभिलेख अंकित है—'श्री घटोत्कचगुप्तस्य।' इतिहासकारों में मतभेद है कि यह घटोत्कचगुप्त कौन था? टी० ब्लाख ने इस घटोत्कचगुप्त को चन्द्रगुप्त प्रथम का पिता मान लिया है और इस मत को स्मिथ महोदय ने भी स्वीकार कर लिया था।[1] पर इसके विरोध में जॉन एलन ने हमारा ध्यान आकृष्ट कराया है। उनके अनुसार वह मिट्टी की मुहर चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल की है न कि चन्द्रगुप्त प्रथम की जैसा कि ब्लाख और स्मिथ ने माना है। एलन ने यह भी स्वीकार किया है कि यह घटोत्कचगुप्त गुप्त राजपरिवार का ही एक सदस्य रहा होगा।[2] परमेश्वरी लाल गुप्त ने जॉन एलन के मत को ही स्वीकार किया है और उस मुहरांकित घटोत्कच-गुप्त तथा तुमेन अभिलेख के घटोत्कच-गुप्त को एक ही व्यक्ति माना है।

इस बात की पुष्टि उन्होंने लेनिनग्राद म्युजियम के एक सोने के सिक्के के साक्ष्य के आधार पर की है। यह सोने का सिक्का धनुर्धर प्रकार का है जिस पर राजा की बाँयी काँख के नीचे 'घटो' शब्द अंकित है और किनारे वाले अभिलेख अंश रूप में (गु) प्त (:) पढ़ा जाता है। 'घटो' और 'गुप्त' से यह अनुमान लगाया जाता है कि यह सिक्का अवश्य ही घटोत्कचगुप्त द्वारा प्रचलित किया गया होगा। जॉन एलन ने बनावट के आधार पर इस सिक्के को पाँचवीं शती के अन्त का माना है जो कुमारगुप्त प्रथम के बाद घटोत्कचगुप्त के राजगद्दी पर बैठने के समय से मिलता-जुलता है। अतः यह कहा जा सकता है कि तुमेन अभिलेख के घटोत्कचगुप्त द्वारा ही यह सिक्का प्रचलित किया गया होगा। साथ ही इस सिक्के के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि घटोत्कचगुप्त अवश्य राजा रहा होगा जिसने अपने शासन-काल में सिक्का चलवाया होगा।

बयाना से प्राप्त गुप्त स्वर्ण-मुद्राओं से भी इस बात का समर्थन हो जाता है। इसमें छत्र प्रकार का एक सिक्का मिला है जो तौल में १३२ ग्रेन है तथा इस पर 'क्रमादित्य' उपाधि उत्कीर्ण है। इस सिक्के के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यह

१. आ० स० इ० ए० रि० १९०३, पृ० १०२, ज० रो० ए० सो० १९०५, पृ० १५३, अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, ४था सं०, पृ० २९६।
२. बि० म्यु० मु० सू० गु० वं० भू०, पृ० १७।
३. गुप्त साम्राज्य, पृ० ३१५।

कुमारगुप्त प्रथम अथवा उसके किसी पूर्वज का नहीं हो सकता। यह माना जा सकता है कि यह सिक्का कुमारगुप्त प्रथम के तत्काल उत्तराधिकारी का ही होगा। छत्र-प्रकार के सिक्के गुप्त राजाओं ने अपने राजगद्दी पाने के समय जारी किये थे। अतः इस प्रकार के सिक्के को अपने प्रचलनकर्त्ता का अद्यतम सिक्का कहा जा सकता है। इस सिक्के पर किनारे वाला अभिलेख नहीं है जिसके कारण किसने इस सिक्के को जारी किया कहना मुश्किल है। 'क्रमादित्य' उपाधि का प्रयोग स्कन्दगुप्त के लिये हुआ है किन्तु वह सिक्का तौल में अधिक है। डॉ० अल्तेकर ने इस सिक्के को स्कन्दगुप्त का माना है पर उन्होंने इसके तौल के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं बतलाया है। बयाना से प्राप्त इस सिक्के की तौल १३२ ग्रेन है जब कि स्कन्दगुप्त द्वारा प्रचलित क्रमादित्य अभिलेख वाला सिक्का १४४ ग्रेन का है और ये १४४ ग्रेन के सिक्के बहुत बाद के हैं। इस सिक्के को देखने से यह भी अंदाज लगता है कि स्कन्दगुप्त ने 'क्रमादित्य' उपाधि को बहुत बाद में धारण किया था। क्रमादित्य उपाधि लेनिनग्राद म्युजियम वाले सिक्के पर भी मिलती है। यदि बयाना के छत्र-प्रकार के सिक्के घटोत्कचगुप्त के हों तो यह स्पष्ट हो जाता है कि घटोत्कचगुप्त कुमारगुप्त प्रथम के बाद कुछ समय के लिए राजगद्दी पर बैठा था।

स्कन्दगुप्त

कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु ४५५ ई० के लगभग हुई। उस समय स्कन्दगुप्त पुष्यमित्रों तथा हूणों से सामना करने के लिए पश्चिमी भारत गया था। जब वह वहाँ से लौटा तो उसने अपने पिता को नहीं पाया और अपनी विजय की सूचना अश्रुभरे नेत्रों से अपनी माता को दी थी। कुमारगुप्त प्रथम के तीन पुत्र थे। राजमहिषी अनन्त देवी का पुत्र पुरुगुप्त था जो अवस्था में बड़ा होने के साथ वास्तविक अधिकारी भी था। पर उत्तराधिकार के लिए पुरुगुप्त और स्कन्दगुप्त में संभवतः युद्ध हुआ और स्कन्दगुप्त पुरुगुप्त को हराकर गद्दी का अधिकारी बना। गिरिनार (जूनागढ़) के अभिलेख में ऐसा वर्णन मिलता है कि 'राज्य लक्ष्मी ने सभी राजपुत्रों को छोड़कर स्कन्द का वरण किया।'[1] स्कन्दगुप्त की माता के नाम का उल्लेख अभिलेखों में नहीं मिलता, जब कि अन्य राजकीय गुप्त लेखों में माता के नाम का उल्लेख है। भितरी स्तम्भ लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्कन्दगुप्त

---

१. फ्लीट गुप्त अभिलेख—स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख—

"क्रमेण बुद्धया निपुणं प्रधार्य
ध्यात्वा च कृत्स्नान्, गुणदोष-हेतून्।
व्यपेत्य सर्वान् मनुजेन्द्र-पुत्रान्
लक्ष्मी स्वयं यं वरयाञ्चकार।"

कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र था पर इस अभिलेख में भी माता के नाम का अभाव है। एच० सी० रायचौधरी का ऐसा मत है कि इस अभाव का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उनका यह कहना है कि राजाओं की रानियों और माताओं का उल्लेख अभिलेखों में हो, यह अनिवार्य नहीं था। इस मत की पुष्टि के लिए उन्होंने बाँसखेड़ा और मधुबन ताम्रशासनों का उल्लेख किया है जिनमें हर्षवर्धन की माता का नाम नहीं है।[1] पर रायचौधरी के इस मत का कुछ विद्वानों ने खण्डन किया है।[2] इनका कहना है कि हर्षवर्धन राज्यवर्धन का छोटा भाई था और इन अभिलेखों में राज्यवर्धन की माता का नाम दिया गया है अतः जब हर्षवर्धन का उल्लेख हुआ है तो फिर से इसे दुहराया नहीं गया होगा। गुप्तों की यह स्पष्ट परम्परा रही है कि वे अपने पिता-पितामहों के उल्लेख के साथ माता एवं पितामहियों की चर्चा अवश्य करें जिसका स्पष्ट प्रमाण हमें समुद्रगुप्त से मिलता है। उसके प्रभाग स्तम्भ लेख में इस प्रकार का उल्लेख है—"महाराज श्री गुप्त प्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कच पौत्रस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्य, लिच्छवि दौहित्रस्य महादेव्यां कुमार देव्याभुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त।"

गुप्त अभिलेखों के अध्ययन से यह पता चलता है कि माता-पिता दोनों के नामोल्लेख की परम्परा समुद्रगुप्त के समय से प्रारम्भ होकर स्कन्दगुप्त के पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती राजाओं के समय तक रही। प्रयाग-प्रशस्ति एवं भितरी स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती राजाओं के लेखों में पितामहों और पितामहियों तथा माता-पिता के नाम के उल्लेख की जो परम्परा थी उसे उसी रूप में रखकर स्कन्दगुप्त ने भी अपने पिता का उल्लेख किया है, किन्तु यहाँ पर अपनी माता का नाम छोड़ दिया है। कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि संभवतः उसकी माता अग्रमहिषी अथवा महिषी नहीं थी, अन्यथा स्कन्दगुप्त कभी भी अपनी माता का नामोल्लेख करने में लज्जा का अनुभव नहीं करता। किन्तु यह मत अत्यन्त भ्रामक है, कारण गुप्त अभिलेखों में ही, सभी शासकों ने अपनी माता का उल्लेख नहीं किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि जिन शासकों की माताओं का उल्लेख नहीं है, वे उप-पत्नियों के सन्तान थे।

भितरी अभिलेख में प्रशस्तिकार ने स्कन्दगुप्त की तुलना कृष्ण से की है और ऐसा कहा है कि विजय की खुशी का समाचार स्कन्दगुप्त ने अपनी माता को ठीक उसी प्रकार दिया, जिस प्रकार कृष्ण ने अपनी माता देवकी को। इससे कुछ इतिहासकारों ने ऐसा अनुमान लगाया है कि स्कन्दगुप्त की माता का नाम देवकी

---

१. पो० हि० ए० इ०, पृ० ५७३।
२. गुप्त साम्राज्य, पृ० ३१७।

था। एन० एन० दासगुप्त ने कृष्ण और देवकी की उपमा से यह अनुमान लगाया है कि स्कन्दगुप्त की माँ पुष्यमित्रकुल की थीं और वह कुल स्कन्दगुप्त का विरोधी था। फलतः पुष्यमित्रों की हार उसकी माँ के लिए आनन्द का विषय थी।[1] डी० सी० सरकार की भी ऐसी धारणा है कि स्कन्दगुप्त ने अपने मामा से ही युद्ध किया था। दशरथ शर्मा एवं जगन्नाथ अग्रवाल ने इस सम्बन्ध में इस बात पर अधिक बल दिया है कि भितरी स्तम्भ लेख में स्कन्दगुप्त की मातृभक्ति का निश्चित प्रमाण हमारे सामने उपस्थित है।[2] माँ के प्रति भक्ति हर सन्तान का कर्त्तव्य है।

राज्यारोहण एवं शासन काल—उसके राज्यारोहण के समय कुछ कठिनाइयाँ अवश्य उपस्थित हुयी थीं जिनका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। कुमारगुप्त के पुत्रों में वह सर्वाधिक पराक्रमी एवं योग्य था तथा उसका शासन काल १३६ गु० सं० (४५५ ई०) से १४८ गु० सं० (४६७ ई०) माना जाता है। बारह वर्षों का उसका शासनकाल ऐतिहासिक दृष्टिकोण से काफी महत्त्व रखता है। उसने कुमारावस्था से ही शासन तंत्र में क्रियाशील भाग लेना शुरू कर दिया था)।

राज्य का स्थायित्व—वह अपने सभी भाइयों में सैनिक योग्यता की दृष्टि से बहुत आगे था। अपने पिता के समय में उसने पुष्यमित्रों के विद्रोह और हूणों के आक्रमण से गुप्त साम्राज्य की रक्षा की थी। शत्रुओं द्वारा विचलित कुल लक्ष्मी को पुनर्स्थापित करने का श्रेय स्कन्दगुप्त को ही प्राप्त है। भितरी-स्तम्भलेख में इस प्रकार कहा गया है—

"पितरिदिविमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं
भुजबल–विजितारिर्य्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः
जितमिति परितोषान्मातरं सास्र नेत्रां
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः।"

हूणों का आक्रमण—गुप्त साम्राज्य का अधिकारी होने के बाद शीघ्र ही उसे एक अन्य विपत्ति का सामना करना पड़ा। उसने अपने पैतृक राज्य का संरक्षण करते हुए इस संकट का सामना डटकर किया। 'अवनी विजय' का श्रेय उसे भितरी अभिलेख में दिया गया है पर उसकी विजय यात्रा का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। भितरी और जूनागढ़ के लेखों से सिर्फ इतना ज्ञात होता है कि उसने विधर्मी हूणों का सामना कर उन्हें पराजित कर पृथ्वी को हिला दिया। अपने राज्यारोहण के प्रारम्भ से ही उसे हूणों के साथ संघर्ष करना पड़ा था। भितरी स्तम्भ लेख में तो यहाँ तक कहा गया है कि स्कन्दगुप्त ने अपने राज्य का

---

१. वी० सी० ला० वॉल्युम १, पृ० ६१७।

२. ज०इ० हि०,४३, पृ० २२१, अ०भ०ओ०रि०इ० खण्ड ४८-४९, पृ० ३२५।

विस्तार दिग्विजय द्वारा किया था। पिता की मृत्यु के बाद उसने अपने पराक्रम एवं शौर्यबल से चारों दिशाओं को अपने वश में किया। म्लेच्छ देश के गर्व को चूर-चूर कर इसने उसे अपने राज्य के अधीन कर लिया।

उपर्युक्त दोनों अभिलेखों में इस प्रकार की बात कही गयी है कि स्कन्दगुप्त ने अपने दुश्मनों को हराकर उन्हें पूर्णतः कुचल दिया। हूणों के आक्रमण में अपने सेनापतियों की सहायता से उसने हूणों को इस तरह पराजित किया कि उसकी मृत्यु के पचास वर्ष बाद भी हूणों को भारत पर आक्रमण करने का साहस ही नहीं हो सका। ये हूण बर्बर जाति के थे एवं अपनी शक्ति बढ़ा लेने पर वे यूरोप एवं एशिया दोनों महाद्वीपों में आतंक फैलाए हुए थे। लगभग ५वीं शताब्दी के बीच हूणों की एक शाखा जिसे **'श्वेत हूण'** कहा गया है, ने आक्सस की घाटी पर अपना अधिकार जमा कर भारत के निवासियों को काफी समय तक आतंकित कर रखा था। उन्होंने गान्धार को अपने कब्जे में कर लिया तथा वहाँ पर एक निर्दयी राजा को गद्दी पर बैठा दिया जो प्रजा पर अत्याचार किया करता था। यह अत्याचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था तथा वे अब भारतीय सीमा में प्रवेश कर गुप्त साम्राज्य को विध्वंस करना चाह रहे थे। पर युद्ध में स्कन्दगुप्त के समक्ष हूणों ने घुटने टेक दिये। हूणों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् स्कन्दगुप्त ने एक विष्णु स्तम्भ का भी निर्माण करवाया। इस प्रकार हूणों को हराकर उनके क्रूर बर्बर आक्रमण से देश की रक्षा कर स्कन्दगुप्त ने देश को बचाया अतः वह सच्चे अर्थों में राष्ट्रनायक, राष्ट्रवीर, महान् योद्धा, राष्ट्र का मुक्तिदायक और गुप्तवंश का गौरव रक्षक था।

सोमदेव कृत् 'कथासरित्सागर' में उज्जैन के महाराज महेन्द्रादित्य के पुत्र विक्रमादित्य द्वारा म्लेच्छों (हूणों) की हार का विशद् वर्णन मिलता है। 'चन्द्रगर्भपरिपृच्छा' से भी यह पता चलता है कि उसको १२ वर्षों तक संघर्ष करना पड़ा था। कुछ इतिहासकारों की ऐसी धारणा है कि इन युद्धों ने गुप्त साम्राज्य को जर्जरित कर दिया तथा स्कन्दगुप्त के समय से ही गुप्तों के साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया। पर यह कथन युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता कारण स्कन्दगुप्त के अन्तिम समय तक गुप्तों का साम्राज्य अविच्छिन्न रूप में था तथा उसके उत्तराधिकारियों ने भी इस विशाल साम्राज्य का उपभोग किया। ४६१ ई० के कहौम के लेख में यह स्पष्टतः लिखा हुआ है कि इस समय तक गुप्त साम्राज्य में शान्ति स्थापित हो चुकी थी। पर पश्चिमी प्रदेशों में योग्य राज्यपाल की नियुक्ति के प्रश्न पर जो विचार विमर्श किया गया उससे यह जाहिर होता है कि उन प्रदेशों में हूण आक्रमण का भय अभी भी बना हुआ था। हूणों पर विजय प्राप्त कर स्कन्दगुप्त ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की।

डॉ० उपेन्द्र ठाकुर ने अपनी पुस्तक "दी हूणाज इन इण्डिया" (भारत में हूण) में प्रथम बार हूण-आक्रमण एवं तत्सम्बन्धी घटनाओं का बड़े ही रोचक ढंग से विवरण प्रस्तुत किया है।

राज्यविस्तार एवं शासन नीति—'कथासरित्सागर' में, उसके द्वारा दिग्विजय के लिए बड़ी सेना भेजने और दक्षिणी प्रदेशों, मध्य प्रदेश, सौराष्ट्र, गंगा के पूर्व के प्रदेशों तथा कश्मीर की विजय का उल्लेख है। वह भारत का अन्तिम सम्राट् था जिसने पश्चिमोत्तर सीमान्त का पूरा महत्त्व समझा था और उसकी रक्षा का पूरा प्रबन्ध भी किया था।[1] उसके लेखों से ऐसा मालूम पड़ता है कि पश्चिम में सुराष्ट्र (काठियावाड़) से लेकर पूर्व में बंगाल और उत्तर भारत से मध्य प्रदेश तक सभी प्रान्त अक्षुण्ण रूप से उसके साम्राज्य में थे और सारे भारत पर गुप्तों का आधिपत्य बना हुआ था।[2] विभिन्न प्रान्तों से प्राप्त उसके सिक्कों से उसके राज्य की अखण्डता का परिचय मिलता है। काहौम-अभिलेख से उसके पराक्रम का वर्णन मिलता है। उसकी वीरता से उसका प्रताप सर्वव्यापी हो गया। उसका राज्य काफी विशाल था तथा विभिन्न प्रान्तों में विभाजित था। गंगा-यमुना के प्रदेश अन्तर्वेदी पर शर्वनाग राज्य करता था, वैशाली में प्रभाकर तथा कौशाम्बी में भीमवर्मन और बुलन्दशहर के समीपवर्ती प्रदेशों का भार सुरिरामचन्द्र पर था।

अपने राज्यारोहण के तुरत बाद ही उसने प्रान्तीय शासकों को नियुक्त किया। उसकी शासन-व्यवस्था उदारता और लोकहित के सिद्धान्तों पर आधारित थी। जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसकी प्रजा की आर्थिक दशा काफी अच्छी थी।[3] उसने पश्चिम और पश्चिमोत्तर के सभी प्रान्तों में गोप्ता (सैनिक-शासक) की

---

१. फ्लीट गुप्त लेख—स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ अभिलेख—

"एवं वितिश्चित्य नृपाधियेन
नैमानहो—राश्र—गणान्स्व—मत्या
यः सन्नि युक्तोऽर्थनया कथंचित्
सम्यक् सुराष्ट्रावनि—पालनाय।"

२. नृपति—गुण—निकेतः स्कन्दगुप्तः पृथु—श्रीः
चतुरुदधि—जलान्तां स्फीत—पर्यन्त देशाम्
अवनिमवननारिर्यः चकारात्म संस्थां
पितरि—सुर—सखित्वं प्राप्त वत्यात्म शक्त्या॥ वही

३. नैव कश्चिद्धर्मादपेतके मनुजः प्रजासु।
आर्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्डेन वा यो भृश—पीड़ितः स्यात्।

नियुक्ति की। गोप्तों के लिये यह आवश्यक था कि वे "उपयुक्त, मेधावी, विनम्र, मानवोचित गुणों से युक्त, ईमानदारी में खरे, अन्तरात्मा में कर्त्तव्य और दायित्व के प्रति सजग, सर्वलोक-हितैषी, अर्थ के न्यायपूर्ण अर्जन, समुचित संचरण और वृद्धि तथा वृद्धि होने पर समुचित कार्यों में व्यय करने में समर्थ हों।" सौराष्ट्र के गोप्ता की नियुक्ति के समय स्कन्दगुप्त ने इन गुणों को ध्यान में रखा था। इससे पता चलता है कि स्कन्दगुप्त अपनी प्रजा में सुख और समृद्धि के प्रति काफी सजग और उत्सुक थे।

नगराध्यक्ष के पद पर उसने अपने योग्य पुत्र की नियुक्ति की। उर्ज्जयंत और रैवतक पर्वतों की ढालों से निकलती पलाशिनी, सुवर्णसिकता आदि नदियों के जल को बाँधकर जो सुदर्शन झील चन्द्रगुप्त मौर्य के एक प्रान्तीय गवर्नर पुष्यगुप्त वैश्य ने सुराष्ट्र में गिरनार पर्वत के निकट बनवायी थी और जो लोकहित की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण थी, उसका बाँध टूट गया जिससे सुराष्ट्र के लोगों को कष्ट होने लगा था। अशोक ने उसमें से नहरें निकलवायी थीं। बाद में रुद्रदामन् ने उसकी सीमाओं का जीर्णोद्धार कराया था। स्कन्दगुप्त के शासन काल में गुप्तसंवत् १३६ (४५६ ई०) में इसकी बाँध टूट जाने से लोगों को काफी क्षति उठानी पड़ रही थी। पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने, जो इस समय वहाँ का नगराध्यक्ष था, उसकी मरम्मत कर पक्की करवायी। इसमें काफी धनराशि व्यय हुयी। जब झील के पुनर्निर्माण कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गया तो चक्रपालित ने चक्राभृत या विष्णु का एक मन्दिर बनवा दिया। आज उसके कोई भी अवशेष हमें देखने को नहीं मिलते।

मुद्राएँ—स्कन्दगुप्त ने तीन प्रकार की मुद्राएँ चलाईं—(१) धनुर्धर प्रकार, (२) राजा और लक्ष्मी प्रकार एवं (३) अश्वारोही प्रकार। उसने पश्चिमी एवं मध्यभारत में चाँदी की मुद्राएँ भी जारी कीं। पश्चिमी मुद्राओं में वृषभ शैली की मुद्राएँ विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इनको बाद में वल्लभी के मैत्रक सम्राटों ने अपना लिया था।

आर्थिक जीवन—उद्योगों का संचालन श्रेणियों द्वारा हुआ करता था। एक अभिलेख में हमें उस समय के एक तेलियों की श्रेणी (तैलिक श्रेणी) का वर्णन मिलता है। इन श्रेणियों का मुख्य काम बैंकों की तरह कोष के ब्याज को दान के निर्दिष्ट उद्देश्य के लिए व्यय करना था। यह दानपत्र द्वारा लिखित होता था। इस प्रकार के दानपत्र को 'अक्षयनीवी' कहा जाता था।

धार्मिक उदारता—वह स्वयं श्रद्धालु वैष्णव था पर अपने पूर्वजों की ही भाँति उसने भी धार्मिक सहिष्णुता की नीति जारी रखी।[1] उसके शिलालेखों से

---

१. इ० हि० क्वा० १५, न० १, मार्च १९३९, पृ० १–१२।

विभिन्न धर्मों के मन्दिरों की स्थिति का पता चलता है। चक्रभृत या विष्णु के मन्दिर के विषय में हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। यद्यपि वह एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण था फिर भी उसने जैन और बौद्ध धर्मों का भी आदर समान रूप से किया। उसके नाम से यह पता चलता है कि वह वैष्णव धर्मावलम्बी गुप्तसम्राट् शैव धर्म के प्रति भी आस्था रखता था। उसके कुछ सिक्कों पर शिव का वाहन 'नन्दी' चित्रित है। ये तथ्य उसके उदार धार्मिक दृष्टिकोण के सूचक हैं। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार तो वह प्रसिद्ध विद्वान वसुबन्धु का शिष्य था पर उसने वैष्णव धर्म का परित्याग नहीं किया। उसके साम्राज्य में सभी धार्मिक सम्प्रदायों को अपने विश्वास के अनुसार धार्मिक अनुष्ठान की स्वतन्त्रता थी। इसकी पुष्टि कहाँव (ककुभ ग्राम या काहौम या कहौम) अभिलेख से मिलती है जिससे यह पता चलता है कि मद्र नामक एक व्यक्ति ने जो "वाह्मणों, गुरुओं तथा परिव्राजकों के प्रति अति श्रद्धालु था "जैन तीर्थंकरों की पत्थर की पाँच मूर्त्तियाँ स्थापित कराईं तथा इस घटना के स्मारक स्वरूप एक कीर्त्ति-स्तम्भ खड़ा किया।[1] इसी प्रकार इन्दौर पत्रलेख (सं० १६) से ज्ञात होता है कि किसी ब्राह्मण ने इन्द्रपुर (इन्दौर) के क्षत्रियों द्वारा निर्मित सूर्य मन्दिर में नित्य दीप जलाने के लिए अर्थ दान किया था। इस दाता ने स्थानीय तैलिक श्रेणी के पास मूलधन जमा कर दिया था, जिससे केवल उसके ब्याज से दीप जलाने का व्यय चलता रहे। विहार स्तम्भ लेख में भगवान स्कन्द और देवमातृकाओं के मन्दिरों के मण्डल और एक यूप का वर्णन मिलता है। भितरी में स्कन्दगुप्त ने विष्णु मन्दिर और विष्णुप्रतिमा की स्थापना की थी। कृष्ण-विष्णु का उपासक उसने 'भागवत' की उपाधि धारण की थी।

उपाधि—स्कन्दगुप्त ने 'क्रमादित्य' तथा 'विक्रमादित्य' की भी उपाधियाँ धारण की थीं। उसके धनुर्धर प्रकार की स्वर्णमुद्राओं पर 'क्रमादित्य' की उपाधि मिलती है। इसके साथ ही यह उपाधि गरुड़, वृषभ तथा वेदी छाप-प्रकार की रजत-मुद्राओं पर भी अंकित है। वेदी छाप प्रकार रजत मुद्राओं पर प्रायः 'विक्रमादित्य' उपाधि मिलती है। 'मंजुश्री-मूलकल्प' में उसे 'देवराज' कहा गया है। ऐसा लगता है कि 'विक्रमादित्य' एवं 'देवराज' की उपाधि उसने

---

१. फ्लीट गुप्त अभिलेख, पृ० ६७।

मद्रस्तस्थात्मजोऽभूद्विज-गुरु-यतिषु प्रायशः प्रीतिमान्यः।
पुण्यस्कन्धं स चक्रे जगदिदमखिलं संसरद्वीक्ष्य भीतो
श्रेयोऽर्त्थं भूत-भूत्यै पथि नियमवतामर्हतामदिकर्तॄन्।
पञ्चेन्द्रान् स्थापयित्वा धरणिधरमयात्सन्निखातस्ततोऽवद्
शैलस्तम्भः सुचारुर्गिरिवर-शिखराग्रोपमः कीर्तिकर्ता ॥

अपने पितामह के अनुकरण में ही धारण की थी। एच० सी० राय चौधरी इस बात से सहमत हैं कि यह 'देवराज' की उपाधि हमें इस बात का भी स्मरण कराती है कि उसके पिता को 'महेन्द्र' की भी उपाधि दी गयी थी। कहौम अभिलेख में उसे 'शक्रोपम' कहा गया है। ह्वेनसांग ने नालन्दा में संघाराम बनानेवाले शासकों में एक का उल्लेख 'शक्रादित्य' नाम से किया है। परमेश्वरी लाल गुप्त ने ह्वेनसांग द्वारा कथित 'शक्रादित्य' को स्कन्दगुप्त माना है।[1] अगर यह सच है तो स्कन्दगुप्त ने नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना में रुचि प्रकट की थी एवं बौद्ध धर्म तथा विद्या को प्रश्रय प्रदान किया था।

उसके कार्यों की विवेचना एवं इतिहास में स्थान—वह एक महान् विजेता, राष्ट्र का मुक्तिदाता, गुप्तसाम्राज्य के गर्व का पुर्नस्थापक तथा उदार शासन का महान् समर्थक था। उसकी उपलब्धियों से उसकी तुलना चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय से की जा सकती है। अपने युवराज काल में ही उसने पुष्यमित्रों को, जिन्होंने अपनी शक्ति और सम्पत्ति काफी बढ़ा ली थी, पराजित कर अपनी वीरता का परिचय दिया था। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि उसने अपने वंश की विचलित कुललक्ष्मी को प्रतिष्ठापित किया। इसके अतिरिक्त उसने हूणों की शक्ति से लोहा लेकर उसे मार भगाया और देश पर आये हुए एक भारी खतरे को टाला था। आर० सी० मजुमदार ने उसके इस साहसपूर्ण कार्य के लिए उसे भारत का रक्षक कहकर सम्वोन्धित किया है।[2] आर० एन० दण्डेकर ने लिखा है कि स्कन्दगुप्त सबसे ऊँची प्रशंसा का अधिकारी है जो निस्सन्देह हुणों को पराजित करने वाला यूरोप और एशिया में प्रथम वीर था। श्रेष्ठ, बुद्धिमान, धर्मवत्सल, ये तीन विशेषण हैं जो 'मंजुश्रीमूलकल्प' में इस ख्यातनामा सम्राट् के लिये प्रयुक्त किये गये हैं। उसका बुद्धिमत्तापूर्ण शासन, उसके शौर्यपूर्ण युद्ध, उसकी स्वदेश-भक्ति सम्बन्धी इच्छाएँ इन सब ने स्कन्दगुप्त को सबसे महान् गुप्त सम्राटों में से एक बना दिया। स्कन्दगुप्त ने हूणों द्वारा देश की बर्बादी को अगले पचास वर्षों तक के लिये रोककर भारत की महती सेवा की।[3]

उसके शासन-काल में गुप्त-साम्राज्य अपने उत्कर्ष पर रहा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। अपने पिता की भाँति उसने चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया था। ऐसा प्रमाण मिलता है कि ४६६ ई० में एक भारतीय राजदूत सांग

---

१. गुप्त साम्राज्य, पृ० ३२६

२. क्लासिकल एज, पृ० २७।

३. ए हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज, पृ० १२१–१२२।

राजदरबार में गया था। चीनी सम्राट् ने भारतीय राजदूत को 'अपना अधिकार सुदृढ़ रूप में स्थापित करने वाला सेनापति' उपाधि से विभूषित किया।

उसके सोने के सिक्कों में निकृष्ट धातुओं की कुछ मिलावट भी है जिससे यह पता चलता है कि उसके शासन-काल में देश उतना समृद्ध नहीं था जितना कि उसके पिता के समय में था। पर इस आर्थिक संकट का प्रमुख कारण था, बर्बर हूणों का आक्रमण, जिसका सफलतापूर्वक लोहा लेने के लिए राज्य को प्रभूत धन खर्च करना पड़ा था। पर इस तरह के संकट से गुजरने के बाद भी उसने सुराष्ट्र जैसे दूर के प्रदेश में असीम व्यय कर सुदर्शन झील की मरम्मत करवायी थी।

किसी भी अभिलेख में स्कन्दगुप्त की रानी अथवा उनके पुत्रों का उल्लेख नहीं है। इस पर कुछ इतिहासकारों का ऐसा मत है कि वह अविवाहित ही मरा। पर इसके लिए हमें उसके सिक्के प्राप्त हैं जिन पर राज-दम्पति प्रकार के चित्र चित्रित हैं पर मुद्राशास्त्रियों ने इसके विषय में विभिन्न प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये हैं।[1] पर वह विवाहित था और कम-से-कम उसे एक रानी अवश्य थी यह अधिकांश इतिहासकार मानते हैं। पर उसके उत्तराधिकारी के रूप में कोई भी योग्य पुत्र नहीं था। बी० पी० सिन्हा ने ऐसा विश्वास प्रकट किया है कि कुमारगुप्त द्वितीय जो उसके बाद गद्दी पर बैठा, उसका पुत्र रहा होगा।[2] उसकी अन्तिम तिथि गुप्तसंवत् १४८ (४६७ ई०) है, जिससे यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि इसी वर्ष उसकी मृत्यु हुई हो।[3]

स्कन्दगुप्त के अन्तिम दिन—स्कन्दगुप्त का शासन-काल वस्तुतः आक्रमणों एवं प्रत्याक्रमणों के कारण विचलित हो रहा था। पर, उसके अन्तिम वर्ष शान्तिपूर्वक ही बीते। कहौम अभिलेख में ऐसा वर्णन है कि "सैकड़ों राजाओं के सिर दरबार में नमस्कार करते समय उसके चरणों में नत हुये। वह सैकड़ों नरपतियों का सम्राट् था (क्षितिपशतपति)। वह इन्द्र का समकक्ष (शक्रोपम) और अपने साम्राज्य में शान्ति का संस्थापक था।" पर यह एक विचित्र बात सी लगती है कि कुछ इतिहासकारों ने उसके "निरन्तर युद्ध के भार" से दबे होने की बात कही है।[4] स्मिथ ने तो यहाँ तक कह डाला है कि उसके राज्य के अन्तिम वर्षों में हूणों का पुनः आक्रमण हुआ और इस बार वह उनका सामना उस प्रकार न कर सका

---

१. देखिये—ऐलन—ब्रि० म्यु० मु० सू० भू०, पृ० ९४, अल्तेकर-क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० २४५।

२. डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ६४।

३. क्लासिकल एज, पृ० २८।

४. वाकाटक गुप्त एज, पृ० १७८।

जिस प्रकार उसने अपने शासन-काल के आरम्भिक दिनों में किया था और उसने विदेशियों के इस प्रकार के निरन्तर आक्रमणों के सामने घुटने टेक दिये।[1] आर० डी० बनर्जी भी एक से अधिक हूण-आक्रमण के समर्थक हैं। उनके अनुसार तीसरे हूण-युद्ध में स्कन्दगुप्त की मृत्यु हो गयी।[2] इन दोनों इतिहासकारों के मत का बी० पी० सिन्हा तथा उपेन्द्र ठाकुर ने खण्डन किया है। उनका यह मत अनेक अभिलेख तथा मुद्रा-साक्ष्यों के आधार पर है और उन्होंने ऐसा कहा है कि उसके शासन-काल के अन्तिम वर्ष में कोई हूण-आक्रमण नहीं हुआ तथा उसके अन्तिम वर्ष शान्तिपूर्ण थे।[3] गुप्तसंवत् १४१ के कहौम अभिलेख से उसके शान्तिपूर्ण शासन का उल्लेख मिलता है जिसकी चर्चा ऊपर कई बार की गयी है। इन्दौर ताम्रपत्र (गुप्त० सं० १४६) से भी उसके 'वर्द्धनसील विजयी शासन' का उल्लेख मिलता है। गढ़वा अभिलेख से, जिसमें उसके नाम के होने की सम्भावना व्यक्त की गयी उसके शासन को 'वर्द्धमान विजय' से युक्त बताया गया है। हूण ४५७ ई० के आस-पास भारत से मार भगा दिये गये। इसके बाद वे सासानी साम्राज्य पर आक्रमण करते रहे। ईरानी सम्राट् फिरोज की मृत्यु (४८४ ई०) के पश्चात् ही वे भारत पर फिर से आक्रमण करने में समर्थ हो सके। उसकी मृत्यु के बाद काबुल एवं भारत के पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त की विजय में हूणों को पर्याप्त समय लगा होगा। मिहिरकुल एवं तोरमाण द्वारा भारतीय प्रदेशों पर अधिकार की तिथि ईसा की पाँचवीं शताब्दी का अन्त या छठी शताब्दी का प्रारम्भ मानना चाहिए। अतः इस

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ३२८.—"He was unable to continue. the successful resistance which he had offered in the earlier days of his rule and was forced at last to succumb to the repeated attacks of the foreigners."

२. दि एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज—The subsequent history of the reign of Skandagupta is not known to us but the Hūṇa invasions continued and most probably Skandagupta lost his life in trying to stem the mighty flood of the third invasion.

३. प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३१६—
"If Chandragupta Maurya liberated the country from the yoke of servitude of the Greeks, if Chandragupta II destroyed the power of the foreign Śakas, Skandagupta served the empire and the country from the occupation of the Hūṇas."

प्रकार स्कन्दगुप्त के शासन के अन्तिम दिनों में हूण-आक्रमण की सम्भावना बिल्कुल निराधार है।

कनिंघम के अनुसार स्कन्दगुप्त के भारी तौल के सिक्के हीन धातु के हैं। कुछ इतिहासकारों के मुताबिक हीन धातुवाले ये भारी तौल के सिक्के तुर्क-आक्रमण से उत्पन्न संकट-काल में प्रचलित किये गये थे। पर ब्रिटिश म्युजियम में कुछ सिक्कों के परीक्षण से यह पता लगता है कि भारी तौल के सिक्के हीन धातु के नहीं हैं। मालव संवत् ५२४ (४६७–४६८ ई०) के प्रभाकर के मन्दसोर अभिलेख के आधार पर उसके शासन के अन्तिम वर्ष में हूण आक्रमण प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। इस अभिलेख में स्कन्दगुप्त का नाम न होना पश्चिमी मालवा में उसके अधिकार की समाप्ति का प्रमाण नहीं माना जा सकता।

पर उपरोक्त सभी तथ्यों के अध्ययन से ऐसा कहा जा सकता है कि जहाँ देश में शान्ति और समृद्धि का विस्तार हुआ, वहीं अपने पिता से 'दायस्वरूप प्राप्त साम्राज्य' को स्कन्दगुप्त अन्त तक अक्षुण्ण न रख सका।[1] जूनागढ़ अभिलेख इस बात का प्रमाण देता है कि शासन के प्रारम्भिक दिनों में उसका साम्राज्य पश्चिम में सौराष्ट्र तक फैला था, पर उसके शासन के अन्तिम भाग में कोई भी अभिलेख उत्तरप्रदेश और पूर्वी मध्यप्रदेश से आगे नहीं मिलता है। उसके अन्तिम दिनों में उसके अधीनस्थ सामन्तों में स्वतन्त्र होने की भावना जोर पकड़ने लगी थी।

काठियावाड़ प्रायद्वीप में मैत्रकों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर वलभी में अपनी राजधानी कायम की। उसका संस्थापक भटार्क गुप्तसेना का सेनापति था। यह सौराष्ट्र में इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने अपने बेटे को 'दायरूप' में राज्य प्रदान किया। पर स्वयं एवं उसके पुत्रों ने कभी अपने को राजा नहीं कहा तथा वे बराबर सेनापति की ही उपाधि धारण किये रहे।[2]

एरण क्षेत्र के दक्षिण-पूर्व भाग में परिव्राजक शासकों का शासन स्थापित हो चुका था। इनके अनेक लेख मिले हैं जिन पर किसी में भी गुप्त सम्राटों की कोई चर्चा नहीं है। इनमें तिथियों के लिए 'गुप्त-नृप-राज्य' का उल्लेख अवश्य किया गया है पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वे गुप्तों के ही अधीन थे। परिव्राजकों के राज्य से सटा हुआ एक दूसरा राज्य था जिसकी राजधानी उच्छकल्प थी। इसके शासकों के अभिलेखों में भी गुप्त सम्राटों का कोई उल्लेख नहीं है जिससे ऐसा लगता है कि उसे गुप्तों की प्रभुता स्वीकार नहीं थी।[3]

---

१. परमेश्वरी लाल गुप्त—वही, पृ० ३२८।
२. का० इ० ई० ३, पृ० १६८; १८८।
३. वही, ३, पृ० ११७, १२१।

इस बात की पुष्टि उसके सिक्कों से भी होती है। उसके चाँदी के सभी सिक्के पूर्व भाँति के हैं जिनसे उसके शासन की अन्तिम तिथियों का वोध होता है। इन सिक्कों पर "परमभागवत महाराजाधिराज" की तरह कोई भी उपाधि देखने को नहीं मिलती, जो प्रारम्भिक काल के पश्चिमी प्रकार के सिक्कों पर पायी जाती है। प्रारम्भिक काल के सोने के सिक्कों पर बड़े-बड़े लेख मिलते हैं पर बाद वाले सिक्कों में इन बड़े लेखों का अभाव है जो इसकी प्रभुता और शौर्य के प्रतीक हुआ करते थे। अब सिक्कों के लेखों में केवल 'परहितकारी राजा' मात्र लेख मिलते हैं। ये लेख इस बात के प्रमाण हैं कि अपने पिता के राज्य के बहुत भागों पर से उसका प्रभुत्व समाप्त हो गया था। साथ ही, उसका शासन समाप्त होते-होते, गुप्तों के घटते हुये साम्राज्य की पश्चिमी सीमा पर अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये थे।

इस तरह उसके शासन-काल के अन्तिम वर्षों के सम्बन्ध में नाना-प्रकार की आशंकाएँ उठाई जाती हैं पर वे सब विश्वसनीय हैं। उसके शासन का अधिकांश काल शान्ति और व्यवस्थापूर्ण था। यह ठीक ही कहा गया है: "जिस समय गुप्तसाम्राज्य पर गहरे बादल छा गये थे, स्कन्दगुप्त के प्रखर तेज़ से संकट टल गया और देश व साम्राज्य की रक्षा की गयी। स्कन्दगुप्त वास्तव में ठीक समय पर खरा निकला। उसे 'मैंन ऑव दि आवर' (Man of the hour) कहा जाना अत्युक्ति नहीं होगी।"[१]

उत्तर गुप्त सम्राट्

स्कन्दगुप्त के बाद महान् गुप्तों का काल तो लगभग समाप्त ही हो गया पर गुप्त राजकुल जीवित रहा किन्तु इसका गौरव नष्टप्राय हो चला था। उसके उत्तराधिकारी एक के पश्चात् एक करके मगध पर राज्य करते रहे। स्कन्दगुप्त की मृत्यु ४६७ ई० में हुयी उस समय समस्त विस्तृत साम्राज्य में शान्ति और समृद्धि व्याप्त थी। यद्यपि इनका राज्य ५४३ ई० तक चलता रहा पर गुप्तों का महान् युग तो इस समय तक समाप्त ही हो चुका था। स्कन्दगुप्त को गुप्त वंश का अन्तिम महत्त्वपूर्ण सम्राट् माना जाता है। प्राप्त साधनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ४६७ ई० से लगभग ५५५ ई० तक गुप्त साम्राज्य की रूपरेखा तो रही पर उसकी पुरानी प्रतिष्ठा जाती रही। इस काल में दो भिन्न-भिन्न परम्परा के गुप्त राजा शासन कर रहे थे। पहला वंश स्कन्दगुप्त के भ्राता पुरुगुप्त का है, जिसके वंश वृक्ष का वर्णन भितरी के राजमुद्रा लेख में हैं। दूसरा वंश बुधगुप्त का है। बुधगुप्त के. वंशजों ने नालन्दा महाविहार में वृद्धि की। उसके वंशजों

१. प्राचीन भारत का इतिहास पृ० ३१७।

ने पुरुगुप्त के उत्तराधिकारियों की अपेक्षा अधिक काल तक राज्य किया। सर्वप्रथम हम पुरुगुप्त एवं उसके वंशजों से प्रारम्भ करेंगे।

पुरुगुप्त—जैसा कि हम जानते हैं कि कुमारगुप्त प्रथम के पुत्रों में से एक यह पुरुगुप्त था। यह स्कन्दगुप्त का सौतेला भाई था। इसका जन्म रानी अनन्तदेवी से हुआ था और वह स्कन्दगुप्त की मृत्यु ४६७ ई० में होने के बाद बुढ़ापे में गद्दी पर बैठा। अभिलेखों में इसे महाराजाधिराज कहा गया है। इसके सिक्कों पर 'प्रकाशादित्य' और 'श्रीविक्रम' की उपाधियाँ पाई जाती हैं। 'श्रीविक्रम' से ऐसा संकेत मिलता है कि शायद उसकी मुठभेड़ हूणों से हुयी थी। उसके साम्राज्य-विस्तार और कृतियों के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। कुछ इतिहासकारों का यह मत है कि इसका चाचा गोविन्दगुप्त मालवा में स्वतंत्र हो गया था तथा दूरस्थ प्रान्तों में असन्तोष एवं स्वतंत्रता की भावना बढ़ने लगी थी।

पुरुगुप्त का नाम जिस भितरी-मुहरलेख पर अंकित है, उसमें स्कन्दगुप्त का नाम उल्लिखित नहीं है। इस कारण कुछ इतिहासकारों की ऐसी धारणा है कि पुरुगुप्त और स्कन्दगुप्त एक ही थे अर्थात् दोनों ही नाम एक व्यक्ति के हैं।[1] पर ऐसी धारणा निराधार एवं भ्रामक है। कोई भी ऐसा प्रमाण प्राप्य नहीं है जिससे यह पता लगे कि वह गद्दी के लिये प्रतिस्पर्धी दावेदार रहा हो। स्कन्दगुप्त की प्रतिस्पर्धा घटोत्कचगुप्त से थी और उसने कुछ काल के लिये गद्दी का अधिकारी भी बना था। अभी तक गुप्त राजक्रम में उसका स्थान समुचित रूप से स्वीकार नहीं किया जाता रहा है, इस कारण ही पुरुगुप्त को स्कन्दगुप्त का प्रतिस्पर्धी माना जाता रहा है। कुछ इतिहासकारों की ऐसी धारणा है कि पुरुगुप्त और स्कन्दगुप्त साथ-साथ साम्राज्य के दो विभिन्न भागों में शासन करते थे।[2] उनका ऐसा मत है कि इन दोनों भाइयों में साम्राज्य का बँटवारा हो गया था। पर इस प्रकार के साम्राज्य का विभाजन का कहीं भी प्रमाण नहीं मिलता। जो प्रदेश स्कन्दगुप्त और उसके सुदूर उत्तराधिकारी (पुरुगुप्त का पुत्र) बुधगुप्त के अधिकार में थे, वे साफ-साफ इस बात के प्रमाण हैं कि स्कन्दगुप्त के शासन के परे कोई ऐसा भूप्रदेश नहीं था जहाँ पुरुगुप्त के लिए शासन कर सकना सम्भव कहा जा सके। हमारे पास कोई भी ऐसी सामग्री नहीं है जो यह सिद्ध कर सके कि स्कन्दगुप्त से पहले पुरुगुप्त हुये हो या दोनों ने साथ-साथ शासन किया। अगर पुरुगुप्त कभी गद्दी पर बैठे हों तो वे स्कन्दगुप्त के बाद ही बैठे होंगे।

स्कन्दगुप्त की अन्तिम तिथि गुप्तसंवत १४८ और कुमारगुप्त द्वितीय के एकमात्र ज्ञात तिथि गुप्त संवत् १५४ के बीच किसी शासक के लगभग दो वर्ष के

१. जे० ए० एस० बी०, ५८, पृ० ८१–९३, इ० ऐ०; ४८, पृ० १६१।
२. आर० जी० बसाक, हिस्ट्री ऑव नोर्थ इस्ट इन्डिया, पृ० ७८

अल्पकालीन शासन की सम्भावना मालूम पड़ती है। उसके समय में राज्य संकुचित हो गया था। चाँदी की मुद्राओं के अभाव में यह पता चलता है कि सौराष्ट्र से उसका अधिकार खतम हो गया था। सोने का सिक्का केवल एक चतुर्धारी प्रकार का मिला है जिससे उसके नाम 'पुरु' और 'श्रीविक्रम' का पता चलता है। उन्हें दो रानियाँ थी। नरसिंह गुप्त का जन्म चन्द्रदेवी नामक रानी से हुआ था तथा बुधगुप्त की माता का नाम मुहरों पर अपठनीय होने के कारण नहीं पता लगता है।

नरसिंह गुप्त—इसके अस्तित्व का पता केवल इसके सिक्कों से लगता है। नरसिंहगुप्त ने चार वर्षों तक शासन किया। कुछ लोग भ्रम से इसे बालादित्य समझते हैं, जो भानुगुप्त बालादित्य था और वह लगभग ४० वर्ष पीछे हुआ था।

कुमारगुप्त द्वितीय—यह ४७३ ई० में गद्दी पर बैठा। उस समय इसकी अवस्था बहुत कम थी। इसके माता-पिता के विषय में कोई भी जानकारी नहीं मिलती। भितरी-धातु मुद्रा में से ये नरसिंहगुप्त के पुत्र माने जाते रहे हैं पर अब यह प्रमाणित हो चुका है कि ये इनसे भिन्न हैं। आर० एन० दण्डेकर एवं अन्य विद्वानों ने नरसिंहगुप्त बालादित्य का उत्तराधिकारी कुमारगुप्त द्वितीय को माना है पर इन विद्वानों की धारणा गलत है। रायचौधरी ने इसकी एकात्मकता सारनाथ लेख में उल्लिखित कुमारगुप्त से स्थापित की है जिसपर, गुप्त संवत् १५४ (४७३ ई०) है।

इसका शासन-काल बहुत कम समय के लिये था। गुप्त संवत् १५७ (४७७ ई०) में बुधगुप्त नामक एक अन्य शासक गद्दी पर था जिससे यह अर्थ निकलता है कि उस समय तक कुमारगुप्त द्वितीय की मृत्यु हो गयी होगी। ह्वेनसांग के यात्रा विवरण से ऐसा पता लगता है कि उसकी मृत्यु गृह-कलह के कारण हुयी हो।

इसके शासन-काल में व्यापार की काफी प्रगति हुयी थी जिससे साम्राज्य की सुख-समृद्धि बनी रही। आर० एन० दण्डेकर के शब्दों में—"कुमारगुप्त द्वितीय के समय में, रेशम के जुलाहों की श्रेणी को सूर्यमन्दिर के जीर्णोद्धार के लिये पर्याप्त समय, धन और शान्ति मिल गयी। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि मालवा को गुप्तों ने पुनः प्राप्त कर लिया था। व्यापारिक कार्यों को महान् प्रोत्साहन दिया जाता था और फलस्वरूप रेशमी जुलाहों की श्रेणी इस युग में काफी समृद्ध हो गयी थी। ये तथ्य इस बात की ओर संकेत करते हैं कि किस प्रकार साम्राज्य के पुनर्निर्माण का कार्य कुमारगुप्त द्वितीय के समय में भी निरंतर प्रगति कर रहा था।"

भितरी में उसके सिक्के, सारनाथ में लेख एवं २० सोने के सिक्के मिले हैं जो ब्रिटिश म्युजियम लन्दन एवं इण्डियन म्युजियम कलकत्ता में सुरक्षित हैं। इसने 'क्रमादित्य' की उपाधि धारण की। पर इसके दूसरे प्रकार के सिक्के पर 'श्रीक्रमादित्य' उपाधि है। इन दोनों प्रकार की उपाधियों से ऐसा अन्दाज लगाया जाता है कि एक तीसरा भी कुमारगुप्त हुआ हो और उसने भी क्रमादित्य की उपाधि धारण की हो पर द्वितीय कुमारगुप्त से पृथकता के लिए इसने 'श्री' शब्द की उपाधि के जोड़ लिया हो।[1]

मुद्रा साक्षीय आधार पर यह पता लगता है कि उसने धनुर्धारी प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित कीं जिनमें सीधी ओर 'कु' शब्द अंकित है और उलटी ओर क्रमादित्य। कुछ मुद्राओं पर 'महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त क्रमादित्य' लेख मिलता है जिससे उसके सम्राट् होने का संकेत मिलता है। ४६७ ई० से ४७७ ई० तक पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त द्वितीय ने शासन किया। मन्दसोर के एक लेख से यह पता चलता है कि पूर्वी मालवा इसके अधिकार में था।

'मंजुश्रीमूलकल्प' के बालारण्य की एकात्मकता कुमारगुप्त द्वितीय से की गयी है। इसे 'धर्मवत्सल' होने को भी संज्ञा प्रदान की गयी है। कुमारगुप्त द्वितीय की तुलना ह्वेनसांग के 'शक्रादित्य' से भी हो सकता है। उसका साम्राज्य के पश्चिमी भागों पर भी अधिकार कायम रहा। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इसके काल में भट्टारक के अधीन वल्लभी के मैत्रकवंश की स्थापना हुई थी। ये शासक गुप्त सम्राटों की अधीनता बहुत बाद तक मानते रहे। वह वैष्णव धर्मावलम्बी था। उसकी भितरी राजमुद्रा पर गरुड़ अंकित है। उसी लेख में इसके लिए 'परमभागवत' शब्द का भी व्यवहार हुआ है। सुधाकर चट्टोपाध्याय ने इस कुमारगुप्त को पुरुगुप्त का गोप्ता कहा है। मन्दसोर अभिलेख से उसके राज्य-काल में गुप्तसंवत् ५२९ = ४७२–७३ ई० में एक तन्तुवाय श्रेणी ने एक भग्न सूर्यमन्दिर का संस्कार कराया था।[2]

बुधगुप्त—कुमारगुप्त द्वितीय के बाद पुरुगुप्त का पुत्र बुधगुप्त गुप्त साम्राज्य के सिंहासन पर बैठा लेकिन किन परिस्थितियों में वह गद्दी का शासक बन बैठा यह ज्ञात नहीं है। ह्वेनसांग के अनुसार वह 'शक्रादित्य' का पुत्र था। पर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि वह कुमारगुप्त के बाद गुप्त-सम्राट् हुआ। एच० सी० रायचौधरी ने ह्वेनसांग के कथन के आधार पर बुधगुप्त को कुमारगुप्त का प्रथम

---

१. बी० पी० सिन्हा, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३१९।
२. स्वयशोवृद्धये सर्वमव्युदारमुदारया।
संस्कारमिदं भूयः श्रेण्या भानुमतो गृहम्॥

पुत्र माना था।[1] यही मत रमाशंकर त्रिपाठी ने भी प्रकट किया था।[2] हारग्रीव्स की ऐसी धारणा रही कि बुधगुप्त सारनाथ अभिलेख के कुमारगुप्त द्वितीय के पुत्र रहे होंगे।[3] परमेश्वरी लाल गुप्त ने तो यहाँ तक कहा है कि "यह सब कोरे अनुमानमात्र थे और नालन्दा से बुधगुप्त के मुहरों के प्राप्त हो जाने के बाद अब उनका कोई मूल्य नहीं रह गया। खेद की बात इतनी अवश्य है कि जो मुद्रा मिली है वह खण्डित है और उसका पुरुगुप्त के साथ सम्बन्ध बोध करानेवाला अंश नष्ट हो गया है।"[4] पर जैसा कि डी० सी० सरकार और ए० एन० घोष ने कहा है कि पुरुगुप्त और बुधगुप्त के बीच किसी अन्य व्यक्ति का नाम रखने की कोई गुंजाइश नहीं है और ६ठी पंक्ति के अन्त में उल्लिखित 'पुत्र' शब्द से दोनों के पिता-पुत्र सम्बन्ध के विषय में कोई सन्देह नहीं प्रकट किया जा सकता।[5] ए० एस० अल्तेकर ने उसे कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र माना है। पर यह गलत है। अल्तेकर ने शक्रादित्य को कुमारगुप्त प्रथम माना है और इसी एकात्मकता के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है। बी० पी० सिन्हा एवं अन्य इतिहासकारों ने कुमारगुप्त द्वितीय की शक्रादित्य से एकात्मकता स्थापित की है और इसी एकात्मकता के आधार पर बुद्धगुप्त को कुमारगुप्त द्वितीय का पुत्र माना है। पर नालन्दा सील की प्राप्ति से अब यह प्रमाणित हो चुकी है कि पुरुगुप्त ही बुधगुप्त का पिता था। सारनाथ अभिलेख में बुधगुप्त की सबसे प्राचीन तिथि गुप्तसंवत् १५७ (४७६–७७ ई०) दी हुई है। इसी प्रकार उसकी अन्तिम तिथि गुप्तसंवत् १७५ (४९४–९५ ई०) दी हुई है। यह उसके चाँदी के सिक्कों से ज्ञात होता है। अतः उसने कम-से-कम बीस वर्षों तक शासन किया।

'मंजुश्रीमूलकल्प' में 'देवराज' अथवा 'देव' नाम के एक शासक का उल्लेख मिलता है जिसके अनेक नाम थे। उक्त ग्रन्थ से यह पता चल जाता है कि इन दो नामों से तात्पर्य बुधगुप्त से है और ये दो उपनाम उसके श्रेष्ठ बुद्धिमान एवं धर्मवत्सल होने का कारण बतलाता है। पर उसके किसी भी प्रकार के कार्यकलापों का कोई परिचय उस पुस्तक से नहीं मिलता। ह्वेनसांग के अनुसार वह नालन्दा महाविहार का पोषक था और वहाँ उसने एक संघाराम बनवाया था।

---

१. पो० हि० आ० ए० इ०, ४था सं०, पृ० ३६५।
२. हि० ऑ० ए० इ०, पृ० २६५।
३. आ० स० इ०, ए० रि० १९१४–१५, पृ० १२६।
४. गुप्त साम्राज्य, पृ० ३४१।
५. इ० हि० क्वा०, १९, पृ० २७४, इ० हि० क्वा०, २०, पृ० ११९।

वह एक शक्तिमान शासक था जिसने फिर गुप्त-साम्राज्य की उखड़ती हुयी शक्ति को संगठित करने की चेष्टा की।[1] उसके अपने अभिलेखों से ऐसा मालूम होता है कि पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में नर्मदा के किनारों तक उसका आधिपत्य था। उसके अभिलेख सारनाथ (उ० प्र०), दामोदरपुर (बंगाल), एरण (म० प्र०) एवं पहाड़पुर में पाये गये हैं। दामोदरपुर के लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) उसके राज्य के अन्तर्गत था।[1] वाराणसी के क्षेत्र में उसके आधिपत्य होने का परिचय तीन अभिलेखों से मिलता है जो सारनाथ और राजघाट (वाराणसी) से प्राप्त हुये हैं। एरण अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि उसके राज्य के अन्तर्गत पूर्वी मालवा था। ऐसा कहा जा सकता है कि साम्राज्य के रूप में स्कन्दगुप्त ने जो कुछ भी छोड़ा था, उन सबों पर बुधगुप्त का अधिकार था। उसका प्रतिनिधि शासक महाराज सुरश्मिचन्द्र यमुना और नर्मदा के बीच के भाग में राज्य करता था। बुधगुप्त का नायक उपरिक महाराज ब्रह्मदत्त पुण्ड्रवर्धन भुक्ति का शासक था। उसके राज्य के एरण, काशी तथा दामोदरपुर उसके प्रतिनिधियों से शासित होते थे। गुप्त संवत् १५८ के पालि ताम्र-पत्र में, जो लिपि के आधार पर पाँचवीं शती का मालूम होता है एवं जो कोसन से प्राप्त हुआ है, महाराज लक्ष्मण का उल्लेख है। यह महाराज लक्ष्मण शायद बुधगुप्त का सामन्त रहा हो।

बुधगुप्त के सिक्के बहुत ही कम मिले हैं। उसके सिक्के पर 'श्री विक्रमः' उपाधि अंकित है। इसके नाम के सोने एवं चाँदी के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। दामोदर ताम्र पत्रों पर "परमाद्वैत परम भट्टारक महाराधिराज श्री बुद्धगुप्त पृथ्वीपति"

---

१. "From the epigraphic records we learn of the governors and feudatory chiefs who ruled under Buddhagupta. Two of his governors of Northern Bengal used the title of Uparika Mahārāja instead of Uparika...Another governor... ruled over the territory between Kalindi and Narmada...and under him another Mahārāja Matrivsņa governed the district of Adhikina...several epigraphic records disclose the existence of a dynasty of Parivrājaka Maharajas...owing allegiance to the Gupta overlords, contiguous to this kingdom lay another with Uchchakalpasa as the capital ruled over by Jayanatha and his son. Sarvanātha...perhaps subordinate under the Parivrājakas. IHQ, XXI, p. 137.
"The death of Buddhagupta constitute turning point in the history of empire and India."—B. P. Sinha.

उत्कीर्ण है। यह उपाधि इस तथ्य का बोध कराती है कि गुप्तों का अधिकार अविश्रृंखल रूप से कुमारगुप्त प्रथम के शासन-काल से बुधगुप्त के समय तक स्थापित रहा था। बुधगुप्त के समय के चौथे दामोदरपुर ताम्रपत्र में कोकामुख स्वामी के एक मन्दिर का संकेत प्राप्त होता है। डॉ० सी० सरकार ने इस कोकामुख को शिव का एक रूप माना है। पर राधागोबिन्द बसाक इसे दुर्गादेवी का उपासना स्थल स्वीकार किया है। इसके विपरीत्त एच० सी० राय चौधरी इसे विष्णु का वराहावतार मानते हैं। सरकार और रायचौधरी दोनों इस तीर्थ को हिमालय प्रदेश में मानते हैं।

छठी शताब्दी के प्रारम्भ में या पाँचवीं शताब्दी के अन्त में हूणों ने फिर से भारतीयों पर आतंक करना प्रारम्भ कर दिया। मालवा पर तोरमाण का अधिकार बुधगुप्त की मृत्यु के बाद या तुरन्त पहले माना जाना चाहिए। यद्यपि वह अपने जीवन भर अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए जागरूक रहा होगा। पर बुधगुप्त के बाद गुप्त वंश वस्तुतः महान् नहीं रह गया। बी० पी० सिन्हा के शब्दों में "बुधगुप्त गुप्त साम्राज्य का अन्तिम सबल शासक था न कि स्कन्दगुप्त। उसके बाद गुप्त-साम्राज्य का द्रुतगति से ह्रास होने लगा।"[1] उसकी मृत्यु संवत् १७५ (४९४-९५ ई०) में हुई। मंजुश्रीमूलकल्प के अनुसार उसके अन्तिम दिन संकटमय थे। शत्रुओं ने उसे चारों ओर से घेर रखा था तथा वह मारा भी गया।

चन्द्रगुप्त (तृतीय)

इस राजा के विषय में कोई भी आभिलेखिक प्रमाण नहीं मिलता। उनके अस्तित्व का अनुमान हमें भारी वजन के कुछ सिक्कों से मिलता है। ये सिक्के तीन हैं जो सोने के बने हैं और वे चन्द्रगुप्त द्वितीय के समान हैं जिनपर चन्द्र और विक्रम शब्द उत्कीर्ण हैं। इतिहासकारों में इन सिक्कों के विषय में काफी मतभेद हैं।[2] स्मिथ ने इन सिक्कों के बारे में ऐसा कहा है कि ये सिक्के चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के बाद प्रचलित किये गये होंगे। पर एलन इस मत से सहमत नहीं हैं और उनका मत है कि वे चन्द्रगुप्त द्वितीय के कभी भी नहीं हो सकते हैं।[3] तथा उन्होंने इन सिक्कों को चन्द्रगुप्द तृतीय का बतलाया है।

पर आर० सी० कार, जे० एन० बनर्जी आदि इतिहासकारों ने इन सिक्कों को चन्द्रगुप्त द्वितीय का माना है।[4] इन इतिहासकारों ने किसी ऐसे चन्द्रगुप्त तृतीय के

---

१. प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३२२।

२. इ० म्यु० सू० १, पृ० १०६, सिक्के ३०-३२।

३. ब्रि० म्यु० मु० सू० गु० वं०, भू० पृ० ५३।

४. ज० न्यू० सो० इ० ७, पृ० १५-१६।

अस्तित्व को दुष्कल्प्य माना है। पर इनके मतों के विपरीत ए० एस० अल्तेकर ने इन सिक्कों को चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिक्के मानने में कठिनाइयों का अनुभव किया है और उन्होंने कहा है कि पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्ध में साम्राज्य के लिये जो दावेदार थे उनमें से ही कोई चन्द्रगुप्त तृतीय रहा होगा।[1] वी० पी० सिन्हा ने अल्केतर के मत की पुष्टि की है और उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला है कि चन्द्रगुप्त तृतीय कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र हो सकता है तथा उसे उनके मृत्युपरान्त होने वाले दावेदारों में गिनते हैं।[2]

इन सिक्कों के अतिरिक्त मंजुश्री-मूल-कल्प में भी इस राजा के विषय में वर्णन मिलता है। इसमें देव के बाद और द्वादश से पहले चन्द्र नाम के एक राजा का जिक्र आया है। देव की समानता बुधगुप्त से और द्वादश की वैष्यगुप्त द्वादशादित्य से की गयी है। पर इस चन्द्रगुप्त तृतीय के माता-पिता के विषय में कोई भी जानकारी नहीं मिलती है। इसके अतिरिक्त उसके शासन-काल के बारे में भी हमारे पास कोई साधन नहीं। मंजुश्री-मूल-कल्प के आधार पर हम केवल यह कह सकते हैं कि वे देव अर्थात् बुधगुप्त के मारे जाने के बाद गद्दी पर बैठे और वह खुद भी मारा गया। उसका शासन-काल कबतक रहा, यह भी अस्पष्ट है।

इसके समय में गुप्त साम्राज्य को हूणों के आक्रमण से ऐसा आघात लगा कि गुप्त साम्राज्य का प्रभुत्व सदा के लिए मिट गया। हम यह जानते हैं कि स्कन्दगुप्त के समय में लगभग ४६० ई० में उसने हूणों को बुरी तरह मार भगाया तथा उन्हें भारत की ओर बढ़ने से रोका था। पर ईरान इन हूणों के आक्रमण को रोक नहीं सका जिसके कारण हूणों का अधिकार ईरान पर हो गया तथा वे शक्तिशाली बन गये। उनकी राजधानी बल्ख हो गयी और वे दिनानुदिन अधिक शक्तिशाली होते गये। ये हूण तोरमाण के नेतृत्व में पाँचवीं शताब्दी के अन्त या छठी शताब्दी के प्रारम्भ में फिर पंजाब से आगे बढ़कर पूर्वी मालवा पर आक्रमण करते हुये गुप्त साम्राज्य की राजधानी तक पहुँच गये।

ब्राह्मण धन्यविष्णु के दो अभिलेख एरण से प्राप्त हुये हैं उनमें से एक में ऐसा कहा गया है कि धन्यविष्णु और उसके भाई मातृविष्णु ने मिलकर गुप्तसवत् १६५ में जिन दिनों बुधगुप्त शासन कर रहे थे, भगवान् जनार्दन का ध्वजस्तम्भ स्थापित किया।[3] दूसरे अभिलेख में मातृविष्णु की मृत्यु के बाद उसके भाई धन्यविष्णु द्वारा हूण-नरेश तोरमाण द्वारा मालवा पर विजय प्राप्त कर लेने के प्रथम वर्ष के उपलक्ष

---

१. वही० पृ० १८।

२. डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ३९–४०।

३. का० इ० इ० ३. पृ० ८९।

में वराह की मूर्त्ति स्थापित करने का वर्णन है।[1] इससे यह प्रकट होता है कि ध्वज-स्तम्भ की स्थापना के एक पीढ़ी के भीतर ही अर्थात् बुधगुप्त के गुप्तसंवत् १७५ (४९४–९५ ई०) के वाद ही तोरमाण ने किसी समय मालवा पर अधिकार कर लिया था।

'मंजुश्रीमूलकल्प' से इस बात का पता चलता है कि 'ह' नाम का एक शूद्र राजा पश्चिम से आया और वह गंगा तक अधिकार कर लिया। आगे फिर इस प्रकार कहा गया है कि वह नन्दनपुर (पाटलिपुत्र) में 'प' नाम के राजा को प्रतिष्ठित करके वाराणसी चला गया जहाँ वह पहुँचकर बीमार हो गया और उसकी मृत्यु हो गयी। मरने के पूर्व वह अपने पुत्र ग्रह का राज्याभिषेक कर दिया। के० पी० जायसवाल ने इस 'ह' की समानता हूण से कर उसे तोरमाण माना है और ग्रह की समानता मिहिरकुल से किया है।[2] कुछ इतिहासकारों ने उनकी इस समानता को सही मानकर अनुमान लगाया है कि तोरमाण की मृत्यु गंगा के मैदान पर अधिकार करने के एक दो वर्ष के भीतर ही हो गयी।[3] जैन अनुश्रुतियों के के आधार पर मिहिरकुल के राज्यारोहण की निश्चित तिथि उपलब्ध है। इसमें उसे कल्किराज कहा गया है। इन अनुश्रुतियों के आधार पर मिहिरकुल का जन्म शक संवत् ३९४ के कार्त्तिक मास के शुक्ल पक्ष में हुआ था, उस समय माघ संवत्सर ४७२ ई० था। उसकी मृत्यु ७० वर्ष की अवस्था में शक ४६४ (५४२ ई०) में हुई। इन अनुश्रुतियों में उसका शासन-काल ४० या ४२ वर्ष कहा गया है। इस प्रकार मिहिरकुल के राज्यारोहण का समय ५०० या ५०२ ई० होता है। इससे अधिक-से-अधिक दो-तीन वर्ष पहले ४९७ और ४९९ ई० के बीच तोरमाण ने गुप्त साम्राज्य पर कब्जा किया होगा।

अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त तृतीय ४९५ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा होगा और वह तीन-चार वर्ष की अवधि में ही सम्भवतः तोरमाण के द्वारा मारा गया हो।

तथागतगुप्त प्रकाशादित्य

ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण से यह तथ्य मिलता है कि नालन्दा विहार के पोषकों में इस तथागत राज का उल्लेख है।[4] इस राजा का उल्लेख बुधगुप्त और नरसिंह

---

१. वही, पृ० ३९९।
२. इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ५३।
३. परमेश्वरी लाल गुप्त—गुप्त साम्राज्य, पृ० ३४५।
४. परमेश्वरी लाल गुप्त ने इसी को आधार मानकर अपनी पुस्तक गुप्त-साम्राज्य में चन्द्रगुप्त तृतीय एवं वैण्यगुप्त के बीच में इस राजा की सत्यता को माना है।

गुप्त बालादित्य के बीच हो चुका है। पुरातत्व से भी हमें कोई प्रमाण इस राजा के विषय में नहीं मिलता है। परमेश्वरी लाल गुप्त ने यह स्वीकार किया है कि हो सकता है कि ह्वेनसांग ने बुधगुप्त को ही तथागत गुप्त के रूप में दुहरा दिया हो क्योंकि बुध और तथागत दोनों एक ही अर्थ वाले हैं। पर गुप्त ने यह स्वीकार किया है कि बुधगुप्त के बाद और नरसिंहगुप्त के पहले इस नाम का कोई शासक इस गुप्तवंश में हुआ है। उनका यह विश्वास कुछ सिक्कों से है जिस पर घोड़े पर बैठे शासक सिंह पर आक्रमण करते दिखलाये गये हैं।[1] इस प्रकार के जो सिक्के मिले हैं उन पर किसी भी शासक का नाम नहीं मिलता। केवल उस पर प्रकाशादित्य शब्द ज्ञात होता है। इन सिक्कों के विषय में अब तक यही विश्वास किया जाता रहा है कि पुरुगुप्त, बुधगुप्त या भानुगुप्त के ये सिक्के हों। पर ये सिक्के उनमें से किसी के भी नहीं हो सकते हैं क्योंकि इन सिक्कों पर घोड़े के नीचे उसी प्रकार उ, रु, य।म अक्षर अंकित है जिस प्रकार के अक्षर राजा के पैरों के बीच वैण्यगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त (तृतीय) और विष्णुगुप्त के सिक्कों पर मिलते हैं। इस प्रकार के अक्षर बुधगुप्त और उसके पहले के किसी भी राजाओं के सिक्कों पर नहीं मिलते हैं। अतः वे पुरुगुप्त या बुधगुप्त के नहीं हो सकते, ऐसी कल्पना की जा सकती है कि इन राजाओं के किसी उत्तराधिकारी की हो। इन सिक्कों की वजन और सोने की मात्रा के आधार पर इनको वैण्यगुप्त के बाद भी ठहराना मुश्किल सा लगता है। वजन के दृष्टिकोण से इन सिक्कों का सामान्य भार १४५.४ ग्रेन है और इनमें ७७ प्रतिशत सोना भी है। इन सबों को देखकर यही कहा जा सकता है कि गुप्तवंश में तथागतगुप्त नाम का कोई राजा अवश्य हुआ होगा जिसने इन सिक्कों को चलाया है।

ह्वेनसांग एवं इन सिक्कों के अलावे और कोई भी साधन नहीं है जो इस राजा के विषय में प्रकाश डाले। अभिलेख भी नहीं है जो तथागतगुप्त अथवा प्रकाशादित्य का कहा जा सके। मंजुकीमूलकल्प में प अथवा प्र नाम के एक शासक का उल्लेख है जिससे उसे प्रकाशादित्य होने का अनुमान मिलता पर के० पी० जायसवाल ने इन 'प' अथवा 'प्र' की समानता प्रकटादित्य से की है। सारनाथ से प्राप्त एक अभिलेख में इस प्रकटादित्य का उल्लेख है।[3] पर यह अभिलेख बहुत ही क्षतिग्रस्त अवस्था में है। इससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि प्रकटादित्य का जन्म बालादित्य के परिवार में हुआ था और बालादित्य द्वितीय की रानी धवला से

---

१. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० २८५।

२. इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ५३।

३. का० इ० इ०, ३, पृ० २८५।

उसका जन्म हुआ था। बी० पी० सिन्हा ने उसे नरसिंहगुप्त बालादित्य का दूसरा पुत्र माना है।[1] पर अभिलेख में ऐसी कोई भी बात नहीं है जिससे उसके आधार पर उसे गुप्त वंश का कहा जा सके। यदि प अथवा प्र का मतलब प्रकाशादित्य से है तो इसके सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिल जाती है।

मंजुश्रीमूलकल्प के आधार पर ऐसा कहा जाता है कि जब प अथवा प्र लड़का ही था तो गोप नाम के किसी व्यक्ति ने उसे बन्दी बना लिया था। १७ वर्ष की अवस्था तक वह बन्दी रहा पर भगव नाम के एक व्यक्ति से सहायता लेकर वह वन्दीगृह से भाग निकला और हूण राजा तोरमाण के यहाँ जाकर शरण ली। तोरमाण ने उसे नन्दनगर (पाटलिपुत्र) का राजा बनाया। इस तथ्य से यही पता लगता है कि हूण-नरेश तो स्वयं मालवा में रहा तथा इसे सामंत के रूप में गद्दी देकर गुप्त साम्राज्य के अन्य भाग की निगरानी करने के लिये रख छोड़ा।

प्रकाशादित्य काफी प्रभावपूर्ण हो गया था। मंजुश्रीमूलकल्प में तो उसे मगध का निष्कंटक राजा कहा गया है। उसके राज्य का विस्तार पश्चिम में अटवी की सीमा तक, पूरब में लोहित्य तक, उत्तर में हिमालय तक और दक्षिण में पूर्वी समुद्र तक बतलाया गया है। ऐसा संभव है कि उसके राज्य के अधीन पूर्वी उत्तर प्रदेश का कुछ भाग, जो विन्ध्य की घाटी से लगा था, बिहार एवं बंगाल था। उड़ीसा का भी कुछ भाग उसके शासन के अन्तर्गत था। पंचकेसरी लोगों का विजेता एवं सिंह-वंश के उच्छेदक उपाधियों से के० पी० जायसवाल ने इन राजाओं की पहचान उड़ीसा के शासक के रूप में की है।[2] पर परमेश्वरी लाल गुप्त ने इन्हें हिमालय के पूर्वी भाग का शासक माना है।[3]

मंजुश्रीमूलकल्प के लेखक ने प्रकाशादित्य के पूर्व जीवन की बड़ी ही सराहना की है एवं उसके भावी जीवन की महत्ता की चर्चा की है एवं कहा है कि बौद्धधर्म में उनका अटूट विश्वास था। उसका शासन-काल बहुत कम दिनों का था और ४९७ ई० से ४९९ ई० तक गद्दी पर रहा। इसके शासन के अन्तिम दिनों में देश में बहुत ही अव्यवस्था व्याप्त हो गयी थी। एक सप्ताह तक किसी सरकारी नौकर ने सत्ता सँभाली। बाद में वह मारा गया तथा 'व' नामक राजा ने शासन संभाल ली।

---

१. डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ९३।
२. इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ६५।
३. गुप्त साम्राज्य, पृ० ३४७।

वैण्यगुप्त

नालन्दा से प्राप्त एक मुहर के अनुसार वैण्यगुप्त पुरुगुप्त का लड़का था।[1] मंजुश्रीमूलकल्प के अनुसार व (वैण्यगुप्त) ने प अथवा प्र (प्रकाशादित्य) के बाद राज्य प्राप्त किया था। किन्तु राजकीय उपाधि का अभाव, अधीनता सूचक महाराज उपाधि का प्रयोग, गरुड़ के स्थान पर नन्दी का चित्र—इस कल्पना को बल देता है कि वह एक सामन्त शासक था।[2] पर इस नालन्दा मुहर में उसे महाराजाधिराज उपाधि दी गई है जिससे उसे सम्राट् होने की सत्यता सिद्ध होती है। उसके कालीघाट से प्राप्त सिक्के पर उसकी उपाधि द्वादशादित्य है।[3] मंजुश्रीमूलकल्प में भी द्वादश नाम के एक राजा का वर्णन है।

वैण्यगुप्त के शासनकाल का एक ताम्रपत्र बंगलादेश के कुमिल्ला जिले के गुनइधर नामक स्थान पर मिला है जिसमें गुप्तसंवत् १८८ (५०६ ई०) अंकित है। यह वैण्यगुप्त के पूर्वी बंगाल (आधुनिक बंगलादेश) पर शासन सिद्ध करता है। इस ताम्रपत्र के साथ ही एक मुहर भी मिली है जिस पर 'महाराजश्रीवै(ण्यगुप्त)' के साथ नन्दी का चित्र है। इससे यह मालूम पड़ता है कि वैण्यगुप्त इस तिथि के कुछ ही पूर्व गद्दी पर बैठा होगा तथा गुप्तसंवत् १९१ (५१० ई०) में गुप्त-वंश के एक दूसरे व्यक्ति को हूणों के विरुद्ध प्रभुसत्ता को चुनौती देते पाते हैं।[4] नालन्दा की मुहर अन्य गुप्त राजाओं के मुहरों के साथ मिली है अतः अब इसमें किसी प्रकार की संदेह नहीं करनी चाहिए कि गुनइधर और नालन्दा मुहरवाले'वैण्यगुप्त एक ही हैं।

नालन्दा में वैण्यगुप्त की मुहर मिल जाने से ऐसा मालूम पड़ता है कि मगध के मुख्य प्रदेश उसके अधिकार में था। इस मुहर में उसके लिये गुप्त सम्राटों की परम्परागत समस्त उपाधियों का प्रयोग हुआ है। गुनइधर ताम्रपत्र में महाराज महासामन्त विजयसेन तथा महाराज रुद्रदत्त वैण्यगुप्त के अधीन कहे गये हैं। अतः वैण्यगुप्त मात्र सामन्त शासक नहीं हो सकता। श्री आर० एन० दण्डेकर ने यह माना है कि बुधगुप्त के बाद वैण्यगुप्त गद्दी का अधिकारी हुआ तथा वह ५०६–५०७ ई० तक शासन किया। पर यह कल्पना से परे नहीं है कि तोरमाण ने नरसिंहगुप्त के विरुद्ध गुप्त राजकुमार वैण्यगुप्त को मगध का शासक बनने में उत्साहित किया हो। वैण्यगुप्त गुप्त वंश का एक महत्त्वाकांक्षी सदस्य था। वह

---

१. ए० इ० २६, पृ० २२५।
२. बी० पी० सिन्हा—प्रा० भा० इ०, पृ० ३२६।
३. क्वायनेज ऑव गुप्त इम्पायर, पृ० २८१–८२।
४. का० इ० इ०, ३, पृ० ९१।

कुमारगुप्त द्वितीय या बुधगुप्त का पुत्र हो सकता है जैसा कि बी० पी० सिन्हा ने स्वीकार किया है।[1]

ऐसा संभव है कि नरसिंह गुप्त तोरमाण द्वारा हराये जाने के बाद वास्तविक अधिकार गँवा बैठा हो। इसी संकट काल में उसने द्वितीय वर्ग के हीनधातु की मुद्राएँ प्रचलित किये। तोरमाण बहुत बुद्धिमान था। उसने गुप्तवंश के विभिन्न असन्तुष्ट सदस्यों को सहायता देकर गुप्त साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने की नीति अपनाई। प्रकटादित्य को बंदीगृह से मुक्त कर काशी में उसने गद्दी पर बैठाया। उसने वैण्यगुप्त को भी प्रोत्साहित किया एवं उसे सहायता दी जिसका निष्कर्ष यह हुआ कि वैण्यगुप्त ने अपने को सम्राट् घोषित कर दिया तथा महाराजाधिराज उपाधि से सिक्के एवं मुहर निकाले। उसके सोने के सिक्के पर वैण्य एवं द्वादशादित्य अंकित हैं।

हम वैण्यगुप्त को ह्वेनसांग द्वारा कथित तथागत राजा से भिन्न मान सकते हैं। उसके यात्रा-विवरण से यह पता चलता है कि बुधगुप्त के बाद तथागत राजा ने नालन्दा में दूसरा संघाराम बनाया। इसके आधार पर कुछ इतिहासकार ऐसा कह सकते हैं कि वैण्यगुप्त बुधगुप्त के शीघ्र ही बाद शासक हुआ हो। उसके एक सोने के सिक्के में ७३ प्रतिशत विशुद्ध सोना है जिससे यह निष्कर्ष निकल सकता है कि वैण्यगुप्त का सिक्का नरसिंहगुप्त के प्रथम और द्वितीय वर्ग के सिक्कों के बीच की अवधि में निकाला गया हो। उसका शासन-काल बहुत कम दिनों का था। विजयसेन वैण्यगुप्त तथा गोपचन्द्र दोनों का सामन्त था। गुनइधर ताम्रपत्र में विजयसेन वैण्यगुप्त की मुहर प्रयोग करता है जबकि मल्ल सारउल ताम्रपत्र में अपनी मुहर। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विजयसेन की शक्ति वैण्यगुप्त की अपेक्षा गोपचन्द्र के समय में अधिक थी। इस प्रकार मल्ल-सारउल ताम्रपत्र ५०६ ई० के बाद का मालूम पड़ता है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गोपचन्द्र ने बंगाल में वैण्यगुप्त के शासन को समाप्त कर दिया और स्वयं शासक हुआ। इस गोपचन्द्र की समानता आर्यमंजुश्री मूलकल्प के 'गोप' से किया गया है जिसने राजकुमार प्रकटादित्य को बन्दी बनाया था। यह भी सम्भव हो सकता है कि गोपचन्द्र नरसिंहगुप्त का सामन्त रहा हो तथा उसीने बंगाल में वैण्यगुप्त का शासन समाप्त किया। विजयसेन तब उसका सामन्त हो गया।

वैण्यगुप्त महादेव (शिव) के उपासक थे, फिर भी उसकी नालन्दा मुहर पर उसके वंश की पारम्परिक उपाधि परमभागवत ही मिलती है। गुनइधर

१. प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३२६।

ताम्रपत्र में लगी मुहर पर गुप्तों के राजचिह्न गरुड़ के स्थान पर नन्दी का चित्र है। राजचिह्न का यह परिवर्तन सम्भवतः उसके शिवोपासक होने मात्र का द्योतक नहीं, वरन् उसके हूण-नरेशों की, जो शिवोपासक थे, अधीनता को भी व्यक्त करता है। वह अन्य धर्मों के प्रति भी सहिष्णु था। बौद्ध धर्म के प्रति भी वह सहिष्णु था जिसका प्रमाण गुनइधर ताम्रपत्र से लगता है क्योंकि उसने कुछ भूमि बौद्ध विहार को दान दी थी।

'चन्द्र' शब्द अंकित कुछ मुहर नालन्दा से मिली है। बी० पी० सिन्हा ने यह विश्वास प्रकट किया है कि हो सकता है कि उसने मगध पर आक्रमण कर वैण्यगुप्त के शासन को यहाँ से समाप्त किया हो। उन्होंने इस चन्द्र की समानता गोपचन्द्र से की है। इसी परिस्थिति से लाभ उठाकर नरसिंहगुप्त ने लगभग १० वर्षों के बाद ५१५ ई० में पूरे साम्राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया।

नरसिंह गुप्त का पुनः गद्दी पर बैठना

नरसिंहगुप्त पुरुगुप्त का तीसरा पुत्र था। उसकी माता का नाम चन्द्रदेवी था। इसके विषय में हमें उसकी नालन्दा से मिली मुहर एवं उसके बेटे कुमारगुप्त की भितरी धातुमुद्रा से जानकारी मिलती है। ऐसा बहुत दिनों तक विश्वास किया जाता रहा है कि वह स्कन्दगुप्त या पुरुगुप्त के बाद गद्दी का अधिकारी हुआ।[1] कुछ इतिहासकार तो यहाँ तक कह डाला कि इसके काल में राज्य का बंटवारा भी हो गया था।[2] उनका यह मत था कि गुप्तवंश की दो शाखाएं स्कन्दगुप्त के पश्चात् पूर्व और पश्चिम में राज्य करती रही हैं। पर सिक्कों के प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि नरसिंहगुप्त वैण्यगुप्त से पहले कभी नहीं हुआ। सही बात तो यह है कि वह वैण्यगुप्त के तात्कालिक उत्तराधिकारी थे और गुप्तसंवत् १८८ के बाद तथा गुप्तसंवत् १९१ से पहले किसी भी समय गद्दी पर बैठा हो।

नरसिंहगुप्त का गद्दी पर आना अपने आप में एक असाधारण सी बात है क्योंकि बुधगुप्त और वैण्यगुप्त के बाद दो अन्य राजे चन्द्रगुप्त तृतीय एवं तथागत गुप्त प्रकाशादित्य का भी नाम इस श्रेणी में आता है। यह किन परिस्थितियों में हुआ होगा, यह हमें मालूम नहीं पर पी० एल० गुप्त ने ऐसा मत प्रतिपादित किया है कि नरसिंहगुप्त अपने भाइयों में सबसे छोटा रहा हो। पर गद्दी पर आने के समय वह ५४-५५ वर्ष से कम न रहा होगा।

---

१. इ० ए०, ४७, पृ० १६१, हिन्दुस्तान रिव्यु०, जनवरी १९१८; पृ० ३०।
२. इ० ए०, १९, पृ० २२७।

सिक्कों से यह पता चलता है कि वह बालादित्य के भी नाम से प्रसिद्ध था। ह्वेनसांग ने इस बालादित्य के विषय में ऐसा उल्लेख किया है कि वह तथागत-राज का उत्तराधिकारी या वंशज था एवं बौद्धधर्म के प्रति जिज्ञासा रखता था। उसने यहाँ तक कहा है कि वह बौद्ध धर्म का पोषक था एवं नालन्दा में एक संघाराम बनवाया था। बाद में चलकर यह स्वयं भिक्षु हो गया।

मंजुश्री-मूल-कल्प से यह पता लगता है कि गुप्त वंश के बाल नामक एक राजा बहुत ही योग्य और लोकहित के प्रति सजग शासक था। इसमें यह भी कहा गया है कि उसने विहार, आराम, वापी, तड़ाग, मण्डप, सड़क और पुल बनवाये थे। ऐसा कहा गया है कि वह बौद्धधर्म का अनुयायी था तथा पृथ्वी को उसने समुद्र तक चैत्यों के निर्माण से भर दिया था। पुत्र शोक के कारण वह भिक्षु बना एवं ३६ वर्षों तक शासन करने के बाद उसकी मृत्यु हो गयी।

ह्वेनसांग एवं मंजुश्रीमूलकल्प के लेखक ने एक ही व्यक्ति बालादित्य की चर्चा की है जिसकी पहचान नरसिंहगुप्त के रूप में सरलता से की जा सकती है।[1] वह तथागत-गुप्त के उत्तराधिकारी अथवा वंशज कुमारगुप्त तृतीय के पूर्ववर्त्ती था। उसके संघाराम बनाने की बात ह्वेनसांग एवं मंजुश्रीमूलकल्प दोनों से मालूम होता है। नरसिंहगुप्त का उल्लेख नालन्दा से प्राप्त एक अभिलेख में भी मिलता है। अभिलेख आठवीं शती ई० के मध्य का है। अभिलेख में ऐसा उद्धृत है कि असीम शक्ति वाले महान् राजा बालादित्य ने अपने समस्त शत्रुओं का उच्छेदन कर, पृथ्वी का भोग किया और नालन्दा में एक महान् और असाधारण मन्दिर का निर्माण कराया।

ह्वेनसांग का कहना है कि मगध-नरेश बालादित्य बौद्ध धर्म का बहुत आदर करता था। जब उसने मिहिरकुल के अत्याचार एवं दमन की कहानी सुनी तो उसने अपनी सीमा की कठोर सुरक्षा की व्यवस्था की और कर देने से इनकार कर दिया जिसे देखकर मिहिरकुल ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया। बालादित्य अपनी सेना के साथ एक द्वीप में चला गया। मिहिरकुल भी थोड़ी सी सेना के साथ नाव पर सवार होकर द्वीप में उतरा। बालादित्य के साथ उसकी मुठभेड़ हो गयी पर मिहिरकुल बन्दी बना लिया गया। बालादित्य मिहिरकुल को मार देना चाहता था पर अपनी माँ के कहने पर उसे छोड़ दिया। मिहिरकुल जब लौटकर वापस गया तो उसका छोटा भाई सिंहासन का अधिकारी बन चुका था। इस पर मिहिरकुल कश्मीर चला गया।

---

१. परमेश्वरी लाल गुप्त, वही पृ० ३५२।

मिहिरकुल एक महान् व्यक्ति था। जिस समय बालादित्य से उसका संघर्ष हुआ उस समय स्वयं बालादित्य उसके अधीन था। इसका स्पष्ट प्रमाण इससे लगता है कि प्रकाशादित्य को तोरमाण ने गद्दी पर बैठाया था। गुप्त शासकों की यह नीति नरसिंह गुप्त के समय तक चलती चली आयी होगी एवं नरसिंह गुप्त मिहिर कुल को कर देते रहे होंगे। इस परिप्रेक्ष्य में ह्वेनसांग का एक और वर्णन अधिक युक्तिसंगत लगता है। नरसिंह गुप्त ने अपने नौकर को बौद्ध धर्म की शिक्षा देने के लिए मिहिर कुल के पास भेजा। पर वह विक्षुब्ध होकर अपने साम्राज्य भर में बौद्ध धर्म के बहिष्कार का आदेश दिया। नरसिंह गुप्त एक श्रद्धालु बौद्ध था। अपने प्रभुशक्ति के हाथों बौद्ध धर्म के दमन किये जाने की बात सुनकर उसे विद्रोह का बहाना दिया। मगध की जनता परम्परागत रूप से बौद्ध धर्म के प्रति सहानुभूति रखती थी। अतः नरसिंह गुप्त कर देना बन्द कर दिया एवं इस तरह नरसिंह गुप्त का कर देने के विरोध करने से जनता का सहयोग मिला। ह्वेनसांग के इस कथन में तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता है कि बालादित्य ने न केवल दृढ़तापूर्वक मिहिरकुल का प्रतिरोध किया वरन् उसे बुरी तरह पराजित भी किया।

पर बालादित्य ने मिहिरकुल को कब पराजित किया, इसको जानना चाहिए। अगर मिहिरकुल सचमुच पराजित होकर कश्मीर में गया तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बालादित्य ने उसे मध्यभारत के अधिकार से वंचित कर दिया था। मिहिरकुल की ग्वालियर प्रशस्ति[1] उसके शासन की १५वें वर्ष की है जिससे यह स्पष्ट होता है कि उसकी पराजय उसके शासन के १५वें वर्ष के अन्त में या इसके कुछ बाद हुयी हो। उसका राज्यारोहण ५०० ई० अथवा ५०२ ई० में हुआ होगा। अतः मिहिरकुल की यह पराजय ५१५ ई० या ५१७ ई० के बाद ही किसी समय हुयी होगी।

यह घटना नरसिंह गुप्त के राज्यकाल के प्रारम्भ में ही घटी होगी जिसका पता हमें एरण अभिलेख गुप्त संवत् १९१ (५०९–५१० ई०) से लगता है। इस अभिलेख में ऐसा उद्धृत है कि एक महायुद्ध हुआ जिसमें राजा भानुगुप्त का गोपराज नामक एक अधीनस्थ मारा गया।[2] यह अनुमान लगाया जाता है कि भानुगुप्त गुप्तवंश का कोई सदस्य था और वह गोपराज के साथ हूणों का मुकाबला करने वहाँ गया था। इस समय किसी दूसरे दुश्मन की कल्पना नहीं की जा सकती जिसके विरुद्ध पश्चिमी सीमा पर गुप्त सेना भेजी जा सकती थी। ऐसा अंदाज लगता है कि भानुगुप्त और गोपराज के प्रतिरोध को तोड़कर हूण सेना ने मगध में प्रवेश किया, जहाँ उसे नरसिंह गुप्त के हाथों पराजित होना पड़ा।

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० १६२।

२. वही, पृ० ३४३, ३६२।

मन्दसोर अभिलेख से भी यह ज्ञात होता है कि यशोधर्मन ने भी मिहिरकुल को पराजित किया। वह मध्यभारत का एक प्रभावशाली राजा था। इतिहासकारों के लिए ह्वेनसांग एवं मन्दसोर अभिलेख के साक्ष्य में सामंजस्य स्थापित करना कठिन हो गया है। वी० ए० स्मिथ मन्दसोर अभिलेख के साक्ष्य को ही प्रमाणित मानते हैं, ह्वेनसांग को नहीं। उनके मतानुसार मध्यभारत के शासकों ने यशोधर्मन के नेतृत्व में हूणों के विरोध में संघ कायम किया। फ्लीट ने ऐसा कहा है कि मिहिरकुल पश्चिम में यशोधर्मन द्वारा तथा पूरब में बालादित्य द्वारा पराजित हुआ है। हार्नले के अनुसार यशोधर्मन विष्णुवर्द्धन नरसिंह गुप्त का सामन्त था और मिहिरकुल को हराने के परिणामस्वरूप एक साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हो सका। बी० पी० सिन्हा के विचार में बालादित्य और यशोधर्मन द्वारा मिहिरकुल की हार दो अलग-अलग घटनाएँ हैं।[1] उनके अनुसार ह्वेनसांग का साक्ष्य चाहे जितना भी काल्पनिक क्यों न हो, पर यह सत्य है कि बालादित्य नरसिंह गुप्त ने मिहिकुल को हराया तथा यह घटना लगभग ५२० ई० की है। यशोधर्मन को हूणों के विरुद्ध सफलता ५३२ ई० या इसके तुरत बाद की है।

हूण-आक्रमण के कारण देश की समृद्धि को गहरा धक्का लगा और उसके कारण गुप्त राजकोष पर संकट आ गया था, ऐसा नरसिंह गुप्त के सोने के सिक्कों से प्रकट होता है। इसके सिक्के, जो आक्रमण के पहले जारी किये गये थे वे ७० प्रतिशत सोने के हैं, पर आक्रमण के बाद के सिक्के, केवल ५४ प्रतिशत सोने के हैं। सिक्कों के इस ह्रास का कारण नरसिंह गुप्त के लोकोपकारी कार्य मात्र को नहीं माना जा सकता।

उसने कब राज्य त्याग किया या कब मृत्यु हुयी, यह हमें ज्ञात नहीं। मंजुश्री-मूलकल्प से ऐसा पता लगता है कि उसकी मृत्यु ३६ वर्षों तक शासन करने के बाद हुयी। अगर नरसिंह गुप्त का राज्यारोहण गुप्त संवत् १८९–१९० माना जाये तो इस कथन के मुताबिक मृत्युकाल गुप्तसंवत् २२६ ठहरता है जो विष्णुगुप्त के दामोदरपुर ताम्रपत्र के प्रकाश में कभी भी सही नहीं है। हो सकता है कि सिंहासन त्याग कर भिक्षु बनने की अवधि भी इसी में सम्मिलित हो।

कुमारगुप्त तृतीय

नरसिंह गुप्त के बाद मित्रदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र कुमार गुप्त तृतीय गद्दी पर बैठा जिसका प्रमाण हमें भितरी तथा नालन्दा से प्राप्त मुहर और आर्यमंजुश्री-

१. प्रा० भा० का इ०, पृ० ३२८।

मूलकल्प से मिलता है।[1] ह्वेनसांग के अनुसार बालादित्य का उत्तराधिकारी वज्र हुआ, जिसने नालन्दा में एक दूसरा संघाराम बनाया जिसके विषय में पूरी जानकारी नहीं है पर ऐसा संभव है कि उसका दूसरा नाम वज्र हो। उसका परिचय हमें उसके सोने के सिक्कों से भी मिलता है जिसपर उसे श्री-क्रमादित्य कहा गया है।[2]

सिक्कों, मुहरों एवं अभिलेखों के प्राप्ति-स्थान से यह प्रतीत होता है कि कुमारगुप्त तृतीय अपने शासन की शुरुआत में लगभग ५२५ ई० में उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग से पश्चिमी बंगाल तथा मध्यभारत के पूर्वी भाग का स्वामी था। उसकी मुहर भितरी (गाजीपुर जिला) से प्राप्त हुयी है। महाराज हस्तिन का नवग्राम दानपत्र गुप्तसंवत् १९८, १९९ तथा २०९ के संक्षोभ के क्रमशः वेतुल और सोह दानपत्र यह सिद्ध करते हैं कि मध्यभारत में भी मौखिक रूप से गुप्त संप्रभुता स्वीकृत थी। कुमारगुप्त तृतीय के सिक्के कालीघाट से प्राप्त हुये हैं। आर्यमंजुश्री-मूलकल्प में विशेष रूप से उसे 'गौड़ का महान् स्वामी' कहा गया है।

कुमारगुप्त तृतीय के सिक्के धनुर्धारी प्रकार के हैं जिसके लेख क्रमशः 'महाराजाधिराज कुमारगुप्त क्रमादित्य' और श्री क्रमादित्य हैं। ये सिक्के नरसिंह गुप्त के द्वितीय वर्ग के सिक्कों के समान हैं जो हीनधातु और भारी तौल के हैं। इसके सोने के सिक्के केवल ५४ प्रतिशत शुद्ध है। यह सिक्का नरसिंह गुप्त के ब्रिटिश म्युजियम में रखे गये सिक्का के समान है जिसमें शुद्ध सोने का अनुपात ५४ प्रतिशत है।

कुमारगुप्त तृतीय के शासन के अन्तिम काल में मालवा में यशो(व)र्मन के रूप में एक नयी शक्ति का उदय हुआ जिसके विषय में नरसिंह गुप्त •बालादित्य के संदर्भ में हम पढ़ चुके हैं। इस यशोवर्मन के लिए हमें मन्दसोर अभिलेख सामग्री प्रस्तुत करता है। इसके आधार पर हम यह जानते हैं कि उसने दावा किया है कि उसके राज्य के अन्तर्गत लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से लेकर पश्चिमी सागर तक तथा हिमालय से लेकर महेन्द्र पर्वत तक का सारा उत्तरी भारत था।[3] इस अभिलेख में तिथि नहीं दिया हुआ है। पर एक दूसरा भी अभिलेख है जो उसी स्थान से प्राप्त हुआ है जिसमें श्री यशोधर्मन नामक जनेन्द्र (राजा) के मालव संवत् ५८९ (६३१ ई०)

---

१. एच० डी० संकालिया, नालन्दा ऐण्ड इट्स एपिग्राफिक मैटीरियल, पृ०:६५–६७, ज० ए० सो० बं०, ५८, पृ० ८४।

२. ब्रि० म्यु० मु० सू० गु० वं०, पृ० १४१–१४३, ज० न्यु० सो० इ०, १२; पृ० ३१।
डिक्लाइन ऑफ द किंगडम ऑव मगध, पृ० ११४।

३. का० इ० इ०, ३, पृ० १४६।

में होने का पता लगता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि दोनों अभिलेखों के यशोधर्मन एक ही व्यक्ति हैं, जो कुमारगुप्त तृतीय के समकालीन समझते हैं। उस अभिलेख से यह भी अंदाज लगता है कि यशोधर्मन के ही हाथों गुप्तों का उन्मूलन हुआ।

पर कुमारगुप्त तृतीय के सोने के सिक्के भार एवं धातु की मात्रा में अपने पिता के सिक्के के समान हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि उसके समय में ऐसा कोई भी राजनीतिक परिवर्तन नहीं हुआ जिसका कि खजाने पर प्रभाव पड़ सके। इसका समर्थन एक अभिलेख से भी हो जाता है।[1] यह अभिलेख मन्दसोर अभिलेख से केवल दस वर्ष बाद का है जिससे यह पता लगता है कि गौड़ पर गुप्त वंश का अधिकार था। इस अभिलेख अर्थात् गुप्त संवत् २२४ (५४३ ई०) के दामोदरपुर ताम्रपत्र की तुलना उसी स्थान से प्राप्त बुधगुप्त के काल के ताम्रपत्रों के साथ की जाय, जो उपर्युक्त मन्दसोर अभिलेख से बहुत पहले के हैं तो ज्ञात होगा कि उस प्रदेश में एक ही शासन तंत्र काम कर रहा था। उस समय भूमि की खरीद-बिक्री में एक ही प्रकार की व्यवस्था और प्रणाली काम कर रही थी। इस समय आधी शताब्दी से अधिक समय तक नगरश्रेष्ठि रिभुपाल पुण्ड्रवर्धन के विषय के अधिकरण के सदस्य बने रहे। इस प्रकार देखा जाय तो पूर्व में गुप्त सम्राटों के शासन के इतिहास अथवा परम्परा में किसी प्रकार का कोई व्यवधान दृष्टिगोचर नहीं होता।

पी० एल० गुप्त यशोधर्मन के कथन को 'कोरी डींग' मानते हैं।[2] यशोधर्मन का उपर्युक्त दावा दिग्विजय का सामान्य और पारम्परिक वर्णन मात्र है। अगर वह वस्तुतः लौहित्य तक कोई अभियान किया था तो वह केवल धावा मात्र रहा होगा। अगर वह वस्तुतः अधिकार प्राप्त किया हो था तो वह अधिकार भी इतना अल्पकालिक था कि उसका गुप्त शासन तंत्र पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। इस धारणा की पुष्टि इस बात से भी होती है कि इस अभिलेख के अतिरिक्त यशोधर्मन के विषय में अन्यत्र कहीं कुछ ज्ञात नहीं है।

कुमारगुप्त तृतीय को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। गौड़ लोग अपने राज्य, जो समुद्रतट तक फैला हुआ था और जिसमें कर्णसुवर्ण[3] और राधापुरी भी सम्मिलित थे, से निकलकर जब-तब आक्रमण करने लगे।

मंजुश्रीमूलकल्प के अनुसार बाल (अर्थात् बालादित्य) का पुत्र कुमार (अर्थात् कुमारगुप्त) अत्यन्त धार्मिक एवं गौड़ का महान् शासक था। एक संघर्ष में कुमारगुप्त तृतीय की मृत्यु लगभग ५३० ई० में हो गयी।

---

१. ए० इ०, १५, पृ० १४२।

२. गुप्त साम्राज्य, पृ० ३५६।

३. ऐ० इ०, १५, पृ० १४२।

विष्णुगुप्त

कुमारगुप्त तृतीय की मृत्यु हो जाने के बाद उसका पुत्र विष्णुगुप्त गद्दी का अधिकारी बना। किन्तु गद्दी पर बैठने की तिथि ज्ञात नहीं। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसका राज्यारोहण गुप्तसंवत् २२४ (५४३ ई०) से पहले किसी समय हुआ होगा। इसकी यह तिथि हमें दामोदरपुर ताम्रपत्र से मालूम होती है।

नालन्दा से प्राप्त मुहर पर 'महाराजाधिराज परमभागवत' उपाधि अंकित है। मुहर के जिस ओर उसकी माता का नाम था, वह टूट गया है किन्तु पुरुगुप्त, नरसिंह गुप्त एवं कुमारगुप्त का नाम मिलता है। इसकी समानता मंजुश्रीमूलकल्प में वर्णित उकाराख्य शासक से की जा सकती है। उसके अधिकांश सिक्के कालीघाट में मिले हैं जिसमें नरसिंह गुप्त और कुमारगुप्त तृतीय के सिक्के भी मिले हैं। उसने धनुर्धारी प्रकार के सिक्के चलाये जिसपर 'चन्द्रादित्य' उपाधि है। इनकी तौल १४७·४ से १५२ ग्रेन है। सिक्कों के पुरोभाग पर राजा के पैरों के बीच 'उ' अक्षर उत्कीर्ण है। इस 'उ' अक्षर को उज्जैन की टकसाल का सूचक हार्नले मानते हैं एवं उनका मत है कि ये सिक्के विष्णुवर्द्धन के हैं तथा उपाधि धर्मादित्य। किन्तु, इन सिक्कों को विष्णुवर्द्धन के मानने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। बी० पी० सिन्हा इस 'उ' शब्द के विषय में यह अर्थ लगाते हैं कि यह अक्षर उसके दूसरे नाम 'उपेन्द्र' का सूचक हो सकता है।[1] उपेन्द्र का अर्थ विष्णु होता है। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प के अनुसार उकाराख्य के बाद साम्राज्य का विभेद और विनाश हो गया। अन्य उपलब्ध साक्ष्यों से विष्णुगुप्त ही गुप्त वंश का अन्तिम शासक मालूम होता है जिसके बाद साम्राज्य का अन्त हो गया।

उसके शासन-काल की गतिविधि की कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है, पर पाँचवा दामोदरपुर ताम्रपत्र गुप्तसंवत् २२४ (५४३-४४ ई०) का हैं, जो विष्णुगुप्त के समय का है। इसमें 'राजपुत्र देव भट्टारक' के पुण्ड्रवर्धन भुक्ति पर शासन का उल्लेख है। हम जानते हैं कि इस अभिलेख से पूर्व की शताब्दी में इस भुक्ति के प्रशासक चिरदत्त, ब्रह्मदत्त और जयदत्त थे जो एक ही वंश के थे। ऐसा देखा गया है कि गुप्त साम्राज्य के ह्रास-काल में प्रादेशिक प्रशासक स्वतन्त्र होने के लिये सचेष्ट थे और कुछ तो स्वतंत्र हो भी गये थे। इसी को दबाने के लिए सम्राट् के पुत्र देव पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) के प्रशासक थे। इस अभिलेख में सम्राट् को 'पृथ्वीपति परमदैवत, परमभट्टारक महाराज श्रीगुप्त' कहा गया है। पर वह अंश जिसमें सम्राट् के नाम का उल्लेख है, नष्ट हो गया है।

१. प्रा० भा० का इ० पृ० ३३२।

आर० जी० बसक इस अभिलेख में भानुगुप्त का नाम मानते हैं पर श्री दीक्षित ने यह नाम कुमार पढ़ा है, वाई० आर० गुप्त एवं भट्टशाली ने कुमारगुप्त नाम पढ़ा है और इसे नरसिंह गुप्त का पुत्र माना। आर० एन० दण्डेकर एवं डी० सी० सरकार इस अभिलेख में उत्तरगुप्त शासक कुमारगुप्त का उल्लेख मानते हैं। सेन इसे उत्तरगुप्त राजा कुमारगुप्त के पुत्र दामोदरगुप्त का मानते हैं। आर० सी० मजूमदार के मतानुसार उपर्युक्त अभिलेख का सम्राट् सम्भवतः कोई उत्तरगुप्त राजा था, जिसने छठी शताब्दी तक उत्तरी बंगाल पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था।

मुहर के उस छोटे से टूटे भाग पर 'दामोदर' शब्द पढ़ना सम्भव नहीं है। दूसरे अभिलेख की तिथि ५४३-५४४ ई० है। इस समय दामोदरगुप्त का शासन असम्भव है। उत्तरगुप्त शासक कुमारगुप्त का शासन ५५४ ई० में था। अतः उसका पुत्र ५४३ ई० में कैसे शासक हो सकता है? भानुगुप्त स्वयं के विषय में विवाद है।

पाँचवा दामोदरपुर ताम्रपत्र दामोदरपुर से मिले हुये अन्य चार ताम्रपत्रों की शैली में ही हैं। इस अभिलेख का सम्राट् कुमारगुप्त तृतीय भी हो सकता है पर यशोधर्मन के उत्थान के साथ ही उसका पतन भी हो गया। बी० पी० सिन्हा विष्णुगुप्त को ही अधिक तर्कसंगत मानते हैं।[1] उनका मत है कि मुहर के भग्न अंश में दो अक्षर 'विष्णु' आसानी से अँट सकता हैं।

विष्णुगुप्त गुप्त-साम्राज्य के बहुत ही बुरे दिन में राजगद्दी का अधिकारी बना। साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशों को यशोधर्मन लौहित्य तक बर्बाद कर चुका था। गोपचन्द्र के उत्तराधिकारी स्वतन्त्र स्थिति को प्राप्त कर चुके थे। कामरूप में वर्मन वंश की स्थिति मजबूत होती जा रही थी। विष्णुगुप्त ने मुहर और सिक्के निकाले। उत्तर बंगाल में उसका प्रभुत्व होना स्वाभाविक ही था।

यह निश्चित नहीं कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त तृतीय के समय में, जो सामन्त की स्थिति में पहुँच गये थे, उत्तर प्रदेश का कितना अंश गुप्त राज्य के अधीन रह गया था। पर उसके वाराणसी तक होने का अन्दाज मिलता है। गुप्तों का मगध और गौड़ पर शासन बना था, यह नालन्दा की मुहरों और कालीघाट से प्राप्त सिक्कों एवं दामोदरपुर ताम्रपत्र से पता लगता है। कुमारगुप्त प्रथम के शासन-काल में उड़ीसा गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित किया गया था तथा वह दस साल तक चलता रहा। यह प्रमाण विष्णुगुप्त के कटक से मिले एक सिक्का से

१. प्रा० भा० का इ० पृ० ३३३।

लगता है।[1] अकेले इस सिक्के का मिलना इस बात का क्षीण प्रमाण ही माना जाता यदि स्थानीय शासकों के गुप्त संवत् युक्त कतिपय अभिलेख उस क्षेत्र से प्राप्त न हुये होते।[2] गंजाम जिले के सुमण्डल नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख में में वसुन्धरायाँ वर्तमान गुप्त राज्य का प्रयोग हुआ है। इससे यह पता चलता है कि गुप्त लोग इस अभिलेख के समय तक शासन कर रहे थे और कलिंग उनके अधीन था। पर इस आधार पर उसके राज्य में इस प्रदेश की स्थिति नहीं मानी जा सकती है। उड़ीसा से गुप्तों का आधिपत्य गुप्तसंवत् २८० (५९९ ई०) में समाप्त हो गया था। इसका प्रमाण हमें कनास नामक स्थान से प्राप्त इस तिथि के एक दूसरे अभिलेख से प्रकट होता है जिसमें 'वसुन्धरायां गौप्त काले' का प्रयोग हुआ है। विष्णुगुप्त के बाद् किसी गुप्त शासक का पता नहीं चलता। इससे यह अन्दाज लगता है कि इसके साथ ही गुप्त वंश का अन्त हो गया। विष्णुगुप्त के अन्तिम दिन मौखरी और उत्तरगुप्त के संघर्ष से कलहपूर्ण था और इसी काल में गुप्त साम्राज्य ने दम तोड़ दिया।

बुधगुप्त के बाद से ही गुप्त साम्राज्य का वास्तविक पतन प्रारंभ हो गया था। इसके बाद स्थानीय राजाओं का उद्भव होना प्रारंभ हो गया था। कुछ इतिहासकार तो वैण्यगुप्त को भी स्थानीय शासन ही मानते हैं। मल्लसरउल अभिलेख से यह पता चलता है कि विजयसेन वर्द्धवान भुक्ति का एक स्वतन्त्र नरपति था। फरीदपुर से प्राप्त दो शिलालेखों में धर्मादित्य को 'महाराजाधिराज परम भट्टारक अप्रतिरथ' कहा गया है।

घुग्रघुटी (फरीदपुर) के अभिलेख में उसे 'महाराजाधिराज' कहा गया है। लगातार हूणों के आक्रमण और सामन्त राजाओं तथा प्रान्तीय शासकों की महत्त्वाकांक्षा ने गुप्त साम्राज्य को कमजोर बना दिया था। केन्द्र से दूरस्थ प्रान्त हमेशा स्वतन्त्र होने का प्रयास करते रहे तथा साम्राज्य की जड़ें खोदने का भी प्रयास करते रहे। यशोधर्मन साम्राज्य के प्रदेशों को रौंद चुका था। गोपचन्द्र के उत्तराधिकारी स्वतन्त्र हो चुके थे। कामरूप में वर्मनवंश शक्तिशाली हो रहा था। सर्वत्र नवीन शक्तियों का उदय हो रहा था। उत्तरप्रदेश में मौखरी, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब में बर्द्धन, मगध में उत्तरगुप्त और पूर्वी बंगाल में धर्मादित्य के वंश के राजाओं ने गुप्त साम्राज्य का नामोनिशान मिटा दिया। विष्णुगुप्त चूँकि असहाय और कमजोर था अतः इस पतन को अपनी आँखों देख रहा था। लगभग ५५० ई० में गुप्त साम्राज्य बिल्कुल ही तहस-नहस हो गया था।

१. आ० स० इ०, ऐ० रि० १९२६, पृ० २३०।

२. पी० एल० गुप्त—गुप्त साम्राज्य, पृ० ३५८।

पर गुप्त वंश का अन्त किस प्रकार हुआ, यह कहा नहीं जा सकता। मंजुश्री-मूलकल्प में ऐसा कहा गया है कि इस राजा (श्रीमाउ) के बाद भयंकर फूट और झगड़े आरम्भ हुये। अभिलेखों से ऐसा पता चलता है कि उत्तरप्रदेश और मगध से गुप्तों के उखाड़ फेंकने के उत्तरदायी सम्भवतः मौखरी थे। उनके उन्मूलन में उनका हाथ प्रत्यक्ष रूप में भले ही न हो पर इस उन्मूलन से वे सम्बद्ध अवश्य थे। हड़हा अभिलेख (जिला बाराबंकी, उत्तर प्रदेश) विक्रम संवत् ६११ (५५३–५४ ई०) में मौखरी ईशानवर्मन का सम्राटीय उपाधि धारण करने का उल्लेख मिलता है। इस अभिलेख में उसके पुत्र का भी वर्णन मिलता है जो एक स्वतन्त्र शासक के रूप में हुआ है। एक ईंट अभिलेख जौनपुर में मिला है जिसके विषय में भी यही अन्दाज लगाया लाता है कि यह अभिलेख भी उसी का है। इन सब अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है कि ५५४ ई० से पूर्व ही उत्तर प्रदेश से गुप्त प्रभुत्व समाप्त हो गया हो।

इस हड़हा अभिलेख से ईशानवर्मन द्वारा गौड़ में किये गये अभियान का भी वर्णन मिलता है। पर इससे गुप्तों के साथ किये गये संघर्ष का कोई भी संकेत नहीं मिलता है। छठी शताब्दी के अन्त में ईशानवर्मन के पुत्र शर्ववर्मन और पौत्र अवन्तिवर्मन का बिहार के शाहाबाद जिले पर अधिकार होने का संकेत हमें देव बरनार्क अभिलेख से मिलता है। दक्षिण कोसल के पाण्डुवंशी शिवगुप्त बालार्जुन के सिरपुर स्थित लक्ष्मण मन्दिर के अभिलेख में मगध पर वर्मन वंश के सूर्यवर्मन के आधिपत्य का उल्लेख मिलता है। यह सूर्यवर्मन मौखरी ईशानवर्मन का पुत्र बतलाया जाता है। इन सबसे अनुमान होता है कि मौखरियों ने गुप्तों को बिहार से भगा दिया था।

इसका स्पष्ट समर्थन गया जिले के अमौना से प्राप्त एक ताम्रपत्र से भी लग जाता है जिसे गुप्तसंवत् २३२ (५५१–५५२ ई०) में कुमारामात्य महाराज नन्दन ने प्रचलित किया था।[१] इसमें किसी प्रभुशासक का नाम नहीं मिलता। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि उस समय तक उस भू-भाग से भी, जो गुप्तों का अपना था—उनका प्रभावकारी अधिकार समाप्त हो गया था।

किन खास कारणों से और कब गुप्त-साम्राज्य का पतन बंगाल में हुआ, इसका स्पष्टीकरण करना असम्भव-सा लगता है। उत्तरी बंगाल में गुप्त शासन कम-से-कम गुप्तसंवत् २२४ (५४३ ई०) तक बना था। उसके बाद यह अधिकार कितने दिनों तक रहा, कहा नहीं जा सकता। धर्मादित्य, गोपचन्द्र और समाचारदेव नामक शासकों के अभिलेखों से यह प्रतीत होता है कि मध्यभारत और बंगाल से गुप्तों के शासन का अन्त हो चुका होगा तभी वे लोग अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम

१. ए० इ०, १०, पृ० ४९।

कर सके होंगे क्योंकि वे लोग छठी शताब्दी में बंगाल के दक्षिणी आधे भाग पर शासन कर रहे थे। डी० सी० सरकार का यह मत है कि बंगाल से गुप्तों का प्रभुत्व मौखरियों द्वारा मगध पर अधिकार किये जाने के साथ समाप्त न हुआ होगा। उनका यह मत सुमण्डल ताम्रपत्र के आधार पर है जिससे यह पता लगता है कि बंगाल और उड़ीसा दोनों पर गुप्तों का स्वामित्व ५६९ ई० तक रहा होगा।[1] उनका मत है कि बिहार को खोकर भी वे बंगाल स्थित किसी स्थान से उड़ीसा पर अधिकार बनाये रखने में सक्षम रहे हों।

उत्तरकालीन गुप्तों के उत्थान से भी गुप्त-साम्राज्य का पतन हुआ। ये लोग भी प्रारम्भ में गुप्तों के अधीनस्थ शासक थे, पर उनके पतन के बाद इन लोगों ने पुनः पुरानी प्रतिष्ठा कायम करने का प्रयास किया तथा इस सिलसिले में इन्हें मौखरियों से संघर्ष करना पड़ा था।

शक्तिहीन सत्ता को देखकर ही विदेशी आक्रमणकारियों का हौसला बढ़ता है। गुप्तसाम्राज्य जब अपने उत्कर्ष पर था, तब कोई भी विदेशी आक्रमण नहीं हुआ। स्कन्दगुप्त के समय में जब हूणों का आकमण हुआ तो स्कन्दगुप्त ने उनके दाँत खट्टे कर दिये। स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त नरेश कमजोर होते गये और इस कमजोरी से लाभ उठाकर हूणों ने पुनः गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। ४८५ ई० के बाद मध्यभारत पर हूणों ने अपना आधिपत्य कर लिया था। भानुगुप्त बालादित्य और गोपराज ने डटकर उनका सामना किया था। हूणों की शक्ति क्रमशः बढ़ती गयी और उनके लगातार आक्रमण से गुप्तों की शक्ति क्षीण होती गयी जिससे उनका संगठन सम्भव नहीं हो सका।

आन्तरिक दुर्बलता के कारण निर्बल शासक उनका मुकाबला करने में असमर्थ रहे। राज्य प्राप्ति के लिए उनके संघर्ष ने भी साम्राज्य की शक्ति को कमजोर बना दिया था। आन्तरिक झगड़ों और बाह्य आक्रमणों से साम्राज्य के विघटन में काफी सहायता पहुँची। वे न तो शक्तिशाली थे न नीतिनिपुण ही। उनकी अकर्मण्यता या अनभिज्ञता से भी साम्राज्य का पतन निकट आ गया। राजभक्ति का सर्वथा अभाव उस समय हो गया था।

जिनसेन रचित हरिवंश-पुराण के अनुसार गुप्तों का शासन २३० वर्षों (गुप्त-सं० २३१ + ३१९ ई० = ५५० ई०) तक रहा। यही अनुश्रुति एक अन्य जैन ग्रन्थ यति वृषभ रचित तिलोय-पण्णति (त्रिलोक प्रज्ञप्ति) में भी पायी जाती है। पर इससे सम्बन्धित एक दूसरी अनुश्रुति भी है जिसके अनुसार गुप्त शासन शक शासकों के २४२ वर्ष के शासन के बाद २५५ वर्ष तक अर्थात् ४७५ ई० तक रहा। डी० सी०

१. मे० आ० स० इ०, ६६, पृ० ३१।

सरकार एक ही ग्रन्थ में गुप्त शासन का समय वतानेवाली दो अनुश्रुतियों को दो भिन्न परम्परा मानते हैं। उनका कहना है कि एक का सम्वन्ध विहार और उत्तर प्रदेश से गुप्त आधिपत्य के उन्मूलन से है और दूसरे का उसके वंगाल और उड़ीसा से समूल नष्ट हो जाने से है।

अपने भोग्यभूमि मगध से समाप्त हो जाने के वाद वंगाल में गुप्तों के शासन के बने रहने का कोई प्रमाण नहीं है। सुमण्डल ताम्रपत्र के आधार पर इतनी दूर की कल्पना निराधार है। किसी भी समर्थक प्रमाण के अभाव में इस प्रकार का निष्कर्ष निकालना गलत है। हम केवल इस प्रकार कह सकते हैं कि गुप्त साम्राज्य के पतन के सम्बन्ध में प्राचीन-कालीन दो धारणाएँ हैं, एक के अनुसार उसका अन्त ५५०-५१ ई० में और दूसरे के अनुसार ५७४-७५ ई० मे हुआ। इन सवों के अतिरिक्त फ्लीट जिनसेन के काल को ही ठीक मानते हैं और इसके मुताविक गुप्त शासन का अन्त ५५० ई० के लगभग हुआ।

गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद तीन प्रमुख स्थानीय राजाओं का अभ्युदय हुआ—

१. मालवा के गुप्त

२. कान्यकुब्ज के मौखरी

३. वल्लभी के मैत्रक।

दक्षिण के वाकाटक-राज्य भी दो शाखाओं में बँट गया—

उत्तरी शाखा—पृथ्वीसेन प्रथम और रुद्रसेन द्वितीय प्रमुख थे।

वत्सगुल्म शाखा—अन्तिम राजा हरिषेण ने ५०० ई० के लगभग विस्तृत प्रदेशों पर अधिकार कर लिया।

गुप्तकालीन शासन-व्यवस्था

गुप्तवंश के अधिकांश सम्राट् दीर्घजीवी थे। इस कारण उन्होंने स्थिर शासन-व्यवस्था की स्थापना की थी। इस तरह की शासन-व्यवस्था की नितान्त आवश्यकता थी। यवन, शक एवं कुषाणों ने उत्तर भारत में लगातार आक्रमण कर उथल पुथल मचा दिया था और देश के इस बड़े भु-भाग में राजनैतिक अस्थिरता और प्रशासकीय प्रयोग का बोलबाला हो गया था। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद फिर से एक वार भारत में विशाल साम्राज्य की स्थापना का श्रेय गुप्तवंश के शासकों को है। समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त जैसे महान् सम्राटों के नेतृत्व में मगध के लुप्त गौरव का पुनरुद्धार हुआ। भारतीय शासन-पद्धति में कई प्रकार के विदेशी तत्त्व घुस आये थे। गुप्त सम्राटों ने कई तरह से सारे उत्तर भारत में राजनैतिक एकता की प्रतिष्ठा की, विदेशियों के राजनैतिक प्रभाव से देश को स्वतन्त्र किया एवं भारतीय परम्पराओं और धर्मशास्त्रों के आधार पर प्राचीन शासन व्यवस्था के आदर्श एवं रूप को पुनः प्रतिष्ठापित किया।

सामन्तवादी व्यवस्था :—सामन्तवाद का विकास इस काल की विशेषता थी। शासन की दृष्टि से गुप्त साम्राज्य का स्वरूप इस प्रकार का था कि गुप्तवंशी महाराजाधिराज एवं सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकार करते हुये विविध राजा अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करते थे। गुप्त अभिलेखों में बहुत से राजाओं और महाराजाओं का वर्णन मिलता है, जो गुप्त सम्राटों की अधीनता स्वीकार करते थे। इन्हीं को सामन्त एवं महासामन्त श्री कहा गया है। ये अधीनस्थ शासकों के ही समान थे। महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर आदि गुप्त सम्राट् कहलाते थे। महाराज हस्तिन का एक लेख बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है जिसमें वह सम्राट् या महाराजाधिराज के प्रति अधीनता प्रदर्शित करता है, वहाँ दूसरी ओर अपने अधीनस्थ राजाओं और सामन्तों का भी उल्लेख करता है। सम्राटों द्वारा कई महाराजाओं का भी उल्लेख मिलता है। शक्तिशाली सामन्तों की उपाधि 'सामन्त चूड़ामणि' थी। एक अभिलेख में, जो महाराज द्रोण सिंह का है, उसमें सम्राट् द्वारा उसके अभिषिक्त किये जाने का वर्णन है। इसके द्वारा सम्राट् अपने अधीनस्थ महाराज की सत्ता और अधिकार क्षेत्र स्वीकार करता था। सामन्त लोग सम्राट् के दरबार में उपस्थित हुआ करते थे तथा उसके प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करते थे।

साम्राज्य का स्वरूप :—विजय और विस्तार के इस सम्पूर्ण गुप्तकाल में सम्राट् विजित प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने और उनका एकीकरण कर साम्राज्य को प्रभावशाली शासनिक इकाई का रूप देने के प्रति उतने अधिक दिलचस्पी नहीं रखते थे जितना कि वे विजय-अभियानों में प्रदर्शित अजेय पराक्रम द्वारा स्वर्ग में अपने लिए स्थान प्राप्त करने को लालायित थे। इसी कारण से गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत सब प्रदेशों पर गुप्त-सम्राटों का सीधा शासन नहीं था। उनके अन्तर्गत अनेक महाराजा, राजा और गणराज्य थे, जो अपने आन्तरिक शासन में स्वतन्त्र थे। सभी सामन्तों की स्थिति एक समान नहीं थी। आर्यावर्त के सामन्त गुप्त-सम्राट् के अधिक प्रभाव में थे। दूरस्थ सामन्त प्रायः स्वतन्त्र थे और वे केवल सम्राट् की अधीनता स्वीकार करते थे। गणराज्यों की भी यही दशा थी।

गुप्तवंश के सम्राटों के शासन में विद्यमान प्रदेश :—ये भुक्ति और विषयों में शासन की सुगमता के लिये बंटे थे।

आर्यावर्त और मध्यप्रदेश के सामन्त :—सम्राट् की अधीनता में ही सब काम करते थे।

गणराज्य :—ये लोग गुप्तों की ही अधीनता स्वीकार करते थे।

अधीनस्थ राज्य :—दक्षिण के ऐसे राज्य, जिनके राजाओं ने गुप्त सम्राटों के समक्ष सिर झुका दिया था।

सीमावर्त्ती राज्य :—जो उपहार भेजकर और उनकी आज्ञाओं का पालन कर उन्हें प्रसन्न रखते थे। कभी-कभी गुप्त सम्राटों के दरबार में भी ये उपस्थित हो जाया करते थे।

अनुकूल मित्र-राज्य—जो उपहार और कन्यादान आदि उपायों से सम्राट् को प्रसन्न रखते थे।

साम्राज्य इन सभी तत्त्वों को एक साथ लेकर चलता था तथा प्रजा पर वह कोई कठोर अंकुश नहीं रखता था। वरन् शांतिमय उपायों से काम लेता था। फाहियान के विवरण से यह पता चलता है कि साम्राज्य में सर्वत्र पूर्ण शान्ति का राज्य था।

केन्द्रीय शासन-प्रणाली :—राजा या सम्राट् केन्द्रीय शासन-प्रणाली का सर्वोच्च अधिकारी था। यह पद वंशानुगत होता था पर यह आवश्यक नहीं था कि ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी बने। चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त को उसके गुणों के ही कारण अपना उत्तराधिकारी बनाया था। समुद्रगुप्त ज्येष्ठ पुत्र नहीं था। गुप्त सम्राट् बड़ी-बड़ी उपाधियों से विभुषित होते थे जिनमें महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभागवत, परमदैवत, सम्राट्, चक्रवर्त्ती, परमभट्टारक आदि प्रमुख थे। समुद्रगुप्त के एक शिला-लेख में उसे 'लोकधाम्नो देवस्य' कहा गया है। यदि कुषाण सम्राट् देवपुत्र थे, तो गुप्त सम्राट् परमदैवत या परमेश्वर थे। वे भगवान के समान थे। इसका मतलब यह हुआ कि गुप्त सम्राट् अपने को ईश्वर के समान ऐश्वर्यशाली एवं शक्तिमान समझते थे। इलाहाबाद अभिलेख में समुद्रगुप्त को यम, वरुण और इन्द्र के समान माना गया है। मंजुश्रीमूलकल्प से तो ऐसा पता चलता है कि गुप्त राजाओं की पूजा भी की जाती थी। अतः ऐसा हम कह सकते हैं कि गुप्तकाल में सम्राट् के पद की प्रतिष्ठा एवं गरिमा अधिक बढ़ गयी थी। उन्हें देव या देव समान माना जाता था। सम्राट् को जनता के पालन एवं रक्षण के प्रसंग में उन्हें विष्णु के समान कहा गया है। शासकों के लिए यह आवश्यक था कि वे लोक व्यवहार का अनुसरण करें। गण, श्रेणी आदि जन-संस्थाओं के हाथ में भी राजा के बहुत कुछ अधिकार बँटे हुये थे। उनके निर्णयों का राजा को न केवल समर्थन ही करना होता था वरन् उसे कार्यान्वित करने का अधिकार राजा को ही था। गुप्त सम्राटों ने अपनी वैयक्तिक शक्ति, साहस और प्रताप से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी।

मन्त्री या अमात्य :—शासक के लिए अपने सारे अधिकृत क्षेत्र पर एवं समस्त प्रजा पर अकेले शासन एवं नियन्त्रण करना असम्भव था। अतः उसके

लिए यह आवश्यक था कि वह अपना शासन अनेक लोगों की सहायता से करे। अतः इस प्रकार के राज सहायकों को अमात्य या मन्त्री कहा जाता था। इनकी कोई संख्या निश्चित नहीं थी। इनका मुख्य काम राजा की सहायता करना तथा मन्त्रणा देना होता था। गुप्तकुल में मन्त्रियों का पद बहुधा कुलागत होता था। करमदण्डा अभिलेख से पिता-पुत्र दोनों के गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत मन्त्री-कुमारामात्य होने की बात ज्ञात होती है। पर्णदत्त और चक्रपालित पिता और पुत्र दोनों ही स्कन्दगुप्त के अधीन अधिकारी थे। इसी प्रकार पुण्ड्रवर्धन भुक्ति के दत्त नामान्त उवरिकों की सूची से यह लगता है कि वे लोग भी एक ही कुल के थे। एक मन्त्री एक से अधिक विभागों के कार्यों का भीं संचालन करता था। इसका सबसे महत्त्व का उदाहरण हरिषेण का है जिसने कुमारामात्य, सन्धिविग्रहिक होने के साथ-साथ महादण्डनायक भी था। उसका पिता ध्रुवभूति भी महादण्ड-नायक था। पी० एल० गुप्त की यह धारणा है कि किसी अधिकारी को एक से अधिक पद देने के पीछे दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो विश्वस्त व्यक्तियों का अभाव, दूसरे वेतन-व्यय में मितव्ययिता।[1] शाबवीरसेन अपने समय का प्रकाण्ड पण्डित था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने आम्रकार्दव नामक एक योग्य एवं समरजेता व्यक्ति को उच्च पद पर नियुक्त किया था। मन्त्री शिखरस्वामी का पुत्र पृथ्वीसेन कुमारगुप्त का मन्त्री था। बी० पी० सिन्हा वंशानुगत परिपाटी को ठीक नहीं मानते। उनका कहना है कि कमजोर राजाओं के समय में प्रभावशाली राज्या-धिकारी परिवार अपने राजनैतिक प्रभाव एवं अधिकार स्थापित करने में प्रोत्साहित एवं समर्थ हो सकते थे।[2]

मन्त्रिपरिषद् :—मौर्यों के समय में जिस प्रकार की मन्त्रिपरिषद् थी उसी प्रकार गुप्तों के समय में भी थी, पर इसकी रचना एवं कर्त्तव्यों के विषय में पूरा उल्लेख नहीं मिलता। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से एवं प्राचीन भारतीय राजनीति ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि राज्य के प्रधान को चाहिये कि वह अपने राज्य का शासन मन्त्री, सचिव अथवा अमात्य की सहायता से करे। अर्थ-शास्त्र में ऐसा लिखा गया है कि एक अकेला पहिया कभी नहीं चल सकता, अतएव राजा को चाहिए कि वह मन्त्रियों की नियुक्ति करे और उसके सत्परामर्शों पर ध्यान दे। उनका मुख्य काम शासन में सम्राट् की सहायता करना होता था। उन्हें गूढ़ विषयों पर विचार करना, किसी ज्ञात विषय पर समुचित निर्णय पर पहुँचना, यदि किसी विषय पर कोई सन्देह उत्पन्न हो तो उसको दूर करना, और ऐसे विषयों

---

१. गुप्तसाम्राज्य, पृ० ३८०
२. प्रा० भा० का इ०, पृ० ३३६

के जिसकी पूरी जानकारी न हो, तह तक पहुँचना होता था। मन्त्रियों का पद राजाओं के समान प्रायः पैतृक होता जा रहा था और ऐसे ही लोग मन्त्री हो सकते थे जो सम्भ्रान्त कुल के, सदाचारी वीर, विद्वान्, निष्ठ और राजनीति के ज्ञाता हों। राजा एवं मन्त्रिगण की सम्मिलित रूप से एक सभा होती थी जिसका प्रधान राजा होता था। प्रत्येक विभाग का मुख्य अधिकारी एक मन्त्री हुआ करता था। पर कभी-कभी मन्त्रियों पर विभिन्न विभागों का भार रहता था। मन्त्री लोग सम्राट् के साथ युद्ध भूमि में भी जाया करते थे। मन्त्रि-परिषद् के कारण राज्य-प्रबन्ध सुचारुरूप से होता था। सान्धिविग्रहिक मन्त्रि-परिषद् का एक प्रमुख सदस्य था। केन्द्रीय शासन कई विभागों में संगठित था जिनका प्रबन्ध प्रधानमन्त्री, अमात्य, कुमारामात्य, युवराज कुमारामात्य आदि अधिकारी करते थे। मन्त्रियों के लिए 'सचिव' या 'मन्त्रिन्' शब्द का प्रयोग प्रायः किया गया है। 'सचिव' को ही 'अमात्य' कहा जाता था। यह बात रुद्रदामन के अभिलेख से स्पष्ट हो जाता है जिसमें अमात्य के साथ-साथ मति-सचिव और कर्म-सचिव का उल्लेख है।[1] कामन्दक ने भी अमात्य और सचिव में किसी प्रकार का भेद नहीं माना है।[2] इन सबों से यह निष्कर्ष निकलता है कि मन्त्री, अमात्य और सचिव से भिन्न होते थे। वे चतुर, सत्यवादी, कूटनीतिज्ञ, राज्य के भीतर का ऐसा निवासी, जो आकर्षक व्यक्तित्व और स्वस्थ शरीर वाला, सच्चरित्र, मेधावी और उत्साही हों उसके लिये यह भी आवश्यक था कि वह शत्रु तक पहुँच सकता हो, समय पर काम आने वाला हो एवं सभी प्राकृतिक विपत्तियों को सह सकता हो।

मन्त्रि-परिषद् का संगठन किस प्रकार होता था, उसका कुछ भी जिक्र नहीं मिलता है। कामन्दक गुप्तकालीन मन्त्रि-परिषद् के संगठन पर मौन हैं। अर्थशास्त्र में राजा के तीन या अधिक मन्त्रियों से मन्त्रणा करने की बात कही गयी है। महाभारत में इसकी संख्या आठ बतायी गयी है। कामन्दक से हमें केवल इस बात की पुष्टि मिलती है कि मन्त्रिमण्डल में एक पुरोहित भी होता था। मन्त्रियों का एक महत्त्वपूर्ण काम था परिषद् में हुए विमर्श और निर्णय को गुप्त रखना। इसके लिये मन्त्रिमण्डल की बैठकें राजमहल के सबसे ऊपरी भाग में हुआ करती थी। मन्त्रिपरिषद् मात्र परामर्शदात्री थी। पर उसके परामर्श की उपेक्षा करने के लिये राजा सम्भवतः स्वतन्त्र न था। मन्त्रिपरिषद् का उल्लेख कालिदास की रचनाओं में भी मिलता है।

केन्द्रीय शासन-प्रणाली के विभिन्न विभागों को अधिकरण कहा जाता था। सम्राट् के बाद सबसे ऊँचा स्थान युवराज का होता था। साम्राज्य के मुख्य पदों

१. ए० इ०, ८, पृ० ४२, पंक्ति १७।
२. नीतिसार ४।२५–२७, ३४।

पर काम करने वाले अधिकारियों को कुमारामात्य कहा जाता था। ये राजघराने के हुआ करते थे। शासन-सूत्रों का संचालन इन्हीं के हाथों में था। प्रत्येक अधिकरण की अपनी-अपनी मुद्रा होती थी। मन्त्री सिविल शासन का अध्यक्ष होता था। गुप्तकालीन अभिलेखों से विभिन्न राजकर्मचारियों का पता लगता है :—

महाबलाधिकृत :—इसका दूसरा नाम महासेनापति था। सम्राट् स्वयं सेना का संचालन करते थे, पर उनके अधीन महासेनापति हुआ करता था। इसका मुख्य काम साम्राज्य के विभिन्न भागों में सैन्यसंचालन करना होता था। महाबलाधिकृत का पद सम्भवतः सातवाहन राजाओं के कर्मचारी 'महासेनापति' से मिलता-जुलता था। उसके अधीन महाश्वपति (अश्वारोही सेना का निरीक्षक), भटाश्वपति (अश्वारोही सेना का निरीक्षक), महापीलपति (हाथियों की सेना का अध्यक्ष), सेनापति और बलाधिकृत नामक सैन्य अधिकारी होते थे। सेना, छावनी और व्यूह-रचना के विभागों का अधिकार इसी के हाथ में था। वैशाली लेख में 'बलाधिकृत' शब्द का उल्लेख है और वह सम्भवतः सैनिकों की नियुक्ति करता था। गुप्त लेख में 'महाबलाधिकृत' और 'महाबलाध्यक्ष' का प्रयोग मिलता है।

महादण्डनायक—महादण्डनायक का पद मूलतः कुषाणों एवं तेलगू देश के इक्ष्वाकु नरेशों की शासन-व्यवस्था से ग्रहण किया गया था। इसके अधीन अनेक दण्डनायक होते थे जिनके ऊपर वह अपना नियन्त्रण रखा करता था। महासेनापति भी इसका दूसरा नाम था। युद्ध के अवसर पर सेना का नेतृत्व करना इसका मुख्य काम था। सेना के तीन विभाग थे—पदाति, घुड़सवार और हाथी। इसके अधीन महाश्वपति, अश्वपति, महापीलुपति, पीलुपति आदि अनेक सेनानायक रहते थे। सैनिक को 'चाट' एवं सेना की छोटी टुकड़ी को 'चमू' कहा जाता था। चमू का नायक 'चमूप' कहलाता था। युद्ध में परशु, शर, अंकुश, शक्ति, तोमर आदि अस्त्रों का प्रयोग होता था। महादण्डनायक न्यायाधीश भी होता था।

महाप्रतिहार—यह राजप्रासाद का प्रमुख कर्मचारी था एवं वह कई प्रतिहारों का निरीक्षक होता था।

महासन्धिविग्रहिक—सर्वप्रथम गुप्त लेखों से ही हम इसका नाम जानते हैं। यह एक उच्च पदाधिकारी था। यह युद्ध और सन्धि का मन्त्री था। यह पर राष्ट्र मन्त्री के रूप में पड़ोसी राज्यों, गणराज्यों और सामन्तों के साथ सन्धि या विग्रह की नीति का अनुसरण करता था। इसे सन्धिविग्रहिक एवं 'सान्धि-विग्रहाधिकरणाधिकृत' भी कहा जाता था। राजा और सैन्य-विभाग के पूरे सहयोग द्वारा ही वह अपने कर्त्तव्यों का संचालन करता था एवं वह सम्राट् का अत्यन्त विश्वासी और प्रियपात्र होता था। साम्राज्य की नीति-निर्धारित करने में उसका महत्त्वपूर्ण हाथ था।

दण्डपाशिक—पुलिस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी दण्डपाशिक कहलाता था। उसके अधीन अनेक कर्मचारी होते थे जिनमें खुफिया विभाग का अधिकारी, 'चोरोद्धरणिक' 'दूत' आदि प्रमुख थे। पुलिस के साधारण सैनिक को भट कहते थे। इसका दूसरा नाम दण्डपाशाधिकरणिक भी था।

विनय स्थिति-स्थापक—यह मौर्य काल के धर्ममहामात्र की ही तरह होता था। देश के अन्दर धर्म नीति की स्थापना, जनता के चरित्र को उज्ज्वल बनाना और विविध सम्प्रदायों में मेल-जोल रखना उसका कार्य होता था। उसे शान्ति और व्यवस्था का मन्त्री भी कहा गया है।

भाण्डागाराधिकृत—यह कोष विभाग का अध्यक्ष होता था।

महाक्षपटलिक—यह राज्य के सब आदेशों का रिकार्ड रखता था। उसे राजकीय आय-व्यय का लेखा-जोखा भी रखना पड़ता था।

सर्वाध्यक्ष—यह सम्भवतः साम्राज्य के केन्द्रीय विभाग का प्रधान अधिकारी होता था।

पुस्तमाल—यह सम्भवतः महाक्षपटलिक का सहायक होता था।

अग्रहारिक—यह दानाध्यक्ष होता था।

ध्रुवाधिकरण—राज्य-कर को वसूल करने के लिये एक अलग विभाग था जिसे ध्रुवाधिकरण कहा जाता था। इस विभाग के अन्तर्गत शौल्किक (भूमि कर वसूल करने वाला), गौल्मिक (जंगलों की आय वसूल करने वाला), तलवाटक एवं गोप आदि अनेक कर्मचारी होते थे।

उपर्युक्त राज्य कर्मचारियों की सहायता एवं मन्त्रिमण्डल के विभिन्न विभागों के सम्मिलित प्रयास से ही केन्द्रीय शासन का सफल संचालन होता था। मन्त्रिमण्डल की राय से राजा शासन करता था। राजाज्ञा पर सरकारी मुहर होती थी एवं सन्धिपत्रों तथा सनदों पर गरुड़ का चिह्न। राजाज्ञा सुनाने के लिए आज्ञापक के समान दूतक भी होता था जिसे राजा का मुख कहा जाता था। राजप्रासाद का विभाग बहुत विशाल होता था। उसके विविध कामों को महाप्रतिहार और प्रतिहार सँभालते थे। इन लोगों के लिये 'विनयशूर' की उपाधि वैशाली की एक मुद्रा में मिली है। गुप्त-लेखों में 'स्थपित सम्राट्' नामक एक कर्मचारी का उल्लेख मिलता है जिसका सम्बन्ध सम्भवतः स्त्री-विभाग से था। राज-दरबार में चारण भी हुआ करता था जिसके लिए 'प्रतिनर्तक' शब्द का प्रयोग हुआ है। राजा के प्राइवेट सेक्रेटरी भी हुआ करते थे। युवराज भट्टारक और युवराज के पदों पर राजकुल के ही व्यक्ति नियुक्त किये जाते थे। राजा का सबसे बड़ा लड़का युवराज भट्टारक और अन्य लड़के युवराज कहलाते थे। कुमारामात्य के रूप में कार्य करने

वाला युवराज कुमारामात्य कहलाता था एवं सम्राट् के साथ काम करने वाले युवराज परमभट्टारक पादीय कुमारामात्य कहलाते थे। युवराज भट्टारक के साथ काम करने वाले युवराज भट्टारक पादीय कुमारामात्य कहलाते थे। रालकुमार विभिन्न प्रमुख पदों पर नियुक्त किये जाते थे।

न्याय-विभाग :—गुप्त काल में न्याय का कार्य सम्राट् स्वयं करता था। वह न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था। पर इसका यह अर्थ नहीं कि इतने विशाल साम्राज्य का सारा न्याय का कार्य अकेले सम्राट् करता था। नीति एवं स्मृति ग्रन्थों से यह स्पष्ट होता है कि न्याय का विधान पक्षपात रहित होता था। उस समय न्यायालय चार प्रकार के होते थे—कुल, श्रेणी, गण तथा राजकीय न्यायालय। प्रथम तीन प्रकार के न्यायालय जनता के और चौथा सरकारी था। न्यायाधीश विद्वान हुआ करते थे। प्रत्येक न्यायालय अपनी सीमा में स्वतन्त्र था। पर नीचे के न्यायालयों की अपील ऊपर के न्यायालयों में हो सकती थी। राजा के हाथ में न्याय का अन्तिम अधिकार था। इस काल में संभवतः जूरी की प्रथा थी जो दक्षिण भारत में वहुत अधिक प्रचलित थी। समुद्रगुप्त के समय में हरिषेण प्रधान न्यायाधीश था। शिखरस्वामी भी न्याय का पण्डित था। वैशाली-मुद्रा लेख के अनुसार न्याय विभाग के मुख्य अधिकारी को विनय-स्थिति-स्थापक (नियम और व्यवस्था स्थापित करने वाले) कहा जाता था। इसके अतिरिक्त गुप्त लेखों में दण्डनायक, महादण्डनायक, सर्वदण्डनायक, महासर्वदण्डनायक आदि न्याय-अधिकारियों के नाम मिलते हैं। फाह्यान के विवरण के अनुसार उस काल में अपराध कम होते थे तथा दण्ड कोमल दिया जाता था। जल अथवा अग्नि-परीक्षा द्वारा भी न्याय होता था। प्राण दण्ड और शारीरिक दण्ड नहीं दिये जाते थे। अपराध के अनुसार कम या अधिक अर्थ-दण्ड दिया जाता था। बार-बार राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र करने पर दाहिना हाथ काट लिया जाता था। बड़े-बड़े अपराधों के लिये बड़े-बड़े जुर्माने होते थे और साधारण अपराधों के लिये साधारण जुर्माने होते थे। इससे मालूम होता है कि गुप्तों के समय में न्याय-व्यवस्था बहुत उदार थी और लोग नियम का पालन करते थे। शारीरिक दण्ड देने वाले कर्मचारी को दाण्डिक कहा जाता था। पुलिस प्रशासन बहुत ही उच्चकोटि का था क्योंकि फाह्यान को चोर डाकुओं से मुलाकात नहीं हुई थी। पुलिस के बड़े पदाधिकारियों को दण्डपाशाधिकरण और दण्डपाशिक कहते थे।

राजस्व :—गुप्त-साम्राज्य बड़ा ही विशाल था। इसे संगठित तथा सुव्यवस्थित रखने के लिये अपार धन की जरूरत थी। कुछ अभिलेखों से पता चलता है कि इस युग में लगभग अट्ठारह प्रकार के कर लगाये जाते थे पर इन करों के नामों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। इन करों में भूमि-कर प्रधान था।

सबसे अधिक आय भूमि-कर से होती थी। भूमि का नियमित माप होता था और खेतों के मालिक, सीमा आदि का विवरण रखा जाता था। उपजाऊपन के आधार पर भूमि की कई श्रेणियाँ थीं—नाल (खेतिहरभूमि), खिल (परती), वास्तु (बस्ती), अप्रहत (बिना जोती हुई), अप्रदा (जिससे सरकार को कोई आय नहीं होती थी)। मुख्य भूमि-कर को 'उद्रंग' कहा जाता था। नियमित कर के अन्तर्गत उपरिकर (भोग कर), भूतोवात प्रत्याय, विष्टी तथा अन्य प्रकार के कर थे। भूमि-कर को कहीं-कहीं भाग कर भी कहा जाता था। भाग कर शब्द से ही स्पष्ट है कि यह कर अनाज के रूप में ही लिया जाता था। राजा उपज का छठा भाग कर के रूप में लेता था। अधिक उपज होने पर राज्य को अधिक कर मिलता था और कम उपज होने पर कम कर मिलता था। अतएव फसल के हो जाने पर छूट का प्रश्न नहीं उठता था। भूमि-कर संग्रह के लिये ध्रुवाधिकरण था और भुमि सम्बन्धी लेखों को सुरक्षित रखने के लिये पुस्तपाल, महाक्षपटलिक तथा करणिक थे। भूमि को नापनेवाले कर्मचारी को 'प्रमातृ' तथा सीमा निर्धारित करने वालों को 'सीमाकार' या 'सीमा प्रदातृ' कहते थे। 'उपरिकर' राजा के व्यक्तिगत उपयोग के लिये सामान के रूप में प्रजा से वसूल होता था। अन्य करों के नाम धान्य (अनाज के रूप में), हिरण्य (सोने आदि धातुओं पर), चाट-भट प्रवेश कर (पुलिस और सेना कर) पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त उस समय के समृद्ध व्यापार से सरकार को आयात-निर्यात कर तथा चुँगी के रूप में काफी आय होता था। इसे संभवतः भोग-कर कहते थे। कुछ चुंगी माल के कुछ अंश के रूप में ले ली जाती थी। इसी में से कुछ गाँव तथा नगर के कर्मचारियों को वेतन के रूप में दे दिया जाता था। जो वस्तुएँ देश में बनती थी उनपर भी कर लगता था। इसे 'भूत-प्रत्याय' कहते थे। जो भूमि वेकार पड़ी रहती थी, उससे जंगलों, चरागाहों तथा नमक की खानों से भी राज्य को धन प्राप्त हो जाया करता था। जब केन्द्रीय सरकार के कर्मचारी गाँवों अथवा नगरों के निरीक्षण के लिये जाते थे तब ग्रामीणों एवं नगरवासियों को अतिरिक्त कर देने पड़ते थे। उन्हें इन कर्मचारियों को चावल, दूध, दही, तरकारी, लकड़ी, बाँस, फूल तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ मुफ्त देनी पड़ती थी। उनके आवागमन के लिये मजदूर, गाड़ी एवं बैलों का भी प्रबन्ध करना पड़ता था। अपराध का पता लगाने के वास्ते जब कभी पुलिस अथवा सेना के अधिकारी जाते थे तब उस स्थान के लोगों को इन अधिकारियों के खर्च का भार सहन करना पड़ता था। अधीनस्थ राजाओं एवं सामन्तों से भी भेंट तथा कर के रूप में राज्य को धन प्राप्त होता था। विष्टि के रूप में मजदूरों से बेगार काम करवाया जाता था। प्राकृतिक आपत्तियों के समय में नये-नये कर लगाये जाते थे। ऐसी दशा में मन्दिर तक को कर देना पड़ता था।

न्यायशुल्क, अर्थदण्ड, माण्डलिक राजाओं से कर उपहार आदि भी राजस्व में सम्मिलित थे। सरकारी कामों और व्यापार में सुवर्ण, दीनार आदि सिक्कों का प्रचलन था। छोटे-मोटे क्रय-विक्रय में कौड़ियाँ भी प्रचलित थीं जिनका विवरण फाह्यान के लेखों में है।

भूमि सम्बन्धी झगड़ों के निबटारे के लिये राजा की ओर से न्यायाधिकरण नियुक्त रहता था। कृषि की अवस्था में सुधार हो सके, इसके लिये कुएं, तालाब और नहरों का निर्माण किया जाता था। दान में मिली भूमि बेची नहीं जाती थी वरन् उसकी उपज से दान का उद्देश्य पूरा हो सके। भूतोवात प्रत्याय के विषय में इतिहासकारों में मतभेद है। यह एक प्रकार का कर था जो भीतर आनेवाली तथा उस स्थान पर पैदा होनेवाली वस्तुओं पर लगाया जाता था। अल्तेकर ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"अस्तित्व में आनेवाली वस्तु पर कर।"[1] इस तरह उनके अनुसार यह राज में बननेवाली वस्तुओं पर लगनेवाला कर था। ग्रामों से प्राप्त होनेवाली आय 'ग्राम प्रदाय' का वर्णन नालन्दा और गया ताम्रपत्रों में है जिसमें 'मेय' और 'हिरण्य' का प्रयोग किया गया है। मेय तौलकर दिया जानेवाला अन्न और हिरण्य नकद का द्योतक था।

व्यय:—कामन्दक के अनुसार राजकीय व्यय द्वारा राजा त्रिवर्ण की उपलब्धि करता था। राजप्रबन्ध में काफी पैसे व्यय किये जाते थे। राजा की ओर से राजकर्मचारी वेतन पाया करते थे। सेना एवं पुलिस पर काफी व्यय होता था। प्रजा के कल्याण के लिये काफी धन का व्यय होता था। सिंचाई और जल की व्यवस्था के लिये कुएँ, तालाब और नहरों का प्रबन्ध किया जाता था। राजा की ओर से मन्दिर भी बनाये जाते थे एवं उन मन्दिरों में शिक्षा का प्रबन्ध रहता था। अग्रहार के रूप में मन्दिरों तथा ब्राह्मणों को भूमि बहुत बड़े परिमाण में दान दी जाती थी। दानाध्यक्ष दान के लिये सरकारी अधिकारी था। अग्रहार भूमि को 'ब्रह्मदेय', 'देवदेय' कहा जाता था। आवागमन की सुविधा के लिये सड़कें बनवायी जाती थीं। रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा के लिये स्थान-स्थान पर औषधालय बने हुये थे। राज्य में धर्मशालाओं और पाठशालाओं की भी व्यवस्था थी, राजा प्रजाहित के कामों में काफी तत्पर रहते थे जिनके लिये सरकारी खजाने से काफी खर्च हुआ करता था। देश की आन्तरिक रक्षा और शान्ति-स्थापना में भी काफी खर्च करना पड़ता था।

सैन्य-संगठन:—गुप्त-काल साम्राज्यवाद का युग था। इस काल में कई वीर विजेता हुये जिन्होंने साम्राज्य का विस्तार किया। इस कार्य की पूर्त्ति एक

---

१. वाकाटक-गुप्त एज, पृ० २९१

बिशाल सेना द्वारा ही हो सकती थी। सेना विभाग के मुख्य अधिकारी को सन्धि-विग्रहिक कहते थे जिसे सन्धि और विग्रह करने का अधिकार था। इसके अधीन महासेनापति अथवा महादण्डनायक (प्रधानसेनापति), बलाधिकृत (सैनिकों की नियुक्ति करने वाला अधिकारी), रणभाण्डागारिक (सैनिक सामानों का अधिकारी), भटाश्वपति (पैदल और घुड़सवारों का अध्यक्ष) आदि अधिकारी होता था। सेना का कार्यालप 'बलाधिकरण' कहलाता था। इस काल में रथों का प्रयोग बहुत कम हो गया था। सेना के प्रधान अङ्ग हाथी, घोड़े तथा पैदल होते थे। सेना में किसी जाति-विशेष की ही भर्त्ती नहीं होती थी। बहुत से राज्यों की सेनाओं के सेनापति ब्राह्मण थे। सम्राट् की एक परम्परागत सेना होती थी। इसके अतिरिक्त स्थानीय एवं सामन्तों की सेनाएँ होती थी जिनका मुख्य काम आपत्ति के समय सहायता करना होता था।

देश की आन्तरिक रक्षा और शान्ति स्थापना के लिए आरक्षा विभाग का संगठन हुआ था। रक्षा विभाग में छिपकर अपराधों का पता लगानेवाले गुप्तचर भी होते थे। गुप्तों के समय में रक्षा का सफल प्रयत्न था।

प्रान्तीय शासन :—सारा गुप्त-साम्राज्य शासन की सुविधा के लिये कई इकाइयों में बंटा हुआ था। सबसे बड़ा विभाग प्रान्त था जिसको 'देश' या 'भुक्ति' कहते थे। प्रान्तीय शासक को 'गोप्ता', 'भोगिक', 'भोगपति', 'उपरिक महाराज' और 'राजस्थानीय' कहा जाता था। आन्तरिक शान्ति बनाये रखने के अलावे गोप्ता को बाह्य आक्रमणों के प्रति भी सजग रहना पड़ता था। इनकी नियुक्ति सम्राट् बहुत ही सूझबूझ के बाद करता था। स्कन्दगुप्त ने सुराष्ट्र के गवर्नर प्रणदत्त को बहुत सोच-विचार कर उसकी योग्यता को ध्यान में रखकर नियुक्त किया था। इनका मुख्य काम अपनी राज्य-सीमा में शान्ति-स्थापना करके सार्वजनिक हितों के कार्य करना था। प्रान्तीय शासक की मदद के लिये अनेक अधिकारी वर्ग थे। उसे इस बात का अधिकार प्राप्त होता था कि अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की वह नियुक्ति करे। प्रान्तीय शासक अधिकांशतः राजकुल से सम्बन्धित होते थे। जितने भी शासन-विभाग साम्राज्य की राजधानी में होते थे, वे सभी 'भुक्ति' या 'देश' की राजधानी में भी होते थे। प्रान्तीय शासन की रचना सम्भवतः केन्द्रीय शासन के नमूने के आधार पर की गयी थी। प्रान्तीय शासकों की अवधि आज की भाँति निश्चित कर दी गयी थी और ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यह अवधि कम से कम पाँच वर्ष अवश्य होती थी। प्रान्तों से छोटा विभाग 'प्रदेश' कहलाता था जिसका दूसरा नाम भोग भी था जो आजकल की कमिश्नरी-डिवीजन के बराबर था। इससे छोटा विभाग विषय कहलाता था जो जिले के समकक्ष था। विषय के सर्वोच्च अधिकारी को 'विषयपति' कहा जाता था जिसकी नियुक्ति सम्राट् प्रान्तीय

शासक उपरिक महाराज की सलाह से करता था। दामोदरपुर (बंगाल) ताम्रपत्र से विषय की शासन-व्यवस्था का पता चलता है। विषयपति एक परिषद् की सलाह से शासन करता था। कोट्टिवर्ष, राजगृह, गया प्रमुख विषय थे। विषय कई 'नय' में बँटे हुये थे और उसके जनपदों का एक 'नय' होता था और अनेक ग्रामों का एक जनपद। इसके अतिरिक्त वीथी (तहसील या परगना), मण्डल (ग्राम-समूह), पेढक, पार्श्व, ग्राम पत और अग्रहार होते थे जिनके विषय में हम कुछ नहीं कह सकते हैं। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम था जिसका मुख्य अधिकारी ग्रामिक; महत्तर अथवा भोजक होता था। प्रान्तीय एवं स्थानीय शासन अनेक प्रकार के अधिकारियों द्वारा होता था। ग्रामिक मौर्यकाल की तरह एक राजकर्मचारी था।

गुप्तकाल में निम्नलिखित युक्तियों और प्रान्तों के नाम मिलते हैं। उत्तरी बंगाल और बिहार के पूर्णिया जिले का कुछ भाग पुण्ड्रवर्धन भुक्ति कहलाता था। यहाँ कर्ण कायस्थवंशीय उपरिक महाराज जयदत्त और ब्रह्मदत्त का वर्णन मिलता है। बंगाल का ही एक भाग वर्धवान भुक्ति था, जहाँ महाराज विजयसेन का नाम मिलता है। इसके अतिरिक्त तिरभुक्ति (तिरहुत), मन्दसोर, कौशाम्बी (मध्य-प्रदेश) सौराष्ट्र, मगध या श्रीनगर भुक्ति एवं नव्यावकाशिक भुक्ति की जानकारी हमें मिलती है। तिरभुक्ति में गोविन्दगुप्त, सौराष्ट्र में पर्णदत्त एवं नव्यावकाशिक में नागदेव, पुण्ड्रवर्धन में त्रिरात्दत्त और मन्दसोर में बन्धुवर्मा नाम के राज्यपाल थे। इन राज्यपालों के लिये 'उपरिक महाराज राजपुत्र देवभट्टारक' पदवी का भी उल्लेख मिलता है। ये राजा के प्रतिनिधि हुआ करते थे एवं इनकी नियुक्ति राजा स्वयं करता था। प्रान्तीय स्तर पर एक परिषद् होती थी जिनमें विभिन्न विभागाध्यक्ष रहते थे।

जिले का शासन :—प्रान्त विषयों में विभक्त किये गये थे। विषय बड़े भू-भाग को कहते थे और उसके अन्तर्गत अनेक ग्राम हुआ करते थे। विषय के सबसे प्रधान अधिकारी को विषयपति (तन्नियुक्तक) कहा जाता था। इसकी नियुक्ति बहुधा 'गोप्ता' 'उपरिक महाराज' या प्रान्तीय शासक करता था जिस कारण वह सीधे प्रान्तीय शासक के प्रति उत्तरदायी था। विषयपति के लिये 'कुमारामात्य' की पदवी लेखों में मिलती है। उसका प्रधान कार्यालय अधिष्ठान कहलाता था। विषयपति के कार्यों में सहायता देने के लिये भी स्थानीय प्रतिनिधियों की एक समिति होती थी। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित सदस्यों की एक गैर-सरकारी परामर्श समिति थी जिनमें नगरश्रेष्ठी (नगर का प्रधान सेठ अथवा श्रेणी प्रमुख), सार्थवाह (नगर का प्रमुख व्यवसायी अथवा व्यापारियों के संघ का प्रधान), प्रथम कुलिक (प्रधान शिल्पी अथवा शिल्प संघ का प्रधान), प्रथम कायस्थ (प्रधान लेखक) एवं पुस्तपाल (संग्रहाधिकारी) सदस्य के रूप में सलाह

दिया भरते थे। पुण्ड्रवर्धन भुक्ति में कोट्टिवर्ष नामक एक प्रमुख विषय था, जिसका अधिकारी स्वयम्भूदेव था तथा वह उपर्युक्त पाँच सदस्यों की सामान्य समिति की सहायता से कार्य करता था। खण्ड चार और वंचनगर विषयों के भी नाम मिले हैं। मल्लसारुल-शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि वर्धमानभुक्ति के अन्तर्गत अनेक प्रशासकीय विभाग थे, जो अपने-अपने अध्यक्षों के अधीन थे जिनमें विषयपति भी एक था। नव्यावकाशिकभुक्ति में वराकमण्डल नामक एक विषय गोपालस्वामी विषयपति के अन्तर्गत था। पाटलिपुत्र में राजगृह, गया और क्रिमिला विषय थे। वैशाली भी एक विषय था।

विषय के शासनाधिकारियों की कार्यविधि भी कम-से-कम पाँच वर्ष अवश्य होती थी। पुस्तपाल को छोड़कर अन्य चार अधिकारियों द्वारा एक मन्त्रिमण्डल का निर्माण होता था जिसका अध्यक्ष विषयपति होता था। शासन के कार्यों में विषय-पति अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से परामर्श लिया करता था जिससे यह सिद्ध होता है कि नगर-शासन में लोकमत का भी कुछ हाथ रहता था। मन्त्रि-मण्डल के सदस्य नगर की जनता के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे। विषयपतियों का गुप्त शासन में बड़ा महत्त्व था। उनका मुख्य काम अपने विषय में सुरक्षा, शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करना था। उसके अधीन सरकारी करों को एकत्र करने के लिए अनेक कर्मचारी रहते थे जिनमें **युक्त, आयुक्त** एवं **नियुक्त** प्रमुख थे। **दण्डपाशिक, चौरोद्धरणिक, आरक्षाधिकृत** एवं **दण्डनायक** विषयपति के अधीन रहा करते थे। **पुस्तपाल** का मुख्य काम भूमि के क्रय-विक्रय की सारी व्यवस्था करनी थी। भूमि का क्रय तभी सही माना जाता था, जब **पुस्तपाल** क्रेता का आवेदन-पत्र पाकर विक्रय सम्बन्धी भूमि का स्वामित्व निर्णय कर लेता तथा अपनी रिपोर्ट सरकार को भेज देता। **कुमारामात्याधिकरण, युवराज-पदीय कुमारामात्य, युवराजभट्टारक पदीय कुमारामात्य, परमभट्टारक पदीय कुमारामात्य** आदि विषयपति की उपाधियाँ हैं। इसके प्रमुख कर्मचारी **शौल्किक, गौल्मिक, पुस्तपाल** एवं **करणिक** थे। एक गुप्त अभिलेख में एक विषयपति एवं उसके अन्य कर्मचारियों का नाम लिखा हुआ इस प्रकार पाया गया है :—

कुमारामात्य वेत्रवर्मन्	—	विषयपति
धृतिपाल	—	नगरश्रेष्ठी
बन्धुमित्र	—	सार्थवाह
धृतिमित्र	—	प्रथम कुलिक
शाम्बपाल	—	प्रथम कायस्थ
रिसिदत्त, जयनन्दि, विभुदत्त	—	पुस्तपाल

स्थानीय शासन :—स्थानीय शासन के अन्तर्गत नगर एवं ग्राम का शासन आता था। उस काल में तक्षशिला, उज्जैन, मन्दसोर, पाटलिपुत्र आदि प्रमुख नगर थे जिनके शासन के लिये नगरपालिकाओं का प्रवन्ध था। स्वास्थ्य और स्वच्छता आदि विषयों के समुचित व्यवस्था के लिए प्रत्येक मुख्य नगर में एक सभा होती थी। इस सभा का अध्यक्ष नगरपति कहलाता था जिसके लिये डांगिक शब्द का प्रयोग किया गया है। नगर निवासियों और व्यापारियों से कर वसूल कर डांगिक उनके हित के कार्यों पर व्यय करता था। स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान दिया जाता था। अगर कोई मनुष्य मुख्य मार्ग, स्नानागार, मन्दिर तथा भवन के नजदीक गन्दगी फैलाते हुए पाया जाता था तो वह दण्ड का भागी होता था तथा उसे एक पण दण्ड कर के रूप में देना पड़ता था। नगरपति की नियुक्ति विषयपति के द्वारा होती थी। स्कन्दगुप्त के शासन काल में पर्णदत्त का पुत्र चक्रपालित सौराष्ट्र में नगरपति के रूप में था। उसने सुदर्शन झील की मरम्मत करवायी थी। कोट्टि-वर्ष, वैशाली, गिरनार आदि स्थानों का नगर शासन संगठित था। नगरसभाओं के द्वारा नगर-सम्बन्धी सभी बातों का नियन्त्रण होता था। नगरपालिकाओं का मन्त्री पुरपाल उपरिक होता था।

ग्रामशासन :—शासन-प्रबन्ध की सबसे छोटी इकाई ग्राम था। प्रत्येक ग्राम का अपना क्षेत्रफल होता था। गाँव का मुखिया ग्रामसेवक, ग्रामाध्यक्ष, ग्रामपति या महत्तर कहलाता था। ग्रामपति को शासन-सम्बन्धी कार्यों में सहायता देने के लिये स्थानीय लोगों की एक सभा हुआ करती थी जिसमें राज-कर्मचारी नहीं होते थे तथा इस सभा को पञ्चायत कहा जाता था। गुप्त लेखों में इस संस्था का उल्लेख मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के सेनापति आम्रकार्दव द्वारा ग्रामपञ्चायत के समक्ष एक गाँव तथा २५ दीनार के दान का विवरण मिलता है। ग्राम-सभा सरकार के लगभग सभी कार्यों का निर्वहन करती थी। गाँव की सुरक्षा का भार ग्राम-सभा पर थी। इसके प्रमुख काम गाँव वालों के मुकदमों का निर्णय करना, भूमिकर एकत्र कर राजकोष में जमा करना एवं गाँव से सम्बन्धित सार्वजनिक हित का काम सम्पन्न करना था। पञ्चायत अपने कार्य में स्वतन्त्र थी। उसका सम्बन्ध केवल कर के विषय में केन्द्रीय शासन से था। ग्रामसभा के सदस्यों का निर्वाचन किस तरह होता था, इसका वर्णन हमें नहीं मिलता। सदस्यों के लिए महत्तर शब्द का प्रयोग बार-बार गुप्त अभिलेखों में किया गया है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि विभिन्न वर्गों के वृद्ध जनों को, जो अवस्था में बड़े होने एवं अपने अनुभव एवं चरित्र के कारण जनता में सम्मानित एवं विख्यात होते थे, उसे लोकमत द्वारा ग्राम-सभा का सदस्य मनोनीत कर लिया जाता था। ग्रामपञ्चायत के कुछ अधिकारियों का उल्लेख दामोदरपुर ताम्रपत्र में है जिनके नाम इस प्रकार हैं :—

महत्तर, अष्टकुलाधिकारी (आठ कुलों के मुखिया), **ग्रामिक** (ग्राम के प्रधान व्यक्ति), और **कुटुम्बिन** (परिवार के मुख्य व्यक्ति)। इन्हीं चार वृद्ध जनों के द्वारा ग्राम-शासन का प्रबन्ध होता था। ग्रामपति का अधिकार बहुत ही विस्तृत था। वह ग्रामसभा की सलाह से सभी कार्यों का सम्पादन करता था। ग्रामशासन की सुविधा के दृष्टिकोण से ग्रामसभा उपसमितियों का भी निर्माण करती थीं। कर संग्रह एवं भूमिविक्रय का भार भी ग्रामपञ्चायत पर था। विक्रय के वाद मूल्य का छठा भाग राजकोष में जाता था तथा पाँचवाँ भाग ग्राम सभा लेती थी। ग्रामों के आय-व्यय का हिसाब रखनेवाला कर्मचारी **तलवाटक** कहलाता था। भूमिसम्बन्धी समस्त लेखों का संग्रह पुस्तपाल रखता था। ग्राम-प्रबन्ध के निरीक्षण के लिये राजा की ओर से एक अधिकारी नियुक्त होता था तथा उसी के द्वारा राजा को ग्रामसम्बन्धी वातें ज्ञात होती थीं। कृषि, उद्यान, सिंचाई, मन्दिर आदि के प्रबन्ध के लिये भिन्न-भिन्न समितियाँ होती थीं। ग्राम शासन के लिये धन की आवश्यकता पड़ने पर कर द्वारा प्रायः ग्राम सभाओं को धन पूरा होता था। ग्रामवासियों का मुख्य व्यवसाय कृषि था तथापि लगभग प्रत्येक ग्राम में जुलाहे, कुम्हार, बढ़ई, तेल बनानेवाले तथा सुनार इत्यादि भी होते थे जिनके माध्यम से ग्रामसभाओं को काफी आय होती थी। गाँवों की सीमाओं का निर्माण बहुधा दीवालों और नालियों द्वारा किया जाता था। सीमा निर्धारण के लिए नाली का प्रयोग के उदाहरण गुप्त लेखों में काफी पाये जाते हैं।

शासन-प्रणाली की सामान्य विवेचना एवं आलोचना :—गुप्तों की शासन प्रणाली के विषय में हमारे पास पर्याप्त विवरण हैं जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह श्रेष्ठ और प्रशंसनीय थी। केन्द्र एवं प्रान्त दोनों में इसका संगठन सुन्दर था। सेना का संगठन स्कन्दगुप्त के समय में काफी सुव्यवस्थित था जिसके कारण ही वह हूणों के आक्रमण पर सफलता पा सका। अपराधों की संख्या बहुत ही कम होने से ऐसा ज्ञात होता है कि दण्ड नीति का विभाग काफी कुशल और सजग था। अपराधियों को कठोर दण्ड नहीं दिये जाते थे पर उन्हें अविलम्ब ही दण्ड का भागी बनना पड़ता था।

गुप्त सम्राट् देश को समृद्धिशाली बनाने के लिये काफी सचेष्ट रहते थे। राजमार्गों के निर्माण और उसकी मरम्मत कराने का वे सदा ध्यान रखते थे। कृषि की उन्नति के लिये बाँधों, झीलों और तालाबों का निर्माण कराया जाता था। कृषि एवं व्यापार को राज्य की ओर से काफी प्रोत्साहन दिया जाता था। सम्राट् निरंकुशता से शासन नहीं करते थे बल्कि मन्त्रिपरिषद् के निर्णयों के अनुसार वे उसे कार्यान्वित करते थे। अल्तेकर के मतानुसार गुप्तकालीन शासन पद्धति विदेशियों (शक, कुषाण, पह्लव) की शासन-व्यवस्था से कुछ परिवर्तित रूप में थी। ग्राम

और नगर-सभाओं के कार्यों में काफी वृद्धि हुई। यद्यपि ये संस्थाएँ पहले भी विद्यमान थीं पर उपलब्ध प्रमाणों से यह पता नहीं चलता है कि इनका रूप वैसा ही गैरसरकारी और इनका कार्यक्षेत्र उतना ही विस्तृत था जैसा कि चौथी शताब्दी से उत्तर और दक्षिण भारत दोनों में पाया जाता था। जनता के अधिकारों और कर्त्तव्यों की सतर्कतापूर्वक रक्षा द्वारा ये ग्रामसंस्थाएँ राजा की अधिकाधिक हस्तगत करने की प्रवृत्ति की काफी रोकथाम करती थीं। जनता से कर वसूल करने का कार्य अधिकतर ग्रामपंचायत ही करती थीं। अगर राज्य द्वारा नये और न्याय-विरुद्ध कर लगाये जाते थे तो ये उन्हें वसूल करने से ही इन्कार कर सकती थीं। जघन्य अपराधों को छोड़कर शेष सभी झगड़ों का निबटारा ग्राम पंचायतें ही किया करती थीं।

गुप्त-कालीन शासन-पद्धति की एक प्रशंसनीय विशेषता थी लोक कल्याण के कार्य करना और विद्या, कला एवं संस्कृति को राजकीय प्रोत्साहन प्रदान करना। शिक्षा एवं ज्ञान के प्रसार का भी गुप्त-सम्राट् काफी ध्यान रखते थे।

सामाजिक जीवन

गुप्त-कालीव जीवन की कल्पना प्रायः तत्कालीन रचित पुराणों और स्मृति ग्रन्थों तथा साहित्यिक रचनाओं के आधार पर की जाती है। मौर्य-शुंग काल के बाद एक बार फिर गुप्त राजाओं के अधीन उत्तर भारत की राजनीतिक एकता स्थापित हो सकी। चूँकि गुप्त राजा वैष्णव धर्म के अनुयायी थे अतः एक प्रकार से ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हुआ। इनके अधीन देश की सामाजिक व्यवस्था भी ब्राह्मण धर्म के अनुरूप ही हुयी। देश का सर्वांगीण विकास हुआ, जिसके कारण जीवन का स्तर ऊँचा उठा। गुप्तसम्राट् के लम्बे शासन-काल में उत्तरी भारत में तथा उनके समकालीन राजाओं ने दक्षिण भारत में शान्ति तथा सुव्यवस्था की स्थापना करके पिछले काल के सामाजिक जीवन की विशेषताओं को देश में पूरी तरह जमने के लिये अवसर प्रदान किया। गुप्त-काल के साहित्यिक ग्रन्थों से इस काल के लोगों के जीवन का व्यापक विवरण प्राप्त होता है। बहुत सी बातों में गुप्त-काल का सामाजिक जीवन मौर्यकाल के और कुछ बातों में अपने परवर्त्ती काल के सामाजिक जीवन से काफी समानता रखता है। पर गुप्त-काल के सामाजिक जोवन में अवश्य ही कुछ नवीनतायें दिखलाई पड़ती हैं। गुप्त-काल के पूर्व के इतिहास के अध्ययन से यह हम जानते हैं कि भारत में विदेशी जातियों के आक्रमण कई बार हुये एवं उन्होंने इस भारत की भूमि पर अपने राज्यों की स्थापना की। विदेशी जातियाँ इससे भारतीय समाज में प्रवृष्ट होने लगीं। इन्हें देखकर स्मृतिकारों ने इस विषय में अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण रखा। वे इन

जातियों को समाज से बहिष्कृत नहीं कर सकते थे। अतः ब्राह्मण स्मृतिकारों ने उन्हें समाज में तो मिला लिया पर वे उनके मूल-उत्पत्ति के विषय में जानते थे। उन्होंने उन्हें 'व्रात्य' की उपाधि देकर क्षत्रिय जाति का स्वीकार किया। इस तरह उनके करने का एक अर्थ रखता था कि वे विदेशी जातियाँ देश के क्षत्रियों के समान न हो सकें। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के कारण कुछ ऐसे सामाजिक नियमों का उद्भव हुआ जिससे वर्ण-व्यवस्था को अधिक जटिल होने का अवसर प्राप्त हुआ। गुप्तकाल में क्षत्रियों और वैश्यों के उपनयन को उत्साह रहित दृष्टि से देखा जाने लगा जिसके कारण समाज के विभिन्न वर्गों में खाई उत्पन्न होने लगी। इस काल में स्मृतिकार अन्तर्वर्ण विवाह और विभिन्न वर्गों के बीच भोजनपान को अनुचित बतलाने लगे जिसके कारण आनेवाली शताब्दियों में जाति-भेद काफी बढ़ता गया।

वर्ण-व्यवस्था :—वैदिक युग से ही भारतीय समाज का आधार वर्ण रहा है। सैद्धान्तिक रूप में गुप्त-काल वर्ण नियमों की जटिलता के आरम्भ का युग था पर व्यावहारिक रूप में इस बात के समुचित साक्ष्य मिलते हैं कि सामाजिक नियम अभी बहुत कठोर नहीं होने पाये थे। भारतीय परम्परा के अनुसार गुप्त-कालीन समाज वर्णाश्रम धर्म पर आधारित था। कौटिल्य के अनुसार राजा का यह कर्त्तव्य था कि वह समाज की व्यवस्था वर्णाश्रम धर्म के आधार पर करें। गुप्त राजा भी इसी आदर्श का पालन करते थे। इसकी पुष्टि तत्कालीन साहित्य, चीनी यात्री के वर्णन तथा अभिलेखों से मिलती हैं। उनके लेखों से ऐसा वर्णन मिलता है कि अनेक राजाओं ने वर्णाश्रय धर्म को ठीक करने तथा जातियों को अलग, अलग कर्त्तव्य-क्षेत्र में सक्रिय करने का प्रयास किया। किन्तु इस व्यवस्था में हम कुछ व्यतिक्रम पाते हैं क्योंकि फाह्यान के वर्णन से हम यह पाते हैं कि एक वर्ण के लोगों द्वारा दूसरे वर्ण के कार्य किये जाते थे। वैश्य दान दिया करते थे एवं चाण्डाल और मछुए शिकारी का काम करते थे। पर चाण्डाल अन्य जातियों से अलग रहते थे क्योंकि समाज में छुआछूत जड़ पकड़ रहा था।

साधारण तौर पर विवाह अपने वर्ण में ही होते थे, पर अन्तर्वर्ण विवाहों का भी प्रचलन था। गुप्तवंश की प्रभावती गुप्ता का विवाह ब्राह्मण वाकाटक वंश के रूद्रसेन से हुआ था। इससे अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह होने का संकेत मिलता है। यहाँ तक प्रमाण मिला है कि क्षत्रिय दासी एवं नर्तकियों से भी विवाह करते थे। मृच्छकटिक नाटक में चारुदत्त ने वसन्तसेना से विवाह किया था जो इसका प्रमाण है। कादम्ब नरेश ब्राह्मण होने के बावजूद भी अपनी पुत्रियों का विवाह वैश्य गुप्तों के साथ किया था। ऐसा उदाहरण मिलता है कि लोकनाथ नामक व्यक्ति की माता का पूर्वज ब्राह्मण था, पर उसने शूद्रा नारी से विवाह किया था। गुप्तकाल में भी विदेशियों की लड़कियों को पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेने की

प्रथा थी। इक्ष्वाकु राजाओं ने कट्टर ब्राह्मण होते हुये भी उज्जयिनी के शक राजवंश की लड़की से विवाह किया। कालिदास के नाटकों में चार प्रकार के विवाह का उल्लेख मिलता है।

गुप्तकाल के लेखों में जातियों की चर्चा कम और वर्णों के उल्लेख अधिक मिलते हैं। वर्णों का आदर उनके अपने कर्त्तव्य-पालन के कारण था। ब्राह्मणों का समाज में ऊँचा स्थान था। वे संस्कृति के रक्षक माने जाते थे। ब्राह्मण लोग अपना अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन काम छोड़ कर दूसरे काम भी करते थे। समाज में सर्वोच्च सामाजिक स्थान प्राप्त होने के कारण उन्हें अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त थीं। राज्य उनसे किसी प्रकार का-कर नहीं लेता था। ये तप और स्वाध्याय में लीन रहते थे।

धर्मशास्त्रों के आधार पर क्षत्रिय का कर्त्तव्य अध्ययन, यजन, दान, शस्त्राजीव और भूतरक्षण था। ब्राह्मणों के समान ही स्मृतिकारों ने क्षत्रियों के लिए आपद्धर्म में वैश्य कर्म करने का विधान किया है, पर क्षत्रिय सामान्य भाव से वैश्य कर्म करते थे। स्कन्दगुप्त के एक ताम्रपत्र जो इन्दौर में मिला है, उससे यह पता चलता है कि वहाँ के तैलिकश्रेणी में एक क्षत्रिय सम्मिलित था[1]।

गुप्त शासक स्वयं वैश्य वर्ण के थे। अतः उनके लिये यह छूट थी कि वे जितना आगे चाहें बढ़ सकते थे। वे व्यवसाय से उपार्जित धन को प्रायः सार्वजनिक हित के कामों में व्यय करते थे। फाह्यान ने ऐसा लिखा है कि वैश्यों में जो लोग प्रमुख थे उन्होंने शहरों में सत्र और औषधालय स्थापित कर रखे थे, जहाँ लोगों को दान और औषधि मिला करती थी। वैश्यों का कोई सुनिश्चित व्यवसाय इस समय नहीं था। वैश्य अधिकांशतः उद्योग धन्धों तथा व्यापार में लगे थे। शूद्रों की अवस्था गुप्त-काल में पूर्व की भाँति कुछ अधिक संतोषजनक थी। याज्ञवल्क्य ने शूद्रों को व्यापारी, कृषक और कारीगर होने की अनुमति दी है। कुछ शूद्रों ने सैनिक पेशा को भी अपनाया था। इनके अतिरिक्त कृषक, व्यापारी, पशु-पालक, सुनार, बढ़ई, जुलाहे, मालाकार इत्यादि जातियाँ काफी विकास को प्राप्त कर चुकी थी। ये जातियाँ अपनी-अपनी जातियों का अधिक ध्यान रखती थीं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों के अतिरिक्त समाज में कुछ और लोग थे जिन्हें अन्त्यज कहा जाता था। इनमें चाण्डाल मुख्य थे। इनकी अवस्था, गुप्तकालीन हिन्दू समाज में बड़ी शोचनीय थी। शूद्रों की अवस्था उतनी बुरी नहीं थी पर अन्त्यजों को लोग छूना तक अपराध मानते थे। उन्हें अन्य चार वर्णों के लोगों के साथ गाँवों और नगरों में रहने का अधिकार न था। फाह्यान ने

१. का. इ. इ., ३, पृ. ७०, पं = पंक्ति ६–८

लिखा है कि वे नगर के बाहर रहते हैं। जब वे नगर में प्रवेश करते हैं तो काठ के एक टुकड़े को बजा-बजाकर लोगों को सूचित करना पड़ता था कि ताकि कोई उनसे छू न जाए, अर्थात् वे अस्पृश्य थे। वे रात्रि में नगर या ग्राम में प्रवेश नहीं कर सकते थे। इन चाण्डालों का मुख्य काम स्मृतियों के अनुसार लावारिस मुर्दे हटाना और वधिक का काम करना था।

गुप्त-काल में बहुत सारी उपजातियों का भी विकास हुआ। उनमें मागध, रथकार, चर्मकार, मणिकार, गोपाल, वणिक आदि बहुत-सी जातियाँ थीं जो स्पष्टतया किसी वर्ग के अधीन नहीं आ सकती थीं। आधुनिक हिन्दू समाज में **कायस्थ** एक प्रमुख जाति है। गुप्त-काल में इसकी गणना भी द्विजाति में होती थी। अभिलेखों में प्रथम-कायस्थ का उल्लेख मिलता है, जो विषय-परिषद् का सदस्य होता था।[1] गुप्त काल में जो कोई भी लेखक का काम करता था, वह कायस्थ के नाम से प्रसिद्ध था। दामोदरपुर ताम्र-पत्र से यह पता लगता है कि प्रथम कायस्थ शासन में भाग लेता था तथा प्रान्तीय सभा का वह सदस्य होता था। पुण्ड्रवर्धन भुक्ति में कायस्थ-दत्त परिवारों का उल्लेख मिलता है। प्रथम कायस्थ शब्द से ऐसा पता चलता है कि उस समय कायस्थों का कोई समूह अवश्य रहा होगा। पी० एल० गुप्त ने भी ऐसा विश्वास किया है कि वह किसी समूह विशेष का नेता था। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा यह स्वीकार करते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जो भी लेखक का काम करता था, कायस्थ कहलाता था।[2] 'मृच्छकटिक' में शूद्रक ने कायस्थ का वर्णन न्यायालय के लेखक के रूप में किया है।[3]

प्रारम्भ में समाज में चारों वर्णों में पारस्परिक सम्बन्ध प्रायः मधुर और सौहार्द्रपूर्ण थे। इनमें पारस्परिक विवाह भी होते थे तथा उनमें किसी प्रकार की कोई बाधा न थी। बाद में चलकर अन्तर्वर्ण विवाह के दो भेद हो गये थे। उच्च वर्ग का पुरुष अपने वर्ण के अलावे अपने से निम्न वर्ण में ही विवाह कर सकता था। चाण्डालों और शूद्रों को छोड़कर अन्य जातियों में परस्पर खान-पान का व्यवहार होता था। समाज में ब्राह्मणों को सबसे अधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। 'मृच्छकटिक' नाटक से हम जानते हैं कि न्यायालय में यद्यपि चारुदत्त को हत्यारा सिद्ध कर दिया गया पर जन्म से ब्राह्मण होने के कारण उसे मृत्युदण्ड से मुक्त कर दिया गया। अपने चरित्र की उत्कृष्टता एवं पाण्डित्य के कारण

१. ए० इ०, १५ पृ० १३८ पं० ३-४

२. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ४७

३. मृच्छकटिक, अंक ९

ब्राह्मण सब जातियों के द्वारा सम्मानित किये जाते थे। इनके अतिरिक्त क्षत्रियों का भी काफी अधिक आदर होता था। वैश्य लोग अपनी दानशीलता के लिये प्रसिद्ध थे।

गुप्तकालीन समाज में दास-प्रथा विद्यमान थी। शूद्र हेय दृष्टि से देखे जाने लगे। दण्डविधान में शूद्रों को अधिक कठोर दण्ड दिया जाता था। इसी काल में दास-प्रथा के नियमों का भी विकास हुआ। ब्राह्मण दास नहीं हो सकते थे। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण और नारियों की खरीद-बिक्री नहीं हो सकती थी, पर ऐसा देखा गया कि अगर कोई नारी दास से विवाह कर लेती थी तो वह दासी बन जाती थी। अगर कोई दासी अपने स्वामी से गर्भ धारण कर लेती थी तो उसे मुक्त कर दिया जाता था। दासों के कई प्रकार थे। अगर कर्ज लेने वाला कर्ज नहीं सधा पाता था तो उसे दास बनना पड़ता था। हारे हुए जुआड़ी को भी दास बनना पड़ता था। ऋणकर्त्ताओं, जुआड़ियों एवं युद्धवन्दियों को अपनी दासता से मुक्त होने का अधिकार प्राप्त था। अपने को बेचकर दास होने वालों का उल्लेख है। फाह्यान के अनुसार गुप्तकाल में दास-प्रथा नहीं थी पर दासों का उल्लेख हमें यत्र-तत्र गुप्तकालीन साहित्य में मिलता है। दासों के साथ व्यवहार व्यक्ति विशेष पर निर्भर करता था। अगर अच्छे स्वभाव का स्वामी हो तो अच्छा व्यवहार मिलता था और बुरा हो तो बुरा।

परिवार :—इस युग में संयुक्त परिवार व्यवस्था समाज में प्रचलित थी। सबसे वृद्ध पुरुष का अनुशासन परिबार में सब कोई मानता था। किसी भी प्रकार के पारिवारिक विवादों में उसका निर्णय सर्वथा मान्य था एवं न्यायालय में ये विवाद जाने पर वहाँ भी उसकी बातों की आदर की जाती थी। स्मृतिग्रन्थों में सम्मिलित परिवार को प्रशंसनीय बतलाया गया है एवं पिता के जीवन-काल में परिवार के विभाजन की निन्दा की गयी है। कई अभिलेखों से यह पता चलता है कि पिता की मृत्यु के बाद भी आठ वयस्क पुत्र, असंख्य पौत्र और भाई संयुक्त रूप से एक परिवार में रहते थे।[1] एक अभिलेख से एक दानकर्त्ता का वर्णन मिलता है जिसने अपने, अपनी माँ, पत्नी, बेटे-बेटी, भाई, दो भतीजे और दो भतीजियों के आत्मिक सुख के लिये दान किया था।

पारिवारिक सम्पत्ति का स्वामित्व पिता या घर के मुखिया में निहित था पर उसमें वेटों और भाइयों का दान माना जाता था। पिता के जीवन-काल में बंटवारा की बात करनेवाले ब्राह्मण को स्मृतिकारों ने श्राद्ध में भाग लेने से वंचित किया है। पारिवारिक सम्पत्ति में पुत्रों का जन्मना समान भाग था। पति की सम्पत्ति में विधवा के अधिकार के सम्बन्ध में स्मृतिकारों में विवाद है।

---

१. एं० इ०, १, पृ० ६; १२, पृ० २; १६, पृ० १२०

स्त्रियों की दशा :—समाज में नारियों का स्थान ऊँचा था। प्राय: वंशावलियों में पिता के साथ माता का भी उल्लेख किया जाता था। प्रभावतीगुप्ता जैसी योग्य रानियाँ राज्य का संचालन करती थीं। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में आदर्श पत्नी का वर्णन हुआ है। उसके अनुसार पत्नी को अपने पति से दूर नहीं रहना चाहिए। कात्यायन एवं वेदव्यास के अनुसार धार्मिक कृत्यों में पत्नी का पति के साथ रहना आवश्यक है। इस युग में बहुविवाह प्रचलित था। विधवा का जीवन संन्यासिनी की भाँति था। विधवा विवाह बन्द नहीं था। पर्दाप्रथा का अभाव था। कहीं-कहीं सती प्रथा का भी संकेत मिलता है। पत्नी पर सम्पूर्ण गृह-व्यवस्था का उत्तरदायित्व था। पति की अनुपस्थिति में घरेलू व्यवस्था बिगड़ने न पाये इसका भी ख्याल रखना उसी का काम था। अगर परिवार में सौत हो और वह आयु में छोटी हो तो उसे बहन के समान और यदि बड़ी हो तो माता के समान माने।

स्मृतिकारों ने पति का पूर्ण अधिकार पत्नी पर माना है तथा पति का यह उत्तरदायित्व था कि वह अपनी पत्नी को अच्छी तरह रखे। स्त्री संग्रहण के अपराध के लिये अर्थ-दण्ड ही नहीं वरन् लिङ्गोच्छेदन एवं मृत्यु-दण्ड का भी विधान था। भिक्षुणी के संग्रहण को स्मृतिकारों ने कोई महत्व नहीं दिया है।

गुप्तकालीन स्मृतिग्रन्थ स्त्रियों को वैदिक शिक्षा देने की अनुमति नहीं प्रदान करता। फिर भी उच्च कुलों की स्त्रियों को शिक्षा दी जाती थी। आश्रमवासिनी कन्याएँ इतिहास और पुराण का अध्ययन करती थीं। ललित-कलाओं नारियों की निपुणता का उल्लेख गुप्तकालीन साहित्य-ग्रन्थों में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। अनसूया जो शकुन्तला की सखी थी वह चित्रकला में एवं यक्ष की पत्नी वीणा-वादन में कुशल थी। विधवाएँ आभूषण और अन्य विलास-सामग्रियों का प्रयोग नहीं करती थीं पर स्त्रियाँ सौन्दर्योपासिका होती थीं।

वस्त्राभूषण :—गुप्तकालीन साहित्यिक ग्रन्थों एवं कलाकृतियों से इस काल के वस्त्राभूषण पर विशेष प्रकाश पड़ता है। सामान्यत: स्त्री और पुरुष केवल दो वस्त्र का उपयोग करते थे। एक का प्रयोग निम्न भाग को और दूसरे का ऊपरी भाग को ढकने के लिये किया जाता था। पुरुषों के वस्त्र में ऊपरी वस्त्र उत्तरीय (दुपट्टा) होता था जो कंधों से होता हुआ कंधे से निकाल लिया जाता रहा होगा या कंधे पर रख लिया जाता होगा। उत्तरीय का प्रयोग खास-खास अवसर पर किया जाता रहा होगा। बिना सिले हुए वस्त्र के पहनने का प्रचलन था। कटि के नीचे धोती पहनते थे। गुप्तकालीन सिक्कों से धोती पहनने की विधि हम देख सकते हैं। सिर पर पगड़ी बाँधने का भी प्रचलन था। राजा और प्रजा के वस्त्र पहनने के ढङ्ग में कोई अन्तर न था। गुप्त-सम्राटों द्वारा

सिर पर विविध प्रकार के मुकुट धारण किये जाते थे जिन्हें हम सिक्कों से देख सकते हैं। धोती और उत्तरीय ही देश की राष्ट्रीय वेश-भूषा थी। उस काल में जूतों का प्रचलन हो गया था जिसका प्रमाण हमें कालिदास के पादुका से मिलता है। पादुका का प्रयोग धनी लोग करते थे। पर यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि वह चमड़े का होता था या किसी अन्य वस्तु का। सिथियनों ने पैजामे तथा कोट का भी प्रयोग आरम्भ कर दिया था जिसे राजा भी धारण करने लग गये थे।

पुरुषों की ही तरह स्त्रियों की भी पोशाक में दो वस्त्र होते थे। ऊपर का वस्त्र स्तनपट्ट या स्तनांशुक कहलाता था। यह कपड़े की पट्टी मात्र होती थी जिससे स्तनों को ढँककर पीठ के पिछले भाग में इसे बाँध दिया जाता था। कूर्पासक नामक एक अन्य वस्त्र का भी उल्लेख मिलता है जो ढीलाढाला हुआ करता था और स्त्रियाँ इसका प्रयोग जाड़े में किया करती थी। दूसरे प्रकार के वस्त्र स्त्रियों के लिए कटि के निचले भाग को ढंकने के लिये था। यह वस्त्र कटि से घुटने तक का होता था जिसे नीवीबन्द की सहायता से कटि पर बाँधा जाता था तथा इसके ऊपर मेखला धारण किया जाता था। स्त्रियों की साड़ियाँ बहुधा रंगीन हुआ करती थीं। अजन्ता के चित्रों से तथा अन्य मूर्तियों के अध्ययन से हम उस काल के फैशन का अनुमान लगा सकते हैं।

सूती कपड़ों के साथ-साथ रेशमी और ऊनी वस्त्रों का प्रयोग ऋतु के अनुसार लोग करते थे। फाह्यान ने लिखा है कि भारतवासी ऊनी और रेशमी कपड़े का प्रयोग बहुतायत से किया करते थे। रेशमी कपड़ा चीन से आता था जिसका उल्लेख कालिदास ने 'चीनांशुक' शब्द से किया है। रेशमी वस्त्रों का प्रयोग औरतें तथा धनी वर्ग के ही लोग अधिकतर करते थे। साधारणतः लोग उजले वस्त्र को अधिक पसन्द करते थे। रंगीन कपड़ों में काले, लाल, नीले और केसरिया का अधिक प्रचलन था।

स्त्री-पुरुष दोनों ही समान रूप से आभूषणों का प्रयोग करते थे। इसका प्रमाण हमें अमरकोश से मिलता है। स्त्रियों के आभूषण विविध प्रकार के एवं आँखों को आकर्षक लगनेवाले होते थे। सोने तथा मोतियों के हारों का सौंदर्य अद्‌भुत् होता था। इसके अतिरिक्त आभूषण रत्न-जटित एवं सोने के बने होते थे। चूड़ामणि, शिखामणि, मुक्तगुण, किरीट, मुकुट एवं मौलि सिर पर धारण करने वाले आभूषण थे। आभूषण शरीर के विभिन्न अङ्गों को सुशोभित करते थे। ये आभूषण सिर पर, कानों, गले, बाजू, कलाई, उँगली, कटि और पैरों में पहने जाते थे। इन सब आभूषणों का प्रयोग राजवर्ग के पुरुष किया करते थे। स्त्री-पुरुष दोनों ही कानों में आभूषण पहनते थे। घुँघरूवाले आभूषणों को भी स्त्रियाँ पैरों में पहनती थीं। पहाड़पुर (राजशाही, बंगाल) में पुरुषों की कुछ मूर्त्तियाँ प्राप्त

हुई हैं जिनके वक्षस्थल पर यज्ञोपवीत के साथ-साथ कटि पर कटिवन्ध तथा उदर में उदरबंध आदि गहने दिखलाई पड़ते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों कण्ठाभूषण भी धारण करते थे। इनके विभिन्न नाम थे जिनमें मुक्तावली, तारहार, हारशेखर, हारयष्टि और हार प्रमुख थे। अंगद, केचुर, वलय, वलय, कटक और अंगुलीयक कराभूषण थे जिन्हें स्त्री-पुरुष दोनों ही धारण करते थे। पुरुषों के कर्णाभरणों में कुण्डल और कर्णभूषण का उल्लेख मिलता है। इसके अलावे स्त्रियाँ कर्णपूर, कुण्डल, कनकमल और अवतंस पहनती थीं। स्त्रियाँ केवल कटि के आभूषण जैसे मेखला, काँची, कनककिंकिणि एवं रसना पहनती थीं। इसी तरह वे पैरों में नुपूर पहनती थीं।

सौन्दर्य-प्रसाधन की प्रचुर सामग्रियाँ उपलब्ध थीं। कपूर, तेल, इत्र एवं सन्दल आदि का उल्लेख मिलता है। तत्कालीन नाटकों एवं चित्रकारियों से सफाई तथा शृंगार का भी पता चलता है। बृहत्संहिता से हमें दाँत साफ करनेवाली लकड़ी के टुकड़े का भी पता चलता है। मन्दसोर अभिलेख में दशपुर नगर के भवनों का भी वर्णन मिलता है, जो कलई किये होते थे। प्रसाधन का प्रचार सम्पन्न वर्ग में ही अधिक था। इसमें केशप्रसाधन ही प्रमुख था। स्त्री-पुरुष दोनों ही लम्बे केश रखते थे और दोनों को ही अपने बालों को घुँघराले वनाने का शौक था। स्त्रियाँ तेल-सुगन्धि आदि लगाकर वेणी निकालती थीं और जूड़ा भी बनाती थीं। स्त्रियाँ अपने केशों को घुंघराला बनाने के लिये तरह-तरह के लेप और पिष्ट का प्रयोग करती थीं। उन्हें अपने बाल अलंकृत करने का बहुत अधिक शौक था। वे फूलों से अपने केशों को विविध प्रकार से सजाया करती थी। स्त्रियाँ नकली बालों का भी प्रयोग करती थीं। स्त्री-पुरुष दोनों ही ललाट पर हरिताल, मनःशील ओर चन्दन से वने पिष्ट या काजल या कुंकुम से तिलक लगाते थे एवं शलाका से आँखों में अंजन करते थे। केवल स्त्रियाँ अपने ओठों को अलक्तक से रंगती थी। वे स्तनों पर चन्दन का लेप करती थीं एवं पैरों में आलक्तक या लाक्षारस से चित्रित करती थीं। अपने वस्त्रों को पुरुष सुगन्धित रखते थे। स्त्रियाँ विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न पुष्पों का प्रयोग करती थीं। सौन्दर्य के प्रतीक के रूप में स्त्री-पुरुष दोनों पान का सेवन करते थे।

स्त्री-पुरुष अलग-अलग ऋतुओं में अलग-अलग ढंग से अपने को सँवारते थे। इन ऋतु-प्रसाधनों की अपेक्षा शादी के अवसर पर वधू का एक खास तौर से प्रसाधन किया जाता था।

भोजन :—जनता का भोजन साधारण तथा सात्विक था। वे लोग शाकाहारी थे। फाह्यान के अनुसार मांस, मदिरा, लहसुन, प्याज आदि का प्रयोग केवल चाण्डाल करते थे। उसके अनुसार लोग सूअर और पक्षी नहीं पालते एवं जीवित

पशु नहीं बेचते थे। बाजारों में न तो कसाइयों की दूकानें थी और न मदिरालय थे।[1] पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं थी। उसने एक बौद्ध भिक्षु की हैसियत से समाज को देखने की कोशिश की थी। गुप्तकालीन साहित्य मांस और मदिरा की चर्चा से भरा हुआ हैं। उस काल में स्त्री-पुरुष दोनों मांस मदिरा का सेवन करते थे। अगर वे इनका सेवन न करते तो वृहस्पति आदि स्मृतियों में उनके निषेध का विधान नहीं रहता। इसके अनुसार हम ऐसा जानते हैं कि यदि स्त्री का पति विदेश हो तो वह मांस-मदिरा का सेवन न करे। लोग पशु-पक्षी के माँस एवं मछली खाते थे। नगरों में माँस वेचने के लिए निर्धारित दुकानें थीं। धनी वर्ग के लोग जंगली सूअर, हिरण, नीलगाय एवं पक्षियों का शिकार करते और उनका मांस खाते थे। रोहू (रोहित) मछली का अधिक प्रचार था। स्मृतियों में श्राद्ध के समय मांस के प्रयोग का भी विधान था।

शकुन्तला नाटक में माधव्य भुने हुये सूअर का मांस खाता है यद्यपि वह जन्म से ब्राह्मण था। कालिदास के ग्रन्थों से हमें स्त्री-पुरुषों के मदिरा सेवन की चर्चा काफी मिलती है। रघुवंश, मालविकाग्निमित्र एवं कुमारसंभव इन तीनों में स्त्रियों के मद्युपान का वर्णन मिलता है। स्त्री-पुरुष, अमीर-गरीब सभी मूलरूप से शराब पिया करते थे। मदिरा, मद्य, आसव, वारुणी, कादम्बरी एवं शीधु नाम से प्रचलित था। नारिकेलासव नारियल की बनी मदिरा नहीं वरन् ताड़ी का दूसरा नाम था। गन्ने, महुआ आदि से शराब बनाये जाते थे एवं सड़कों के किनारे शौण्डिकापण में खुले आम शराब बिका करती थी, जहाँ लोग बैठकर उसे पीते थे। मद्य की दुर्गन्धि छिपाने के लिये लोग पान-सुपारी का प्रयोग करते थे।

जहाँ तक खान-पान का प्रश्न है, नागरिक जीवन में मांस एवं मदिरा की प्रधानता होते हुये भी अन्न का ही प्रयोग अधिक होता था। लोग चावल, गेहूँ, जौ, दाल, मक्खन, तेल, शक्कर, चीनी, दूध, घी एवं तेल का ही प्रमुख रूप से प्रयोग करते थे। रघुवंश से हमें अनेक प्रकार के भोजन का उल्लेख मिलता है, जैसे शालि, कलम, गुडविकार, मत्स्य खण्डिका इत्यादि। शहद और चावल से बने अर्घ नामक खाद्य-पदार्थ का उल्लेख है। इसी प्रकार दूध से बनी चीजों में—नवनीत, हैयङ्गविन, पयश्वरु, मोदक, शिखरिणी आदि का उल्लेख हुआ है। इनका प्रयोग धनी वर्ग के लोगों में एवं भोजों के अवसर पर ही विशेष रूप में किया जाता था।

आमोद-प्रमोद एवं उत्सव :—गुप्तकालीन भारतीयों का जीवन भी आमोद-प्रमोद के विभिन्न साधनों से ओत-प्रोत था। साधारणतया लोगों के मनोरंजन का साधन जुआ था। कालिदास ने चौपड़ के खेल का उल्लेख किया है। मृच्छकटिक में

१. लेगे, रेकर्ड ऑफ बुद्धिस्ट किंगडम, पृ० ४३

जुआ का विशद् और मनोरंजक वर्णन हुआ है। मुर्गे या भेड़े लड़ाना भी लोगों का मनोरंजन था। इसके अतिरिक्त जलक्रीड़ा और नौका-विहार भी लोगों में प्रचलित था। मृच्छकटिक से ही हम यह जानते हैं कि भेड़ों, भैंसों एवं हाथियों की आपस में लड़ाई का उस समय काफी प्रचार था एवं इन लड़ाइयों को देखने से लोगों को आनन्द मिलता था। पर उपर्युक्त मनोरंजन के साधनों में साधारण जनता कहाँ तक भाग लेती थी, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। ऐसा अन्दाज होता है कि भैंसों की लड़ाई एवं द्यूत-क्रीड़ा नगर के सम्पन्न और कमजोर वर्ग के लोग करते रहे हों और इनके विपरीत समाज के शिष्ट तथा विवेकसम्पन्न लोग इनसे दूर रहते हों। नगरों में अनेक नाटक-गृह और ग्राम-भवन होते थे जहाँ लोगों का मनोरंजन होता था। समाज के सुशिक्षित और शिष्ट जनों का मनोरंजन नृत्य, गायन, वादन तथा नाटकों के द्वारा ही होता था।

जलक्रीड़ा प्रायः स्त्रियाँ किया करती थीं। झूला भी स्त्रियों के बीच बहुत प्रिय था। मद्य और नारी धनियों के मनोरंजन के साधन थे। इसी कारण समाज में वेश्याओं का विशेष सम्मान और महत्त्व था। वे अपने रूप-लावण्य, वाक् चातुरी एवं अन्य अनेक प्रकार के कौशल से लोगों का मनोरंजन किया करती थीं। पारिवारिक उत्सवों में वे नाचने गाने के लिये बुलायी जाती थीं। उनका नाच-गान देवमन्दिरों में भी हुआ करता था। लड़के-लड़कियाँ गेंद भी खेला करते थे।

आखेट भी इस काल में आमोद-प्रमोद का एक महत्त्वपूर्ण साधन था। गुप्त सम्राटों के सिक्कों पर इनकी सुन्दर छवि देखने को मिलती है। समुद्रगुप्त अपने कुछ सिक्कों पर बाघ का शिकार करता हुआ दिखलाया गया है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एवं कुमारगुप्त प्रथम भी सिंह का शिकार करते हुये दिखलाये गये हैं। लोग धनुष-बाण अथवा तलवार से शिकार किया करते थे। आखेट कभी-कभी घोड़े या हाथी पर बैठकर किया जाता था। मृग का शिकार तो साधारण सी बात थी। मृगया कुछ लोयों की नजर में व्यसन और कुछ लोगों की दृष्टि में विनोद था। अनेक प्रकार के पक्षियों को लोग मनोरंजन के लिये पालते थे।

फाह्यान ने लिखा है कि "प्रतिवर्ष रथ-यात्रा का आयोजन किया जाता है : दूसरे मास की आठवीं तिथि को यात्रा निकलती है। चार-पहिये के रथ बनते हैं। यह पूस पर ढारी जाती है जिसमें धुरी तथा हर्से लगे रहते हैं। रथ बीस हाथ ऊँचा और सूप के आकार का बनता है। ऊपर से सफेद चमकीला ऊनीक पड़ा मढ़ा जाता है। विविध प्रकार की रँगाई की जाती है। सुवर्ण, रजत और स्फटिक की भव्य देव प्रतिमाएँ निर्मित की जाती हैं। रेशम की पताकायें और चाँदनी लगायी जाती हैं। चारों कोनों में कलंगियाँ लगी रहती हैं। रथों की संख्या बीस होती है। रथ एक से एक सुन्दर, आकर्षक और भड़कीले होते हैं। निश्चित समय पर निकट

के सभी गृहस्थ और संन्यासी आकर एकत्र हो जाते हैं। गाने बजानेवाले भी सम्मिलित होते हैं। पारी-पारी से लोग नगर में प्रवेश करते हैं। इस कार्य में दो रातें व्यतीत हो जाती हैं। सारी रात दीपक जला करता है। गाना, बजाना और पूजन होता है। प्रत्येक जनपद में ऐसा ही किया जाता है।" इससे यह पता लगता है कि यह उत्सव मनोरंजन और आमोद-प्रमोद का ऐसा साधन था जिसमें समाज के सभी वर्ग के लोग सामूहिक रूप से सम्मिलित होते थे क्योंकि गृहस्थ और संन्यासी दोनों ही इसमें भाग लेते थे।

रघुवंश के आधार पर हम जानते हैं कि लोग वसन्तोत्सव, पुरुहूतध्वज आदि उत्सव मनाते थे। **मालतीमाधव** के अनुसार वसन्तोत्सव के अवसर पर आम का मंजर पूजा में चढ़ाया जाता था एवं **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** के अनुसार मिठाई बाँटी जाती थी। कई प्रकार के व्रत, उपवास एवं प्रायश्चित्त भी समाज में प्रचलित थे। शरद की पूर्णिमा को **कौमुदीमहोत्सव** मनाया जाता था। वात्स्यायन ने इस उत्सव को देशव्यापी क्रीड़ा कहा है।

रहन-सहन का स्तर :—लोगों का जीवन सुखी था। कई प्रकार का संस्कार लोगों को सम्पन्न करना पड़ता था। अनेक प्रकार के शकुन तथा अपशकुन पर लोगों को विश्वास था। लोग ताबीज बाँधा करते थे। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अनुसार आँख फड़कने तथा अङ्ग फड़कने के गुण-दोष का उल्लेख मिलता है। साधारण जनता में शिष्टाचार, दान, अतिथि-सत्कार आदि सद्‌गुण प्रचुर मात्रा में थे। कंजूसों को लोग अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। समाज के धनी वर्ग के लोगों का जीवन सुख तथा विलास के सभी साधनों से पूर्ण था। समाज में पर्याप्त दानशीलता तथा उदारता विद्यमान थी। गुप्तकालीन साहित्यों के अध्ययन से ऐसी अनेक वस्तुओं का पता चलता है जिनका प्रयोग करना लोग न केवल जानते ही थे वरन् अपने दैनिक जीवन के प्रयोग में उन्हें लाते भी थे। राजाओं और सामन्तों का जीवन अधिकतर भोग-विलास का ही जीवन था। एक महायान-बौद्ध ग्रन्थ **'शिक्षासमुच्चय'** से तत्कालीन समाज के विलासमय जीवन का वर्णन मिलता है। इस काल में लोग एक घड़ी का प्रयोग करना जानते थे जो जल द्वारा चलती थी। समय जानने के लिये सरकारी विभागों एवं सम्पन्न परिवारों में घड़ियाँ थीं। **शृङ्गारशतक** एवं **ऋतुसंहार** नामक दो ग्रन्थों से हमें गुप्तकालीन विलासमय जीवन का वर्णन मिलता है। इन पुस्तकों के पढ़ने से ऐसा पता चलता है कि सम्पन्न लोग विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न प्रकार के सुखोपभोग करते थे एवं गर्मी के समय में अति सुगन्धित चन्दन का लेपन करते थे।

लोगों का नैतिक स्तर बहुत ही उच्चकोटि का था जिसका प्रमाण हमें फाह्यान के वर्णन से मिलता है। उसने स्वयं देश का भ्रमण किया था और कहीं भी उसे

लूटा-खसोटा नहीं गया। इस घटना से दो बातों पर प्रकाश पड़ता है—एक ओर शासन-प्रबन्ध की निपुणता का परिचय होता है तो दूसरी ओर देश के निवासियों की चारित्रिक दृढ़ता पर भी प्रकाश पड़ता है। गुप्तकालीन भारतीय सभ्यता एक सर्वश्रेष्ठ और गौरवमयी सभ्यता थी।

आर्थिक अवस्था

गुप्तकाल अत्यन्त ही समृद्ध युग था। साधारण जनता की दशा अति उत्तम थी। इस काल में जितनी प्रगति सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में की गयी थी उतनी ही आर्थिक अवस्था में भी। उनका साम्राज्य तो काफी विस्तृत था एवं उदार शासन-व्यवस्था ने देश के अन्दर शान्ति स्थापना करके सभी प्रकार की आर्थिक उन्नति में प्रोत्साहित किया। इससे जीवन के साधनों की उत्पत्ति में वृद्धि और यातायात के लिये रास्तों एवं सड़कों के विकास में प्रोत्साहन मिला।

कृषि और उद्योग :—आर्थिक जीवन इस काल का कृषि प्रधान था। अतः कृषि पर अधिक ध्यान दिया गया तभी तो इस काल में भूमि की खरीद-बिक्री खूब हो रही थी। राज्य की ओर से भी यह प्रयास किया जा रहा था कि अधिक से अधिक भूमि खेती के योग्य बनायी जाय। इसके लिये राज्य की ओर से भूमि दी जा रही थी। ब्राह्मणों को अग्रहार के रूप में भूमि प्राप्त हो रही थी। राजाज्ञा से क्षत्रियों को भी भूमि मिलती थी। कृषि की रक्षा राजा का कर्त्तव्य था।

देश में इस युग में विभिन्न प्रकार की फसलों की उपज होती थी तथा कृषकों की अवस्था बड़ी ही अच्छी थी। इसके लिये राज्य की ओर से कृषि की उन्नति के लिये समुचित ध्यान दिया जाता था। देश धन-धान्यपूर्ण था एवं जनता सुख से जीवन व्यतीत करती थी। कृषि योग्य सभी प्रकार की भूमि पर खेती होती थी। सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध था। सुदर्शन बाँध की मरम्मत स्कन्दगुप्त के काल में पुनः हुई। **अमरकोश** में वनों, उद्यानों एवं विभिन्न प्रकार के वृक्ष-पादपों का वर्णन है। उन दिनों धान एवं ईख की पैदावार बहुत होती थी। धान के रूप में शालि, नीवार, कलम और श्यामाक का उल्लेख मिलता है। विहार, राजगीर एवं नालन्दा क्षेत्र में 'महाशील' नामक चावल होता था। जौ और तिल भी उपजाये जाते थे। धान, दाल, जौ, मटर, गेहूँ, सीम एवं चीनी भी उपलब्ध थे। ईख से गुड़ बनाये जाते थे। कई प्रकार के फल के वृक्ष लगाये जाते थे। रूई, कपास एवं पटुआ भी उपजाये जाते थे। मसाला, दवाइयों के पौधे एवं अनेक प्रकार की तरकारियों की भी खेती होती थी। जङ्गलों से भी देश को प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त होती थी। इनसे सागौन, सन्दल तथा आबनूस की लकड़ी मिलती थी। अमरकोश के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि विभिन्न प्रकार के धातु खान से निकाले

जाते थे—जिनमें सोना, चाँदी, ताम्बा, लोहा, शीशा, टिन प्रमुख हैं। छोटा नागपुर से ही ताम्बा और लोहा मिलता होगा। विभिन्न प्रकार के औजार एवं बड़ी-बड़ी चीजें जिनमें मेहरौली का लौह स्तम्भ भी था, कारखानों में बनते थे। खुदाई से लोहे एवं ताम्बे की कई चीजें मिली हैं। सोने का भी खूब काम होता था। सोने के सिक्कों के अतिरिक्त आभूषण सोने के बनाये जाते थे। विष्णुदास नाम का एक जौहरी पाटलिपुत्र का रहनेवाला था। ताँबे की मुहर और अभिलेख के लिए ताम्रपत्र मिले हैं। अजन्ता के चित्रों से यह स्पष्ट होता है कि शीशे के आइनों का व्यवहार भी उस युग में होता था। कुम्हरार और वैशाली की खुदाइयों से मिट्टी के अनेक प्रकार के सुन्दर बर्त्तन, मूर्त्तियाँ, खिलौने, मुहरें इत्यादि मिली हैं। मिट्टी के वर्त्तन का उद्योग उन्नत दशा में था। पत्थर का काम भी उस काल में होता था। पत्थरों की शिला पर अभिलेख अंकित किये जाते थे। पत्थरों की मूर्त्तियाँ बनाई जाती थीं। ईंट और पत्थर के मकान, मन्दिर और विहार भी बनाये जाते थे। हाथी के दाँत, चमड़ा और रेशम के उद्योग भी उन्नत दशा में थे। मन्दसार में रेशमी कपड़ा बुननेवालों का संघ था जिसमें रेशमी वस्त्रों का वर्णन निम्न प्रकार है—"यौवन और कांति से युक्त होने पर भी, सोने के हार, ताम्बूल, पुष्पधारण आदि से अलंकृत होती हुयी भी स्त्रियाँ एकान्त में अपने प्रियजन के पास नहीं जातीं जबतक दशपुर की बनी साड़ी और चादर नहीं धारण करतीं। स्पर्श करने में कोमल; अनेक रंगों की भंगियों से चित्रित, नयनाभिराम रेशमी वस्त्रों से सम्पूर्ण पृथ्वीतल अलंकृत है।[1]"

कपड़ा बुनना देश का मुख्य कारोबार था। सूती कपड़े महीन, रंग-बिरंगे और बूटेदार होते थे। कपड़े सिले जाते थे और चुस्त पैजामा, धोती, पगड़ी, चादर, बोडिस, दो खूँटवाली साड़ी, ओढ़नी इत्यादि का व्यवहार होता था। इस व्यवसाय में लाखों लोग काम करते थे। कपड़ा देश में बहुत से भागों में बनाया जाता था पर इसके प्रधान केन्द्र बंगाल, गुजरात एवं दक्षिण भारत के स्थानों में थे। वर्गगत व्यवसाय के रूप में लोग अपने-अपने घरों में अपना-अपना परम्परागत व्यवसाय करते थे। कपड़े जुलाहे, मिट्टी के वर्त्तन कुम्हार, लोहे के वर्त्तन, अस्त्र-शस्त्र एवं

---

१. तारुण्य-कान्त्युपचितोऽपि सुवर्णहार—
ताम्बूल—पुष्पविधिना समलंकृतोऽपि।
नारी-जनः प्रियमुपैति-न तावदश्र्यां
यावन्न पट्टमय-वस्त्रयुगानि धत्ते। २०॥
स्पर्शवता वर्णान्तर-विभाग-चित्रेण नेत्र-सुभगेन।
यत्सकलमिदं क्षितितलमलंकृत पट्टवस्त्रेण॥ २१॥

खेती के उपकरण लुहार, धातु के बर्तन कसेरे, लकड़ी के काम बढ़ई एवं आभूषण बनाने का काम सुनार करते थे। समुद्र से मोती भी निकालना देश का एक प्रमुख उद्योग था। आभूषणों एवं गृह-प्रसाधनों में नाना प्रकार के मणियों का भी प्रयोग होता था। लोह उद्योग एवं पोत निर्माण के अतिरिक्त अन्य उद्योग-धन्धों में भी गुप्त काल के भारतीय कारीगर अधिक दक्ष थे। वनस्पतियों द्वारा कारीगर विभिन्न प्रकार के रंग प्राप्त करते थे जिनका प्रयोग वे वस्त्र रंगने के कार्य में करते थे। सुवर्णकार की कला इतनी विकसित अवस्था में थी कि इसके द्वारा विज्ञान की एक नयी शाखा का जन्म हुआ जिसका नाम 'रत्नपरीक्षा' था। वात्स्यायन ने इसका उल्लेख अपने **कामसूत्र** में भी किया है। **दिव्यावदान** में भी इसका उल्लेख मिलता है जिससे यह पता लगता है कि व्यापारियों के पुत्रों को इस विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। बृहत्संहिता में चौबीस प्रकार के आभूषणों की सूची मिलती है जिनका प्रयोग उस समय किया जाता था। लोग विभिन्न रत्नों की विशिष्टताओं से परिचित थे। विशेष रूप से हीरों, मोतियों तथा लालों का उल्लेख उनके उत्पत्ति-स्थान, रंग तथा गुण के आधार पर किया गया था। हाथी-दांत से विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती थीं जिनका प्रयोग धनी-मानी लोग अपने घरों की शोभा बढ़ाने में करते थे।

व्यापार एवं श्रेणियाँ :—देश की आर्थिक उन्नति के लिये व्यापार आवश्यक है। गुप्त-काल में व्यापार बड़ी उन्नत दशा में था। जल एवं थल मार्ग के द्वारा देश के एक भाग से दूसरे भाग में माल भेजा जाता था। आन्तरिक व्यापार की वस्तुएँ कपड़े, खाद्य-पदार्थ, मसाले, नमक तथा बहुमूल्य वस्तुएँ थी। अनेक स्थलों पर बाजार का उल्लेख है। भड़ोच, उज्जयिनी, पैठन, विदिशा, ताम्रलिप्ति, प्रयाग, बनारस, गया, पाटलिपुत्र, वैशाली, कौशाम्बी, मथुरा, पेशावर आदि इस काल के प्रधान नगर थे। राजा अनेक प्रकार से व्यापारियों की मदद करता था और व्यापार तथा बाजार के नियन्त्रण के लिये नियम बने थे। महाकवि कालिदास शहरी बाजार एवं लम्बी-लम्बी कतारों में सजी दूकानों का उल्लेख करते हैं। उस समय सामान बैलगाड़ियों एवं जानवरों की पीठ पर ढोया जाता था। नदियों में गंगा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, कृष्णा एवं कावेरी से खूब माल ढोया जाता था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी अच्छी दशा में था। प्राचीन काल से ही देश का व्यापार पड़ोसी और दूरस्थ देशों से होता आ रहा है। जल के माध्यम से व्यापार के लिये बड़ी-बड़ी नावों का निर्माण किया जाता था। ताम्रलिप्ति बंगाल का सबसे बड़ा बन्दरगाह था। इससे होकर चीन, लंका, जावा एव सुमात्रा से व्यापार होता था। फाह्यान सामुद्रिक रास्ते से ही जावा होते हुये चीन लौटा था पर चीन के लिये मध्यएशिया का स्थलमार्ग भी खुला था, यद्यपि रास्ते में अनेक प्रकार के संकटों का सामना करना

पड़ता था। दक्षिण में गोदावरी तथा कृष्णा नदी के मुहाने पर बहुत अच्छे बन्दरगाह थे जिनके द्वारा भी पूर्वीद्वीप समूह एवं चीन से व्यापार होता था। ये बन्दरगाह पाश्चात्य देशों से भी व्यापार करते थे। कावेरीपट्टनम और तोन्दई चोल देश के प्रमुख बन्दरगाह थे, पाण्डय देश के प्रसिद्ध बन्दरगाह कोरकई तथा सलिपुर थे तथा इसी प्रकार मालावार के समुद्री तट पर कोट्टयम् और मूजिरिस प्रमुख बन्दरगाह थे। लंका की स्थिति बन्दरगाह के रूप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। भारत के पूर्वीय और पश्चिमी बन्दरगाहों को यह एक दूसरे से जोड़ता था।

लंका भारत से हाथी और घोड़े खरीदता था एवं भारत लंका से मोती, चाँदी और कपड़ा खरीदता था। काश्मीर से केसर चीन भेजा जाता था। कम्बोडिया में भी इसकी खास खपत होती थी। अनेक प्रकार के पौधे, मिर्च आदि पर्शिया भेजे जाते थे। चन्दन एवं जड़ी-बूटियाँ भी पर्शिया के बाजार में बिका करती थीं। चीन से रेशम भारत आता था। भारतीय रेशम व मसाला विशेषकर मिर्च रोम के बाजारों में खूब बिकता था। मुख्यतः भारत से मोती, बहुमूल्य पत्थर, कपड़े, सुगन्धित वस्तुएं, मसाले, नील, औषधियाँ, नारियल, हाथी दाँत आदि विदेशों को भेजे जाते थे एवं विदेशों से सोना, चाँदी, ताम्बा, टिन, शीशा, रेशम, कपूर, मूंगा, खजूर, घोड़े आदि आते थे। रोमन साम्राज्य में भारत से कश्मीरी भेड़ों के ऊन, मोती, लोहा, इत्र, हीरा, अजगर, चीता, मिर्च, आदी, लौंग, हाथी के दाँत एवं अनेक प्रकार के रेशमी कपड़े का निर्यात होता था। भारत एवं इथोपिया से भी घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। इथोपिया से बड़े-बड़े हाथी के दाँत, बहुमूल्य पत्थर भारत भेजे जाते थे।

व्यापारियों तथा व्यवसायियों ने अपनी श्रेणियाँ बना ली थीं। व्यापारियों का एक वर्ग ही था, जो अन्तर्देशीय और विदेशी व्यापार में लगा था। बड़े-बड़े सेठों का वर्णन मिलता है जो सूद पर रुपया लगाते थे। कभी-कभी सुविधा के लिये व्यापारियों के संगठन के संचालन के लिये मुखिया की नियुक्ति होती थी—वह नगरसेठ (नगरश्रेष्ठि) कहा जाता था। न केवल महाजनों तथा व्यापारियों की वरन् श्रमजीवियों की भी श्रेणियाँ बन गई थीं। जुलाहों, तेलियों तथा पत्थरकटों की भी श्रेणियाँ थीं। श्रेणी का समाज में बड़ा ही आदरणीय स्थान प्राप्त था। इन्हें पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। ये श्रेणियाँ अपने ही नियमों तथा उपनियमों द्वारा संचालित होती थीं। श्रेणियों के सदस्यों में आपस में मुकदमे हुआ करते थे उनका फैसला श्रेणी की व्यवस्थापिका करती थी—राज्य के न्यायालय नहीं। इन श्रेणियों के पास अपनी सम्पत्ति तथा अपना कोष होता था। किसी-किसी श्रेणी के पास तो इतना अधिक धन होता था कि वे मन्दिरों का निर्माण तक करा सकती थीं। मन्दसोर अभिलेख से पटकार श्रेणी के बहुत से सदस्यों का उल्लेख मिलता है जो

विभिन्न विद्याओं में निपुण थे। ए. एस. अल्तेकर का ऐसा कहना है कि आपत्ति की अवस्था में श्रेणियाँ अपने ही सदस्यों और कर्मचारियों की एक छोटी-मोटी सेना तैयार कर लेती थीं और इस सेना के द्वारा अपने सदस्यों के शरीर, सम्पत्ति तथा मालों की रक्षा कर सकती थीं। इन सबों को देखने से यह पता लगता है कि गुप्त-काल समृद्धि तथा वैभव का युग था। देश धन-धान्य पूर्ण था क्योंकि व्यापार, कृषि तथा कारोबार उन्नत दशा में थे।

व्यापार की सुविधा के लिये अनेक प्रकार के सिक्के प्रचलित किये गये थे। सुवर्ण, चाँदी और ताम्बे के सिक्के काफी संख्या में मिले हैं। सिक्के को दीनार भी कहा जाता था। सबसे अधिक सिक्के सोने के मिले हैं। भरतपुर के निकट बेयाना से १८०० से अधिक गुप्तकालीन सोने के सिक्के मिले हैं। ये सिक्के चन्द्रगुप्त (प्रथम) से आरम्भ होकर विष्णुगुप्त तक प्रायः सभी शासकों के मिलते हैं। चाँदी के सिक्कों का प्रारम्भ चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के समय में हुआ था। ये चाँदी के सिक्के कुमारगुप्त (प्रथम), स्कन्दगुप्त और बुधगुप्त तक ही सीमित हैं। ताँबे के सिक्के बहुत ही कम मात्रा में पाये गये हैं और वे कुछ ही शासकों के हैं। गुप्त-काल के कुछ बाद सोने के सिक्के का व्यवहार लुप्त हो गया।

गुप्त काल में भूमि के क्रय-विक्रय में मूल्य का निर्धारण इन्हीं सोने के सिक्कों में होता था। भू-कर के रूप में हिरण्य का उल्लेख मिलता है। इससे यह अनुमान लगता है कि कर का कुछ अंश सिक्कों में वसूल किया जाता था। कर्मचारियों को वेतन सिक्कों में ही दिया जाता था।

धार्मिक अवस्था

भारतीय धर्म एवं दर्शन के इतिहास में गुप्त-काल का बहुत बड़ा महत्त्व है। यह काल भारत के धार्मिक विकास के लिये भी विख्यात था। चूँकि मौर्य-काल में बौद्ध तथा जैन धर्म की बड़ी उन्नति हुई थी अतएव हिन्दू धर्म में सुधार का आन्दोलन आरम्भ हो गया। वास्तव में शुंगकाल हिन्दू-धर्म के पुनरुद्धार का काल था। गुप्त-काल में वह अधिक प्रगतिशील हो गया और राज्य का आश्रय पा जाने के कारण उसकी बड़ी उन्नति हुयी। गुप्त-नरेशों की धार्मिक उदारता बहुत ही प्रशंसनीय थी क्योंकि इन नरेशों ने आर्य धर्म की प्रत्येक शाखा को फलने-फूलने का अवसर प्रदान किया। धार्मिक सहिष्णुता की भावना केवल ब्राह्मण धर्म की विभिन्न शाखाओं में ही विद्यमान न थी बल्कि बौद्ध और जैन सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों में भी इसका प्रसार था।

गुप्त-काल के धार्मिक जीवन की यह मुख्य विशेषता यह है कि इस समय धर्म की जनवादी परम्परा को जिसकी अभिव्यक्ति शैव, वैष्णव और महायान सम्प्रदायों

के द्वारा हुयी थी, बड़ा प्रबल प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। ब्राह्मण धर्म के उस रूप को, जिसे हम आज हिन्दू धर्म कहते हैं, गुप्त-काल में वास्तविक स्वरूप प्राप्त हुआ। इस धर्म में वैदिक धर्म के तत्त्व भी विद्यमान थे। मूर्त्तिपूजा का प्रचलन इस काल के पूर्व ही प्रारम्भ हो चुका था पर इस काल में इसका व्यापक प्रचार देखते हैं।

इस काल में उच्च कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी तथा विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी शान्तिपूर्वक अपने-अपने मत का अनुसरण तथा प्रचार करते थे। यद्यपि समुद्र-गुप्त ब्राह्मण धर्म का कट्टर अनुयायी था पर उसने अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का कार्य बौद्ध आचार्य वसुबन्धु को सौंपा था। नालन्दा विश्वविद्यालय बौद्धों का था पर हिन्दू गुप्त नरेशों ने इस संस्था को अपार सम्पत्ति दी थी। यद्यपि कुमार गुप्त प्रथम भागवत धर्म का कट्टर अनुयायी था पर उसने वैदिक अश्वमेध यज्ञ किया था।

वैदिक-धर्म—इस काल में वैदिक धर्म की बड़ी उन्नति हुई। न केवल उत्तरी भारत में वरन् दक्षिण भारत में भी यह धर्म अत्यन्त लोकप्रिय हो गया था और कई अश्वमेध यज्ञ किये थे। वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन प्रथम ने चार बार अश्वमेध यज्ञ किया था। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य, कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त वैष्णव धर्मानुयायी थे पर वे वैदिक धर्म का सक्रिय पोषण करते थे। समुद्रगुप्त एवं कुमारगुप्त प्रथम ने भी इस यज्ञ को किया था। मौखरी राजाओं ने भी इस यज्ञ को किया था। ईसा की ५वीं शताब्दी तक वैदिक धर्म समाज में काफी लोकप्रिय था। भारशिव, वाकाटक एवं गुप्त नरेशों ने बड़े-बड़े अश्वमेध, वाजपेय, अग्निष्टोम आदि अनेक वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान किये। कई विचारधाराओं के प्रभाव के कारण, वैदिक धर्म अपने पुराने रूप में जनता को आकृष्ट नहीं कर सकता था, इसलिये वैदिक देवताओं में से प्रजापति, विष्णु, शिव, सविता आदि ने ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य आदि अधिक मानव रूप धारी देवताओं का बाना पहना एवं अपने प्रति प्रगाढ़ भावना को अधिक व्यापक भक्तिमार्ग का स्वरूप दिया।

गुप्त-काल के लेखों से इस बात का संकेत मिलता है कि उन्होंने ब्राह्मणों को प्रचुर दक्षिणायें दीं। ब्राह्मणों को दान देना वैदिक या ब्राह्मण धर्म का एक प्रमुख तत्त्व है। वैष्णव, शैव, शाक्त, ब्राह्म, सौर आदि धार्मिक सम्प्रदाय वैदिक धर्म की परम्परा में विकसित हुये। इनके अनुसार विष्णु के अवतारों (विशेष कर वाराह) और उनकी पत्नी लक्ष्मी; शिव और उनके परिवार (पार्वती, कार्त्तिकेय-स्कन्द आदि), शिव की शक्ति दुर्गा, चामुण्डा, वाराही आदि देवियों, सूर्य और ब्रह्मा आदि की भक्ति और पूजा प्रचलित हुई। इन देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ बनती थीं और मन्दिरों में उनकी पूजा होती थी। इनके अतिरिक्त तीर्थयात्रा, शान्तिक और स्वस्तिक पूजा-पाठ, लोकोपयोगी कार्य, दान-पुण्यादि कर्म लोग करते थे।

लेखों से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों के लिये विहित अग्निहोत्र तथा गृहस्थों के उपयुक्त महायज्ञों का महत्त्व बना हुआ था। लोग प्रायः इन यज्ञों को किया करते थे।

गुप्त-काल में जिस हिन्दूधर्म का विकास हुआ, वह समन्वयवादी था क्योंकि इसमें भक्तिवादी शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के तत्त्व वैदिक यज्ञ आदि के साथ मिले हुये थे। सामान्य जनता के बीच देश में भक्तिवादी सम्प्रदायों का अधिक प्रचार हो जाने पर भी वैदिक धर्म का सम्मान होता रहा। समाज के विवेकी और पढ़े-लिखे लोगों की नजर में वैदिक यज्ञ एवं संस्कारों का काफी महत्त्व था।

वैष्णव धर्म :—इस काल में वैष्णव धर्म बड़ा ही लोकप्रिय हो गया। उत्तरी भारत के साथ-साथ दक्षिणी भारत में भी इस धर्म का खूब प्रचार हुआ। गुप्त-नरेशों के वैष्णव भागवत धर्म का अनुयायी होने के कारण उनके संरक्षण में यह धर्म निर्बाध गति से उन्नति करने लगा था। वैष्णव मन्दिरों का निर्माण इस काल में बहुत होने लगा। भगवान विष्णु के दस अवतारों में चार अवतारों से लोग भलीभाँति परिचित थे और उनकी उपासना भी प्रचलित थी। इस काल के वराह, नृसिंह और वामन की मूर्त्तियाँ और कृष्णचरित सम्बन्धी अनेक फलक प्राप्त हुये हैं। पर राम की पूजा के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं क्योंकि इस काल तक राम को भगवान विष्णु का अवतार मानकर पूजा करने की प्रवृत्ति की शुरुआत नहीं हुयी थी। कृष्ण की ही भाँति राम की उपासना का भी प्रचलन अभी तक नहीं हुआ था। पर राम के अत्यन्त महान् और परम पावन चरित्र में भगवान के अर्थात् दैवी अंश का विचार इस समय में विकसित होना प्रारम्भ हो गया था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त के सिक्कों पर उन्हें 'परम भागवत' कहा गया है जिससे यह साफ-साफ पता चलता है कि वे भगवान वासुदेव के महान् भक्त थे। सरकारी लेखों में उन्होंने गरुड़ एवं लक्ष्मी का चिह्न अपनाया था। ये चिह्न उनके वैष्णव मत के अनुयायी होने के संकेत प्रकट करते हैं। मेहरौली (दिल्ली) के लौह स्तम्भ के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भगवान विष्णु का ध्वज स्थापित किया था। उनके चक्रविक्रम प्रकार के सिक्कों पर चक्रपुरुष का अंकन हुआ है। वह भी उनके वैष्णव होने का संकेत करता है। चक्रपालित ने सुदर्शन झील पर जो बाँध बँधवाया था, उसकी यादगारी में उसने चक्रभृत (विष्णु के एक रूप) के एक मन्दिर का निर्माण करवाया था। उदयगिरि गुफा का एक लेख विष्णु और दसभुजा चण्डी के चित्रों के ऊपर एक दिवाल में उत्कीर्ण है। बुधगुप्त के एरण अभिलेख में मातृविष्णु और ध्यानविष्णु द्वारा भगवान विष्ण के दूसरे रूप भगवान जनार्दन की यादगारी में एक ध्वजस्तम्भ बनवाये

जाने का उल्लेख मिलता है। इस अभिलेख में मातृविष्णु को, जो बुधगुप्त का सामन्त था, भगवान विष्णु का एक महान् भक्त कहा गया है।

गुप्त-काल में वैष्णव धर्म का प्रसार एवं प्रचार होने का एक मात्र कारण उस धर्म का अपना स्वरूप था जिसमें सभी प्रकार के लोक विश्वासों का एकीकरण हुआ था। वैष्णव भक्ति उस समय के सामाजिक दृष्टिकोण के अनुरूप थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता जो वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय की पत्नी थी, को वैष्णव होने की बात उनके अभिलेखों में मिलती है। प्रवरसेन द्वितीय के एक लेख में रुद्रसेन के ऐश्वर्य और वैभव को चक्रपाणि की कृपा का फल कहा गया है। जूनागढ़ में स्कन्दगुप्त से सम्बन्धित जो अभिलेख है, उसका आरम्भ विष्णु की प्रार्थना से हुआ है। गुप्त-काल के विभिन्न अभिलेखों से गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत सभी भागों में वैष्णव धर्म के प्रसार का परिचय मिलता है तथा इसका समर्थन मूर्त्तियों तथा मिट्टी की मुहरों से भी होता है।

शैवधर्म :—वैष्णव धर्म की ही तरह शैवधर्म भी इस युग में बड़ा ही लोकप्रिय था। गुप्त, पल्लव, एवं गंग वंश के राजा वैष्णव थे किन्तु भारशिव, वाकाटक, मैत्रक, कदम्ब तथा परिव्राजक वंशों के राजा शैव थे। यद्यपि गुप्त-नरेश स्वयं परम भागवत थे फिर भी उन्होंने शिवपूजा के प्रचलन में कोई बाधा उपस्थित नहीं की। शिव की पूजा इस काल में भिन्न-भिन्न प्रकार से होती थी। गुप्त-नरेशों के मन्त्री, उच्च पदाधिकारी एवं सेनानायक शैव थे। प्रायः लोग अपने या अपने पूर्वजों के नाम पर शिव-मन्दिर बनवाया करते थे। गुप्त एवं पल्लव राजाओं के सेनापति पृथ्वीशेण तथा विष्णुवर्मन ने अपने नाम से शिव मन्दिर बनवाये थे। शिव की मूर्त्तियाँ या तो एकमुख लिंग है या चतुर्मुख लिंग है जिनपर एक अथवा चार शिव के मुख बने हैं। शिव के पुत्र कार्त्तिकेय का मन्दिर एवं गणेश की मूर्त्तियाँ मिली हैं। शैवों में पशुपति, शम्भु, अर्धनारीश्वर रूप विशेष प्रचलित थे। इस काल में लोकप्रिय शैव-सम्प्रदाय माहेश्वर कहलाता था।

गुप्त-कालीन अभिलेखों एवं मूर्त्तियों से यह पता लगता है कि शैव धर्म के प्रति भी लोगों की वैष्णव धर्म की भाँति भक्ति-भाव की ही प्रधानता थी तथा जनसाधारण शिव की उपासना, उनके विविध रूपों में भक्ति-भाव से ही करते थे। करमदण्डा अभिलेख जो कुमारगुप्त प्रथम के समय का है, उससे यह प्रकट होता है कि गुप्त-काल में लोग शिव का जुलूस भी निकालते थे। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में सर्वप्रथम भगवान शिव का उल्लेख मिलता है जो शैव हरिषेण द्वारा उत्कीर्ण लेख है। इस प्रशस्ति में पशुपति (शिव) के जटाजूट से गंगा के निकलने का उल्लेख मिलता है। काशी में गुप्त-काल में अनेक शिव मन्दिर होने का प्रमाण हमें राजघाट (वाराणसी) से प्राप्त मिट्टी की मुहरों से लगता है। 'मेघदूत' में

कालिदास ने उज्जयिनी में महाकाल मन्दिर का उल्लेख किया है। कालिदास स्वयं शिव-भक्त भी थे, यह उनकी रचनाओं से प्रकट होता है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के मन्त्री वीरसेन ने उदयगिरि पर शिव पूजा के लिये एक मन्दिर का निर्माण कराया था। ध्रुवशर्मा नामक एक ब्राह्मण ने कुमारगुप्त प्रथम के समय में मिलसद में स्वामी महासेन के मन्दिर में दान दिया था। गुप्त सम्राटों के अधीन सामन्त लोगों में से कुछ शैव थे। परिव्राजक हस्तिन, वलभी के मैत्रक, मौखरि आदि शैव धर्मावलम्वी थे। गुप्तों के सम्बन्धी एवं मित्र वाकाटक नरेश भी शैव थे। गुप्तों के शत्रुओं में यशोधर्मन ने स्वयं को मन्दसोर अभिलेख में शिव-भक्त कहा है। हूणनरेश मिहिरकुल भी शैव था।

अन्य देवताओं की पूजा :—इस काल में विष्णु और शिव के अतिरिक्त अन्य कई देवी-देवताओं की भी पूजा की जाती थी। देवियों की कल्पना शिव-पत्नी के रूप में की गई। इस काल में शक्ति (देवी) की पूजा का भी प्रचलन था। बाद में चलकर शक्ति और शिव पूजा का एक दूसरे के साथ समन्वय होना प्रारम्भ हो गया। देवी के विभिन्न रूपों में भवानी, गौरी, कात्यायनी, पार्वती, सप्तदेव-मातृकाओं और उनसे सम्बद्ध डाकिनियों के मन्दिर भी मिलते हैं। महिषासुर मर्दिनी और देवी भद्राणी के मन्दिर भी विद्यमान थे। देवी के इन रूपों में उमा, गौरी, पार्वती, भवानी, अन्नपूर्णा, ललिता इत्यादि करुणाशील रूप थे तथा चामुण्डा, दुर्गा, कालरात्रि, कात्यायिनी और भैरवी के रूप भयंकर थे। देवी के सभी रूपों की मूर्त्तियाँ भारत के कई भागों में पाई गई हैं। पूर्वी भारत खासकर बंगाल शाक्त सम्प्रदाय के लिये मुख्य केन्द्र था। गुप्त नरेशों के सुवर्ण सिक्कों पर सिंहवाहिनी देवी का चित्र मिलता है, जो दुर्गा का ही स्वरूप है। इस काल में मातृकाओं के अपने मन्दिर भी बनने लगे थे।

शिव-पूजा के साथ कार्त्तिकेय एवं गणेश (शिव के पुत्र) की पूजा का भी प्रचार था। कार्तिकेय का स्कन्द एवं विशाख रूप में सर्वप्रथम उल्लेख पतञ्जलि के महाभाष्य में मिलता है। यह युद्ध का देवता था, जो विजयों की प्राप्ति कराता था। एक मन्दिर में स्वामी महासेन और ब्रह्मण्य के नाम से उसकी पूजा होती थी। कुषाण नरेश हुविष्क के सिक्कों पर स्कन्दकुमार, विशाख एवं महासेन के रूप में कार्तिकेय का नाम उद्धृत है। यौधेयों ने उन्हें मुख्य रूप से अपने सिक्कों पर अपनाया है।[1] कुमारगुप्त प्रथम के सिक्कों पर भी इसका चित्र मिलता है। कार्त्तिकेय की मूर्तियाँ अनेक स्थलों पर मिली हैं। गणेश बड़े ही लोकप्रिय देवता थे।

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिये—महेश कुमार शरण, ट्राइबल क्वायन्स—ए स्टडी, नयी दिल्ली, १९७२

पहाड़पुर के गणेश की कई प्रतिमाएँ, पाषाण तथा धातुओं की बनी हुई मिली हैं। गणेश को सभी विपत्तियों को दूर करनेवाला तथा सफलता देनेवाला देव समझा जाता था। गणेश को बौद्ध एवं जैन धर्मावलम्बी भी श्रद्धा की दृष्टि से देखने के साथ-साथ पूजा करने लगे।

सूर्य की भी पूजा इस काल में होती थी। उनके लिए मन्दिरों का भी निर्माण किया जाता था। मन्दसोर अभिलेख में सूर्य भगवान् की स्तुति मिलती है। इसी अभिलेख से दसपुर (मालवा) में जुलाहों की श्रेणी द्वारा एक जीर्ण सूर्य-मन्दिर का पुनर्निर्माण कराया गया था तथा एक नया मन्दिर भी बनवाया गया था। ग्वालियर में भी सूर्य मन्दिर का पता चलता है। स्कन्दगुप्त के इन्दौर वाले ताम्रपत्र में भगवान् सूर्य की स्तुति की गई है। स्कन्दगुप्त के समय में अन्तर्वेदी विषय स्थित सूर्य के मन्दिर को दीप जलाने के लिये देवविष्णु नामक ब्राह्मण ने धन का दान दिया था। हूण-नरेश मिहिरकुल ने भी अपने शासन के १५वें वर्ष में सूर्यमन्दिर का निर्माण कराया था। उच्छकल्प के महाराज सर्वनाग द्वारा बघेलखण्ड के आश्रमक स्थित सूर्य-मन्दिर को दान दिया गया था। सूर्य की प्रतिमाएँ भी यत्र-तत्र मिली हैं। एक सूर्य का चित्र सात घोड़ों के साथ अजमेर संग्रहालय में है। बंगाल में भी भगवान् सूर्य की कई मूर्त्तियाँ मिली हैं।

इस काल के शिलालेखों में वरुण, यम, कुबेर, इन्द्र जैसे देवताओं की उपासना के प्रमाण मिलते हैं। इस समय हिन्दू-धर्म अनेक सम्प्रदायों में बँटा हुआ था। फाह्यान ने इनकी संख्या ९६ बतलाई है। दान द्वारा पञ्चमहायज्ञ एवं अन्य श्रौत-कर्मकाण्डों के लिए व्यवस्था की गई थी। गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म वैदिक, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि अपने सभी रूपों में विकसित हुआ। इस काल में धर्म की मुख्य विशेषताएँ थीं भक्ति का उत्तरोत्तर प्राधान्य एवं समाजप्रेम। 'हर्षचरित' में हमें गुप्तकालीन धार्मिक सम्प्रदायों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—भागवत, पञ्चरात्र, सौगत (बौद्ध), मस्करिय, दिगम्बर, श्वेताम्बर। दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में सांख्य, लोकायतिक, वैशेषिक, वेदान्त और न्याय के उल्लेख मिलते हैं। गुप्त-काल में एक प्रकार के नवीन ब्राह्मण धर्म का उत्थान हुआ। धार्मिक विश्वास और पूजा पद्धति की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। सरकारी सेवाओं में धर्म बाधक नहीं था। नाग एवं यक्ष की भी पूजा होती थी।

इस काल में मन्दिरों में पूजा करना एक सामान्य धार्मिक नियम हो गया। इसके पहले के समय में हमें देवी-देवताओं की मूर्तियाँ तो मिली हैं पर मन्दिरों का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। अतः भारत में इसी काल से मन्दिरों का निर्माण होना प्रारम्भ हुआ तथा मन्दिरों का निर्माण एक पवित्र कृत्य समझा जाता था।

भगवान् शिव, विष्णु एवं शिव के मन्दिरों का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। ये मन्दिर शनैः शनैः हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के केन्द्र बन गये। मन्दिरों का महत्त्व केवल धार्मिक दृष्टिकोण से ही नहीं था वरन् सामाजिक जीवन की अभिवृद्धि एवं संस्कृति-संरक्षण और सम्पोषण के कार्यों में भी उनका महत्त्वपूर्ण योगदान था। मन्दिरों के द्वारा गरीबों को मुफ्त भोजन भी देने की व्यवस्था थी।

हिन्दू धर्म का विदेशों में प्रचार :—हम कह चुके हैं कि विदेशियों ने किस प्रकार हमारे हिन्दू धर्म को अपनाया था। गुप्त-काल में भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार होने पर हिन्दू धर्म भी वहाँ फैल गया। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो में हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा का काफी प्रचार था। वहाँ के निवासियों ने हिन्दुओं की धार्मिक विचारधाराओं को ग्रहण किया। चौथी शताब्दी तक मेसोपोटामिया और सीरिया में हिन्दू मन्दिरों का अस्तित्त्व बना रहा।

बौद्ध धर्म :—इस युग के पूर्व ही बौद्ध धर्म में महायान मत का उदय हो गया था। बौद्ध जनता ने बुद्ध की सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता में विश्वास कर बुद्ध को ईश्वर का पद दे डाला था। इस समय बुद्ध, बोधिसत्त्व एवं अवलोकितेश्वरों की मूर्तियाँ चैत्यों में प्रतिष्ठापित होने लगी थीं। लोकरुचि के अधिक निकट होने के कारण महायान धर्म अधिक लोकप्रिय हो गया था फिर भी इस काल में हीनयान मत भी अधिक विकसित अवस्था में था। हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या कम न थी। बौद्ध धर्म का महायानी रूप वैदिक भक्तिमार्ग के अधिक निकट था। इन दोनों धर्मों में समन्वय और सङ्गम तेजी से हो रहे थे। बौद्ध धर्म को माननेवाले लोग बहुत थे। इसका प्रमाण हमें फाह्यान से लगता है जिसने बहुत से नगरों एवं स्थानों में बौद्ध-स्तूप, विहार, चैत्य देखा था। सिंहलद्वीप के बौद्धों ने यहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार जोरों से प्रारम्भ किया और न केवल आन्ध्र तथा तामील, कर्णाटक तथा कोंकण में वरन् बंगाल, काश्मीर तथा गांधार में भी इसका खूब प्रचार किया। लंका के राजा मेघवर्ण ने ३५० ई० में बोधगया में बौद्ध भिक्षुओं के लिए एक मठ बनवाया था। इस काल में महायान सम्प्रदाय में बड़े-बड़े दार्शनिक हुए जिन्होंने इस सम्प्रदाय के गौरव को बढ़ाया एवं इसका खूब प्रचार किया। नागार्जुन, आर्यदेव, असङ्ग, वसुबन्धु एवं दिगनाग इस काल के महान् दार्शनिक थे। माध्यमिक एवं योगाचार दर्शनों का विकास इसी काल में हुआ। माध्यमिक शिखा के प्रवर्तक नागार्जुन थे एवं योगाचार के मैत्रेयनाथ। नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव ने इसी काल में 'चेतुःशतक' की रचना की थी। 'व्रजच्छेदिका' 'प्रज्ञापारमिता' एवं 'प्रज्ञापारमिता हृदय-सूत्र' की रचना इसी काल में हुई थी। योगाचार शाखा के कई मुख्य ग्रन्थों की रचना ३०० ई० में असंग ने पेशावर में की थी। असंग के

छोटे भाई वसुबन्धु ने जो पूर्व में हीनयान सम्प्रदाय का अनुयायी था, बाद में महायान में आकर 'विशटीका' एवं 'त्रिशटीका' नामक वैज्ञानिक पुस्तकों की रचना की। तर्कशास्त्र नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी जिसे बौद्धधर्म का मूलाधार कहा जाता है। दिगनाग इस काल के उच्चकोटि के दार्शनिक थे। इन सब विवरणों से यह पता लगता है कि इस काल में बौद्ध धर्म प्रगतिशील था। 'दीपवंस' एवं 'महावंस' की भी रचना इसी युग में हुई। बुद्धघोष एक प्रसिद्ध लेखक था।

तत्कालीन अभिलेखों से हमें जनसाधारण के भाव बौद्धधर्म के प्रति मिलते हैं। इन अभिलेखों से बौद्ध केन्द्रों के रूप में मथुरा, साँची, बोधगया, कुशीनगर का परिचय मिलता है। कपिलवस्तु, रामग्राम, श्रावस्ती एवं वैशाली फाह्यान के आगमन के समय उजाड़ दशा में थे। इनकी ऐसी दशा राजनीतिक एवं आर्थिक कारणों से थी न कि बौद्धधर्म के ह्रास के कारण। हमें इस बात का पूरा प्रमाण मिलता है कि गूप्तकाल में काश्मीर, अफगानिस्तान एवं पञ्जाब में बौद्धधर्म उन्नत दशा में था।

यद्यपि हीनयान और महायान मतों के केन्द्र भारत के विभिन्न भागों में थे फिर भी इन दोनों मतों के लोग एक-दूसरे से अलग नहीं रहते थे। नालन्दा, विक्रमशिला एवं पाटलिपुत्र के शिक्षा केन्द्रों में इन दोनों मतों के माननेवाले साथ-साथ रहते थे। फाह्यान ने अफगानिस्तान, पञ्जाब, मथुरा और पाटलिपुत्र में इन दोनों सम्प्रदायों के अनुयायियों को साथ रहते देखा था। हजारों की संख्या में बौद्ध भिक्षु अजन्ता, एलोरा, कन्हेरी, जुन्नार आदि की गुफाओं तथा गुफा-मन्दिरों में निवास करते थे। आन्ध्र के नागार्जुनी कोंडा नामक विहार में हजारों की संख्या में बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। कांची और वलभी में भी कुछ बौद्ध विहार थे जो बौद्ध दर्शन, धर्म और शिक्षा के केन्द्र थे। वैष्णव धर्म के अनुयायी होते हुए भी गुप्त-नरेशों ने बौद्ध धर्म पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया वरन् इस धर्म के प्रचार के लिये उन्होंने उदारतापूर्वक दान भी दिया। सारनाथ (वाराणसी) में तो गुप्तकाल में एक सुन्दर महाविहार था। वहाँ से अनेक अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं जिनमें इस काल में अनेक लोगों द्वारा बुद्ध मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित किये जाने का उल्लेख मिलता है। बौद्ध धर्म का प्रभाव केवल उनके केन्द्रों में ही सीमित नहीं था बल्कि अन्य जगहों में भी बौद्ध धर्म की मान्यता बनी हुई थी।

कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि गुप्त-काल में बौद्ध धर्म अवनति की ओर था। पर यह कहना गलत एवं भ्रामक मालूम पड़ता है क्योंकि इत्सिंग के विवरण से हम यह जानते हैं कि गुप्त बंश के संस्थापक श्रीगुप्त ने मृगशिखापत्तन (सारनाथ) में एक बौद्ध मन्दिर बनवाया था। हम इस तथ्य को भूल नहीं सकते कि समुद्रगुप्त ने सिंहल नरेश मेघवर्ण को बोध गया में बौद्ध विहार बनाने की

अनुमति प्रदान की थी। इसके अतिरिक्त ह्वेनसांग के कथन से यह स्पष्ट होता है कि स्कन्दगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों ने नालन्दा में संघाराम बनवाये थे। इन उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने देश के विभिन्न भागों को लेकर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि गुप्तों के समय में बौद्ध धर्म काफी समृद्ध अवस्था में था। कहीं-कहीं तो जनसाधारण भी बौद्ध मत को सक्रिय सहायता प्रदान करते थे। भगवान बुद्ध की प्रतिमायें देश में काफी संख्या में पाई गई हैं, उनके द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म का प्रचार अब भी काफी था। जब बौद्ध विहारों में व्यभिचार और अनाचार के दोष प्रविष्ट हो गये तो जनता की श्रद्धा बौद्ध धर्म एवं बौद्ध भिक्षुओं के प्रति नहीं रह गयी। पर बौद्ध धर्म गुप्त काल में इस दोष से बचा रहा इसीलिये यह इस समय फल-फूल रहा था।

जैन धर्म :—वैष्णव, शैव, बौद्ध धर्मों की अपेक्षा उत्तर भारत में जैन धर्म को माननेवालों की संख्या बहुत ही कम थी। इसका मुख्य कारण था इसके कठोर नियम जिससे बहुसंख्यक जनता को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सका। अन्य धर्मों की भाँति जैन धर्म भी अनेक सम्प्रदायों में विभक्त था जिनमें श्वेताम्बर और दिगम्बर प्रमुख हैं। यद्यपि जैन धर्म का उद्भव उत्तर भारत में हुआ फिर भी उसका प्रचार दक्षिण और पश्चिम भारत में ही विशेष पाया जाता है। गुप्तकालीन साहित्यों में इस धर्म की समुचित चर्चा उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त इससे सम्बन्धित अभिलेख और मूर्तियाँ भी अधिक संख्या में प्राप्त नहीं हुई हैं। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इस काल में इस धर्म का जनसाधारण में अधिक प्रचार न था फिर भी उत्तर भारत के सभी भागों में इस धर्म को माननेवाले कुछ न कुछ लोग अवश्य थे।

जैन धर्म के श्वेताम्बर सम्प्रदाय की दो सभायें मथुरा तथा वलभी में ३१३ ई० में हुई। इन सभाओं में विवादों पर विचार करके उनका निर्णय किया गया। पुनः श्वेताम्बरों की दूसरी सभा वल्लभी में ४५३ में हुयी। इसमें पहली सभा की निर्णीत बातों को लिपि-बद्ध किया गया। इस काल में अन्य सम्प्रदायों की तरह जैन धर्म के आचार्यों ने भी जैन ग्रन्थों पर भाष्य लिखे जिसका प्रमाण हमें 'निरुक्ति' तथा 'चूर्णि' नामक भाष्य से मिलता है। उमास्वामी ने तत्वार्थाधिगमसूत्र की तथा सिद्धसेन ने 'न्यायावतार' की रचना प्राकृत के स्थान पर संस्कृत में की थी। मथुरा एवं वलभी इस काल में श्वेताम्बर जैनियों के केन्द्र थे एवं उत्तरी बंगाल में पुण्ड्रवर्धन दिगम्बर सम्प्रदाय वालों का केन्द्र था। वैदिक एवं बौद्ध धर्म की ही भाँति जैन धर्म में भी तीर्थंकरों की मूर्त्तियों की पूजा मन्दिरों में होती थी एवं स्तुति, अर्चन, पूजन, तीर्थयात्रा, दान-पुण्यादि प्रचलित थे। गोरखपुर (उत्तरप्रदेश) के पास देवरिया जिला में प्राप्त स्कन्दगुप्तकालीन कहाँव

अभिलेख से ऐसा मालूम होता है कि मद्र नामक व्यक्ति ने पाँच जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों की स्थापना की पर उसका हृदय ब्राह्मणों, यतियों और गुरुओं के लिये स्नेह से भरा हुआ था। इसी प्रकार उदयगिरि भी जैनियों की बस्तियों का स्थान था। दक्षिण भारत में कर्णाटक तथा मैसूर में जैन धर्म खूब प्रचलित था। यहाँ पर दिगम्बर सम्प्रदायवालों की अधिकता थी। जैन धर्म को कदम्ब एवं गंग राजवंश का आश्रय प्राप्त था। तामिल प्रदेश में भी जैन धर्म का प्रचार था एवं कई तामिल ग्रन्थों की रचना जैनियों ने की थीं। जैन मन्दिरों में पूजा बड़े धूम-धाम से की जाती थी और इस पर काफी धन खर्च किया जाता था। जैन मठों के पास काफी धन थे। जैन भिक्षु-भिक्षुणियाँ इस काल में अपने कर्त्तव्यों से विमुख होते जा रहे थे। कुछ जैन भविष्यवाणी एवं 'जिन' की मूर्त्तियों के बेचने का बीड़ा उठा लिया था।

फाह्यान ने जैन धर्म का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है जिससे यह प्रतीत होता है कि जैन धर्म उसके समय में अच्छी अवस्था में नहीं था। किन्तु व्यापारियों एवं मध्य वर्ग के लोगों में इस धर्म का काफी प्रचार था। मथुरा से प्राप्त एक लेख में एक जैन स्त्री हरिस्वामिनी द्वारा जैन मूर्त्ति के दान का उल्लेख मिलता है। इसी तरह उदयगिरि के लेख से भी, जो कुमारगुप्त प्रथम के समय का है, यह पता चलता है कि शंकर नामक एक व्यक्ति ने पार्श्वनाथ की एक मूर्त्ति स्थापित की थी। कदम्ब राजाओं ने जैन भिक्षुओं को प्रचुर धन दान के रूप में दिया था एवं अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था। किन्तु कालान्तर में जैन धर्म को शैव धर्म के रूप में एक मजबूत प्रतिद्वन्द्वी मिल गया जिसके कारण दक्षिण में भी जैन धर्म का प्रचार कम हो गया। पर यह धर्म जड़मूल से नष्ट नहीं हो सका और आज भी तामिल, गुजरात एवं मालवा में जैनियों की काफी संख्या है। इन सबों के देखने से यह स्पष्ट होता है कि जैन धर्म भी अन्य धर्मों की भाँति गुप्त काल में फलता-फूलता रहा।

भाषा साहित्य और विज्ञान

गुप्त काल के पूर्व देश में बौद्ध एवं जैन धर्म का काफी प्रचार था। इन दोनों धर्मों का साहित्य पालि और प्राकृत था। इतिहासकारों की ऐसी धारणा है कि गुप्त-काल में उन धर्मों का ह्रास हुआ और उनके साथ वैष्णव एवं शैव धर्म समाज में आगे आया। धर्म सम्बन्धी इस नयी चेतना के साथ ही साहित्य में भी पुनर्जागरण हुआ और पालि तथा प्राकृत का स्थान संस्कृत ने ग्रहण किया पर यह मत बिल्कुल ही गलत एवं भ्रामक है। संस्कृत साहित्य किसी भी समय देश में उपेक्षित नहीं रहा। गुप्त सम्राटों के लम्बे शासन-काल में साहित्य की निरन्तर उन्नति हुई। साहित्य और विज्ञान के उत्कर्ष से यह स्वयं सिद्ध है कि इस समय शिक्षण-व्यवस्था स्तुत्य रही होगी।

संस्कृत :—इस काल में साहित्य-प्रेमी सम्राटों के आश्रय में साहित्य की अपूर्व उन्नति हुई। संस्कृत भाषा की सत्ता साहित्यिक क्षेत्र में स्थापित हो गई और उसने राष्ट्रभाषा का स्वरूप धारण कर लिया। संस्कृत से न केवल भारतीग विद्वान वरन् विदेशी भी आकृष्ट हुये। संस्कृत भाषा और साहित्य शक-कुषाण काल में रचनात्मक प्रतिभा के कारण काफी प्रगति कर चुका था पर गुप्तकाल में इस साहित्य की बहुमुखी श्रीवृद्धि हुई। रुद्रदामन जैसे विदेशी सम्राट् इस मनोहर भाषा की ओर आकृष्ट हुआ था तथा अवकाश के समय इसका अध्ययन करता था तथा उसने संस्कृत में अनेक ललित रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। धार्मिक क्षेत्र में महायानी बौद्धों ने गुप्तों के उत्थान से लगभग एक शताब्दी पूर्व से ही अपने धार्मिक ग्रन्थों की रचना संस्कृत में करना आरम्भ कर दिया था। यद्यपि गुप्त सम्राट् वैश्य थे पर संस्कृत से उनका बड़ा ही प्रेम था तथा उनके आश्रय में संस्कृत की काफी उन्नति हुई। गुप्त अभिलेखों में संस्कृत काव्य के जिस उत्कृष्ट रूप का दर्शन होता है, उससे यह मालूम होता है कि इसकी परम्परा काफी प्राचीन थी। विभिन्न प्रकार के छन्दों, भाषा के प्रवाह एवं शब्दों के मिलन तथा भावों की उच्चता आदि की दृष्टि से गुप्त काल के अभिलेख संस्कृत काव्य के इतिहास में अपना गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। समुद्रगुप्त स्वयं एक बड़ा कवि था। उसका मन्त्री हरिषेण प्रयाग प्रशस्ति का लेखक वत्सभट्टि भी एक महान् कवि था। मेहरौली लौहस्तम्भ लेख के लेखक का नाम हम नहीं जानते पर लेख की भाषा ओजमयी और सप्राण है। स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भलेख का लेखक प्रशस्ति लिखते समय एक उदात्त भावना से उत्प्रेरित हुआ जान पड़ता है।

बिशुद्ध साहित्य :—इस युग में महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, आख्यायिकायें जिन्हें विशुद्ध साहित्य की संज्ञा दी गयी थीं, की काफी उन्नति हुई। कालिदास एक महान् विद्वान थे। उनके ग्रन्थों में कुमारसम्भव, रघुवंश और अभिज्ञानशाकुन्तलम् जगत् प्रसिद्ध हैं। उनकी कविता अपनी ध्वन्यात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। 'कुमारसंभवम्' एवं 'रघुवंशम्'-महाकाव्य हैं। उनके दो खण्ड काव्य 'मेघदूतम्' एवं 'ऋतुसंहार' है। उनके नाटकों में 'विक्रमोर्वशीयम्', 'मालविकाग्निमित्रम्' एवं 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' हैं। 'कुन्तलेश्वर दौत्य' नामक एक अन्य नाटक भी कालिदास द्वारा लिखा गया था पर वह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सुन्दरता, सरलता एवं सरसता इनकी कविता के प्रधान गुण हैं।

शूद्रक इस युग के दूसरे साहित्यकार थे। उसने 'मृच्छकटिक' नामक नाटक की रचना की। यह संस्कृत साहित्य का अत्यन्त ही मनोरञ्जक नाटक है जिसमें समाज के यथार्थवादी, दैनिक जीवन के चित्र मिलते हैं। चरित्र चित्रण, ऋतु वर्णन, अलङ्कार और तत्कालीन सामाजिक दशा के वर्णन के लिये जहाँ यह नाटक एक

ओर प्रसिद्ध है, वहाँ दूसरी ओर नाटकीय गति के लिये भी। इस नाटक में नाटककार की व्यापक सहानुभूति का परिचय इस बात से मिलता है कि उसने समाज के नीच कहे जाने वाले लोगों को भी अपने नाटक का पात्र बनाया है और सहानुभूति के साथ उनकी चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन किया है।

विशाखदत्त इस युग के तीसरे बड़े नाटककार थे। उसने 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक की रचना की थी। इस नाटक में चाणक्य का व्यक्तित्व बड़ा ही प्रभावशाली है एवं इसमें उस क्रान्ति का दिग्दर्शन है जिसके द्वारा चन्द्रगुप्त मौर्य मगध के राजसिंहासन पर बैठा था। संस्कृत नाटकों के इतिहास में इस नाटक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें कूटनीति के दाँव-पेंच का वर्णन मिलता है जिससे इसे इतिहासकारों ने राजनीतिक नाटक भी कहा है। विशाखदत्त ने 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नामक अन्य नाटक लिखा है जिसमें यह वर्णन है कि किस प्रकार कुमार चन्द्रगुप्त ने अपनी भाभी के रूप में शक-नरेश का वध किया था और अन्त में मगध के राजसिंहासन पर आसीन हुआ।

मातृगुप्ताचार्य इस काल के एक अन्य कवि थे। वे गरीब थे अतः विक्रमादित्य के आश्रय में थे। कुछ इतिहासकार तो मातृगुप्त को ही कालिदास मानते हैं। इनके एक भी ग्रन्थ मूलरूप में हमारे समक्ष नहीं है पर उद्धरणों से ही केवल उनका नाम जाना जाता है। एक दूसरे कवि के रूप में हमारे समक्ष भतृमेण्ठ आते हैं। कल्हण के अनुसार इन्होंने 'हयग्रीववध' नामक काव्य की रचना की। सुबन्धु इस काल के एक प्रसिद्ध गद्य लेखक था। इसे संस्कृत में कथा साहित्य का सर्वप्रथम लेखक माना जाता है। इसने 'वासवदत्ता' की रचना की। लम्बे समासों और अनेक विशेषणों से युक्त शैली में भी सुबन्धु ने अनेक स्थलों पर ओज भर दिया है। बाण के शब्दों में इसके बासवदत्ता के कारण कवियों के गर्व चूर हो गये। 'किरातार्जुनीयम' के लेखक भारवि इस काल का अन्य बड़ा विद्वान था। इस काल के भट्टि नामक विद्वान ने 'रावणवध' नामक महाकाव्य की रचना की जिसके प्रत्येक श्लोक के द्वारा संस्कृत व्याकरण के किसी न किसी नियम का विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त राम के जीवन की घटनाओं का वर्णन भी किया गया है। कुछ इतिहासकारों के मतानुसार भत्तृहरि का ही दूसरा नाम भट्टि है। भत्तृहरि के तीन ग्रन्थ 'नीतिशतक', 'श्रृङ्गारशतक' और 'वैराग्यशतक' अपनी दृष्टि से अतुलनीय एवं काफी महत्त्वपूर्ण हैं। इन सब ग्रन्थों के अतिरिक्त गुप्त काल में 'रामायण' एवं 'महाभारत' के अन्तिम संस्करण तैयार किये गये। विष्णुशर्मा ने संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पंचतंत्र' की रचना गुप्त-काल में ही की थी। यह ग्रन्थ बड़ा ही शिक्षाप्रद तथा लोकप्रिय है। विश्वसभ्यता की भारतीय देनों में इस पुस्तक का भी नाम आता है। प्रस्तुत पुस्तक में कथाओं के माध्यम द्वारा नैतिक शिक्षा

और सांसारिक जीवन के अनुभव प्रदान करने का सफल प्रयास किया गया है। इस पुस्तक का अनुवाद विश्व की कई भाषाओं में किया गया है।

इनके अतिरिक्त 'कौमुदीमहोत्सव' एवं 'जयाख्यसहिता' को भी गुप्त-काल की ही रचना बतलाया जाता है। बंगाल के एक चन्द्रगोमिन नामक बौद्ध ने 'चन्द्र-व्याकरण' की रचना इसी काल में की। अलंकार शास्त्र के रचयिता भामह का आविर्भाव इसी युग में हुआ था। इनका पूरा नाम भामहाचार्य था। इनके ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार है। इसी काल में अमरसिंह ने 'अमरकोष' की रचना की। अमरसिंह नवरत्नों में एक थे और ये बौद्ध भी थे। 'श्रुतबोध' की रचना इस काल में हुई। यह छन्द का ग्रन्थ है। वराहमिहिर ने भी बृहत्संहिता के कुछ भागों के छन्दों की विवेचना की है।

धार्मिक साहित्य :—इस काल के धार्मिक साहित्य में सबसे अधिक महत्त्व के पुराण हैं। वैदिक संस्कारों एवं भक्तिवादी धार्मिक आन्दोलन के समन्वय का सर्वप्रथम प्रयास पुराणों का ही रूप है। पुराणों ने ही हिन्दू धर्म का वर्तमान स्वरूप बनाया है। पुराणों की रचना का प्रारम्भ गुप्त युग के पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था पर आज वे जिस रूप में पाये जाते हैं, वह रूप अधिकांशतया गुप्त काल में ही दिया गया। सम्भवतः 'अग्निपुराण' का वह अंश जो छन्दों की व्याख्या करता है, इसी काल में लिखा गया। ठीक इसी तरह 'विष्णु धर्मोत्तर' पुराण का वह भाग जो चित्रकला से सम्बन्ध रखता है, वह भी इसी काल में लिखा गया। पुराणों का परिवर्धन इसी काल में हुआ था। मनुस्मृति के आधार पर इस काल में स्मृतियों का भी प्रणयन किया गया था। याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन एवं बृहस्पति की स्मृतियाँ सम्भवतः इसी युग में लिखी गई थीं। स्मृति ग्रन्थों के अध्ययन से यह पता चलता है कि इस काल में सिविल कानूनों एवं न्याय सम्बन्धी नियमों का काफी अधिक विकास हो रहा था। 'कामन्दकीय नीतिसार' की भी रचना इसी काल में की गई। इस ग्रन्थ का मूलस्रोत कौटिलीय अर्थशास्त्र से है। कामन्दक ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों एवं शिक्षाओं को ही अपने ग्रन्थ का आधार बनाया है। 'कामन्दकीय नीतिसार' का महत्त्व इसलिये बढ़ जाता है कि अन्य ग्रन्थ से लिये गये विषय का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में अधिक सहज रीति से किया गया है।

दार्शनिक साहित्य :—दर्शन के क्षेत्र में भी यह युग काफी महत्त्व का है। भारतीय दर्शन के इतिहास में गुप्तकाल भाष्यरचना का काल कहा जाता है। हिन्दुओं, बौद्धों एवं जैनियों सभी धर्मों ने अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिये अनेक ग्रन्थों की रचना की। परमार्थ नाम का एक बौद्ध चीन के सम्राट् के निमन्त्रण पर चीन गया था जिसने वसुबन्धु की जीवनी लिखा है।

उस ग्रन्थ से ऐसा पता लगता है कि विक्रमादित्य के दरबार में वसुबन्धु, विन्ध्यवासी एवं बुद्धमित्र के बीच काफी वादविवाद हुआ था। वसुबन्धु ने विन्ध्यवासी द्वारा लिखित सांख्यशास्त्र का खण्डन करने के लिये 'परमार्थ सप्तशती' नामक पुस्तक लिखी। सांख्य दर्शन पर सर्वप्रथम टीका लिखने वाले ईश्वरकृष्ण थे जिसने 'सांख्यकारिका' नामक ग्रन्थ लिखा। कुछ इतिहासकारों ने ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवासी ही माना है पर कुछ दूसरे इतिहासकारों ने इस मत का खण्डन कर यह प्रतिपादित किया है कि ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासी दोनों दो व्यक्ति हैं। ईश्वरकृष्ण एवं दिङ्नाग में वाद विवाद की चर्चा मिलती है।

'न्यायभाष्य' की रचना वात्स्यायन ने एवं 'न्यायवार्तिक' की रचना उद्योतकर ने की थी। वे पाशुपत मत के आचार्य थे। न्याय का बौद्ध दार्शनिकों आदि ने जो खण्डन किया था, उन आलोचनाओं का प्रमाणपूर्वक खण्डन करके उद्योतकर ने गौतम न्याय की प्रामाणिकता सिद्ध की। इसके अतिरिक्त दिङ्नाग और वसुबन्धु के मतों का खण्डन किया है। चीनी ग्रन्थों के आधार पर हम यह जानते हैं कि वसुबन्धु ने वाद विषयक तीन ग्रन्थों—'वादविधि', 'वादमार्ग' एवं 'वादकौशल' की रचना की थी। चन्द्र नामक विद्वान ने 'दशपदार्थ शास्त्र' लिखा जिसका अब केवल हमारे समक्ष चीनी संस्करण ही उपलब्ध है। 'वैशेषिक दर्शन' में प्रशस्तपाद के ग्रन्थ का नाम 'पदार्थसंग्रह' है। 'पूर्वमीमांसा दर्शन' में जैमिनी का नाम मुख्य है। मीमांसा पर शबरस्वामी ने अपना भाष्य लिखा है। इसमें शून्यवाद तथा विज्ञानवाद और महायान का उल्लेख है। सांख्यदर्शन में 'सांख्यकारिका' एवं माठरवृत्ति, न्याय में वात्स्यायन का न्यायभाष्य एवं उद्योतकर की टीका, वैशेषिक में प्रशस्तपाद का भाष्य तथा मीमांसा में शबर स्वामी का भाष्य भारतीय दर्शन साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

अन्य साहित्यिक ग्रन्थ :—मल्लिनाथ नामक एक टीकाकार ने 'मेघदूत' की अपनी टीका में चान्द्र द्वारा चलायी गयी व्याकरण पद्धति का उल्लेख किया है। अन्य व्याकरण ग्रन्थों की भी रचना इस काल में हुयी पर इनमें से अधिकांश टीकाएं थीं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि भर्तृहरि ने पतञ्जलि के महाभाष्य पर अपनी टीका लिखी, पर आज वह टीका उपलब्ध नहीं है। इसी समय जिनेन्द्र बुद्धि ने काशिका पर अपनी 'न्यास' नामक टीका लिखी। माघ ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'शिशुपालवध' में 'न्यास' का उल्लेख किया है।

(अ) **बौद्ध साहित्य :**—इस काल में बौद्ध धर्म की दोनों शाखायें—हीनयान और महायान—दो-दो उपशाखाओं में विभक्त हो गई। हीनयान की दो शाखायें—थेरवाद (स्थविरवाद) और वैभासिक (सर्वास्तिवाद) थीं। महायान सम्प्रदाय

की दो उपशाखायें विभिन्न थीं—माध्यमिक एवं योगाचार। असंग योगाचार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य थे। इन्होंने पाँच प्रमुख ग्रन्थों का प्रणयन किया—(१) महायान सम्प्ररिग्रह, (२) प्रकरण आर्यवाचा, (३) महायानाभिधर्मसंगीतिशास्त्र, (४) वज्रछेदिका टीका एवं (५) योगाचार भूमिशास्त्र। असङ्ग के अलावे आचार्य मैत्रेय भी इस सम्प्रदाय के लिए वहुत प्रसिद्ध थे, जिन्होंने सूत्रालंकार, मध्यान्तविभङ्ग, धर्मधर्मताविभङ्ग, महायान उत्तरतन्त्र एवं अभिसमयालङ्कारकारिका आदि ग्रन्थों की रचना की। ये संस्कृत के बड़े विद्वान थे। असङ्ग को कुछ लोगों ने वसुबन्धु असङ्ग के नाम से कहा है। वसुवन्धु भी प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य और बड़े वाक्पटु थे। इन्होंने हीनयान और महायान दोनों पर ग्रन्थ लिखे हैं। ये पेशावर के रहनेवाले थे तथा अपनी प्रौढ़ावस्था में अयोध्या आये थे। यहाँ पर इन्होंने बुद्धमित्र से हीनयान सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। 'परमार्थसपृशती' इनका प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। इसके साथ ही 'अभिधर्मकोश' इनकी प्रमुख रचना है जिसका प्रणयन उन्होंने वैभाषिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन करने के लिए किया था। बुढ़ापे में आकर ७० वर्ष की अवस्था में अपने भाई असंग की प्रेरणा से ये महायान सम्प्रदाय के योगाचार मत में दीक्षित हुये। इनके चार शिष्य थे—स्थिरमति, दिङ्नाग, आर्यविभुक्तसेन एवं गुणप्रभ। स्थिरमति ने अपने गुरु-द्वारा रचित विभिन्न ग्रन्थों पर विस्तृत टीकायें लिखीं। बौद्धदर्शन की प्रामाणिकता सिद्ध करने का श्रेय दिङ्नाग को है। न्यायशास्त्र पर इन्होंने प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे। नालन्दा विश्वविद्यालय में इन्होंने सुदुर्जय नामक ब्राह्मण तार्किक को शास्त्रार्थ में पराजित किया। 'प्रमाणसमुच्चय' इनका सबसे विख्यात ग्रन्थ है। 'न्याय प्रवेश' इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। शंकरस्वामी इनके शिष्य थे। काञ्ची के रहनेवाले विद्वान धर्मपाल ने योगाचार सम्प्रदाय का विकास करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया। ये बाद में चलकर नालन्दा महाविहार के कुलपति पद पर नियुक्त किये गये थे। बुद्धघोष का बौद्ध दार्शनिकों में बड़ा गौरवपूर्ण स्थान है। 'विशुद्धिमग्ग', 'सामन्तपसादिका', 'सुमंगलविलासिनी', 'कंखावितरणी', 'पपंचसूदनी', 'मनोरथपूरणी', 'धम्मपद' की टीका आदि इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। अन्य बौद्ध विद्वानों में स्थविर, बुद्धपालित, भावविवेक, चन्द्रकीर्त्ति, मनोरथ और संघभद्र प्रसिद्ध थे। सुप्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक चन्द्रगोमिन ने चान्द्र व्याकरण की रचना की। ये स्थिरमति के शिष्य थे। इन्होंने काव्य और नाटक दोनों की रचनाएँ कीं। कुमारजीव एक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान थे। इन्होंने अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव और वसुबन्धु का जीवन-चरित्र लिखा है। कुमारजीव, बुद्धभद्र, धर्मरक्ष, बुद्धयश, धर्मपाल, गुणवर्मन, गुणभद्र, बोधिधर्म, संघपाल, परमार्थ, उपशून्य, बोधिरुचि, बुद्धशान्त आदि विद्वानों ने चीन में जाकर बौद्धधर्म एवं साहित्य का प्रचार किया।

(ब) **जैन साहित्य :**—इसी काल में जैन ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया गया। इसके अतिरिक्त जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन भी हुआ। आचार्य सिद्धसेन इस काल के प्रसिद्ध जैन आचार्य थे। इन्होंने दिङ्नाग की ही तरह न्याय दर्शन पर ग्रन्थ लिखे। 'न्यायावतार' जैन न्याय का सबसे प्रामाणिक एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता है। इनकी दूसरी पुस्तक 'तत्त्वानुसारिणी तत्त्वार्थ टीका' है, जो अपने में एक मौलिक ग्रन्थ है। देवींघगणि के सभापतित्व में ४५३ ई० में वलभी मे एक सभा हुई थी जिसमें जैन आगमों को ठीक-ठीक स्वरूप दिया गया। इस सभा में जैन-न्याय को एक स्वतन्त्र सत्ता प्रदान की गई। जैन विद्वानों में जिनभद्रगणि एवं सिद्धसेनगणि थे। सिद्धसेनगणि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के थे। समन्तभद्र, देवनन्दि आदि प्रसिद्ध जैन दार्शनिक हुये हैं। इसी काल मे जैनेन्द्र व्याकरण की रचना भी हुई थी। इस समय के जैन प्रसिद्ध लेखकों में जिन चन्द्रमणि और सिद्धसेनमणि भी थे। न्याय को जन्म देकर भारतीय दर्शन में स्याद्वाद की एक नयी विचारधारा निकली।

(स) **तामिल साहित्य :**—इस काल का तामिल साहित्य मुख्यतया धार्मिक है। धार्मिक आन्दोलनों ने तामिल साहित्य के विकास में काफी योग दिया। जैनियों का इस साहित्य के प्रचार में कुछ अधिक योगदान था तथा उन्होंने व्याकरण एवं नीति सम्बन्धी ऐहिकता-परक विषयों पर भी ग्रन्थ लिखे पर गुप्तकाल एवं उसके बाद के कालों में हिन्दू धर्म के दो भक्तिवादी सम्प्रदायों ने ही तामिल साहित्य की गतिविधि को प्रभावित किया। शैव नायनमारों एवं वैष्णव आलवारों ने तामिल भाषा में भक्ति से सम्बन्धित पदों की रचना की। इनके पदों में भी ऐसी व्याख्या की जाती है कि भक्तवत्सल भगवान् तर्कमयी बुद्धि द्वारा नहीं वरन् भक्ति रस सने तथा तड़पते सुए हृदय द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। नायनमारो एवं आलवारों की उत्कट भक्ति-भावना ने उत्कृष्ट कविता को जन्म दिया। ये सीधे-सादे व्यक्ति थे तथा अपने उपास्य देवों के प्रति इन्होंने भक्ति की तरङ्ग में गीत गाये, वे ही पदों के रूप में हो गये।

विज्ञान :—इस काल में विज्ञान की काफी उन्नति हुई। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों जैसे—गणित, ज्योतिष, वैद्यक, पदार्थ विज्ञान, रसायन विज्ञान की बड़ी उन्नति हुई। ज्योतिष और गणित के क्षेत्रों में आर्यभट्ट का नाम सर्वोपरि है। इनका जन्म पटना में ४७६ ई० के लगभग हुआ था। इनकी पुस्तक 'आर्यभट्टीय' बड़ा ही प्रसिद्ध है। इन्होंने पृथ्वी की परिधि की माप की जो आज तक सही मानी जाती है। उन्होंने सर्वप्रथम गणित एवं नक्षत्र विद्या में सम्बन्ध दिखलाया है। पृथ्वी गोल है तथा अपनी धुरी पर चलती है, इन बातों का प्रतिपादक आर्यभट्ट को ही माना जाता है। क्षेत्रमिति, त्रिकोणमिति, ज्यामिति आदि विज्ञान का वास्तविक

जन्मदाता आर्यभट्ट हैं एवं इनके कृतित्व से भौतिकी के विकास में काफी सहायता पहुँची। आर्यभट्ट ने सूर्य और चन्द्रग्रहण के विषय में पौराणिक मत का खण्डन कर यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि ग्रहण में राहु का कोई स्थान नहीं है, यह चन्द्रमा तथा पृथ्वी की छाया का फल है।

इस युग का दूसरा मुख्य ज्योतिषी वराहमिहिर था। ऐसा कहा जाता है कि वह भी मगध का रहनेवाला था तथा जीविकोपार्जन के लिये वह उज्जयिनी चला गया था। इनकी निम्न पुस्तकें बहुत ही प्रसिद्ध हैं—(१) लघुजातक, (२) बृहज्जातक, (३) विवाह-पटल, (४) योगमाया, (५) बृहत्संहिता एवं (६) पञ्चसिद्धान्तिका। 'बृहत्संहिता' ज्ञान-विज्ञान का एक सुविशाल कोष है जिसमें खमण्डल के नक्षत्रों की गति तथा मनुष्यों पर उसके प्रभाव, भूगोल, वास्तु-कला, मूर्त्ति-निर्माण, तालाबों को खुदवाने तथा उद्यान-निर्माण कराने की रीतियों, विभिन्न प्रकार की स्त्रियों तथा पशुओं की विशेषताओं और विविध प्रकार के रत्नों आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। दूसरा एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ब्रह्मगुप्त भी था। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'ब्रह्मसिद्धान्त' की रचना शक संवत् ५५० में की।

नागार्जुन नामक बौद्धविद्वान ने रसायन शास्त्र के क्षेत्र में 'रस-चिकित्सा' का आविष्कार किया जिसने चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण क्रान्ति उपस्थित कर दी। नागार्जुन ने यह सिद्ध किया है कि सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा आदि खनिज धातुओं में भी रोग-निवारण की शक्ति विद्यमान है। 'पारद' का भी आविष्कार नागार्जुन ने किया। उसके भस्म करने की क्रिया का आविष्कार कर नागार्जुन ने आयुर्वेद एवं रसायन शास्त्र के इतिहास में एक नवीन युग का आरम्भ किया। कल्याणवर्मन ने फलित ज्योतिष पर सारावली नामक ग्रन्थ की रचना की। शिल्पशास्त्र के भी अनेक ग्रन्थों का प्रणयन इस काल में किया गया।

गणित के क्षेत्र में दशमलव पद्धति का विकास गुप्त काल में ही हो पाया। वैद्यक के क्षेत्र में 'चरकसंहिता' एवं 'सुश्रुतसंहिता' का गुप्त काल में बड़ा ही मान था। इन ग्रन्थों का सारांश वाग्भट्ट प्रथम ने अपने 'अष्टांगसंग्रह' में दिया है। 'नवनीतकम्' नामक अन्य वैद्यक ग्रन्थ की रचना, इस काल में हुयी थी। इसके सिद्धान्त भी उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों से लिये गये हैं। इस काल में बड़े-बड़े नगरों में औषधालयों एवं वैद्यों का प्रबन्ध रहता था। पाटलिपुत्र के औषधालयों के प्रबन्ध को देखकर ह्वेनसांग दंग रह गया था। नालन्दा विश्वविद्यालय में भी चिकित्सा शास्त्र की पढ़ाने की व्यवस्था थी। इस काल में चिकित्सा-विज्ञान का संरक्षण और संवर्धन राज्य की ओर से प्राप्त था। कुतुबमीनार को देखकर इस काल के धातु-विज्ञान के विषय में अन्दाज लगाया जा सकता है। ज्योतिष एवं गणित एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप में मिले हुए थे।

शिक्षा

गुप्त काल में कई ऐसे आचार्य थे जिनके पास विद्यार्थीगण शिक्षा प्राप्त करने के लिये आया करते थे। आचार्य लोग बड़े-बड़े नगरों या तीर्थ स्थानों में निवास करते थे एवं प्राचीन काल के आचार्यों के ही समान इनका निवास-स्थान विद्यार्थियों के लिये आश्रम था। विद्यार्थियों के माता-पिता एवं अभिभावकों से इन्हें दक्षिणा के रूप में कुछ मिल जाता था।

शिला लेखों में शिक्षकों को आचार्य एवं उपाध्याय और विद्यार्थियों को शिष्य कहा जाता था। शिष्य का दूसरा नाम ब्रह्मचारी भी था। वेदों की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन विद्यार्थी करते थे। इनके अध्ययन के विषयों में चार वेद, छः वेदांग, पुराण, मीमांसा, न्याय, धर्म, कानून और 'शालातुरीय' नामक पाणिनि के व्याकरण के उल्लेख मिलते हैं। फाह्यान ने लिखा है—"विद्यार्थियों को अध्यापक के शब्द सुनने, समझने और सोचने पड़ते थे।" ये पद्धतियाँ उपनिषदों में वर्णित श्रवण, मनन और निदिध्यासन के अनुरूप थीं। शासक एवं मन्त्री शिक्षित हुआ करते थे। विद्वान ब्राह्मणों को 'भट्ट' की संज्ञा दी जाती थी।

अग्रहार में मिले गाँवों से शिक्षण-संस्थाओं का खर्च चलता था एवं राज्य की ओर से भी इन आचार्यों की सहायता हो जाया करती थी। पूजा-पाठ द्वारा भी इन्हें कुछ मिल जाया करता था। पाटलिपुत्र तथा वलभी इस समय के शिक्षा के बहुत बड़े केन्द्र थे। इसके अतिरिक्त उज्जयिनी, पद्मावती, प्रवरपुर एवं वत्सगुल्म भी शिक्षा के केन्द्र थे। तीर्थस्थानों में अयोध्या के ब्राह्मण मन्त्र, सूत्र एवं भाष्य में बड़े दक्ष होते थे और सम्भवतः मथुरा, बनारस, नासिक तथा काँची में भी शिक्षा का प्रवन्ध था। कांची हिन्दू एवं बौद्ध दोनों का केन्द्र था। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं प्रवरसेन द्वितीय विद्या के बड़े प्रेमी थे। ये लोग विद्वानों के आश्रयदाता भी थे। दक्षिण भारत में उच्च शिक्षा के केन्द्रों को घटिका कहा जाता था। बौद्ध मठों ने भी धीरे-धीरे शिक्षा का कार्य आरम्भ कर दिया।

नालन्दा विश्वविद्यालय :—इसी काल में सम्भवतः नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना हुयी। गुप्त सम्राटों की उदारता से नालन्दा बौद्धों का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय हो गया। कुमार गुप्त प्रथम (शक्रादित्य) ने नालन्दा बौद्ध विहार को दान दिया और उसके बाद बुद्ध गुप्त, तथागत गुप्त, बालादित्य आदि शासकों ने भी उसे दान दिये। इस विश्वविद्यालय में न केवल बौद्ध वरन् हिन्दू एवं जैन दर्शन की भी शिक्षा दी जाती थी। धीरे-धीरे इस विश्वविद्यालय की ख्याति बढ़ गई एवं लगभग ७०० वर्षों तक यह एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय बना रहा। इस विश्वविद्यालय का विस्तृत विवरण आगे किया जायेगा।

गुप्त लेखों में वेद ४, वेदांग ६, पुराण, न्याय, मीमांसा एवं धर्मशास्त्र आदि चौदह प्रकार की विद्याओं का उल्लेख मिलता है। वैज्ञानिक शिक्षा का भी प्रसार इस काल में हुआ था। इसके अतिरिक्त संस्कृत व्याकरण का भी अध्ययन अवश्य होता रहा होगा। ज्योतिष का भी अध्ययन धीरे-धीरे बढ़ रहा था। इस काल के ब्राह्मणों में शिक्षा का सबसे अधिक प्रचार था एवं क्षत्रियों और वैश्यों की शिक्षा कम होती जा रही थी। इसके अलावे स्त्री-शिक्षा में भी कमी होती जा रही थी और शूद्र प्रायः अशिक्षित ही रहते थे। व्यावसायिक शिक्षा प्रायः परिवार में ही दी जाती थी। पर कभी-कभी दूसरों के यहाँ भी शिक्षा लेने के लिये जाना पड़ता था जो निःशुल्क होती थी।

कलाओं की उन्नति

गुप्त काल कला के दृष्टिकोण से भी वड़े गौरव का युग था। अपने सौन्दर्य एवं भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से भारतीय कला गुप्त युग में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। कला के सुन्दरतम नमूने इसी युग में मिलते हैं। ऐसा कहा जाता है कि कला के इतिहास में गुप्त युग पुनर्जीवन का युग नहीं, वरन् भारतीय कला के पूर्ण प्रस्फुटन का युग है। इस युग में भिन्न-भिन्न कलाकारों की कीर्त्ति सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो गई थी। राजवली पाण्डेय ने ठीक ही कहा है कि "गान्धार कला के ऊपर जो यवन-प्रभाव था वह तक्षशिला से मथुरा, काशी और पाटलिपुत्र में पहुँचते-पहुँचते इस युग में बिल्कुल दूर हो गया और कला ने शुद्ध भारतीय रूप धारण किया। इस समय कला का जो आदर्श स्थापित हुआ, उससे न केवल भारत को प्रभावित किया, अपितु भारत के पड़ोसी देश भी उससे प्रभावित हुये"।[1] बी. पी. सिन्हा ने इसे इस प्रकार कहा है—"कुषाणों के समय में गांधार कला का विकास हुआ था। बुद्ध की प्रतिमाओं मे यवन-रोमक प्रभाव स्पष्ट था। पर मथुरा और अमरावती में लगभग इसी समय भारतीयकरण की अनुभूति से परिपूर्ण बौद्ध एवं यक्ष प्रतिमाएँ बनने लगी थीं। भारतीय विषय ही नहीं वरन् भारतीय आत्मा, आध्यात्मिकता, पवित्रता एवं सरलता के स्निग्ध रसों से भारतीय देवि-देवताओं की प्रतिमा सराबोर थी। गुप्त युग में इन गुणों का परमोत्कर्ष हुआ। भक्तियुग की प्रधानता थी और भक्तिभावना ने ब्राह्मणधर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों को ही नहीं वरन् बौद्ध धर्म को भी अनुप्राणित किया। यज्ञ, योग और कर्म सिद्धान्त पर अटल रहने के बदले इष्टदेव की पूजा ही धर्म का प्रधान अंग बन गई। देवि-देवताओं की प्रतिमाओं की वढ़ती माँग के अनुपात में मूर्त्तियाँ अत्यधिक संख्या में बनने लगीं। प्रतिमा-निर्माण शास्त्रीय नियमों के अनुसार अवश्य होता था,

१. प्राचीन भारत, पृ० २८६

पौराणिक कथाओं की पृष्ठभूमि में ही प्रतिमा के रूप और भाव प्रदर्शित किये जाते थे। लेकिन कलाकार को एक सीमा तक प्रतिमा में सौन्दर्य भरने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। यद्यपि इन मूर्त्तियों का अभिप्राय ड्राइंग रूम व संग्रहालयों को सजाना नहीं, न इनका अभिप्राय मन्दिरों व मठों को अलंकृत करना था, यद्यपि इनका अभिप्राय विशुद्ध धार्मिक तथा भक्त की आराधना के लिये था, पर तब भी वे मूर्त्तियाँ अपने स्वस्थ और पवित्र सौन्दर्य के कारण भारतीय कलाकारों की सफलता के जीवित साक्ष्य हैं। निश्चित नियमों और कल्पित परम्पराओं से बंधे रहने के बाद भी कलाकारों ने मूर्त्तियों में नवीनता और रस का अद्भुत संचार किया है।[1]"

गुप्तकालीन कला का महत्त्व दो दृष्टियों से है। स्थापत्य, चित्र और मुद्रा-निर्माण कलाओं में यह निपुणता एवं पराकाष्ठा को सूचित करती है। वास्तुकला के क्षेत्र में यद्यपि गुप्त काल की सफलता काफी अधिक है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस कला का यह उत्कृष्टतम रूप प्रस्तुत करता है। इस काल में सर्वप्रथम मन्दिर-निर्माण कला का जन्म हुआ और इसका पूर्णरूपेण विकास भी हुआ। वास्तुकला, मूर्त्तिनिर्माण कला, चित्रकला एवं अन्य प्रकार की कलाओं को सामंजस्य, स्वाभाविकता एवं पूर्णता प्राप्त हो गई थी। इस काल की अजन्ता की गुफाओं की चित्रकारी अद्वितीय है। गुप्त-काल समृद्धि तथा ऐश्वर्य का काल था। इस युग में उच्चकोटि की मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति हुई। साहित्यिक एवं दर्शन का अपूर्व विकास इस काल में हुआ था। ऐसी अनुकूल परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न कलाओं का विकास तो स्वाभाविक ही था?

वास्तु-कला :—वास्तु-कला के क्षेत्र में पहले स्तूप, चैत्य, विहार एवं दरीगृह बनवाये जाते थे। गुप्त काल में भी इनका निर्माण जारी रहा। ब्राह्मणों ने भी बौद्धों एवं जैनियों की ही तरह पर्वतों में गुफाओं को खुदवाया तथा उनमें साधुओं के रहने के लिये व्यवस्था की। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में ग्वालियर राज्य में भिलसा के निकट उदयगिरि में गुफा खुदवाई गई थी। गुफाओं में सुन्दर चित्रों को भी बनवाया जाता था। अजन्ता इस चित्रकारी के लिये जगत् प्रसिद्ध है। अजन्ता की गुफायें औरंगाबाद (महाराष्ट्र) से लगभग ५० मील की दूरी पर स्थित एक उपत्यका में एक अर्ध-चन्द्राकार पर्वत में काटकर बनाये गये हैं। गुफाओं की संख्या २४ है तथा इनका निर्माण ईसा पूर्व दूसरी शती से सातवीं शती ई० के बीच हुआ था।

भारतीय वास्तु-कला के इतिहास में गुप्तों के शासन ने एक नये काल का जन्म दिया। इस युग के पूर्व के भवन अधिकांशः बाँस और लकड़ी के बनाये

१. प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३३८

जाते थे जो शीघ्र ही नष्ट होने वाले थे। पर इसके विपरीत गुप्तकालीन निर्माताओं ने सुदृढ़ वस्तुओं यथा पत्थर और ईंटों से भवनों तथा मन्दिरों का निर्माण करवाया। ऐसा प्रमाण मिलता है कि इस काल में न केवल विशाल और भव्य मन्दिर ही बनवाये गये वरन् गगनचुम्बी अट्टालिकाओं से युक्त कई वैभवशाली नगर भी विद्यमान थे पर आज हम उनकी छवि नहीं देख सकते क्योंकि प्रकृति ने इसे अपने में समेट लिया है। फिर भी उस काल के अनेक मन्दिर अभी भी उस जमाने की संस्कृति को बतलाने के लिये हमारे पास धरोहर के रूप में है जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है :—

(१) जबलपुर जिले (मध्यप्रदेश) के तिगोवा नामक स्थान पर विष्णु मंदिर।

(२) जबलपुर-इटारसी रेलमार्ग पर स्थित ऊँचहरा रेलस्टेशन से छः मील पर भूमरा का शिव मन्दिर।

(३) बोध गया के बौद्ध मन्दिर।

(४) झाँसी जिले के बेतवा नदी के किनारे देवगढ़ का विष्णु-मन्दिर।

(५) आसाम के दरग जिले में ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे दह परवतिया नामक स्थान में एक मन्दिर मिला है जो काफी जीर्ण दशा में है पर कला की दृष्टि से यह मन्दिर काफी उत्कृष्ट है।

(६) नागोद राज्य के खोह नामक स्थान में एक शिव-मन्दिर मिला है।

इन उपर्युक्त मन्दिरों के अलावे केवल ईंटों द्वारा निर्मित मन्दिर भी थे। भीटर गाँव का मन्दिर, पहाड़पुर तथा मध्यप्रदेश के सरपुर के मन्दिर ईंटों द्वारा ही बनाये गये हैं। झाँसी जिले में पत्थर का बना हुआ देवगढ़ का मन्दिर एवं कानपुर के निकट ईंट चूने का बना हुआ भीटरगाँव का मन्दिर अपनी दीवारों पर उत्कीर्ण कलाकृतियों सहित गुप्त-स्थापत्य और शिल्प के अच्छे नमूने प्रस्तुत करते हैं।

इन सबों के अतिरिक्त गुप्त काल के कुछ और मन्दिरें हमें प्राप्त हैं जिनमें कुण्डास्थित शंकरमठ का मन्दिर, कोटा (राजस्थान) स्थित एक पहाड़ी दर्रे के भीतर मुकुन्द दर्रा-मन्दिर, साँची स्थित मन्दिर, उदयपुर का मन्दिर, एरण के मन्दिर जिनमें नृसिंह मंदिर, वराह मन्दिर, विष्णुमन्दिर, नयना-कुठारा का पार्वती मन्दिर, नालन्दा का मन्दिर, कुशीनगर का मन्दिर, कहाँव का मन्दिर, अहिच्छत्र का शिव मन्दिर, पद्मावती (पवाया) का मन्दिर, मणियारमठ एवं मुण्डेश्वरी या माहेश्वरी का मन्दिर हैं।

मूर्त्तिकला :—गुप्त काल की मूर्त्तिकला विशुद्ध भारतीय है तथा विदेशी तत्त्वों का सम्पूर्णतया इसमें आत्मसात् कर लिया गया है। इस काल में मूर्त्ति निर्माण की जिस बौद्ध कला का विकास हुआ वह नितान्तरूपेण भारतीय है। इस

युग में मूर्त्तिपूजा का वहुत प्रचार हो गया था। इसलिये मूर्त्तिनिर्माण कला की बड़ी अभिवृद्धि हुई। इन मूर्त्तियों में सुन्दरता एवं नैतिकता का सम्मिश्रण है। मूर्त्तियों के सरस सौन्दर्य एवं कोमलता को देखकर दर्शक का मन प्रतिमा के साथ पसीजने लगता है। नग्न मूर्त्तियों का निर्माण इस युग में बन्द सा हो गया था। शरीर नग्न नहीं है पर वस्त्र इतना महीन है कि शरीर की सुन्दरता तथा स्निग्धता निखर रही है। बुद्ध भगवान् की इस काल की तीन मूर्त्तियाँ उल्लेखनीय हैं अर्थात् सारनाथ की बैठी हुई मूर्त्ति, मथुरा संग्रहालय की खड़ी मूर्त्ति एवं सुल्तानगंज (भागलपुर) से मिली अष्टधातु की बनी बुद्ध की खड़ी प्रतिमा (अब इंग्लैण्ड के बर्मिघम संग्रहालय में)। घुंघराले बाल, आभूषणालंकार, एवं वस्त्र परिवेष्टन इन मूर्त्तियों की विशेषताएं हैं। इसके अतिरिक्त इस मूर्त्ति में हम गुप्तकालीन बुद्ध प्रतिमाओं की शांतिपूर्ण मुस्कान, असीम करुणा और आध्यात्मिक क्रान्ति पाते हैं। शरीर से सटा हुआ पारदर्शक वस्त्र अंगों की सुन्दर छवि को संयत रूप से प्रकट कर रहा है।

गुप्त काल हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान का काल माना जाता है। इस काल में शैव तथा वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ। अतः गुप्त कालीन मूर्त्तियों का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होना है कि इस काल में मूर्त्तियाँ बौद्ध, शैव, वैष्णव एवं जैन की मिलती हैं। जैन धर्म की मूर्त्तियों में वर्धमान महावीर की मूर्त्ति मुख्य हैं जो मथुरा में मिली हैं। ऐसा अंदाज लगाया जाता है कि यह मूर्त्ति कुमारगुप्त के समय की है। इस मूर्त्ति में महावीर पद्मासीन तथा ध्यानावस्थित हैं। गोरखपुर (उत्तरप्रदेश) जिले एवं उसके आस-पास के इलाकों से भी इस तरह की मूर्त्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। इनके अतिरिक्त पौराणिक मूर्त्तियों में निम्नलिखित मूर्त्तियाँ मिली हैं :—

(१) पृथ्वी का उद्धार करते हुये वराह अवतार की मूर्त्ति जो मध्यप्रदेश में विदिशा के पास उदयगिरि में चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मित मन्दिरों के बाहर स्थित है।

(२) शेषशायी विष्णु की मूर्त्ति जो झाँसी जिले के देवगढ़ नामक स्थान से प्राप्त हुई है।

(३) काशी से उपलब्ध हुई गोवर्द्धनधारी कृष्ण की मूर्त्ति।

(४) कौशाम्बी की सूर्य मूर्त्ति।

(५) भगवान कार्त्तिकेय की मूर्त्ति जो इस समय भारतीय कला भवन काशी में सुरक्षित है।

(६) भरतपुर में रूपवास नामक स्थान से उपलब्ध बलदेव और लक्ष्मीनारायण

की मूर्त्तियाँ (बलदेव की मूर्त्ति की ऊँचाई सत्ताइस फीट से भी अधिक है और लक्ष्मीनारायण की मूर्त्ति की ऊँचाई करीब दस फीट है।)

इन सबों के अतिरिक्त इस काल में शिव कीं बड़ी सुन्दर मूर्त्तियों का निर्माण हुआ था। इस काल के एकमुखी तथा चतुर्मुखी शिवलिंग अत्यन्त अनूठे हैं। अर्धनारीश्वर रूप में शिव की मूर्त्तियों का निर्माण इसी काल में किया गया था। सूर्य की भी मूर्त्तियों का निर्माण इस काल में हुआ था। सूर्य की कई मूर्त्तियाँ अफगानिस्तान से लेकर मथुरा एवं मध्यदेश तक मिली हैं। कृष्ण, रुक्मिणी एवं सुदामा की बड़ी सुन्दर मूर्त्तियाँ उपलब्ध हैं। इसी प्रकार राम, लक्ष्मण, सीता, अहल्या, सूर्पणखा आदि की बड़ी सुन्दर मूर्त्तियाँ मिली हैं। इस काल की मूर्त्तिकला सजीवता, आध्यात्मिकता, सुघड़ता, सौन्दर्यपूर्णता और सुरुचिसम्पन्नता में अपना सानी नहीं रखती।

पत्थर एवं अष्टधातु की मूर्त्तियों के अलावे इस काल में चूना, बालू, मिट्टी और मसाले की भी मूर्त्तियों का प्रचलन था। ये मूर्त्तियाँ अत्यन्त ही आकर्षक हैं। नालन्दा के मुख्य स्तूप की दीवार के चारों ओर चूना और बालू की बनी मूर्त्तियाँ अत्यन्त सुन्दर हैं। राजगीर के मनियार मठ स्तूय के चारों ओर के ताखों पर चूने और बालू की बनी नाग-नागिन की सुसज्जित मूर्त्तियाँ अत्यन्त ही मन को मोहने वाली है। इस युग में मूर्त्तियों का निर्माण नक्कासीदार ईंटों से भी होता था। इन ईंटों पर नाना प्रकार की आकर्षक नक्कासियों को बनाने के बाद उसे पका लिया जाता था। इन ईंटों के द्वारा तरह-तरह के चित्रों को अंकित कर लेने में बड़ी सुविधा हो जाती थी। मिट्टी की मूर्त्तियाँ अधिक संख्या में सारनाथ, कौशाम्बी, राजघाट, मथुरा, श्रावस्ती आदि प्राचीन स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। इन मूर्त्तियों में जनसाधारण की रुचि और विनोद के अनुसार छोटी-बड़ी मूर्त्तियाँ, जानवरों की मूर्त्तियाँ, खिलौने आदि का भी निर्माण हुआ करता था। सुवर्ण मुद्राओं पर अंकित चित्र भी भारतीय कला के अन्यतम नमूने हैं। मथुरा, अमरावती और पाटलिपुत्र मूर्त्तिकला के मुख्य केन्द्र थे। रमेशचन्द्र मजूमदार के शब्दों में :—

"With the Gupta period we enter upon the classical phase of Indian seulpture. By the efforts of centuries ot techniques of art were perfeeted, definite types were evolved, and ideals of beauty were formulated with precision. There was no more groping in the dark and no more experiments. A thorough intelligedt grasp of the true aims and essential principles of art, a highly developed aesthetic sense and a masterly execution with steady hands produced

those remarkable images which were to be the ideal and despair of succeediag ages. The Gupta sculptures not only remind models of Indian art in all times to come, but they served as such in the Indian colonies in the Far East. The sculptures of the Malaypeninsula, Java, Annam, Camboria, and even Celebses the indelible stamp of Gupta art."—An Advanced History of India, (Pt. I), p. 240.

चित्रकला :—प्राचीन काल से ही चित्र मनुष्य जाति की आन्तरिक अभिव्यक्ति का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम रहा है। भारतीय चित्रकला के इतिहास की शुरुआत अजन्ता के गुफा चित्रों से हमें मिलता है पर गुप्त-काल में चित्रकला ने पूर्ण विकसित वैभव प्राप्त कर लिया था। स्थापत्य और मूर्तिकला के साथ-साथ इस युग में चित्रकला का भी विकास हुआ। अजन्ता, एलोरा, और बाघ की गुफाओं में ही इसके कुछ नमूने पाये जाते हैं। इन गुफाओं में कलाकार ने छोटे से फूल अथवा मोती से लेकर समस्त आकृति की रचना में अपनी कला-कौशल प्रदर्शित किया है। उनमें अनेक प्रकार के अंगविन्यास, मुख-मुद्रा, भाव-भंगी तथा अंग-प्रत्यंग की सुन्दरता, नाना प्रकार के केश-पाश, वस्त्राभरण, रूप रंग आदि सुन्दरता से दिखाये गये हैं। ये चित्रकारी हमारे सामने तत्कालीन जीवन का सजीव चित्र उपस्थित करती है। कलामर्मज्ञों के मतानुसार अजन्ता की कलाकृति इतनी पूर्ण, परम्परा में इतनी निर्दोष, अभिप्राय में इतनी सजीव तथा विविध और आकृति एवं वर्ण के सौन्दर्य में इतनी प्रसन्न है कि उसे संसार की सर्वोत्तम कलाकृतियों में बरबस गिनना पड़ेगा। गुहा चैत्यों की दीवारें और छतें रंग-बिरंगे रेखाचित्रों से सजाये गये हैं। ये चित्र एक प्रकार के लेप से बने हुये हैं जिनमें से अधिकांश आज भी सुरक्षित हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र से यह पता लगता है कि चित्रकला का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता या तथा यह कला इसके सिद्धान्त पर अवलम्बित थी।

अजन्ता के चित्रों के प्रति श्रीमती हैरिन्घम का कहना है कि अजन्ता के चित्रों के कारण भारत मानवता की श्रद्धा का अधिकारी है। एक अन्य महिला ने इस प्रकार कहा है कि अजन्ता की कला भारत की सर्वोत्कृष्ट कला है। यहाँ चित्रों की सुन्दरता अद्वितीय है और वे भारतीय चित्र-कला के चरम उत्कर्ष हैं। रोथेन्सटेन ने ठीक ही कहा है :—

"On the hundred walls and pillars of these, rock-carved temples a vast drama moves before our eyes, a drama played by princes and sages and heroes, by men and women of every condition,

agaiust a marvellously varied scene, among forests aud gardens, in courts and cities on wide plains and in deep jungles, while above the messengers from heaven move swiftly in the sky. From all these emanates a great joy in the surpassing radiance of the face of the world, in the physical nobility of men women, in the strength and grace of animals and the loveliness and purity of birds and flowers, and woven into this fabric of material beauty we see the ordered pattern of spiritual values of universe."

संगीत कला :—इस काल में संगीत एवं वाद्य कला भी उच्च कोटि की थी। सम्राटों की इस कला में व्यक्तिगत अभिरुचि से यह कला भी उन्नत अवस्था में थी। सम्राट् समुद्रगुप्त को वीणा से बड़ा प्रेम था। इसकी पुष्टि हमें प्रयाग के स्तम्भलेख से मिलती है जिसमें ऐसा कहा गया है कि उसने संगीत में नारद तथा तुम्बुरु को मात कर दिया था (गान्धर्व-ललितैर्व्रीडित-त्रिदशपति-गुरु-तुम्बुरुनारदादेः)। वह अपने एक प्रकार के सिक्कों पर वीणा बजाता हुआ चित्रित किया गया है।

गुप्तकालीन साहित्यिक ग्रन्थों से यह पता लगता है कि इस समय गायन, वादन तथा नर्तन तीनों संगीत के भिन्न-भिन्न रूप थे और इन तीनों का समाज में प्रचलन था। संगींत की शिक्षा देने के लिये शिक्षक नियुक्त किये जाते थे। बड़े घरों की नारियाँ संगीत की शिक्षा प्राप्त फरती थीं। गणिकायें नृत्य एवं संगीत में बड़ी निपुण होती थीं।

मुद्रानिर्माण-कला :—गुप्त-काल के आरम्भ की मुद्राएँ परवर्ती कुषाण सम्राटों की भाँति है। गुप्तों ने सिक्के ढालने में कुषाणों के 'दीनार' एवं शकों के चाँदी के सिक्कों का अनुकरण किया। पर बाद में उन्होंने शुद्ध भारतीय सुवर्ण और कार्षापण नाम के सिक्के ढलवाये। उनकी मुद्राओं की आकार-प्रकार की विभिन्नता इस कला की समृद्ध अवस्था का संकेत करती है। सिक्कों का आकार और उनके ऊपर मूर्त्तियों का चित्रण बहुत ही कलात्मक है। उनके ऊपर ललित संस्कृत छन्दों में राजाओं की कीर्त्ति और विरुद का उल्लेख है। यद्यपि चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त के सोने के सिक्के भारतीय इतिहास में भारतीय राजवंश की प्रथम उपलब्ध सुवर्ण मुद्राएं हैं और इन पर शक-कुषाण प्रभाव स्पष्ट है, तथापि यह मानना पड़ेगा कि कलात्मक दृष्टिकोण से ये कृतियाँ अत्यन्त उच्च कोटि की हैं। चन्द्रगुप्त के सिक्के पूर्णरूपेण भारतीयकरण के सफल उदाहरण हैं। इसके सिक्के में एक ओर चन्द्रगुप्त मुकुट, अंगा, पाजामा और आभूषण पहने खड़ा है तथा उसके बायें हाथ में ध्वजा और दायें हाथ में अँगूठी है जिसे वह अपने सामने वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित

रानी कुमारदेवी को दे रहा है। इस सिक्के के दायीं ओर 'श्री कुमारदेवी' और बायीं ओर 'चन्द्रगुप्त' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहवाहिनी लक्ष्मी का चित्र है। लक्ष्मी के पैर के नीचे कमल है और पास में ही 'लिच्छवयः' लिखा है। इस सिक्के का ऐतिहासिक महत्त्व भी है। लिच्छवी-गण की मदद लेकर ही चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र को अपने अधीन करके अपने राज्य की नींव डाली थी। उसके इस उत्सर्ग के पीछे लिच्छवी कुमारी कुमारदेवी के साथ हुये उसके विवाह का ही बल था। लिच्छवियों के साथ आपसी सहयोग एवं मैत्रीभाव को ही विशेषरूप से प्रधानता देने के उद्देश्य से ही चन्द्रगुप्त ने इस सिक्के को प्रचलित किया था। ये सिक्के सोने के हैं एवं इसका वजन १११ ग्रेन है।

समुद्रगुप्त के वीणा प्रकार के सिक्कों पर वह वीणा बजा रहा है। यह उनके संगीतप्रेम का सजीव उदाहरण है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिंह-हन्ता प्रकार के सिक्कों पर सम्राट् और सिंह की पारस्परिक सक्रिय चेष्टाओं और मुद्राओं की अत्यन्त वेगवती अभिव्यक्ति हुई है। चक्रपुरुष प्रकार के सिक्कों पर भक्त चन्द्रगुप्त के भक्ति-भाव से पूर्ण होकर चक्रपुरुष से प्रसाद लेने का दृश्य अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से चित्रित है। प्रकाशादित्य के सिक्कों पर राजा और सिंह की पारस्परिक स्फूर्ति, दाँव-पेंच एवं लड़ाई की डँवाडोल स्थिति के दृश्य अत्यन्त भावपूर्ण और आकर्षक है।

गुप्तवंशीय सम्राटों में सिक्कों का सर्वाधिक प्रचार कुमारगुप्त ने किया। अन्य सम्राटों की अपेक्षा इस राजा के सिक्कों की उपलब्धि भी अधिक है। कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त के दो प्रकार के सिक्के उपलब्ध हैं। इन सिक्कों पर कई तरह के लेख उत्कीर्ण हैं। इसके भी चाँदी और ताँबे के अनेक सिक्के हमें प्राप्य हैं।

स्कन्दगुप्त के बाद उसके उत्तराधिकारियों में पुरुगुप्त, नरसिंह गुप्त, कुमार-गुप्त (द्वितीय), बुधगुप्त, वैण्यगुप्त आदि प्रायः सबों के सिक्के उपलब्ध हैं। सम्राटों का नाम उत्तराधिकार के क्रम से बदलता जाता है पर लेख में प्रायः कोई परिवर्तन नहीं होता। गुप्तों ने क्रमशः सुवर्ण, चाँदी एवं ताम्र की मुद्रायें चलायीं।

रंगमंच :—इस युग के लिखे नाटकों से ऐसा मालूम होता है कि रंगमंच विकसित था एवं उसके ऊपर नाटकों का अभिनय होता था। रंगमंच के विभिन्न अंगों के नाम और अभिनय के प्रकारों की चर्चा इस युग के साहित्य में पायी जाती है। राजबली पाण्डेय ने इसमें विश्वास व्यक्त किया है कि भरतनाट्यशास्त्र का वर्तमान संस्करण इसी काल का है, जिसमें अभिनय के विविध अंगों का विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

उपनिवेशीकरण

भारत के उन्नत एवं समृद्ध जीवन का प्रसार देश के बाहर पड़ोसी देशों में भी हुआ। प्राचीन काल से ही भारतवासी अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रति अदम्य उत्साह एवं जोश की भावना से परिपूर्ण थे। वे देश देशान्तरों में संस्कृति की विजयों को प्राप्त करने के लिये गये थे। विदेशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना और भारतीय सभ्यता के प्रचार के दृष्टिकोण से इस काल का बड़ा महत्त्व है। ताम्रलिप्ति नामक प्रसिद्ध बन्दरगाह से भारतीय सभ्यता का वृहत्तर भारत में सर्वाधिक प्रचार इसी काल में हुआ। भारतवासियों ने इन दूरस्थ देशों के निवासियों को अपनी संस्कृति के रंग से पूर्णतया सराबोर कर दिया। भारत और चीन का सम्बन्ध पहले से अधिक घनिष्ठ हो गया। इससे भारत के बहुत से विद्वान और उपदेशक चीन गये। सन् ३५१ ई० और ५७१ ई० के बीच कम-से-कम दस प्रचारक जत्थे चीन गये। इन जत्थों में जानेवाले विद्वानों में कुमारजीव का नाम सबसे पहला आता है। पाँचवीं शताब्दी में चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा जो शक राजा पराजित हुये, उन्होंने भारत के बाहर जाकर यत्र-तत्र उपनिवेशों की स्थापना की। इस काल में जलमार्गों द्वारा आवागमन के साधन और पोत निर्माण कला का अपरिमेय विकास हो चुका था और समुद्र में स्थित सुदूरवर्ती पूर्वी द्वीप समूहों जावा, सुमात्रा, बाली एवं चम्पा, कम्बोडिया एवं चीन आदि देशों के साथ भारत का व्यापार तो होता ही था और साथ ही साथ वहाँ भारतीय नामों, वस्तुओं, साहित्य, सम्प्रदायों और शिक्षा का प्रचार भी स्वाभाविक रूप से होता था। वैसे तो अशोक महान् के समय से ही बृहत्तर भारत में भारतीय सभ्यता का प्रचार प्रारम्भ हो गया था, पर इन स्थानों में प्रचलित संस्कृत भाषा, धर्म और गुप्तकालीन प्रस्तर कला-शैली का प्रभाव देखकर यही निश्चय होता है कि बृहत्तर भारत में भारतीय सभ्यता का प्रचार गुप्त सम्राटों के स्वर्णिम अभ्युदय काल में ही तीव्र गति में हुआ।

जावा की एक किंवदन्ती से भी यह प्रकट होता है कि गुजरात के किसी राजकुमार ने अपने कई सहस्र अनुयायियों के साथ समुद्र पार कर जावा में अपना उपनिवेश इसी गुप्त-काल में ही स्थापित किया था। चीन देश को भारत का सूती कपड़ा यहाँ के रेशमी कपड़ों के बदले भेजा जाता था। चीनी इतिहास के अनुसार काश्मीर के एक युवराज गुणवर्मा ने जावा में वैदिक मार्गी वैष्णव-धर्म और संस्कृति का प्रचार किया था। फाह्यान जब भारत से अपने देश को लौट रहा था तो जावा में उसने वैदिक देव-मन्दिरों और मूर्त्तियों को देखा था। इस काल में एशिया के पश्चिमी देशों से भी भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध था। सांस्कृतिक प्रचार के अतिरिक्त भारतीय व्यापार का भी प्रसार हुआ और बहुत से भारतीय आस-पास के देशों से व्यापार करते थे।

वृहत्तर भारत में भारतीय सामाजिक एवं प्रशासकीय नियमों का भी प्रचार हुआ। भारतीय धर्म एवं कलाओं की सार्वभौमिकता के कारण इनका अनुकरण वृहत्तर भारत क्या, पाश्चात्य देशों के यवनों, शकों और हुणों द्वारा भी अधिकाधिक रूप में किया गया था। इस प्रकार समस्त प्रमाणों के आधार पर यह कहना उचित है कि वृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति का विस्तार अधिकतर गुप्त-काल में ही हुआ था।

गुप्त-काल भारत का स्वर्ण-युग

प्राचीन भारत के समस्त इतिहासकारों ने गुप्त-काल को भारत का स्वर्ण-युग माना है। इसका मुख्य कारण है जिस प्रकार सोना अपनी चमक से ही लोगों की दृष्टि अपनी ओर खींच लेता है, उसी प्रकार से प्रतापी गुप्त-सम्राटों का यह स्वर्णिम काल भी अपनी देदीप्यमान ऐश्वर्य से लोगों की नजर को चकाचौंध कर देता है। गुप्त-काल भारतीय इतिहास में अत्यन्त समृद्धि, सुख और शान्ति का है। विद्वानों ने इसकी तुलना पेरिक्लियन, आगस्टन और एलिजाबेथन कालों से की है। निस्सन्देह गुप्तों का शासन-काल धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कार्य-कलापों में उस पूर्णत्व को पहुँच चुका था कि जिसका अनुमान लगाना भी वर्त्तमान युग में एक नितान्त जटिल समस्या है।

गुप्त-काल में देश ने सर्वांगीण प्रगति की थी। अनेक महान् राजाओं ने अपनी गौरवशाली विजयों से सर्वत्र भारतीय पताका फहराई थी। भारत की सीमाओं से बाहर विदेशी भूमाग पर भी हमारा स्वामित्व था। भारतीय संस्कृति वर्तमान भौगोलिक सीमा से बाहर विस्तृत थी और इस संस्कृति के प्रभाव का फैलाव जो मध्यएशिया और दक्षिण-पूर्व के देशों और प्रशान्त महासागर के द्वीपों में हुआ, वह अपने समय की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। अजन्ता की अमर चित्रकारी भी इसी काल की देय है। स्वधर्म, स्वभाषा एवं स्वदेश की भावना को मूर्त्त रूप देने वाले गुप्त-युग के ही नरेश थे।

इस युग को भारतीय इतिहास में 'स्वर्ण युग' की संज्ञा इसलिये दी जाती है कि इस युग में गुप्त-सम्राटों ने शासन में उदारता का पूर्ण परिचय देते हुये देश के सांस्कृतिक विकास में सराहनीय कार्य किये। इस काल में ऐसी दण्ड नीति अपनाई गई थी कि अत्याचार और अन्याय का नाम तक नहीं रह गया था। देश में सर्वत्र शान्ति और सद्भावना का ही साम्राज्य था और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे महान्

---

१. मागधी—द्वितीय अंक, सन् १९७१, बोधगया, पृ० १ और आगे—'प्राचीन कम्बोज के संस्कृत अभिलेख—महेश कुमार शरण।

सम्राट् जन-समाज के एक आदर्श नेता का दायित्व-पालन करते थे। इस काल के स्वर्ण-युग कहलाये जाने के निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) महान् सम्राटों का काल :—गुप्त-काल में समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त एवं स्कन्दगुप्त आदि असाधारण प्रतिभा सम्पन्न सम्राट हुये जो केवल वीरता एवं न्याय की सौम्य मूर्त्ति ही न थे बल्कि देश की चतुर्मुखी उन्नति के लिये उन्होंने कुछ भी नहीं छोड़ा। इन सम्राटों ने विदेशी शत्रुओं को युद्ध भूमि में परास्त किया था। समुद्रगुप्त ने केवल उत्तरापथ एवं दक्षिणापथ के राजाओं को ही अधीनस्थ नहीं किया वरन् सुदूरस्थ पारसीक और हूण राजाओं को भी नतमस्तक कर दिया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को बड़े ही नाटकीय ढंग से देश से बाहर निकालकर 'शकारि' की उपाधि धारण की थी। सम्राट् स्कन्दगुप्त ने वर्बर हूणों की शक्ति को ध्वस्त कर डाला एवं उनके अत्याचारों से देश की रक्षा की। ये गुप्तसम्राट् केवल रण-स्थल में ही महान् न थे अपितु गृहक्षेत्र में उच्च कोटि के सफल प्रशासक भी थे जिन्होंने अपने पराक्रम और बुद्धि चातुर्य की असाधारण प्रतिभा से देश को धन-धान्य से परिपूर्ण करने में पूरी सफलता पाई। अगर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन-काल गुप्त-काल से निकाल दिया जाये तो गुप्त काल भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग नहीं कहला सकता। वस्तुतः चन्द्रगुप्त द्वितीय का काल ही स्वर्ण युग है।

(२) राजनैतिक एकरूपता का काल :—गुप्त राजाओं ने देश से विदेशियों को निकाल कर 'स्वदेश' की भावना से उन्होंने 'भारतीयता' के मंत्र को फूंका। वे भारतवर्ष में एकछत्र राज्य की स्थापना करना चाहते थे। समुद्रगुप्त की दिग्विजय का केवल यही तात्पर्य था कि भारत के अन्य राजा उसकी सार्वभौम सत्ता को स्वीकार कर ले। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं स्कन्दगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ का विधान कर अपनी सार्वभौम सत्ता का परिचय दिया था। गुप्त नरेशों ने अपने प्रचण्ड पराक्रम तथा अद्भुत शौर्य के बल से लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष को एक राजनैतिक सूत्र में बाँध दिया था क्योंकि हम यह देखते हैं कि अशोक की मृत्यु के बाद भारत की राजनैतिक एकता समाप्त हो गई थी और देश छोटे-छोटे राज्यों में बँट चुका था।

(३) आर्थिक समृद्धि का काल :—इस काल में आर्थिक स्थिति बड़ी सुदृढ़ थी। उत्तरी एवं दक्षिणी भारत में समान रूप से समृद्धि छाई हुई थी। कृषि, उद्योग-धन्धों और व्यापार की बहुत अधिक उन्नति हुई। इस युग में उत्पत्ति के साधन और आवागमन के मार्ग प्रशस्त थे। राजमार्ग विशेष रूप से सुरक्षित थे। जनता को चोर और डाकुओं का भय नहीं था। अपराधों की संख्या पर्याप्त कम हो

गई थी। फाह्यान ने देश के धन-धान्य से परिपूर्ण होने का उल्लेख किया है। देश के विभिन्न भागों उसने में यात्राएँ की थीं लेकिन कहीं भी किसी डाकू या चोर के दर्शन उसने नहीं किये। इस प्रकार इसके वर्णन से तत्कालीन सुख-समृद्धि का विवरण हमें मिलता है। लोगों को थोड़े से परिश्रम से ही आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त हो जाती थीं। राज्य की ओर से कृषि, उद्योग, व्यापार, वाणिज्य सबकी उन्नति एवं विकास के लिये विशेष प्रयत्न किया जाता था। वाह्य व्यापार इस समय बहुत उन्नत था। यह व्यापार जल एवं स्थल दोनों मार्गों से किया जाता था। व्यावसायियों के संघ थे। उनके अपने नियम एवं कानून थे। बैंक का भी कार्य संघ किया करते थे। इन संघों ने प्राचीन भारत के आर्थिक व्यवस्था को सम्पन्न बनाने में बड़ी सहायता की।

(४) शान्ति एवं सुव्यवस्था का काल :— गुप्त सम्राट् अपनी उदारता एवं धार्मिक सहिष्णुता के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होंने एक विशाल सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित शासन की स्थापना की थी कि वह कई शताब्दियों तक चलता रहा। गुप्त-कालीन शासन उदार एवं दयापूर्ण था। उनकी दण्ड नीति मौर्य-काल की तरह कठोर न थी। उसमें प्रजा को पूर्ण स्वतंत्रता थी और वाह्य तथा आन्तरिक विपत्तियों से सुरक्षा थी। सम्राटों ने स्वर्ण मुद्रा के प्रचलन एवं राजमार्गों की सुरक्षा का सुन्दर प्रयत्न करके देश-विदेशों से सुविधापूर्वक व्यापार करने का भी स्वर्ण अवसर दिया था। खान एवं जंगलों की भी उन्नति का प्रयत्न किया गया था। कृषि कार्य के लिये उन्होंने तालाबों और जल-कुण्डों का निर्माण करा दिया था। शासकों ने प्रजा की इहलौकिक दशा का अभ्युत्थान तो किया ही, पर साथ ही साथ वह जनसाधारण के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास की ओर भी अधिकाधिक ध्यान रखते थे। राज्य का आश्रय हिन्दू, बौद्ध एवं जैन मतावलम्बियों को समान रूप से प्राप्त था। स्वायत्त शासन को पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त थी। राज्य की ओर से गरीबों तथा निर्धनों को उनकी आवश्यकतानुसार सहायता भी सुलभ थी। फाह्यान ने अपनी यात्रा-विवरण में लिखा है :—'प्रजा प्रभूत तथा सुखी हैं। लोग राजा की भूमि जानते हैं और उपज का अंश देते हैं। जहाँ चाहें जायँ, चाहें जहाँ रहें। राजा न तो प्राणदण्ड देता है और न शारीरिक दण्ड देता है।' देश में सम्पत्ति का अपार भण्डार भरा पड़ा हुआ था। राजा प्रजा की सुख-सुविधा को अपना प्रथम कार्य समझता था। सार्वजनिक कार्यों के लिये राजा अधिकांशतः व्यस्त रहता था। औषधालयों में चिकित्सा निःशुल्क की जाती थी। दामोदरपुर ताम्रपत्र से हमें गुप्त-कालीन शासन-व्यवस्था का बड़ा भव्य रूप देखने को मिलता है। इस प्रकार की शासन-व्यवस्था में गुप्त युग की जनता शान्ति से जीवन बिता रही थी।

(५) साहित्य के चरमोत्कर्ष का काल :—हम यह जानते हैं कि गुप्त युग में देश में पूर्ण शान्ति एवं सुव्यवस्था थी। साहित्यिक दृष्टिकोण से इस काल का गौरव बहुत बड़ा है। भारतीय साहित्य का वर्तमान रूप गुप्त काल में ही प्राप्त हुआ है। गुप्त-सम्राट् विद्या-व्यसनी होने के साथ-साथ विद्वानों के उदार आश्रयदाता भी थे। इस काल में संस्कृत भाषा की चरम उन्नति हुई। जिन ग्रन्थों का गुप्त-काल से पूर्व निर्माण हुआ था उन्हें इस काल में ही अपना आधुनिक रूप प्राप्त हुआ था। इस युग में भौतिक साहित्यिक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये। गुप्त युग में जहाँ पर महाकवि भास, विशाखदत्त एवं कालिदास जैसा असाधारण प्रतिभा सम्पन्न महान् नाटककार संस्कृत भाषा में अपनी रचनाओं का सृजन कर रहे थे, वहीं राजकीय मंच पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और स्कन्दगुप्त जैसे सम्राटों के सम्राट् इस देवभाषा को राष्ट्रभाषा के सार्वभौम राजमुकुट से अलंकृत भी कर रहे थे। वात्स्यायन द्वारा महर्षि गौतम के न्याय सूत्र महान् भाष्यों की रचना इसी काल में हुयी। ईश्वरकृष्ण ने 'सांख्यकारिका' नामक अद्वितीय ग्रन्थ लिखकर सांख्य दर्शन के महत्त्वपूर्ण तथ्यों की समीक्षा की। वसुबन्धु एवं असंग ने अपनी रचनाओं द्वारा भौतिकवाद के आदर्श सिद्धान्तों का अनुमोदन किया। महान् दर्शनशास्त्री दिङ्नाग ने 'प्रमाणसमुच्चय' नामक ग्रन्थ लिखा। महायान सम्प्रदाय के विकास के फलस्वरूप बौद्ध दर्शन शास्त्रियों ने भारतीय दर्शन साहित्य की अमूल्य सेवा की। इस काल में भागवत धर्म का प्राबल्य था और हिन्दू धर्म विद्वान अपना प्रचार चारों ओर से करने लगे थे। इसके अतिरिक्त इस काल में कई स्मृतियाँ, उनके भाष्य और पुराणों के परिवर्द्धित स्वरूप प्रस्तुत किये गये क्योंकि इस काल को पुराणों के परिवर्द्धन का युग माना जाता है। हरिषेण, शूद्रक एवं सुबन्धु के अतिरिक्त अन्य छोटे-छोटे कवियों में वीरसेन, वासुल, रविशान्ति, भ्रातृगुप्ताचार्य एवं भर्तृमेण्ठ, भामह, अमरसिंह आदि थे।

विज्ञान के क्षेत्र में शिल्पशास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, वैद्यक आदि विषयों में युगान्तरकारी आविष्कार हुये। कामन्दकीय नीतिसार, वात्स्यायनीय कामशास्त्र उच्चकोटि के राजनीतिशास्त्र एवं कामशास्त्र की पुस्तकें हैं। इन सबों के अलावे दर्जनों अन्य दार्शनिकों ने इस काल में अपनी प्रतिभा का चमत्कार प्रदर्शित किया था जिनका पूर्णरूपेण वर्णन पिछलों पृष्ठों में किया गया है।

(६) भारतीय कलाओं की चरमोन्नति का काल :— भारतीय ललित कला के क्षेत्र में गुप्त-युग की अद्वितीय देन रही है। इनका शासन-काल भारतीय कलाओं का भी स्वर्ण युग माना जाता है। यह युग भारतीय कला क्षेत्र में एक क्रान्ति सी उत्पन्न कर दी है। इस युग में वास्तु-कला, मूर्त्ति-कला, शिल्प-कला, चित्र-कला एवं संगीत कला आदि सभी प्रकार की कलाओं में असाधारण शैलियों

का विकास हुआ। इनकी शैलियों की कमनीयता एवं स्वाभाविक सरलता प्रशंसनीय है। अजन्ता की गुफाओं की चित्रकारी, उनमें स्थापित हिन्दू एवं बौद्ध मूर्त्तियाँ, मन्दिर, स्तूप एवं विहार इस महान् कला के जीवित उदाहरण हैं। वास्तुकला के क्षेत्र में गुप्त काल ने पर्याप्त उन्नति की थी। आज भी अजन्ता एवं बाघ की चित्रकारी दर्शकों के मन को मोहनेवाली है। संगीत और अभिनय के मामलों में भी काफी विकास हो रहा था। नाटकों को अभिनय द्वारा रंगमंच पर दिखलाया जाता था। इस प्रकार कला के विभिन्न अंगों में गुप्त-काल ने काफी उन्नति की थी।

(७) **धार्मिक सहिष्णुता का काल:**—धार्मिक क्षेत्र में गुप्त सम्राट् ब्राह्मण धर्म को माननेवाले थे। वे अपने को 'परमभागवत' लिखने में अपना गौरव समझते थे। उनकी विशेष प्रवृत्ति विष्णु की उपासना की ओर थी। इसी काल में प्राचीन हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान एवं परिवर्द्धन हुआ था। इन्होंने विभिन्न धर्मों में अपूर्व सहिष्णुता एवं समन्वय उत्पन्न करने का प्रयास किया। हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि धर्मानुयायी स्वतन्त्रता पूर्वक अपने-अपने धर्मों का पालन एवं प्रचार कर सकते थे। यज्ञों की परम्परा फिर से बलवती हो उठी और अश्वमेध, अग्निष्टोम इत्यादि यज्ञ फिर होने लगे। अभिलेखों एवं मुद्राओं से ऐसा पता चलता है कि विष्णु, जनार्दन, शिव, कार्तिकेय एवं सूर्य, लक्ष्मी, दुर्गा, पार्वती की पूजा होने लगी। गंगा एवं यमुना का देव मूर्त्तियों के रूप में प्रादुर्भाव इसी काल में हुआ। ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के फलस्वरूप देश में अनेक देवि-देवताओं की मूर्त्तियाँ बनने लगीं और मन्दिरों का निर्माण हुआ। उन्होंने अनेक शैव एवं वैष्णव मन्दिरों का भी निर्माण करवा कर इस धर्म के प्रति अपनी सहज झुकान प्रकट की थी। बौद्ध विहारों और जैन मन्दिरों को खूब राजकीय सहायता प्रदान की जाती थी। इस काल में बौद्धों को कितनी अधिक धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी इसका प्रमाण उन ढेर की ढेर गुप्त कालीन बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्त्तियों में मिलती है जो भारत के विभिन्न प्रान्तों में मिली हैं। नालन्दा का बौद्ध महाविहार बौद्ध परम्पराओं के अनुसार पाँचवीं शताब्दी में कुमारगुप्त प्रथम द्वारा स्थापित किया गया था। हिंदू धर्म, धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष में सामंजस्य का सिद्धान्त प्रचारित कर रहा था तथा इसका प्रसार पूर्वीद्वीप-समूह और हिंदचीन आदि देशों में तीव्रगति से हो रहा था। इस सार्वभौम धर्म ने शकों और हूणों तक को हिन्दू समाज में मिलाकर अपनी धार्मिक उदारता और व्यापकता का परिचय इसी काल में दिया था।

(८) **आर्य सभ्यता एवं संस्कृति के पुनरुद्धार का काल:**—गुप्त-काल के सभी नरेश आर्यसंस्कृति के महान् पोषक एवं अनुयायी थे। उनकी रगो में आर्य-सभ्यता का रक्त बहता था। उन्होंने स्वदेश, स्वधर्म एवं स्वभाषा की रक्षा एवं

अभिवृद्धि का भगीरथ प्रयास किया। इन सम्राटों ने वैदिक धर्म में प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म एवं अश्वमेध यज्ञों को पुनः प्रचलित कर दिया। अश्वमेध यज्ञों के अवसर पर समुद्रगुप्त ने पहले ही से दिग्विजय करने की प्राचीन प्रथा को प्रारम्भ कर दिया था। उसने और उसके बाद के सभी गुप्त-सम्राटों ने अनेक शिव एवं विष्णु मन्दिरों की स्थापना कराकर अपने 'परम भागवत' होने का परिचय दिया था। बौद्ध और हिन्दू धर्म प्रचारकों ने ज्ञानोपदेश के पवित्र लक्ष्य को लेकर इस काल में सुदूर देशों की यात्रा की और इस प्रकार उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रसार में अपूर्व योगदान किया। इसके अतिरिक्त विदेशी आक्रमणकारियों से देश की रक्षा कर देश की संस्कृति को बचाया। गुप्त सम्राटों ने अपनी संस्कृति की रक्षा के लिये संस्कृत भाषा को राष्ट्र भाषा का स्थान प्रदान किया। अतः संस्कृत के प्रोत्साहन के लिये विविध कार्य किये। उन्होंने अपनी प्रशस्तियाँ संस्कृत में लिखवायीं। मुद्राओं पर भी संस्कृत में छंदबद्ध लेख लिखवाये।

(९) व्यापार और वाणिज्य की अभूतपूर्व उन्नति का काल :— व्यापारिक दृष्टिकोण से गुप्त काल समस्त विश्व के देशों में अग्रणी था। इस काल के भड़ोंच, विदिशा, पेठन, उज्जयिनी, प्रयाग, काशी, गया, मथुरा, कौशाम्बी, वैशाली, ताम्रलिप्ति, पाटलिपुत्र और पेशावर आदि वैभवशाली नगर व्यापार और शिल्प के लिये विश्वविख्यात केन्द्र बने हुये थे। वस्तुओं का आयात-निर्यात बहुत बढ़ गया था। घोड़े, ऊँट, खच्चर एवं बैलगाड़ियों का उपयोग भार-वाहन के लिये किया जाता था। जल एवं थल मार्गों द्वारा व्यापार होता था। बड़ी-बड़ी चौड़ी और सुदृढ़ सड़कों का जाल सा बिछा हुआ था। राज्य की ओर से जलमार्गों में छोटी और बड़ी सभी प्रकार की नौकाओं और जंगी जहाजों जो पतवार और पाल की सहायता से चलते थे, का भी समुचित प्रबन्ध था। गोदावरी और कृष्णा नदियों के मुहानों पर स्थित अच्छे-अच्छे बन्दरगाह थे। बंगाल में ताम्रलिप्ति नाम का प्रसिद्ध बन्दरगाह था। इन बन्दरगाहों के द्वारा चीन, हिन्द-चीन और पूर्वी द्वीप समूह आदि अनेक देशों के साथ व्यापार होता था।

(१०) भारतीय संस्कृति के प्रसार का काल :— विदेशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना और भारतीय सभ्यता के प्रचार के दृष्टिकोण से गुप्त-काल का बड़ा महत्त्व है। भारत का लंका, इन्डोनेशिया, कम्बोडिया, चीन, कोरिया एवं जापान से आदान-प्रदान काफी पहले से ही चला आ रहा था। इनका वर्णन रामायण एवं पुराणों में भी है। भारतीय संस्कृति के प्रसार के पूर्व इन देशों का सीधा व्यापार होता था। यह हम जानते हैं कि बंगाल के ताम्रलिप्ति नामक बन्दरगाह से भारतीय व्यापार के साथ-साथ बृहत्तर भारत में भारतीय सभ्यता का

प्रचार हुआ जिस कारण भारत वासियों ने इन देशों के निवासियों को अपनी संस्कृति के रंग से पूर्णतया सराबोर कर दिया। वहाँ भारतीय सामाजिक एवं प्रशासकीय नियमों का भी प्रचार हुआ। भारतीय धर्म और कलाओं की सार्वभौमिकता के कारण इनका अनुकरण बृहत्तर भारत क्या, पाश्चात्य देशों के यवनों, शकों और हूणों द्वारा भी अधिकाधिक रूप में किया गया।

इन सब उपर्युक्त कारणों से इतिहासकारों ने गुप्त-काल को स्वर्ण युग कहकर पुकारा है क्योंकि हमने देखा है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गुप्त-काल ने अभूतपूर्व प्रगति की थी। इसकी समानता भारतीय इतिहास का कोई दूसरा काल नहीं कर सकता। इस काल में कला, साहित्य, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में विशेष प्रगति हुई। ललित-कला की जो चरम सीमा इस युग में हुयी वह अन्यत्र कहाँ सम्भव है! इस काल में भारत की सर्वांगीण उन्नति हुयी थी। राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आध्यात्मिक सभी दृष्टियों में भारत का पूर्णरूपेण विकास हो पाया था। विदेशों में भारतीय गौरव बढ़ा था। यही कारण है कि वी० ए० स्मिथ ने इस उन्नति का सबसे बड़ा कारण भारतीयों का विदेशियों के साथ सम्पर्क स्थापित होना बतलाते हैं। इन देशों से बिचारों का आदान-प्रदान होता रहा।

गुप्त–साम्राज्य के पतन का कारण

जिस गुप्त-साम्राज्य की स्थापना चन्द्रगुप्त प्रथम ने की थी, समुद्रगुप्त ने उसे अपनी योग्यता, वीरता एवं साहस से उसे साम्राज्य का रूप दिया, चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उसकी विशेष सेवा की और उसे उन्नति के चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया तथा जिसे स्कन्दगुप्त ने अपने असीम साहस तथा शौर्य से दृढ़ बनाये रखा, वह साम्राज्य लगभग २०० वर्षों तक भारतीय प्रशासन एवं संस्कृति का नेतृत्व करने के बाद स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद पतन की ओर अग्रसर होने लगा। गुप्त साम्राज्य वंशगत सिद्धान्त पर आधारित था। स्कन्दगुप्त के बाद कमजोर शासक गद्दी पर आने लगे। साम्राज्य की गम्भीर समस्याओं को सुलझाना उनके वश के बाहर की बात थी। उसके पतन के कई कारण थे :—

(१) **हूणों के आक्रमण :**—हूणों के आक्रमण से सम्राट् एवं साम्राज्य की प्रतिष्ठा एवं ऐश्वर्य पर गहरा धक्का लगा। चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के बाद भारत पर हूणों के आक्रमण शुरु हो गये। गुप्त नरेश अब उतने सशक्त नहीं थे अतः उन्हें इन आक्रमणों का सामना करने में बहुत ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। हूण भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्तों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने लगे। उनके आक्रमणों से गुप्त साम्राज्य के पतन में बड़ी मदद मिली। इन

आक्रमणों से देश की आर्थिक प्रगति छिन्न-भिन्न हो गयी जिसका प्रमाण गुप्त सुवर्ण सिक्कों में शुद्धता की उत्तरोत्तर कमी है। सामाजिक एवं धार्मिक जीवन और संस्थाओं का बहुत बड़ा नुकसान लगा।

इसके अतिरिक्त कुमारगुप्त का विलासी होना भी एक प्रमुख कारण था। उसकी रुचि राज कार्यों में नहीं रही। इससे लाभ उठाकर पुष्यमित्रों ने उसके साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। स्कन्दगुप्त ने तो साम्राज्य के हर सम्भव साधनों को लेकर उसे दबा तो दिया पर उसे हूणों का सामना करना कठिन हो गया।

(२) आन्तरिक कलह एवं संघर्ष :—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद गुप्त-साम्राज्य में आन्तरिक कलहों का युग प्रारम्भ हुआ। गुप्त राजवंश के कुमारों में सिंहासन प्राप्त करने के लिये अनबन एवं प्रतिद्वन्द्विता रहती थी। घरेलू झगड़े विदेशी आक्रमण के समय भी होते रहें। इन कारणों से राजवंश एवं राज्य की प्रतिष्ठा एवं शक्ति दिनानुदिन कम होती गई जिससे केन्द्रीय शासन दुर्बल हो गया और प्रान्तीय शासकों ने अपने आपको स्वतन्त्र शासक घोषित करना प्रारम्भ कर दिया।

(३) अयोग्य उत्तराधिकारी :—स्कन्दगुप्त की मृत्यु के वाद अयोग्य उत्तराधिकारियों का एक ताँता सा बंध गया जिसमें बुधगुप्त और भानुगुप्त को छोड़कर और कोई भी राजा इस काबिल न हुआ जो साम्राज्य की सच्चे अर्थ में सेवा कर सकता। ये सभी राजा अपना अधिकांश समय भोग-विलास में बिताने लगे तथा प्रजा एवं शासन की ओर से उदासीन हो गये। इस उदासीनता का शत्रुओं ने पूर्ण लाभ उठाया।

(४) अन्तिम सम्राटों का बौद्ध धर्म स्वीकार करना :—गुप्त साम्राज्य के पतन की कड़ी में यह भी एक कारण है कि उसके अन्तिम सम्राटों का बौद्ध धर्म स्वीकार करना। इन राजाओं ने सेना की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जिस कारण उनकी सैनिक शक्ति का ह्रास होना शुरु हो गई।

(५) मजबूत सीमान्त नीति का अभाव :—स्कन्दगुप्त के वाद के राजाओं का ध्यान सीमा की ओर से हटने लगा। उन्होंने उत्तर-पश्चिम मार्ग से होने वाले हूणों के आक्रमणों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। इस कारण विदेशी जातियों को प्रोत्साहन मिला और उन्होंने भारत भूमि को अपना स्थान बना लिया।

गुप्त-साम्राज्य अब आखिरी साँस ले रहा था। कुमारगुप्त तृतीय एवं विष्णुगुप्त वास्तव में नाम-मात्र के सम्राट् थे, मगध पर भी उनका वास्तविक अधिकार न था। अगर स्कन्दगुप्त की तरह उसके उत्तराधिकारी भी दृढ़ प्रतिज्ञ होकर अपने साम्राज्य की सेवा करते और शासन-प्रवन्ध में रुचि दिखलाते तो ऐसा

सम्भव था कि साम्राज्य कुछ काल तक और चलता रहता किन्तु स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद से ही उसके पतन के लक्षश दिखलाई पड़ने लगे थे। विष्णुगुप्त इस वंश का अन्तिम शासक था।

हूण-आक्रमण का इतिहास

मध्यएशिया के मैदान एवं सघन जंगलों में बसने वाली एक जाति हूण के नाम से प्रसिद्ध थी। प्राचीन भारतीय धर्मग्रन्थों जैसे महाभारत, पुराण, रघुवंश, हर्षचरित, चान्द्र व्याकरण (चन्द्र द्वारा रचित) आदि में हूणों का वर्णन मिलता है। चन्द्र ने अपनी पुस्तक व्याकरण में 'अजयत् जट्टों हूणान' हूणों के बारे में लिखा है। हिंगु-नु या हूणों ने ई. पू. १६५ में यू-ची जाति को चीन की पश्चिमोत्तर सीमा से निकाल-बाहर किया। जनसंख्या की वृद्धि के कारण कुछ दिनों के बाद स्वयं पश्चिम की ओर प्रसार की आकांक्षा से यह जाति बढ़ने के लिये प्रेरित हुई। कालान्तर में आगे बढ़ने पर इनकी दो शाखाएँ हो गईं—यूराल पर्वत को पारकर उनमें से एक ने आधे यूरोप को अपने में समेट लिया एवं दूसरी शाखा दक्षिण की ओर मुड़ गई और वह आक्सस के किनारे पहुँच गई। आक्सस की ओर आने वाला दल मूलतः जो अन जो अन कबीले के अधीन था और शीघ्र ही समय पाकर यह आक्सस घाटी में शक्तिशाली हो गया। यह घटना पाँचवीं शताब्दी के मध्य का है तथा इन लोगों ये-थां, हेफ्थालाइट्स या इफ्थालाइट्स कहा जाने लगा। यूनानी विवरणों के आधार पर इन लोगों को 'श्वेत हूण' की संज्ञा दी गई है।

चीनी लेखकगण हिंग-नु एवं ये-ति-लि-दो (ये-था या ये दा = श्वेत हूण) में विभेद करते हैं। हुआ नाम से वे लोग हूण का संकेत देते हैं। डब्ल्यू० एम० मेक्गवर्न के अनुसार चीनी स्रोतों में कहीं-कहीं हूण (श्वेत) और यू-ची को एक ही माना गया है और कहीं-कहीं पर उन लोगों को तुर्फान या गुशी निवासियों का वंशज कहा गया है। तुर्फानी लोगों ने १२६ ई० में वांगयुंग नामक चीनी सेनापति को उत्तरी हूणों के विरुद्ध सहायता दी थी। श्वेत हूण एवं हिंग-नु जंगुरिया नामक स्थान में आस-पास ही रहते थे। इन्हीं श्वेत हूणों की शाखा ने भारतीय सीमा पर एक छोटे-से राज्य का निर्माण किया था।

आर. घिर्समैन ने यह बतलाया है कि पाँचवीं शती ई० के मध्य में कुछ हूण जाति के लोगों ने हिन्दुकुश क्षेत्र में अपना आधिपत्य जमाया था। महाभारत के भीष्मपर्व में हूणों को ईरानियों से सम्बन्धित बतलाया गया है। कालिदास ने अपने 'रघुवंश' में आक्सस नदी के पास हूणों की बस्ती बतलाया है। बाणभट्ट ने भी उत्तरापथ के एक हूण राज्य का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त पुराण, बृहत्संहिता, ब्राहस्पत्य

अर्थशास्त्र एवं सोमदेव की नीतिवाक्यामृत ने भी हूणों को किसी उत्तरी कबीले या देश से सम्बन्धित माना है।

हूणों ने गुप्त साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर ४५७–५८ ई० में आक्रमण कर दिया पर स्कन्द गुप्त ने ४५७ और ४६७ के बीच हूणों को बहुत बुरी तरह से परास्त किया एवं अपने साम्राज्य को उनके ध्वंसकारी हाथों से बचाया। कथासरित्सागर में भी हूणों की पराजय का वर्णन मिलता है। भितरी-स्तम्भ लेख के अनुसार जब स्कन्दगुप्त हूणों से टकराया तो उसने अपनी भुजाओं से पृथ्वी हिला दी। हूणों ने पहले ही ईरान को जीत लिया था तथा काबुल और कुषाण-राज्य को नष्ट कर दिया। ईरानी राज्य को नष्ट कर देने के कुछ काल बाद वे टिड्डी-दल की भाँति भारत पर टूट पड़े और उस दल का नेता तोरमाण था। किन्तु स्कन्दगुप्त से पराजित होकर हूणों ने भारत के पश्चिमोत्तर भाग में जाकर शरण ली और वहाँ पहुँचकर अपनी शक्ति को संयत करने में जुट पड़े। किन्तु स्कन्दगुप्त के बाद हूणों ने फिर अपना बल एकत्र कर गुप्त-साम्राज्य के पश्चिमी प्रदेशों पर अपना आधिपत्य कर लिया। हूणों का दूसरा आक्रमण ४६५ ई० में हुआ जिसकी पुष्टि हमें प्रभाकर के मन्दसोर अभिलेख (मालवसंवत् ५२४ = ४६७–६८ ई०) से होती है। इस अभिलेख में स्कन्दगुप्त का नाम न होना इस बात का प्रमाण देता है कि स्कन्दगुप्त का आधिपत्य पश्चिमी मालवा से समाप्त हो गया हो।

कालान्तर में पुनः हूण-आक्रमण हुआ। एरण से प्राप्त लेखों के आधार पर यह कहा जाता है कि बुधगुप्त के बाद एरण प्रान्त में हूणों का आधिपत्य हो गया था। लेख में ऐसा कहा गया है कि मातृविष्णु और उसके भाई धन्यविष्णु जो बुधगुप्त के आश्रित शासक थे ४८५ ई० के बाद हूणों के सरदार तोरमाण की अधीनता स्वीकार कर ली थी। मध्यभारत में पाये जाने वाले लेख एवं सिक्कों से यह प्रमाणित होता है कि छठी शती के पूर्वार्द्ध में हूणों का आधिपत्य मध्यभारत पर था। अब यद्यपि गुप्तों का आधिपत्य धीरे-धीरे घट रहा था फिर भी उन्होंने हूणों के समक्ष सिर नहीं झुकाया। गुप्त लोग हूणों के विरोध में लड़ते रहे और इसका ज्वलन्त प्रमाण हमें गोपराज की हत्या है जिसने गुप्त नरेश के पक्ष में हूणों से युद्ध कर अपनी जान गँवायी और इस कारण उसकी स्त्री सती हो गई।

तोरमाण :—हमारे पास तोरमाण के अनेक लेख तथा सिक्के हैं। सिक्के दो प्रकार के हैं—पहले प्रकार के सिक्के ससैनियन ढंग के सिक्के हैं जो फारस के शासक के सिक्कों के ही समान हैं। इसी में एक ओर शाही जबुल लिखा हुआ है। पंजाब में नमक की पहाड़ियों में कुर नामक स्थान पर एक अभिलेख प्राप्त हुआ है

जिसके लेख से यह मालूम होता है कि जबुल तोरमाण की पदवी है। अतः ये सिक्के तोरमाण के ही हैं।

दूसरे प्रकार के सिक्के गुप्तों के चाँदी के सिक्कों के समान हैं जिस पर 'विजितावरनिरवनिपति श्री तोरमाण' लिखा हुआ है। इन चाँदी के सिक्कों पर ५२ अंक दिया हुआ है। सम्भवतः वह तारीख है। किन्तु एरण से प्राप्त एक लेख में भी तोरमाण की निश्चित तिथि नहीं दी गई है। ऐसा हम जानते हैं कि बुधगुप्त के आश्रित शासक मातृविष्णु एवं धन्यविष्णु दोनों भाइयों ने ४८३ ई० में तोरमाण की अधीनता स्वीकार कर ली थी। तोरमाण का साम्राज्य फारस से मध्यभारत तक विस्तृत था। उसने गुप्तसाम्राज्य के वड़े प्रान्तों को अपने अधीन कर लिया तथा अपनी प्रभुता मध्यभारत में कायम कर ली। तोरमाण के प्रथम शासन वर्ष में ही धन्यविष्णु द्वारा प्रतिष्ठित वराहविष्णु की मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई।

बुधगुप्त के बाद ही तोरमाण ने मालवा पर अपना अधिकार कर लिया। वलभी के मैत्रक भी हूणों से नहीं बच पाये। भटार्क, धनसेन एवं द्रोणसेन जो पहले गुप्तों के सामन्त थे, बाद में चलकर गुप्तों की सत्ता कमजोर होने पर, हूणों की अधीनता स्वीकार कर लिये। बाद में जब हूणों का भी पतन हो गगा तो वे लोग स्वतन्त्रतापूर्वक रहने लगे। 'मंजुश्रीमूलकल्प' के आधार पर यह कहा जाता है कि ५०३–४ ई० के लगभग तोरमाण ने मगध पर भी अपना आक्रमण किया। मगध पर चढ़ाई करने का दो कारण था—क्योंकि गुप्त साम्राज्य में आन्तरिक कलह के साथ-साथ सामन्तों का विद्रोह बढ़ गया था तथा इन्हीं दोनों परिस्थितियों से लाभ उठाकर तोरमाण ने आक्रमण किया। उसने काशी में मगध के राजा के रूप में प्रकाराख्य को बन्दीगृह से मुक्त कर, गद्दी पर बैंठाया। के० पी० जायसवाल ने प्रकाराख्य को प्रकटादित्य माना है। इसका प्रमाण वे सारनाथ से प्राप्त एक भग्न अभिलेख से देते हैं। मगध एवं गौड़विजय का भी श्रेय तोरमाण को ही दिया जाता है। जायसवाल ने यह स्वीकार किया है कि हूणों का आक्रमण गुप्त साम्राज्य के पतन का परिणाम था, न कि उसका कारण। उनका कहना है कि बुधगुप्त के देहावसान के बाद गुप्तवंश दो दलों में बंट गया जिससे तोरमाण ने तत्काल ही लाभ उठाया। तोरमाण की एक मुहर कौशाम्बी में घोषिताराम मठ के पास प्राप्त हुई है जिस पर तोरमाण लिखा हुआ है। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह कहा जाता है कि भारत में हूणवंश का संस्थापक तोरमाण था। कुछ लोग उसकी राजधानी स्यालकोट बतलाते हैं।

मिहिरकुल:—मिहिरकुल अपने पिता तोरमाण से भी अधिक प्रतापी हुआ। ह्वेनसांग के अनुसार उसकी राजधानी स्यालकोट थी। वह एक बड़े भू-भाग का स्वामी था। उसके तीन प्रकार के सिक्के पाये जाते हैं—बड़ा, मध्यम एवं छोटा।

पंजाब के इलाकों में अनेक सिक्के मिले हैं। इन सिक्कों के एक ओर नन्दी का चित्र है तथा उसके अधोभाग पर जयत् वृष लिखा हुआ है तथा दूसरी ओर घोड़े पर सवार राजा की मूर्त्ति है और मिहिरकुल लिखा हुआ है। उसका एक अभिलेख ग्वालियर में मिला है जो मिहिरकुल के १५वें वर्ष का है। हूणों ने लगभग ४८५ ई० से ५२० ई० तक भारत के भू-भाग पर शासन किया। भानुगुप्त ने ५१० ई० में गोपराज के साथ हूणों को हराया था। ऐसा कहा जाता है कि इस युद्ध में पराजित होकर हूणों ने अपनी राजधानी स्यालकोट में बनायी। पंजाब में हूणों का शासन लगभग ५३२ ई० तक रहा। यशोधर्मा के मंदसोर लेख से यह ज्ञात होता है कि उसने ५३२ ई० में हूणों को हराया एवं गांधार, कश्मीर एवं किपिन पर भी उसका अधिकार था।

ह्वेनसांग के अनुसार मगध का राजा बालादित्य ने मिहिरकुल को कर देना बन्द कर दिया था। मिहिरकुल अपने राज्य का भार अपने छोटे भाई को देकर मगध की ओर आक्रमण करने के ख्याल से बढ़ा। यहाँ आने पर वह मगधराज बालादित्य से पराजित हो गया और बन्दी बना लिया गया पर बालादित्य की माता के आग्रह पर उसकी जान छोड़ दी गई, अन्यथा वह मारा जाता। दूसरी ओर मिहिरकुल के भाई ने राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। जब वह मुक्त हुआ तो कश्मीर पहुँचा और वहाँ के शासक को मार कर वहाँ का शासक बन बैठा। गांधार के शासक की भी हत्या कर वहाँ का भी स्वामी बन बैठा तथा वहाँ के ६०० संघारामों को नष्ट कर दिया। एक चीनी यात्री सुंगयुन के अनुसार मिहिरकुल गांधार का शासक था। कोसमस के अनुसार हूणों का अधिकार सिन्धु नदी के पश्चिम में था।

बेतुल अभिलेख जिसका काल ५१८ ई० है, में गुप्त शासन उल्लेख किया गया है। इसलिये यह विश्वास किया जाता है कि उसका अभियान इस काल के बाद ही हुआ होगा। ह्वेनसांग के मतानुसार मिहिरकुल का प्रभाव समस्त उत्तरभारत पर था और इसका प्रमाण यह भी है कि उसका एक सिक्का कौशाम्बी में भी मिला है। बेतुल अभिलेख (५१८ ई०) एवं मन्दसोर अभिलेख (५३२ ई०) के आधार पर राधाकृष्ण चौधरी का कहना है कि भारत में मिहिरकुल के उत्थान और पतन का इतिहास ५१८ ई० और ५३० ई० के बीच रखा जा सकता है। यशोधर्मा से हारने के पहले मिहिरकुल बालादित्य से ही पराजित हुआ होगा। फ्लीट के मतानुसार मिहिरकुल पश्चिम में यशोधर्मा द्वारा और पूरब में बालादित्य द्वारा पराजित हुआ। मिहिरकुल पर बालादित्य की अन्तिम विजय नहीं थी। उसके अत्याचार से भारत को मुक्ति दिलानेवाला यशोधर्मा था। इसने मिहिरकुल की शक्ति को नष्ट कर दिया। मिहिरकुल की मृत्यु कब हुई—इसका निश्चित

पता नहीं है। वह अत्यन्त ही क्रूर था क्योंकि अत्याचार एवं नृशंसता उसके लिये मनोरंजन का साधन थी। उसने बौद्धों के स्तूपों एवं विहार को बर्बाद कर उन्हें मौत के घाट उतारा। हूणों में राज्य संगठन की शक्ति नहीं थी। मिहिरकुल के वाद कोई भी हू"ों में योग्य नहीं निकला इसलिये यूरोप एवं भारत में वे कहीं भी जम नहीं पाये।

मिहिरकुल के पश्चात् हूणों का उपद्रव पूर्णरूपेण तो बन्द नहीं हो पाया किन्तु पहले की अपेक्षा कुछ कम हुआ। वे लोग थानेश्वर के आस-पास के इलाकों में तथा उससे आगे की ओर आक्रमण करते रहते थे। मौखरी हमेशा हूण-सेना से भिड़ा करते थे। वे अपने हाथियों की सहायता से उन्हें परास्त कर देते थे। के. पी. जायसवाल के मतानुसार अफसड-अभिलेख में जिस मौखरी सेना की ओर संकेत किया गया है, वह वही विजयी सेना थी जिसने यशोधर्मा की अध्यक्षता में उसकी उत्तरी विजय के क्रम में हूणों के साथ लड़ाई कर पराजित किया। इस सेना ने हूणों को पराजित किया था, कुमारगुप्त तृतीय के पुत्र दामोदर गुप्त की हत्या की थी और जब ईशानवर्मा ने उसे लेकर कुमारगुप्त पर चढ़ाई की, तब उसका सफलतापूर्वक विरोध किया गया था। कालान्तर में प्रतिहार, पाल एवं कलचुरी आदि शासकों के अभिलेखों में हूणों का वर्णन मिलता है। मालवा के इलाकों में हूणों की प्रधानता बनी रही। थानेश्वर के राजवंश को भी हूणों से भिड़न्त हुई थी। हूण-मण्डलों का उल्लेख मध्य भारत में मिलता है। हूण-मण्डल याने मालवा में उनका शासन था एवं राजा मुंज ने उन्हें पराजित किया।

हूण-आक्रमण का प्रभाव :—एक बर्बर जाति के होने के कारण हूणों का काम यत्र-तत्र घूमना एवं लूट-पाट करना था। वे लोग सभ्य नहीं थे। पर भारत पर उनके आक्रमणों का प्रभाव अवश्य पड़ा। इन आक्रमणों के फलस्वरूप गुप्त-साम्राज्य को बड़ा प्रबल धक्का पहुँचने के साथ-साथ उनका पतन भी हो गया। इसके साथ ही पुनः भारत में छोटे-छोटे राज्यों का उदय होने लगा। वी० ए० स्मिथ ने यह स्वीकार किया है कि उत्तरी भारत के सामाजिक एवं राजनीतिक इतिहास में हूण-आक्रमणों का काफी महत्त्व था। भारत में केन्द्रीय शक्ति क्षीण हो गयी और विकेन्द्रीकरण की भावना का विकास हुआ। के. पी. जायसवाल ने मंजुश्रीमूलकल्प को आधार मानकर यह कहा है कि हूणों का आक्रमण गुप्त-साम्राज्य के पतन का परिणाम था, न कि उसका कारण। हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती कि हूणों ने गुप्त साम्राज्य को काफी क्षति पहुँचाई।

इस हूण-आक्रमण से बौद्ध धर्म को काफी हानि पहुँची। ह्वेनसांग के अनुसार हूणों ने बौद्ध विहारों को बुरी तरह नष्ट कर दिया। बौद्ध धर्म के प्रचार एवं

शक्ति पर हूणों के इस आक्रमण का बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ा। इन लोगों ने बहुत से लेखों को नष्ट करवा दिया जिनका ऐतिहासिक महत्त्व काफी था। और, जिनके अभाव में भारतीय इतिहास की कुछ समस्याएँ अभी भी जटिल बनी हुई हैं।

बाद में चलकर ये हूण लोग भारतीय समाज में मिला लिये गये। उनके आक्रमण के परिणामस्वरूप भारतीयों और हूणों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुये। उन्होंने भारतीय धर्म एवं संस्कृति को अपना लिया। अनेक इतिहासकारों का ऐसा मत है कि इन्हीं हूणों से कई राजपूत वंश का उद्भव हुआ। पर कुछ इतिहासकार इसे स्वीकार नहीं करते।[1] किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह की गुंजाइश नहीं कि हूणों के तत्कालीन हिन्दूसमाज में मिलने से कुछ सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हुई होंगी। कालान्तर में साधारण रूप से छत्तीस जातियों में ये गिने जाने लगे।

हूणों के आक्रमण से सामाजिक अव्यवस्था बढ़ गई तथा वर्णसंकरता की वृद्धि हो रही थी। रमेशचन्द्र मजूमदार के शब्दों में :—

"Rapine massacre and incendiarism marked the route of the barbarians. Cities were blottcd out of existence, finest bnildings were reduced to a heap of ruins, temples and monasteries...stood empty and desolate...It was at this critical moment that the Maukharis stood as the bulwark of Indlan civilisation...the one which entitles them to be commemorated in Indian history, is the stubborn opposition to the Hūṇas."

वाकाटक वंश का इतिहास

दक्षिण भारत के इतिहास में वाकाटकों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन भारत में इन लोगों का शासन तीसरी शताब्दी से छठी शताब्दी तक रहा। गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी पुत्री प्रभावतीगुप्ता का विवाह वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय से किया था। इस वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इतिहासकारों में विभिन्न मत है क्योंकि इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से मालूम नहीं है। प्रो. जे. डुब्रेल के शब्दों में—"दक्षिण के उन समस्त राजवंशों में, जिन्होंने तीसरी शताब्दी ई० से छठी शताब्दी ई० तक राज्य किया, सबसे अधिक गौरवपूर्ण एवं आदरणीय स्थान का पात्र तथा सब में अद्वितीय तथा सम्पूर्ण दक्षिण के राज्यों में श्रेष्ठतम सभ्यता वाला निश्चय ही वाकाटकों का यशस्वी राजवंश था"।[1]

---

१. विशेष विवरण के लिये देखिये—डॉ० उपेन्द्र ठाकुर—हूणाज इन इण्डिया, वाराणसी, १९६८

वाकाटक राजवंश के संस्थापक विंध्यशक्ति को कोलिकिल नामक एक जाति का शासक माना गया है[1]। विष्णुपुराण से कैलिकिल नरेशों की गणना वनों से मालूम पड़ता है। वाकाटक लोग ब्राह्मण जाति के थे। वी. वी. मिराशी के अनुसार वे लोग ब्राह्मण जाति के थे एवं उनका संस्थापक विन्ध्यशक्ति विष्णुभद्र गोत्र का था। उनकी यह धारणा अजन्ता गुफा लेख संख्या १६ पर आधारित है।

वाकाटकों के मूलस्थान के विषय में इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ इतिहासकारों का ऐसा मत है कि बुन्देलखण्ड में विजनौर-बगाट ग्राम में इनका मूल निवास-स्थान था। राजबली पाण्डेय ने वगाट को बाकाट = वागाड कहा है।[2] अतः इस वंश वाले वाकाटक कहलाये पर विजनौर-बगाट क्षेत्र के वाकाटकों से इन दक्षिण के वाकाटकों का क्या सम्बन्ध था, इसका पता अभी तक नहीं चला है। वी. वी. मिराशी ने इन लोगों को दाक्षिणात्य कहा है। एक तीसरी शती का अभिलेख जो आन्ध्र प्रदेश के अमरावती नामक स्थान में पाया गया, उससे एक वाकाटक यात्री के स्थानीय स्तूप के दर्शनार्थ आने का वर्णन मिलता है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि जिस ग्राम से वह यात्री आया होगा वह विन्ध्य पर्वत के उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में स्थित रहा होगा।[3]

विन्ध्यशक्ति :—वाकाटक-वंश के प्रथम शासक का नाम विन्ध्यशक्ति था। विन्ध्यशक्ति को द्विज कहा जाता था। पुराणों में विन्ध्यशक्ति को वाकाटक वंश का संस्थापक एवं विदिशा (भिलसा) तथा पुरिक (आधुनिक बरार या विदर्भ) का शासक बतलाया गया है। वाकाटकों का मूलस्थान चाहे जहाँ भी रहा हो पर प्रारम्भिक अवस्था में वे बुन्देलखण्ड या आन्ध्र में न रहकर पश्चिम मध्यप्रदेश के रहने वाले थे। सातवाहनों के बाद उसने अपनी सत्ता का विकास किया। ऐसा कहा जाता है कि उसके पूर्वज सातवाहनों के अधीन बरार के शासक थे पर जब सातवाहनों का पतन हो गया तो विन्ध्य के उस पार तक विन्ध्यशक्ति अपनी संप्रभुता स्थापित करने में सफल हो गया। अजन्ता-अभिलेख में उसकी तुलना इन्द्र एवं विष्णु से की गई है। उसके पास घोड़ों की एक विशाल सेना थी जिसके बल पर उसने शत्रुओं को पराजित किया था। पर अल्तेकर ने इस मत का खण्डन किया है कि उसने युद्ध द्वारा अपनी सत्ता स्थापित की थी। उनके शब्दों में[4]—

---

१. "ततः कोलिकिभ्यङ्च विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति। समाः षराणवतिं ज्ञात्वा पृथ्वीं तु समेष्यति"।—वायु एवं ब्रह्माण्ड।

२. प्रा० भा०, पृ० २५२.

३. रतिभानुसिंह नाहर—प्रा. भा. रा. सां. इ.—पृ० ५८९

४. Vākāṭaka Gupta Age. p. 97

"The districts annexed by Vindhyashakti were mosthy a kind of no man's land at that time and the exhaustion of the partrimony was probably achieved more by diplomacy than by force." उसका राज्य-काल २५५ ई० से २७५ ई० तक था।

प्रवरसेन प्रथम :—विन्ध्यशक्ति के बाद उसका पुत्र प्रवरसेन प्रथम गद्दी पर बैठा। पुराणों में उसे प्रवीर कहा गया है। उसे समरत या सम्राट् की भी उपाधि प्रदान की गई है। यह वाकाटक वंश का सबसे अधिक प्रतापी राजा सिद्ध हुआ जिसने साम्राज्य का विस्तार कर चार अश्वमेध यज्ञ किये थे।

पुराणों से यह पता चलता है कि विदिशा इसके अधीन था तथा पुरिका इसकी राजधानी थी। वी० वी० मिराशी का ऐसा मत है कि उस समय पुरिका में विदिशा के नागवंशी राजा का दौहित्र जिसका नाम शिशुक था वह वहाँ का शासक था। प्रवरसेन ने इस शिशुक को पराजित कर पुरिका को अपने अधीन कर लिया पर अनेक इतिहासकारों ने इस तथ्य की पुष्टि नहीं की है और उनका ऐसा मत है कि पुरिका प्रवरसेन प्रथम के पिता विन्ध्यशक्ति के समय से ही वाकाटक राज्य में थी।

प्रवरसेन के विषय में ऐसा कहा जाता है कि उसका गुजरात एवं काठियावाड़ पर भी आधिपत्य था क्योंकि हम देखते हैं कि इसी कारणवश वहाँ के शक नरेशों रुद्रसिंह (२०४–३१६ ई०) एवं यशोदामन द्वितीय (३१६–३३२) ई० ने एकमात्र छोटी उपाधि 'छत्रप' की धारण की थी। इसका प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि यशोदामन के बाद ३३२ ई० से ३४५ ई० तक शकों की कोई भी मुद्रा नहीं मिलती है। पर इस मत को वी० वी० मिराशी ने नहीं माना है और उनका ऐसा कहना है कि शकों की स्वतन्त्रता छीनने वाला मध्यप्रदेश का एक अन्य नरेश श्रीधरवर्मन था।

विमलचन्द्र पाण्डेय[1] ने हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि मध्यप्रदेश के बघेलखण्ड में स्थित नयना एवं गंज ग्रामों में वाकाटक नरेश पृथ्वीषेण के माण्डलिक व्याघ्रदेव के दो शिला लेख प्राप्त हुये हैं। अनेक इतिहासकारों ने इस पृथ्वीषेण को पृथ्वीषेण प्रथम माना है। पर बघेलखण्ड को न तो पृथ्वीषेण प्रथम ने जीता था और न उसके पिता रुद्रसेन प्रथम ने। अतः यह अनुमान किया जाता है कि बघेलखण्ड की विजय प्रवरसेन प्रथम ने ही की थी।

अभिलेखों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि बालाघाट से दक्षिणी बरार और उत्तरी पश्चिमी हैदराबाद तक का प्रदेश प्रवरसेन के अधीन था। उत्तर कुन्तल

१. प्रा० भा० का रा० तथा सां० इ०, पृ० १००

के कोल्हापुर, सतारा, और सोलापुर निश्चित रूप से उसके अधीन मालूम पड़ते हैं। दक्षिणी कोसल, कलिंग एवं आन्ध्र में इस समय कोई शक्तिशाली राजा नहीं था। इससे अनुमान किया जाता है कि इन राज्यों को भी प्रवससेन अपने अधीन कर लिया होगा।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री चन्द्रावती का उल्लेख 'श्रीशैलस्थल माहात्म्य' नामक ग्रन्थ में है। वह श्रीशैल में मल्लिकार्जुन देवता की पूजा करने जाया करती थी। श्रीशैल नामक स्थान कृष्णा नदी के किनारे स्थित था। चन्द्रावती की समानता कुछ इतिहासकारों ने प्रभावतीगुप्ता से किया है। अगर यह समानता ठीक मालूम पड़ती है तो श्रीशैल प्रदेश (हैदरावाद का भाग) प्रभावतीगुप्ता के पति रुद्रसेन द्वितीय के राज्य में सम्मिलित होगा। इसे रुद्रसेन द्वितीय के पूर्व प्रवरसेन ने जीता होगा।

अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने प्रवरसेन के राज्य के विषय में लिखा है कि प्रवरसेन के अधीन उत्तरी महाराष्ट्र, बरार, नर्मदा नदी के दक्षिण में मध्यप्रदेश एवं भूतपूर्व हैदरावाद राज्य का अधिकांश भाग आता था। इसके अतिरिक्त उसके प्रभाव क्षेत्र में दक्षिणी कोसल, बघेलखण्ड, मालवा, गुजरात एवं काठियावाड़ भी थे।

के० पी० जायसवाल ने 'कौमुदी-महोत्सव' नामक ग्रन्थ को आधार मानकर यह कहा है कि उत्तरी भारत पर आक्रमण करके प्रवरसेन ने चण्डसेन अथवा चन्द्रगुप्त प्रथम को हराया था एवं उत्तरी भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। इसके अतिरिक्त प्रवरसेन ने कुषाणों को भी हराकर पंजाव से भगाया था। प्रवरसेन के कुछ सिक्के भी जिनपर 'प्रवरसेनस्य' लिखा हुआ है, प्राप्त हुये हैं जिनकी बनावट उत्तरी भारत के सिक्कों के समान है। पर के० पी० जायसवाल के इस मत का समर्थन किसी ने नहीं किया है क्योंकि 'कौमुदी महोत्सव' के चण्डसेन की समानता चन्द्रगुप्त से नहीं की जा सकती। इस वात की भी कोई पुष्टि नहीं होती कि पंजाब या उत्तरी भारत से प्रवरसेन का कोई सम्बन्ध था। अल्तेकर के कथनानुसार जिस सिक्के को जायसवाल प्रवरसेन की मुद्रा बताते हैं वह वास्तव में वीरसेन का सिक्का है।

साम्राज्य-निर्माण के साथ-साथ अपनी स्थिति को वह और सुदृढ़ कर सके, इसके लिये उसने अपने पुत्र गौतमीपुत्र का विवाह शक्तिशाली भारशिव-नरेश भवनाग की पुत्री से कर दिया। इस विवाह का वर्णन वाकाटकों के कई ताम्रपत्रों में हुआ है। उसके चार पुत्र थे। उसकी मृत्यु के बाद सभी राजा बने। उसका एक पुत्र सर्वसेन दक्षिण बरार एवं निजाम राज्य के उत्तर-पश्चिम भाग का अधिकारी था। पुराणों के आधार पर उसके दो और पुत्र थे जो किसी

दूसरे भाग के अधिकारी थे, पर हम उनके नाम नहीं जानते हैं। उसका पौत्र रुद्रसेन (जो उसका उत्तराधिकारी हुआ) मध्य प्रदेश के एक बड़े भू-भाग का अधिकारी था।

प्रवरसेन प्रथम वैदिक धर्म का अनुयायी था। उसने चार अश्वमेध यज्ञ किया था जिनसे उसकी चार रण-अभियान का पता चलता है। उसने इन चार अश्वमेधों के अतिरिक्त अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, आप्तीर्याम एवं अतिरात्र नामक वैदिक यज्ञ को सुसम्पन्न किया। वाशीम ताम्रपत्र से उसके 'धममहाराज' उपाधि धारण करने की वात मालूम होती है। प्रवरसेन प्रथम का मन्त्री देव बड़ा ही विद्वान एवं धर्मात्मा था। उसने वैदिक धर्म की स्थापना में राजा की बड़ी सहायता की। प्रवरसेन प्रथम ने ६० वर्षों तक सम्भवतः २७५ ई० से ३३५ ई० तक शासन किया।

प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के बाद साम्राज्य का विभाजन उसके चार पुत्रों के बीच हो गया किन्तु प्रवरसेन के जीवन में ही गौतमीपुत्र का देहान्त हो गया और यही कारण है कि गौतमीपुत्र के लिए किसी भी वाकाटक-अभिलेख में एक स्वतन्त्र राजा के रूप में उल्लेख नहीं है। इसलिये गौतमीपुत्र का पुत्र रुद्रसेन-प्रथम ने साम्राज्य का एक भाग—उत्तरी विदर्भ पाकर अपनी राजधानी नन्दिवर्धन (आधुनिक नगर धन) बनायी। प्रवरसेन के दूसरे पुत्र सर्वसेन ने दक्षिणी विदर्भ पाकर अपनी राजधानी वत्सगुल्म (वर्तमान वाशीम) बनायी। इसने वाकाटकों की दूसरी शाखा का निर्माण वशीम (दक्षिण बरार) में किया जो मूल शाखा के साथ-साथ ५२५ ई० तक चलती रही। प्रवरसेन के तीसरे पुत्र का राज्य उत्तरी कुन्तल में था एवं चौथे पुत्र का राज्य दक्षिणी कोसल में था। उत्तरी कोसल की शाखा का अन्त राष्ट्रकूट नरेश मानांक ने किया एवं दक्षिणी कोसल का अन्त नल वंश के उद्भव के कारण हुआ। किन्तु इस साम्राज्य विभाजन के कारण वाकाटकों की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गयी और वाकाटक-राज्य की शक्ति को बड़ा ही धक्का लगा।

रुद्रसेन प्रथम :—यह हम पहले से ही जान रहे हैं कि प्रवरलेन प्रथम के जीवन-काल में ही उसके प्रथम पुत्र गौतमीपुत्र की मृत्यु हो गयी थी। अतः प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के बाद उसका पोता एवं गौतमीपुत्र का बड़ा लड़का रुद्रसेन प्रथम लगभग ३३५ ई० में गद्दी पर वैठा। उसका शासन काल ३६० ई० तक रहा। जब वह गद्दी पर बैठा, उस समय उसके तीन चाचा भी अलग-अलग भागों के राजा वन चुके थे क्योंकि प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के बाद वाकाटक-राज्य का विभाजन चार भागों में हो चुका था। रुद्रसेन प्रथम का सामना अपने इन तीन चाचाओं से हुआ पर वह नाग नरेश भवनाग का नाती (दौहित्र) था। अतः भारशिवों

(नागों) ने उसकी सहायता ऐसे संकट के समय में अवश्य दी होगी। कुछ इतिहासकार प्रयाग-प्रशस्ति के रुद्रदेव की समानता इस रुद्रसेन से करते हैं, पर इन दोनों में कोई समानता नहीं है। अतः इस तथ्य को हम स्वीकार नहीं कर सकते कि कौशाम्बी की लड़ाई में समुद्रगुप्त ने रुद्रसेन की हत्या की थी। रुद्रदेव आर्यावर्त का राजा था जब कि रुद्रसेन दक्षिणापथ का था।

रुद्रसेन प्रथम यद्यपि समुद्रगुप्त का समकालीन था पर इस बात का कोई भी ऐतिहासिक तथ्य नहीं मिलता कि समुद्रगुप्त ने रुद्रसेन को हराया था या उसे अपनी अधीनता स्वीकार करने को विवश किया था। वाकाटक लेखों से हमें गुप्तों की संप्रभुता का उल्लेख नहीं मिलता है और न गुप्त-संवत् का ही प्रयोग उसमें मिलता है। वाकाटक अभिलेखों में रुद्रसेन को 'राजन' और 'महाराज' कहा गया है ; दक्षिणी भारत में स्वतन्त्र शासक भी अपने को 'महाराज' कहते थे।

रुद्रसेन प्रथम के तीन चाचा थे जिसके विषय में हम जानते हैं। इनका अपना अलग-अलग राज्य था और अवस्था की भी दृष्टि से ये काफी अनुभवी थे। रुद्रसेन तो इनके समक्ष एक बच्चा था। इन सब ने रुद्रसेन को गद्दी से हटाने का प्रयास किया और रुद्रसेन ने इन सबों से डटकर मुकाबला अपने नाना की सहायता से किया और ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि रुद्रसेन से हार जाने के ही कारण दो चाचाओं का राज्य समाप्त हो गया किन्तु सर्वसेन का राज्य बचा रहा और वह वशीम शाखा का उत्तराधिकारी बना रहा पर वाकाटकों के आपसी संघर्ष के कारण प्रधान शाखा जो रुद्रसेन प्रथम के अधीन थी, उसकी भी स्थिति डँवा-डोल हो गई। पर रुद्रसेन ने इस संकट की स्थिति पर काबू पा लिया।

रुद्रसेन प्रथन अपने वंशीय धर्म वैष्णव को बदलकर शैव धर्म का अनुयायी हो गया। अल्तेकर ने उसके इस धर्म परिवर्तन के मूल में अपने नाना भारशिव भव-माग को मानते हैं। वाकाटक लेखों से उसके महाभैरव (शिव) होने का प्रमाण मिलता है।

समुद्रगुप्त के साम्राज्य निर्माण के अभियान से वाकाटकों की भी शक्ति को बड़ा धक्का लगा। महाकान्तार, कुराल एवं पिष्टपुर के राजा पहले वाकाटकों के अधीन थे पर बाद में उन राजाओं ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली। किन्तु इतिहासकारों में इस पर मतैक्य नहीं है। उनका यह कहना है कि इनमें से कोई भी वाकाटकों के अधीन न था। अल्तेकर का मत है कि इसके शासन-काल में उज्जैन के शकों ने फिर से अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। पहले ये शक प्रवरसेन की अधीनता में थे। अब उनके राजा रुद्रदामन द्वितीय ने महाक्षत्रप की उपाधि धारण कर ली। यह एक स्वतन्त्र राजा की उपाधि थी।

पृथ्वीषेण प्रथम :—रुद्रसेन प्रथम की मृत्यु के बाद सन् ३६० ई० में उसका पुत्र पृथ्वीषेण प्रथम गद्दी पर बैठा। इसका राज्य-काल ३८५ ई० तक रहा। इसके समय में वाकाटकों की दूसरी शाखा जो वशीम शाखा के नाम से प्रसिद्ध थी और जिसका शासन दक्षिण बरार में था—वहाँ सर्वसेन का पुत्र शासक था। इन दोनों शाखाओं में आपसी प्रेम-भाव बड़ा ही अच्छा था। उसे 'कुन्तलेन्द्र' की उपाधि दी गई थी। वाकाटक लेखों में उसे धर्मविजयी बताया गया है एवं उसकी तुलना युधिष्ठिर से की गई है। इससे इतिहासकारों ने यह स्वीकार किया है कि उसका राज्यकाल काफी शान्तिपूर्ण था। उसके शासन की सबसे प्रमुख घटना उसका विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना था। पृथ्वीषेण प्रथम ने अपने पुत्र रुद्रसेन द्वितीय की शादी चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावतीगुप्ता से किया। इसका ऐतिहासिक महत्त्व काफी है। चन्द्रगुप्त द्वितीय गुजरात और काठियावाड़ के शकों का दमन करना चाहता था। इनका पड़ोसी वाकाटक राज्य था। अतः यह वाकाटक राज्य चन्द्रगुप्त द्वितीय की काफी मदद उसके साम्राज्य विस्तार के क्रम में कर सकता था। इसीलिये इन दोनों ने अपने पुत्र-पुत्रियों का विवाह कर एक दूसरे के परम मित्र बन गये। वाकाटकों ने शकों को हराने में चन्द्रगुप्त द्वितीय की काफी सहायता की।

पृथ्वीषेण शैव मतावलम्बी था। पच्चीस वर्षों तक शासन करने के बाद उसकी मृत्यु ३८५ ई० में हो गयी।

रुद्रसेन द्वितीय :—अपने पिता पृथ्वीषेण प्रथम की मृत्यु के बाद रुद्रसेन द्वितीय लगभग ३८५ ई० में गद्दी का अधिकारी बना। उसने सम्भवतः ३९० ई० तक राज्य किया। वाकाटक वंश अब भी बलशाली था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी पुत्री प्रभावतीगुप्ता का विवाह इसके साथ किया था। यह एक ऐतिहासिक घटना थी। ऐसा कहा जाता है कि उस पर उसके श्वसुर चन्द्रगुप्त द्वितीय का अधिक प्रभाव था और यही कारण है कि उसने अपने पूर्वजों के शैव धर्म को त्याग कर चन्द्रगुप्त द्वितीय के वैष्णव धर्म को ग्रहण कर लिया। वह बड़ा ही साहसी एवं योग्य पुरुष था पर अपने दो लड़के दिवाकर सेन (अवस्था ५ वर्ष) एवं दामोदर सेन (अवस्था २ वर्ष) को छोड़कर लगभग ३० वर्ष की अवस्था में मर गया।

प्रभावतीगुप्ता (अपने पुत्रों की संरक्षिका के रूप में) :—अपने पति की अकाल मृत्यु के समय प्रभावतीगुप्ता की अवस्था केवल २५ वर्ष की थी और जैसा कि हम देख चुके हैं कि इसके दोनों लड़के नाबालिग थे। पर अपने पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय के सहयोग से उसने संरक्षिका के रूप में शासन का भार लिया। ऐसी परिस्थिति में वशीम वाली वाकाटकों की दूसरी शाखा ने भी किसी प्रकार तंग

नहीं किया। इसके शासन-काल में ही चन्द्रगुप्त द्वितीय ने गुजरात तथा काठियावाड़ को अपने अधीन किया जिसमें प्रभावतीगुप्ता ने भी अपने पिता की मदद की। इसके शासन काल के दो बड़े प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ताम्रपत्र मिले हैं—पूना ताम्रपत्र और ऋद्धपुर ताम्रपत्र। पूना ताम्रपत्र से यह जाना जाता है कि उसके प्रथम पुत्र दिवाकर सेन के १३वें शासन काल में वह लेख उत्कीर्ण करवाया गया था। इसी ताम्रपत्र से यह सर्वप्रथम ज्ञात होता है कि प्रभावतीगुप्ता चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री थी। ऋद्धपुर ताम्रपत्र पूना ताम्रपत्र के कई वर्ष बाद उत्कीर्ण कराया गया था। इन दोनों ताम्रपत्रों में वाकाटक वंशावली के स्थान पर गुप्त वंशावली का जिक्र किया गया है। इन दोनों अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है कि प्रभावतीगुप्ता के शासन-काल में वाकाटक राज्य गुप्त वंश के प्रभाव में आ गया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने कुछ पदाधिकारियों को प्रभावतीगुप्ता की सहायता के लिये भेजा था जिन्होंने इन ताम्रपत्रों को लिखा एवं उनमें गुप्त वंशावली का उल्लेख किया। ऐसा कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने दोनों दौहित्रों की शिक्षा-दीक्षा के लिये कालिदास को वाकाटक राज्य में भेजा था जिन्होंने दामोदर सेन द्वारा लिखित 'सेतुबन्ध' काव्य को संशोधित किया था। वी० वी० मिराशी ने कहा है कि वाकाटक-राज्य विदर्भ में रहते ही कालिदास ने 'मेघदूत' की रचना की क्योंकि वाकाटकों की राजधानी नन्दिवर्धन के ही समीप रामगिरि था।

प्रभावतीगुप्ता के ही संरक्षण काल के १३वें वर्ष में उसके बड़े पुत्र दिवाकरसेन की मृत्यु अल्पावस्था में ही हो गयी। अतः प्रभावतीगुप्ता को पाँच-छः वर्षों तक और संरक्षण करना पड़ा। अब दिवाकरसेन का छोटा भाई दामोदरसेन ४१० ई० में प्रवरसेन द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठा। प्रभावतीगुप्ता वैष्णव थी तथा अपनी राजधानी नन्दिवर्धन के रामगिरि पर भगवान रामचन्द्र की पादुकाओं की भक्त थी। उसकी मृत्यु लगभग ७५ वर्ष की आयु में हुई।

प्रवरसेन द्वितीय :— दिवाकरसेन की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई दामोदरसेन गद्दी पर बैठाया गया तथा प्रभावतीगुप्ता संरक्षिका के रूप में रही। दामोदरसेन प्रवरसेन द्वितीय के नाम से ४१० ई० में राजा हुआ। वह एक कुशल प्रशासक एवं कलाप्रेमी था। उसका पाण्दुर्णा ताम्रपत्र उसके शासन-काल के २९वें वर्ष का है जिससे अनुमान किया जाता है कि उसने लगभग ३० वर्षों तक शासन किया। उसकी मृत्यु ४४० ई० में हुई।

प्रवरसेन ने प्रवरपुर नामक नई राजधानी की स्थापना की जो सम्भवतः वर्धा जिले में पवनार था। उसके लगभग एक दर्जन ताम्रपत्र प्राप्त हुये हैं जिनमें उसके किसी प्रकार के रण-अभियान का वर्णन नहीं मिलता है पर उनसे तात्कालिक अवस्था पर काफी प्रकाश पड़ता है। साहित्य के प्रति उसे बड़ा अनुराग था और

'सेतुबंध' नामक काव्य की रचना उसने की थी। जनश्रुति के अनुसार इसका संशोधन कालिदास ने किया था।

वह शैव धर्म को माननेवाला था पर वह दूसरे धर्मों को भी आदर की दृष्टि से देखता था। अपनी राजधानी प्रवरपुर में उसने राम मन्दिर भी बनवाया था एवं राम कथा पर आधारित सेतुबंध की रचना भी की। उसने कुन्तल राज्य से मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिये अपने पुत्र नरेन्द्रसेन का विवाह वहाँ की राजकुमारी अजितभट्टारिका से कर दिया था। पर यह स्पष्ट नहीं है कि कुन्तल में उस समय किस वंश का राज्य था। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि अजित-भट्टारिका कदम्ब नरेश काकुष्ठवर्मन की पुत्री थी। पर अल्तेकर के इस मत को वी० वी० मिराशी ने खण्डन कर यह कहा है कि उस समय कुन्तल में राष्ट्रकूट वंशीय अविधेय राज्य कर रहा था तथा अजितभट्टारिका उसी की पुत्री थी। किसी-किसी पुस्तक में अजितभट्टारिका के बदले अज्झितभट्टारिका नाम मिलता है।

नरेन्द्रसेन :—प्रवरसेन द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका पुत्र नरेन्द्रसेन गद्दी पर बैठा। उसका राज्य काल ४४० ई० से ४६० ई० तक था। उसे अपने शासन-काल में अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा था। बालाघाट ताम्रपत्र से यह मालूम पड़ता है कि नरेन्द्रसेन ने अपने शारीरिक गुणों के बल पर राजलक्ष्मी प्राप्त की थी। इस आधार पर कीलहर्न ने कहा था कि प्रवरसेन द्वितीय के बाद उत्तराधिकार का युद्ध हुआ और नरेन्द्रसेन ने अपने बड़े भाई को हराकर सिंहासन प्राप्त किया था। इसकी पुष्टि के लिए कुछ इतिहासकार अजन्ता की १६वीं गुहा के लेख के बारे में कहते हैं कि इस लेख में उसके बड़े भाई का नाम था पर गुहा लेख का वह अंश नष्ट हो गया है। अतः स्पष्ट प्रमाण के अभाव में उत्तराधिकार युद्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता।

बालाघाट ताम्रपत्र से ही यह जाना जाता है कि कोसला, मेकला और मालव देशों के राजा उसकी आज्ञा मानते थे। उस समय मालवा स्कन्दगुप्त के अधीन था। ऐसा सम्भव है कि वहाँ के किसी सामन्त ने गुप्तों के विरुद्ध नरेन्द्रसेन की अधीनता स्वीकार कर ली हो। पर अन्त में मालवा स्कन्दगुप्त के ही अधिकार में रहा। मेकला अमरकण्टक-राज्य था। मिराशी का कहना है कि यहाँ पाण्डववंश गुप्तों की अधीनता में राज्य कर रहा था। यह हो सकता है कि गुप्तों के विरुद्ध विद्रोह करके नरेन्द्रसेन का आधिपत्य यहाँ का राजा भरतबल ने स्वीकार कर लिया हो। कोसला से हमारा मतलब दक्षिण कोसल से है। यह छत्तीसगढ़ प्रदेश था। मिराशी के मतानुसार यहाँ भीमसेन-प्रथम नामक नरेश ने नरेन्द्रसेन का प्रभुत्व स्वीकार किया था।

नलवंश के तीन राजाओं—वराह, भवदत्तवर्मा और अर्थपति की सुवर्ण मुद्राएं मध्यप्रदेश के बस्तर जिले के एडेंगा नामक ग्राम में प्राप्त हुई थीं। भवदत्तवर्मा के ऋद्धपुर ताम्रपत्र से यह स्पष्ट होता है कि उसने वाकाटक राज्य के एक बहुत बड़े भू-भाग पर कब्जा कर लिया था। इस विजय के बाद भवदत्तवर्मा ने प्रयाग की तीर्थ-यात्रा की थी। किन्तु नरेन्द्रसेन ने इस संकट की स्थिति में धैर्य से काम लिया। भवदत्तवर्मा अपनी विजय के बाद अधिक दिनों तक जीवित न रहा। उसके बाद उसका लड़का अर्थपति राजा हुआ। नरेन्द्रसेन ने उसपर आक्रमण किया और उसे हराकर अपने राज्य पर पुनः कब्जा कर लिया। इसके अतिरिक्त उसने उनकी राजधानी पुष्करी को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। आन्ध्रप्रदेश के पोडागढ़ नामक स्थान पर एक शिलालेख से यह पता चलता है कि किसी शत्रु ने पुष्करी को नष्ट कर दिया। अल्तेकर ने इस शत्रु को नरेन्द्रसेन माना है। किन्तु मिराशी इसे नरेन्द्रसेन का पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय मानते हैं। ऐसा लगता है कि युद्ध में अर्थपति मारा गया और उसके बाद उसका भाई स्कन्दवर्मा नलराज्य का शासक बना। अल्तेकर का ऐसा विश्वास है कि ऐसी संकट की स्थिति में नरेन्द्रसेन को अपनी रानी के कदम्बवंश से अवश्य सहायता मिली होगी और यही कारण है कि नरेन्द्रसेन के पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय ने अपनी वंशावली में कदम्ब वंश का उल्लेख किया है।

पृथ्वीषेण द्वितीय :—नरेन्द्रसेन की मृत्यु के बाद उसका पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय ४६० ई० में गद्दी पर बैठा। उसका शासन काल ४८० ई० तक रहा। उसे भी अपने पिता के समान कई आपत्तियों का सामना करना पड़ा था। बालाघाट अभिलेख में उसे दो बार अपने कुल के भविष्य की रक्षा करने की बात कही गई है। किन्तु इस अभिलेख से यह ज्ञात नहीं होता कि किन शत्रुओं के कारण वाकाटक-वंश पर दो बार संकट आया था। सम्भवतः प्रथम बार अपने पिता के साथ नलों के निष्क्रमण के समय तथा द्वितीय बार दक्षिणी गुजरात के त्रैकुटक शासक धारसेन के आक्रमण से राज्य की रक्षा करके। अल्तेकर ने कहा है कि दूसरी बार की विपत्ति में पृथ्वीषेण की हार हो गयी थी जिससे उसे कुछ जिले खो देने पड़े और धारसेन ने इसी उपलक्ष में एक अश्वमेध यज्ञ किया था। पर थोड़े ही दिनों बाद पृथ्वीषेण ने अपने खोये हुये जिलों को फिर जीत लिया और वह अपने वंश की प्रतिष्ठा स्थापित करने में सफल हो गया।

बालाघाट अभिलेख में उसे परमभागवत (= विष्णु भगवान का उपासक) कहा गया है। पृथ्वीषेण की मृत्यु के बाद वाकाटक-वंश की प्रधान शाखा समाप्त हो गई और इसके बाद यह शाखा बशीम (वत्सगुल्म) शाखा में मिल गई और हरिषेण दोनों शाखाओं का राजा हो गया।

वशीम (वत्सगुल्म) शाखा

सर्वसेन :—प्रवरसेन प्रथम के पुत्र सर्वसेन ने दक्षिण बरार के बशीम में सन् ३३० ई० में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर दिया था। उसने सन् ३३० ई० से ३५० ई० तक शासन किया। इसके शासन काल के विषय में हमें अधिक जानकारी नहीं है पर अल्तेकर का मत है कि इसने प्रमुख शाखा के अपने भतीजे रुद्रसेन द्वितीय से उसका राज्य छीनने की कोशिश की थी किन्तु भारशिव-नाग भवनाग ने अपने दौहित्र रुद्रसेन की इस संकट में रक्षा की। उसके रवि नामक एक मंत्री का उल्लेख लेखों में मिलता है जिसने सर्वसेन के महान् बनने में बड़ा ही योग दिया था। अजन्ता अभिलेख में सर्वसेन की काफी बड़ाई की गई है।

विन्ध्यसेन :—सर्वसेन के बाद उसका पुत्र विन्ध्यसेन गद्दी पर लगभग ३५० ई० में बैठा। उसका शासन-काल लगभग ४०० ई० तक था। वशीम ताम्रपत्र में इसे विन्ध्यशक्ति द्वितीय कहा गया है। यह एक वीर महत्त्वाकांक्षी शासक था जिसने कुन्तल (दक्षिण महाराष्ट्र) को जीतकर अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था। इस समय कुन्तल में राष्ट्रकूट वंशीय मानांक शासक था। विन्ध्यसेन एवं मानांक में दुश्मनी थी। विन्ध्यसेन ने अपने शासन काल के ३७वें वर्ष में वशीम ताम्रपत्र लिखवाया था। लेख की एक ओर की भाषा प्राकृत है तथा दूसरी ओर की संस्कृत। उस काल में संस्कृत की मान्यता बढ़ रही थी। प्रवर इसका मंत्री था। इसके राज्य में दक्षिणी बरार, उत्तरी हैदराबाद, नगर, नासिक, पूना एवं सतारा के प्रदेश शामिल थे। इसने 'धर्ममहाराज' की उपाधि धारण की थी। इसका सम्बन्ध वाकाटक की प्रमुख शाखा के राजा पृथ्वीषेण प्रथम से अच्छा था।

प्रवरसेन द्वितीय :—विन्ध्यसेन की मृत्यु के बाद उसका पुत्र प्रवरसेन द्वितीय गद्दी पर बैठा। इसका शासन-काल ४०० ई० से ४१५ ई० तक था। इसकी प्रशंसा अजन्ता लेख में की गई है तथा श्रीराम इसका मन्त्री था। इसके शासन-काल की कोई भी घटना हम नहीं जानते। इसके बाद प्रवरसेन द्वितीय का ८ वर्षीय पुत्र उत्तराधिकारी हुआ जिसका नाम अजन्ता लेख में नहीं दिया गया है। पर ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि उसकी अल्पावस्था के कारण वाकाटक-वंश के मुख्य शासक के राजा प्रवरसेन द्वितीय ने उसके संरक्षक के रूप में वशीम शाखा का भी शासन चलाया होगा। ऐसा कहा जाता है कि जब यह बड़ा हुआ और शासन-भार चलाने लायक हो गया तो इसने शासन का भार स्वयं अपने हाथ में ले लिया। यह भी हो सकता है कि इसने नल आक्रमण के सिलसिले में नरेन्द्रसेन को सहायता पहुँचाई हो। इसने लगभग ४५५ ई० तक राज्य किया। इसके मंत्री का नाम कीर्त्ति था।

देवसेन :—देवसेन लगभग ४५५ ई० में गद्दी पर बैठा तथा इसने सन् ४७५ ई० तक राज्य किया। इसका एक अपूर्ण ताम्रपत्र लन्दन के ब्रिटिश म्युजियम में है। हस्तिभोज नामक इसके मन्त्री से इसे बड़ी सहायता मिली थी।

हरिषेण :—देवसेव की मृत्यु के बाद उसका लड़का हरिषेण लगभग ४७५ ई० में गद्दी पर बैठा जिसने सन् ५१० ई० तक राज्य किया। वशीम शाखा का यह सर्वशक्तिमान शासक था। पृथ्वीषेण द्वितीय के बाद हरिषेण ने वाकाटकों के प्रधान शाखा को भी अपने राज्य में मिला लिया। इसके काल में वाकाटक राज्य काफी दूर तक फैल गया था। इसके शासन के अन्तिम काल तक वाकाटक-शक्ति काफी प्रबल हो चुकी थी क्योंकि हरिषेण बड़ा ही पराक्रमी राजा था और उसने सम्पूर्ण हैदराबाद राज्य, बम्बई, महाराष्ट्र, बरार एवं मध्यप्रदेश का अधिकांश भाग अपने अधीन कर लिया था तथा उत्तरी कोंकण, गुजरात, मालवा, छत्तीसगढ़ तथा आन्ध्र-प्रदेश भी उसके प्रभाव में थे। धारसेन के मरने के बाद हरिषेण ने लगभग ४७५ ई० में त्रैकूटक-राज्य के ऊपर अधिकार कर लिया होगा। अवन्ती (मालवा) में गुप्त वंश की अधीनता में वर्मन-वंश राज्य कर रहा था। वर्मनवंश ने गुप्तों की शक्ति क्षीण होने पर हरिषेण की अधीनता स्वीकार कर ली होगी। दक्षिणी कोसल के नल वंश वालों ने भी हरिषेण की अधीनता स्वीकार कर ली होगी। हरिषेण ने आन्ध्रदेश के शालंकायन-वंश के हाथ से राज्य-सत्ता छीनकर विष्णु-कुण्डीवंश के गोविन्द वर्मा को दे दिया था। गोविन्दवर्मा का लड़का माधववर्मा की शादी हरिषेण की पुत्री से हुयी थी। वराहदेव हरिषेण का मन्त्री था। वह वाकाटक वंश का अन्तिम महत्त्व-पूर्ण राजा था। इसकी मृत्यु सन् ५१० ई० के लगभग हुई। जिस समय इसकी मृत्यु हुयी उस समय तक वाकाटक राज्य अत्यन्त ही विशाल हो गया था। अन्तेकर ने कहा है कि इतने विशाल राज्य पर सम्राट् प्रवरसेन ने शासन न किया था। उनके शब्दों में :—

"Practically the whole of Hyderabad state, Bombay, Maharastra, Berar and most of C. P. were under its direct administration and northern Konkan, Gujarat, Malwa, Chatisgarh and Andhra Province were its sphere of influence. The extent of the Vakataka empire at this time was thus even greater than what it was during the reign of Samrat Pravarsena I."

हरिषेण की मृत्यु के बाद वाकाटक वंश का पतन प्रारम्भ हुआ और केवल ४० वर्षों में अर्थात् ५५० ई० में इस वंश की समाप्ति हो गयी। इसके पतन के कारणों का ठीक-ठीक पता नहीं लग सका है पर अनेक राजवंशों के उदय के कारण

नष्ट-भ्रष्ट हो गया हो ऐसा पता लगता है। मालवा में यशोधर्मा का उदय हुआ। वह बड़ा ही प्रतापी राजा था। मन्दसोर अभिलेख से पता चलता है कि जिन राज्यों पर गुप्तों अथवा हूणों का शासन नहीं था, वे यशोधर्मा के अधिकार में थे। छत्तीसगढ़ प्रदेश में पाण्डव वंशीय तिवरदेव का उदय हुआ। विदर्भ में कलचुरि नरेश कृष्णराज ने अपनी सत्ता स्थापित की। इसके अतिरिक्त कर्णाटक में कदम्बों और बस्तर में नलों ने अपना अधिकार स्थापित किया। किन्तु, शीघ्र ही कर्णाटक में चालुक्य वंश का उदय हुआ। इसने अपने सभी पड़ोसियों को पराजित कर एक साम्राज्य की स्थापना की। सम्भवतः वाकाटकों के उत्तराधिकारियों एवं दुर्बल उत्तराधिकारियों का होना भी वाकाटकों के पतन का एक और कारण रहा हो।



अध्याय २

गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद हर्षवर्धन के राज्यारोहण तक का भारत

(सन् ५५० ई० से ६०६ ई० तक)

गुप्त-साम्राज्य के पतन हो जाने पर उत्तर भारत में फिर से एक बार छोटे-छोटे राज्यों का उदय होना प्रारम्भ हो गया। प्रान्तों एवं करद राजाओं से अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और सारा उत्तर भारत विभिन्न छोटी-छोटी रियासतों में बंट गया। इन राज्यों में आधिपत्य के लिये काफी प्रतियोगिता थी।

गुप्त-साम्राज्य के पतन पर जिन राज्यों और राजवंशों का उदय हुआ उनमें वलभी के मैत्रकों का राज्य, मगध के उत्तरकालीन गुप्त एवं कन्नौज के मौखरी राज्य थे। गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद उत्तरी भारत का इतिहास विकेन्द्रीकरण एवं छोटे-छोटे राज्यों के पारस्परिक संघर्ष का इतिहास है। इसी तरह दक्षिण भारत में चालुक्य वंश और सुदूर दक्षिण में पल्लव वंश का आधिपत्य स्थापित हुआ। गुप्त-साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर जिन शक्तियों का उदय हुआ उनका संक्षेप में वर्णन नीचे किया जा रहा है।

१. वलभी का मैत्रक वंश

हूणों के आक्रमण से गुप्त-साम्राज्य पर बहुत बुरा असर पड़ा। यद्यपि स्कन्दगुप्त ने हूणों को प्रारम्भ में पराजित कर दिया था पर स्कन्दगुप्त के बाद जब गुप्तों का केन्द्रीय शासन कमजोर हो गया तब सौराष्ट्र गुप्त-साम्राज्य से अलग होकर स्वतन्त्र हो गया। इसी तरह साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा और साम्राज्य के सामन्तों तथा सरदारों ने अवसर पाकर अपने को स्वतन्त्र कर लिया। सबसे पहले सौराष्ट्र गुप्तों की अधीनता से बाहर होकर वलभी (भावनगर के समीप) में पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में एक नये राजवंश की स्थापना की। इस नये राजवंश की स्थापना करने वाला सेनापति भट्टारक था। स्कन्दगुप्त के बाद यहाँ से गुप्तों का एक भी लेख या सिक्का नहीं मिलता है।

मूल :—अभी तक यह निश्चित नहीं हो पाया है कि भट्टारक किस जाति का था। स्मिथ के विचार से वह ईरानी था पर इतिहासकारों ने इनके मत का खण्डन किया है। कुछ इतिहासकारों ने यह धारणा प्रकट की है कि चूँकि मैत्रक हूणों के साथ प्रसिद्ध हो जाते हैं, इसलिए परस्पर इनमें कोई जातीय सम्बन्ध रहा होगा। पर यह सम्भावना भी उचित नहीं प्रतीत होती। ४७५ ई० में भट्टारक सौराष्ट्र में सेनापति के पद पर था तथा वह मैत्रकों का सरदार था। भट्टारक पूर्णरूपेण भारतीय था तथा वह मैत्रक जाति का था। सेनापति भट्टारक जो इस वंश का संस्थापक कहा जाता है गुप्तों की छत्रच्छाया में सौराष्ट्र में गुप्त-सम्राट् का सामन्त था और शासन करता था। उसके पुत्र की भी उपाधि 'सेनापति' की थी।

प्राचीन इतिहास :—भट्टारक के राजवंश से सम्बन्धित अनेक अभिलेख मिले हैं जिनमें गुप्त अथवा गुप्त वलभी संवत् में तिथियाँ दी हुई हैं। किन्तु इन सब अभिलेखों में केवल राजाओं का नाम ही दिया हुआ है। हमें इन राजाओं के विषय में कोई विस्तृत एवं विश्वसनीय विवरण नहीं मिलता।

इस वंश के आरम्भिक शासक गुप्तों के करद थे किन्तु उनकी शक्ति के ह्रास होते ही वे स्वतन्त्र हो गये और तब से उस राज्य की सीमा तेजी के साथ बढ़ने लगी। भट्टारक ने सौराष्ट्र में एक नये राजवंश की स्थापना की—यह हम जानते

हैं। पर वह पूर्णरूपेण स्वतन्त्र नहीं था। वह स्वयं अपने को सेनापति कहता रहा तथा उसके उत्तराधिकारियों ने भी सेनापति कहलाना जारी रखा। सर्वप्रथम मैत्रकों के तीसरे राजा द्रोणसिंह ने 'महाराजा' की पदवी धारण की जिससे पूर्ण स्वतन्त्रता की सूचना मिलती है। ध्रुवसेन प्रथम, धरपट्ट, गुहसेन एवं धरसेन द्वितीय ने 'महाराजा' की उपाधि धारण की थी। भट्टारक एवं धरसेन केवल गुप्त सम्राट् के सेनापति थे। पर धीरे-धीरे भट्टारक के अधिकार बढ़ते गये तथा वह अब अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति कर सकता था अतः उसका पद वंशानुगत हो गया। पहले 'महाराज' की उपाधि गुप्त-सम्राटों द्वारा प्रदान की गई थी पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे गुप्त सम्राट् के अधीन थे अथवा हूणों के जिन्होंने पश्चिम तथा मध्य भारत पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। पर धीरे-धीरे इस वंश की शक्ति बढ़ती गई और ध्रुवसेन द्वितीय के समय में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया।

ध्रुवसेन द्वितीय :—ध्रुवसेन द्वितीय हर्षवर्धन का समकालीन था। हर्षवर्धन की पुत्री का विवाह ध्रुवसेन द्वितीय के साथ हुआ था। वह हर्षवर्धन के सामन्त के रूप में शासन कर रहा था तथा उसका उत्तराधिकारी ध्रुवसेन चतुर्थ पूर्णरूपेण स्वतन्त्र था तथा उसने "परमभट्टारक महाराधिराज चक्रवर्ती" की पदवी धारण की थी। ह्वेनसांग के अनुसार वह हर्ष द्वारा आयोजित प्रयाग के पंचवर्षीय परिषद् में सम्मिलित हुआ था। इसके पश्चात् धरसेन चतुर्थ इस वंश का प्रतापी राजा हुआ जिसने गुर्जर राज्य का एक अंश जीत लिया था। इसी के काल में भट्टि ने अपना महाकाव्य लिखा था। इस वंश का अन्तिम प्रसिद्ध राजा शीलादित्य सप्तम था। वलभी राज्य अरब आक्रमण के समय नष्ट हुआ।

विद्याकेन्द्र वलभी : (आर्थिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व) :—वलभी के आर्थिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व को हम भुला नहीं सकते। अल्तेकर ने लिखा है कि—"वलभी, काठियावाड़ में आधुनिक वल के निकट अवस्थित, अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य का एक बन्दरगाह बन गई थी जहाँ पर अनेक व्यापारिक मण्डियाँ प्रतिक्षण दुर्लभ व्यापार-सामग्रियों से पटी रहती थीं।" वलभी विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र था। चीनी यात्री इत्सिंग से हमें यह सूचना मिलती है कि इसका यश पूर्वी भारत की नालन्दा नगरी के यश की प्रतिस्पर्धा करता था। उस समय वलभी में लगभग १०० बौद्ध विहार थे, ६ हजार भिक्षु रहते थे जो अपने अध्ययन में रत रहते थे। बौद्ध भिक्षुओं के अतिरिक्त यहाँ ब्राह्मण-विद्यार्थी भी शिक्षा प्राप्त करने के लिये आते थे। दूर-दूर से यहाँ पढ़ने के लिये विद्यार्थी आया करते थे। बौद्ध धर्म के अतिरिक्त अन्य विषयों की भी शिक्षा यहाँ दी जाती थी। न्याय, अर्थशास्त्र, साहित्य, धर्म आदि की शिक्षा दी जाती थी। वलभी का विश्वविद्यालय

मैत्रक राजाओं के लिए गर्व का कारण थीं। वे विद्या के महत्त्व को भलीभाँति समझते थे।

२. मालवा का यशोवर्धन

हूणों के आक्रमण के कारण मध्यभारत में गुप्तों की शक्ति क्षीण होने लगी थी। हम यह जानते हैं कि गुप्त साम्राज्य व्यवस्था पर आधारित था और ज्यों-ज्यों केन्द्रीय शक्ति कमजोर होती गई त्यों-त्यों सामन्त लोग शक्तिशाली होते गये। भानुगुप्त बालादित्य के काल में गुप्त शक्ति का कुछ समय के लिये पुनरुत्थान हुआ पर वह स्थायी न हो सकी और पुनः स्थानीय शक्तियों ने अपना सिर उठाना शुरू किया। मालवा में औलिकर वंश का राजा यशोधर्मन था जिसके सैनिक अभियान और विजय का विवरण हमें मन्दसोर लेख में इस प्रकार मिलता है—"उसने उन प्रदेशों को भी जीता जिन पर गुप्त सम्राटों का आधिपत्य नहीं था और न तो वहाँ राजाओं के मुकुट को ध्वस्त करने वाली हूणों की आज्ञा ही प्रवेश कर पायी थी = लौहित्य से लेकर महेन्द्र पर्वत तक और गंगा से स्पष्ट हिमालय से लेकर पश्चिम पयोधि तक के प्रदेशों के सामन्त उसके चरणों पर लोटते थे। मिहिरकुल ने भी, जिसने भगवान शिव के अतिरिक्त और किसी के सामने सिर नहीं नवाया, अपने मुकुट के पुष्पों के द्वारा उसके युगल चरणों की अर्चना की।"

इस अभिलेख में जो भी वर्णन है उसे अगर अतिशयोक्ति न मानकर सच माना जाय तो यशोधर्मन के मुकाबले का कोई शासक मालूम ही नहीं पड़ेगा और जिस समय का यह वर्णन है उस समय भारत की राजनीतिक अवस्था इतनी खराब हो चुकी थी कि एक संगठित सेना लेकर यशोधर्मन उपर्युक्त प्रदेशों पर आक्रमण कर सकता था। पर उसका सबसे बड़ा काम था हूणों के अत्याचार से देश को मुक्त करना, जिसे भानुगुप्त बालादित्य ने अधूरा छोड़ा था उसे यशोधर्मन ने पूरा कर दिखाया।

३. सिन्ध का शूद्र वंश

गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद सिन्ध में शूद्र राज्य की स्थापना हुई। ह्वेनसांग के अनुसार वहाँ का राजा शूद्र था पर यह कौन था, इसके विषय में हमारे पास कोई भी सामग्री नहीं है। प्रभाकर वर्धन ने इस राज्य पर आक्रमण किया तथा इस आक्रमण का क्या परिणाम निकला, यह कहना कठिन है। हर्ष ने इसे अपने अधीन कर लिया। अरब आक्रमण (७१२ ई०) के समय इस राज्य का अन्त हुआ।

४. पूर्वोत्तर भारत के राज्य : (बंगाल के गौड)

अन्य क्षेत्रों की भाँति गुप्त-साम्राज्य के भंग होने पर भारत के पूर्वोत्तर में भी कई राज्य थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध गौड था। इसमें पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल);

कर्ण-सुवर्ण (मुर्शिदाबाद), समतट (फरीदपुर का जिला) और ताम्रलिप्ति (तामलुक) के प्रदेश शामिल थे। पहले गौड के राजाओं और मगध के गुप्त राजाओं में दुश्मनी थी पीछे मैत्री हो गई। सातवीं शताब्दी में गौड की राजधानी कर्णसुवर्ण थी। यहाँ का राजा शशांक था जो हर्ष के समकालीन था। गौड के दक्षिण-पूर्व में वंग एवं पूर्वोत्तर में कामरूप के राज्य थे। गौड के दक्षिण उड़ीसा में भी नयी स्थानीय शक्तियों का उद्भव हुआ।

शशांक :—गौडों का सर्वप्रथम ऐतिहासिक राजा शशांक था। ह्वेनसांग ने लिखा है कि वह दुष्ट एवं बौद्ध धर्म का उच्छेदक था। बोधगया के बोधिवृक्ष को समूल उसने ही नष्ट किया था। 'हर्षचरित' में उसे 'गौडाधिपति' कहा गया है। कहीं-कहीं उसे नरेन्द्र गुप्त भी कहा गया है। पर सिक्कों पर शशांक नाम अंकित है। शशांक का सम्बन्ध जयनागवंश से था। जयनाग कर्ण-सुवर्ण या गौड़ पर शासन करता था। रोहतासगढ़ (बिहार) से प्राप्त एक मुहर से यह जाना जाता है कि शशांक ने एक सामन्त के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया था किन्तु उसके स्वामी के विषय में कहना मुश्किल है। कुछ इतिहासकार उसे मौखरियों का सामन्त मानते हैं। आर. सी. मजूमदार उसे महासेन गुप्त का सामन्त मानते हैं। यह सर्वसम्मति से स्वीकार हो चुका है कि वह जयनाग का महासामन्त था। वह पहले मगध का शासक था। ग्रहवर्मा के गद्दी पर बैठने के बाद किसी समय वह अपने को स्वतन्त्र घोषित कर गौड को अपने अधीन कर लिया। वह लगभग ६०२ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ।

शशांक अपनी योग्यता के बल पर एक महान् व्यक्ति बन गया। उसके शत्रु उससे घृणा करते थे। वह बड़ा ही कुशल और बहादुर योद्धा था। कूटनीति में वह पण्डित था। उसे उचित-अनुचित का कम विचार था। अपनी आकांक्षा की पूर्ति के लिये वह सब कुछ कर सकता था। वह शैव था तथा बौद्धों का सर्वनाश करना धर्म समझता था।

शशांक ने एक युक्ति निकाली और उसके माध्यम से अपने गौरव को बढ़ाना चाहा। जिस समय राज्यवर्धन हूणों से युद्ध के लिये राज्य से बाहर था तब उसने मालवा के देवगुप्त के साथ सन्धि की। इस सन्धि का नतीजा यह हुआ कि प्रभाकर वर्धन की मृत्यु के बाद ही ग्रहवर्मा की हार और मृत्यु हुई। मालवा का राजा राज्यवर्धन के द्वारा हार गया। शशांक ने धोखा देकर राज्यवर्धन की हत्या कर दी और तुरंत लौट आया। वह ६१९ ई० में शासन कर रहा था। उसने दण्डभुक्ति, उत्कल, गंजाम एवं मगध के क्षेत्रों पर अपना आधिपत्य कर लिया। उसके सिक्के एवं मुहर नालन्दा, रोहतासगढ़ एवं गया आदि जगहों में पाये गये हैं। उत्तर

भारत के बहुत बड़े भू-भाग पर इसका स्वामित्व था। हर्ष से वह पराजित हुआ या नहीं—इसका कोई भी प्रमाण हमारे पास नहीं पर उसकी मृत्यु के बाद ही हर्ष ने उसके साम्राज्य के कुछ अंशों को अपने साम्राज्य में मिला लिया। शशांक के बाद बंगाल के भू-भाग पुण्ड्रवर्धन, समतट, ताम्रलिप्ति और कर्ण-सुवर्ण हर्ष के अधीन हो गये।

५. दक्षिणापथ के राज्य

गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद आन्ध्र देश में विष्णुकुंडिन नामक एक राजवंश की स्थापना हुई। इस पर मगध के गुप्तों ने तथा कान्यकुब्ज के मौखरियों ने आक्रमण किया। धनकटक का राज्य भी आन्ध्र देश में पड़ता था। उपर्युक्त दोनों राज्य पल्लवों के अधीन थे। सुदूर दक्षिण में पल्लव, चोल और कदम्ब आदि राज्य भी अपनी शक्तियों के बढ़ाने के फेर में लगे हुये थे। द्रविड़ देश के दक्षिण में मलकूट देश था जिसे पाण्डच देश कहा जाता था। पाण्डच लोग बहुत प्राचीन काल से ही यहाँ राज्य कर रहे थे। काँची से लगभग ३३३ मील की दूरी पर कोंकणपुर राज्य स्थित था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह सम्भवतः मैसूर के कदम्ब लोगों का राज्य था जिसकी राजधानी बनवासी थी। मैसूर में गंगों का राज्य था जहाँ आधुनिक गंगावदी है। यहाँ के राजा ब्राह्मण थे। इनका वैवाहिक सम्बन्ध कदम्ब राजाओं के साथ था। ऐसा माना जाता है कि ६ठी शताब्दी में चालुक्यों के उदय के कारण कदम्ब तथा गंग राज्य चालुक्यों के अधीन आ गये। महाराष्ट्र में चालुक्य वंश का अत्यन्त शक्तिशाली राज्य था। इस वंश की स्थापना ६ठी शताब्दी ई० के मध्य में हुयी तथा इस वंश का सबसे अधिक प्रतापी राजा पुलकेशिन द्वितीय था जिसने अपने पड़ोसी राजाओं को नत-मस्तक करके एक सुदृढ़ एवं विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। पुलकेशिन द्वितीय ने सम्राट् हर्ष को हराकर यश प्राप्त किया जो उसके पूर्व अन्य किसी दक्षिण के सम्राट् को नहीं प्राप्त हुआ था।

६. पश्चिमोत्तर के राज्य

उत्तरी भारत के पश्चिमी भाग पर भड़ौंच एवं मिनमल के दो स्वतन्त्र राज्य थे। इन दोनों राज्यों पर गुर्जर लोगों की दो अलग-अलग शाखाएँ शासन करती थीं। भड़ौंच के गुर्जर लोगों के राज्य की स्थापना दद्द प्रथम ने की थी। भड़ौंच के गुर्जरों का सम्बन्ध उत्तर की अपेक्षा दक्षिण के राजतन्त्रों से अधिक था। यहाँ गुर्जरों की दूसरी शाखा मिनमल में शासन करती थी जो आबू के उत्तर-पश्चिम ५० मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ के गुर्जर बड़े उपद्रवी थे। इसलिये प्रभाकर-वर्धन को उनके विरुद्ध कई बार सेनाएँ भेजनी पड़ी थीं।

७. उत्तर भारत के राज्य

(क) मगध एवं मालवा के उत्तर गुप्त वंश

उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद लगभग ५० वर्षों तक अराजकता रही। हम देख चुके हैं कि देश के विभिन्न भागों में बहुत सारे राज्य बन गये। एक जमाना था जब कि गुप्त शासकों के अधीन चौथी शताब्दी में लगभग सम्पूर्ण भारत एक सूत्र में बँधा था एवं देश में एकच्छत्र राज्य था। स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य पतन की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। गुप्त शक्ति की समाप्ति के साथ ही मौखरी, उत्तरगुप्त एवं कलचुरी वंश का उद्भव हुआ। ये उत्तरगुप्त प्रारम्भ में मौखरियों की तरह गुप्त राजाओं के अधीन थे। गया जिले के अपसाढ़ (अफसाद) और देववर्णीक (शाहाबाद जिला) नामक स्थान से प्राप्त हुये दो लेखों से उत्तर गुप्त राजाओं की वंशावली मिलती है जिससे यह पता लगता है कि गुप्तों की मूल शाखा के विनास के बाद लगभग ५३० ई० में उसी की एक शाखा के वंशज कृष्णगुप्त ने मगध में ही एक राजवंश की स्थापना की। उसके उत्तराधिकारी हर्षगुप्त एवं जीवितगुप्त प्रथम के काल में गौडों से इनका युद्ध चलता रहा तथा मौखरियों की सहायता से इसने गौडों को दबाया था।

मूल :—उत्तर गुप्तों के आदि-निवास का प्रश्न बहुत जटिल है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि आदित्यसेन के बाद से लेकर जीवितगुप्त द्वितीय तक के राजाओं ने मगध पर शासन किया था। सर्वप्रथम फ्लीट ने इन नरेशों को मगध के महान् गुप्त सम्राटों से अलग करने के लिये ही उत्तर गुप्त सम्राटों की संज्ञा प्रदान की थी। पर हार्नले ने इस मत का खण्डन कर कहा कि उत्तर गुप्त सम्राट् महान् गुप्त सम्राटों की एक शाखा थे और पूर्वी मालवा में शासन कर रहे थे। पी. एल. वैद्य ने भी कहा है कि—"The family mentioned in the Apshad inscription ruled Malwa at Ujjain until Devagupta."

एच. सी. रायचौधरी ने यह मत प्रस्तुत किया है कि मालवा का शासन गुप्त वंश के हाथों में था पर आदित्यसेन के समय मगध को यह श्रेय प्राप्त हो गया था। जहाँ तक इनकी मालवा-उत्पत्ति का प्रश्न है इसके दो आधार हैं—पहला यह कि अपसाढ़ अभिलेख का माधव गुप्त और हर्षचरित के मालव राजपुत्र माधव गुप्त एक ही व्यक्ति हैं और दूसरा इस काल में मगध पर मौखरियों का शासन था। बी. पी. सिन्हा ने यह मत व्यक्त किया है कि उत्तर गुप्त राजाओं का आदि कार्यक्षेत्र मगध रहा, इसके पक्ष में पर्याप्त तर्क हैं। आर. सी. मजूमदार ने देववर्णीक (शाहाबाद) अभिलेख के आधार पर यह बतलाया है कि इस अभिलेख से यह सिद्ध नहीं होता कि मगध एवं मगध के किसी भाग पर मौखरियों का शासन

बराबर रहा। पर यह पता चलता है कि सर्ववर्मन तथा अवन्तिवर्मन का अधिकार मगध के कुछ हिस्सों पर अवश्य था। ऐसा सम्भव है कि उत्तर गुप्त राजा महासेन गुप्त मौखरी एवं चालुक्य राजा कीर्त्तिवर्मन से डरकर पूर्वी मालवा चला गया हो। हम यह जानते हैं कि पूर्वी मालवा सदियों तक गुप्त साम्राज्य का ही भाग था। पर उसे वहाँ भी शान्ति नहीं मिली और वह कलचुरी राजा द्वारा हरा दिया गया। इस पर महासेन गुप्त ने अपने दोनों पुत्र कुमारगुप्त एवं माधवगुप्त को थानेश्वर के प्रभाकरवर्धन के दरबार में भेजा। वाण ने अपने 'हर्षचरित' में उन्हें 'मालव राज' कहा है। अपसाढ़ अभिलेख में माधव गुप्त नामक नरेश को आर. के. मुकर्जी ने बाण के इस माधव गुप्त से एकात्मकता स्थापित की है। महासेन गुप्त कामरूप नरेश सुष्ठितवर्मन पर विजय पाने के बाद मौखरी सम्राट् सर्ववर्मन द्वारा पराजित हुआ और मालवा चला गया। अधिकांश इतिहासकार यह मानते हैं कि हर्षवर्धन ने अपने मित्र को मगध का राज्य दिया। अगर यह तथ्य ठीक है कि माधवगुप्त के पूर्वज मगध के ही रहे हों तभी यह अधिक उचित हुआ कि उनके वंशज को मगध की गद्दी पर पुनः प्रतिष्ठित किया गया। यह निश्चित है कि कृष्णगुप्त से लेकर महासेनगुप्त के प्रारम्भिक काल तक मगध उत्तर गुप्त राजाओं के अधीन था।

कृष्णगुप्त :—आदित्यसेन के अपसाढ़ अभिलेख से इस वंश के प्रारम्भिक राजाओं के शासन-काल के विषय में जानकारी मिलती है। इसके अनुसार कृष्ण गुप्त एक उच्च वंश से सम्बन्धित था। कृष्ण गुप्त के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। अपसाढ़ अभिलेख में उसे नायक का रूप दिया गया है, जिसने 'सिंह' की जैसी अपनी बाहुओं से गर्वीले शत्रु की चिंघाड़ती हुई हस्तिसेना के सिर को तोड़कर असंख्य शत्रुओं का मान-मर्दन किया और उन पर विजय प्राप्त की। एच० सी० रायचौधरी ने यह संभावना व्यक्त की है कि वह गर्वीला शत्रु यशोधर्मन ही रहा हो जिसके विरुद्ध उसे युद्ध करना पड़ा था[१]। पर कृष्णगुप्त के इस शत्रु की एकात्मकता अभी तक स्थापित नहीं की जा सकी है। पर तत्कालीन घटनाओं के अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि उस समय हूणों ने भारत के कई भागों में

---

१. The Aphasad inscription deseribes him as a hero whose arm played the part of a lion in bruising the foreheads of the array of the rutting elephants of (his) haughty enemy (driptarati), (and) in being victorious by (its) prowess over countless foes. The driptarati against whom he had to fight may have been Yasodharman''

H. C. Raychaudhuri—PHAI, VI edn., p. 601

आतंक मचा रखा था। उनके आक्रमण मगध एवं बंगाल पर भी होना प्रारम्भ हो गये थे। इन्हीं आक्रमणों के विरुद्ध कृष्णगुप्त ने अपनी तलवार उठायी होगी। उसके राज्यारोहण की तिथि ४६० ई० के आस पास होगी तथा उसका राज्य-काल ४६० ई० से ५०५ ई० तक था। कृष्णगुप्त मौखरी वंश के संस्थापक हरिवर्मन के समकालीन था।

देवश्री हर्षगुप्त :—कृष्णगुप्त के बाद उत्तर गुप्त राजवंश का दूसरा अधिकारी श्रीहर्ष गुप्त हुआ। यह कृष्णगुप्त का पुत्र था। इसका शासन-काल ५०५ ई० से ५२५ ई० तक का था। इसी काल में नरसिंह गुप्त ने मिहिर कुल के विरोध में विद्रोह किया था। वी० पी० सिन्हा ने यह संभावना व्यक्त की है कि उसने हूणों के साथ युद्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया था। वह महान् गुप्त सम्राट् का सामंत था। उसके वक्षस्थल पर नाना प्रकार के शस्त्रों के घाव थे। जिन शत्रुओं ने उस पर आक्रमण किया था, उनके नामों का उल्लेख हमें नही मिलता।

एच० सी० रायचौधरी ने लिखा है—"Devasri Harsha Gupta had to engage in terrible contests with those who were "averse to the abode of the goddess of fortune being with (him, her) own lord"

अपसाढ़ अभिलेख में इस राजा के विषय में लिखा है—"He was always displaying a glorious triumph, the written record as it were of terrible contests."

जीवित गुप्त प्रथम :—श्री हर्षगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र जीवित गुप्त प्रथम गद्दी पर बैठा। यह नृप विष्णुगुप्त का सामंत था तथा इसका राज्य-काल ५२५ ई० से ५४५ ई० तक था। इसे 'क्षितीश चूडामणि' की संज्ञा दी गई है। जीवित गुप्त ने हिमालय तथा दक्षिण पश्चिम बंगाल में अपनी शक्ति को बढ़ाया। समुद्र के किनारे उसने गोपचन्द्र या धर्मादित्य प्रथम के साथ संघर्ष किया। इसका शासन गौड़ पर भी था। मंजुश्रीमूलकल्प के रचयिता ने उत्तर गुप्त राजाओं को गौड़ का शासक माना है। एच० सी० रायचौधरी ने इस राजा के विषय में लिखा है।—

"हर्ष के पुत्र जीवित गुप्त प्रथम ने सम्भवतः अपने वंश की प्रभुता पुनः हिमालय तथा सागर (पूर्वी भारत) के बीच स्थापित कर ली थी। यद्यपि उसके शत्रु ठंढे सागर के तट पर ठंढी हवा में खड़े हुये थे, सागर में ज्वार-भाटा आ रहा था; और हाथियों द्वारा तट के वृक्ष गिराये जा चुके थे, फिर भी वे सब भय के ज्वर से पीड़ित थे। समुद्र-तट पर खड़े हुये 'गर्वीले शत्रु' कदाचित गौड़ थे, जिन्होंने विजय-अभियान आरम्भ कर दिया था। सन् ५५४ ई० के हरहा अभिलेख के अनुसार वे

उस समय सागर तट (समुद्राश्रय) पर रहते थे। अन्य शत्रु नन्दन जैसे कुमारामात्य रहे होंगे जिनका उल्लेख अमोना-प्लेट में आया है।"

कुमारगुप्त तृतीय :—जीवित गुप्त प्रथम के बाद कुमार गुप्त गद्दी पर बैठा। इसका शासन-काल सन् ५४० ई० से ५६० ई० के बीच निश्चित किया गया है। उत्तर गुप्त सम्राटों में यह पहला सर्वप्रभुत्व सम्पन्न राजा था और यह किसी भी सम्राट् का सामंत नहीं था। गुप्तों की पतनोन्मुख अवस्था को देखकर विभिन्न सामन्तों ने बगावत प्रारम्भ कर दी थी जिसमें गौड़ों ने इस स्थिति का लाभ उठाने के लिये बगावत शुरू कर दी। इनके विषय में यहाँ तक कहा गया है कि इन्होंने गुप्त-साम्राज्य पर भी आक्रमण कर दिया। कुमारगुप्त उस समय महान् गुप्तों का सामन्त था अतः अपने स्वामी की रक्षा के लिये उसने मौखरियों से सहायता ली क्योंकि गुप्तों से मौखरियों का रक्त का सम्बन्ध था। ईशानवर्मन के पितामह आदित्यवर्मन का विवाह उत्तरगुप्त राजा हर्षगुप्त की बहन हर्षगुप्ता के साथ हुआ था। मौखरियों एवं उत्तरवर्त्ती गुप्तों में प्रारम्भ में बड़ी मेल जोल थी। हर्षगुप्त कुमारगुप्त का पितामह था। इन्हीं कारणों से ईशानवर्मन ने कुमारगुप्त की सहायता की। चाहे कारण जो भी हो पर दोनों के सम्मिलित प्रयास से गौड़ों की बुरी तरह पराजय हो गयी और गुप्त-साम्राज्य को भंग करने का यह प्रयास असफल रहा। अन्तिम गुप्त सम्राट् विष्णुगुप्त की मृत्यु लगभग ५५१-५५२ ई० में हो गयी। गौड़विजय ने कुमारगुप्त की स्थिति को और भी नाजुक कर दी। ईशानवर्मन को मौखरी वंश में सर्वप्रथम महाराजाधिराज कहा गया है। ईशानवर्मन की इस बढ़ती हुयी शक्ति से कुमारगुप्त बहुत ही भयभीत हो गया। जिन दोनों ने एक दिन मिलकर गौड़ों को हराया था, वे अब एकच्छत्र राजा बनने का सपना देख रहे थे और यह सम्भव है कि विष्णुगुप्त के मरने के बाद गुप्त सम्राटों की पदवी ईशानवर्मन ने धारण कर ली हो। कुमार गुप्त इससे असंतुष्ट हो गया तथा मौखरी ईशानवर्मन एवं उत्तर गुप्त के कुमार गुप्त में दीर्घकालीन संघर्ष का सूत्रपात प्रारम्भ हो गया। दोनों राजवंश अपने को महान गुप्तों का वास्तविक एवं वैधानिक उत्तराधिकारी बतलाते थे और यही कारण है कि इनकी वैधानिकता की लड़ाई में सम्भवतः उत्तरगुप्तों ने अपने नाम के आगे 'गुप्त' विशेषण जोड़ना प्रारम्भ किया था जिससे वे वैधानिक उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार कर लिये जाएँ।

कुमारगुप्त ने ईशानवर्मन को हरा दिया। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह युद्ध अवश्य ही ५५४ ई० के बाद हुआ होगा, जो कि हरहा अभिलेख की तिथि है। अपसाढ़ अभिलेख से यह पता चलता है कि कुमारगुप्त के साथ युद्ध के

पहले ईशानवर्मन अपनी यथेष्ट शक्ति बढ़ा ली थी। इस विजय के बाद कुमार गुप्त अवश्य ही शक्तिशाली हो गया होगा। कुमारगुप्त तथा उसके उत्तराधिकारी परमभट्टारक महाराजाधिराज आदि पदवियों से विभूषित हुये। ईशानवर्मन पर इस विजय से कुमारगुप्त का प्रभाव प्रयाग तक फैल गया था। इसके समय में मगध बौद्धधर्म का प्रमुख केन्द्र था। इसने चीन में परमार्थ नामक एक बहुत बड़े विद्वान को भेजा जिसने वहाँ जाकर अनेक धर्मग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। कुमारगुप्त ने मौखरियों पर अपनी विजय को देवताओं का आशीर्वाद समझा और प्रयाग में गंगा के किनारे अपने इह शरीर का त्याग किया। कुमार गुप्त-तृतीय ने दावा किया है कि—"राजाओं में चन्द्रमा के समान ईशानवर्मन की सेना को विलोकर उसने अपने आपको परम भाग्यशाली बना लिया।"

—(अपसाढ़ अभिलेख)

दामोदर गुप्त :—कुमार गुप्त का पुत्र दामोदर गुप्त गद्दी पर बैठा। निस्सन्देह वह एक प्रवल शासक हुआ। इसके समय तक गुप्त एवं मौखरियों का पारस्परिक कलह शान्त नहीं हुआ था। अपसाढ़ अभिलेख के अनुसार उसने मौखरी को पराजित किया था। पर उसने किस मौखरी राजा को हराया—यह कहना कठिन-सा लगता है। यह हम जानते हैं कि कुमार गुप्त ने ईशानवर्मन को हराया था। पर कुमार गुप्त की मृत्यु के बाद ईशानवर्मन उसका बदला दामोदर गुप्त से लेना चाहा हो किन्तु ईशानवर्मन कुमार गुप्त का समसामयिक था न कि उसके पुत्र दामोदर गुप्त का। हरहा अभिलेख से हमें यह जानकारी मिलती है कि सूर्यवर्मन ईशानवर्मन का पुत्र था। सिरपुर अभिलेख से यह पता लगता है कि सूर्यवर्मन का मगध पर अधिकार था। इसके अतिरिक्त असीरगढ़ तथा नालन्दा मुहरों से यह ज्ञात होता है कि ईशानवर्मन के बाद उसका पुत्र सर्ववर्मन गद्दी पर बैठा। बी० पी० सिन्हा के मतानुसार ऐसा संभव प्रतीत होता है कि दामोदर गुप्त का संघर्ष सर्ववर्मन के साथ हुआ। रमाशंकर त्रिपाठी के अनुसार इस संघर्ष का यह फल हुआ कि दामोदर गुप्त लड़ाई में मारा गया। यद्यपि अपसाढ़ अभिलेख में कवि ने उसकी विजयों की चर्चा की है। दामोदर गुप्त की मृत्यु हो जाने का अनुमान फ्लीट के अनुवाद के आधार पर लगाया जाता है। पर क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि उक्त सन्दर्भ से दामोदर गुप्त की मृत्यु का बोध नहीं होता है बल्कि उससे केवल मूर्च्छित होने का भान होता है। आगे चट्टोपाध्याय ने यह भी कहा है कि अभिलेख में दामोदर गुप्त की विजय का उल्लेख है, पराजय का नहीं जैसा कि आर० जी० बसाक ने भी अनुमान किया है। अपसाढ़ अभिलेख में इस प्रकार वर्णन है कि "दामोदर गुप्त मौखरी की बढ़ती हुई शक्तिमान गजों की दृढ़ पंक्ति को तोड़कर स्वयं संज्ञाहीन हो

गया।" यह सत्य हो सकता है कि दामोदर गुप्त युद्ध में विजयी नहीं हुआ, लेकिन वह घायल हो गया और शीघ्र ही मर गया। पर इसके विपरीत हमें आर० सी० मजूमदार का कथन मालूम पड़ता है। उनका विश्वास है कि अभिलेख के विवरण को सन्दिग्ध दृष्टि से देखने का कोई कारण नहीं है क्योंकि मौखरियों के लेखों में इस नाम का कोई उल्लेख नहीं मिलता कि उन्होंने अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय प्राप्त की थी। दामोदर गुप्त के पुत्र महासेन गुप्त ने कामरूप के राजा सुष्ठितवर्मन को हराया था। ऐसा संभव नहीं हो पाता यदि दामोदर गुप्त की मृत्यु के तुरत बाद उसे छोड़ कर मालवा जाना पड़ता। सर्ववर्मन ने अपने पिता ईशानवर्मन की मृत्यु के बाद पिता के अपमान का बदला लेना चाहा होगा, पर स्वयं दामोदर गुप्त द्वारा हरा दिया गया होगा। इसका समय ५६२–६३ ई० है। इस युद्ध ने मगध से गुप्तों के पाँव उखाड़ दिये। राजबली पाण्डेय का मत है कि युद्ध में दामोदर गुप्त पराजित हुआ और रण-स्थल में ही मारा गया जिसके फलस्वरूप सर्ववर्मन ने मगध राज्य का बहुत बड़ा भाग मौखरी राज्य में मिला लिया।[1] चाहे दामोदर गुप्त की युद्ध में पराजय हुई हो या नहीं, इसमें कोई भी सन्देह करने की बात नहीं कि इसके बाद उत्तर गुप्त शासकों की शक्ति का केन्द्र मालवा में हो गया।

महासेन गुप्त :—दामोदर गुप्त के बाद उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी महासेन गुप्त ने मगध छोड़कर मालवा में अपनी राजधानी बनायी। वह बड़ा ही पराक्रमी राजा था जिसने मौखरियों से मगध प्राप्त किया। 'हर्षचरित' से यह मालूम होता है कि महासेन गुप्त पूर्वी मालवा चला गया तथा वहाँ पर उसने अपने राजकुल की प्रतिष्ठापना की। मालवा अब तक गुप्तों के ही अधीन था। महासेन गुप्त ने अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारम्भ किया। इसके समय में मौखरियों की शत्रुता बनी हुई थी अतः इसके लिये उसने पड़ोसी राज्यों के साथ मैत्री स्थापित करना प्रारम्भ किया जिससे वह मौखरियों से लोहा ले सके। सर्वप्रथम थानेश्वर के वर्धनों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। उसने अपनी बहन महासेन गुप्ता का विवाह प्रभाकरवर्धन के पिता आदित्यवर्धन के साथ किया। ऐसा भी हो सकता है कि थानेश्वर के वर्धन भी मौखरियों के भय से डरकर उत्तर गुप्त राजाओं के साथ वैवाहिक सम्बन्ध कर मैत्री-स्थापित किये हों। इस वैवाहिक सम्बन्ध से महासेन गुप्त को विशेष लाभ हुआ। वह अपनी विजय-वाहिनी को आसाम तक ले गया और सेना के अश्वों को ब्रह्मपुत्र के जल का पान कराया। अभिलेख से यह बात प्रमाणित होती है कि वह कामरूप (आसाम) के राजा सुष्ठितवर्मन के विरुद्ध लौहित्य

१. प्राचीन भारत, पृ० ३०१

(ब्रह्मपुत्र) तक चढ़ गया था[1]। इसने सुस्थितवर्मन को ऐसी बुरी तरह पराजित किया कि वह अपसाढ़ अभिलेख का लेखक उसकी वीरता के यशोगान की ओर संकेत करता है।

महासेन गुप्त के अधीन सम्भवतः सम्पूर्ण उत्तर बंगाल था। उसके राज्य के सीमाओं के विषय में हमें अपेक्षाकृत कुछ निश्चित आधार मिल जाते हैं। 'हर्षचरित' में उसे मालव-नरेश कहा गया है। उसने ब्रह्मपुत्र के तट तक अपनी विजय-यात्रा की थी। महासेन गुप्त ने अपने दो छोटे कुमारों को थानेश्वर भेजकर हर्ष के साथ कर दिया। उसने सन्धि और विग्रह की नीति अपनाई थी जिसमें उसे कुछ सफलता भी मिली। ए. एन. दण्डेकर ने यह स्वीकार किया है कि महासेन गुप्त वीर विजेता होने के साथ-साथ एक चतुर कूटनीतिज्ञ भी था। इनके अनुसार इस पुष्यभूति-गुप्त मैत्री का पहला कारण यह था कि माधव और उसका भाई कुमारगुप्त दोनों राजकुमार प्रभाकरवर्धन की सभा में भेजे गये क्योंकि यह हम देख चुके हैं कि महासेन गुप्त का प्रभाकरवर्धन के साथ नजदीकी सम्बन्ध था। इस मैत्री का दूसरा कारण यह भी था कि महासेन गुप्त पुष्यभूति-कुल का स्वागत करे एवं तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि मौखरियों की ओर से महासेन गुप्त को बराबर भय बना रहता था। मौखरी-नरेश ने महासेन गुप्त के पिता दामोदर गुप्त को हराकर मगध में अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। उसकी पुष्टि हमें देववर्णीक अभिलेख से लग जाती है जिसमें कहा गया है कि सर्ववर्मन का शासन मगध के कुछ भागों पर था। सर्ववर्मन का उत्तराधिकारी अवन्तिवर्मन को भी अभिलेख में 'परमेश्वर' कहा गया है। महासेन गुप्त को मौखरियों की इच्छाओं के प्रति बराबर भय बना रहता था। उसे ऐसा भय था कि वे फिर अपनी उस शत्रुता को जारी कर देंगे जिसका प्रारम्भ कुमारगुप्त द्वारा हुआ था और जिसे दामोदर गुप्त ने भी जारी रखा था।

मौखरी-नरेश सर्ववर्मन, अवन्तिवर्मन एवं उसके पुत्र की मुहरें नालन्दा से प्राप्त हुयी हैं। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि महासेन गुप्त के हाथ से मगध का एक बड़ा भाग मौखरियों के हाथ में चला गया। मद्यकूट स्तम्भ अभिलेख से यह जाना जाता है कि चालुक्य राजा कीर्त्तिवर्मन ने अंग, बंग तथा मगध पर अधिकार किया।

---

१. श्रीमत्सुस्थितवर्म युद्ध विजयश्लाघापदाङ्क मुहुः
यस्याद्यापि विबुद्धकुन्दकुमदक्षुण्णाच्छहारतम्।
लौहित्यस्य तटेषु शीतलतलेषूत्फुल्ल नागद्रुम-
च्छाया सुप्तविबुद्धसिद्धमिथुनैः स्फीतं यशो गीयते ॥ १४ ॥
(आदित्यसेन का अपसाढ़ लेख)

इस समय मगध में महासेन गुप्त का शासन था। गौडों ने भी इसी काल में अपना सर उठाया। अतः यह महासेन गुप्त के संकट का समय था। चारों ओर से भयभीत एवं त्रस्त होकर महासेन गुप्त को मगध छोड़कर मालवा भागना पड़ा। मालवा में जाने पर भी उसे शान्ति नहीं मिली क्योंकि कुछ इतिहासकार मानते हैं कि शंकरगण नामक कलचुरी वंश का राजा महासेन गुप्त को हराकर उज्जैन पर कब्जा कर लिया क्योंकि शंकरगण ५९५–९६ ई० में उज्जैन पर शासन करता था। पर शंकरगण की यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रही और चालुक्यों ने बुद्धराज नामक यहाँ के कलचुरी शासक को हरा दिया। कलचुरी शासक के विरुद्ध थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन ने चालुक्यों का साथ दिया क्योंकि महासेन गुप्त के साथ थानेश्वर का वैवाहिक सम्बन्ध था। इस घटना की तिथि बी. पी. सिन्हा के अनुसार ६०२ ई० रखी जा सकती है।[1] महासेन गुप्त उत्तर गुप्तों की मालवा-शाखा का संस्थापक था।

देवगुप्त :—महासेन गुप्त के पुत्र एवं उत्तराधिकारी देवगुप्त ने अपने समय में पिता के गौरव को कायम रखा। पिता के ही समान वह भी एक सफल एवं कुशल शासक था तथा अपने पिता के यश को बढ़ाने का प्रयास किया। यह हम जानते हैं कि उसका पिता महासेन गुप्त ही मालवा शाखा का संस्थापक था। अतः उसके बाद उसका पुत्र देवगुप्त मालवा का शासक हुआ। देवगुप्त का वर्णन हमें हर्ष के मधुवन लेख एवं बसखेड़ा अभिलेख में किया गया है। इसके अतिरिक्त उसने एक राजनीतिक चाल द्वारा गौड (बंगाल) के राजा शशांक से दोस्ती कर ली। इसमें उसने अपनी कूटनीति का परिचय दिया। इस मैत्री के आधार पर उसके दो उद्देश्यों की पूर्त्ति हो जाती थी—वह कामरूप के शासक सुष्ठितवर्मन को अपने अधीनस्थ रखना चाहता था और दूसरी ओर शशांक के बल पर मौखरियों को नीचा दिखलाना चाहता था। हम यह जानते हैं कि मौखरियों ने दामोदर गुप्त के समय गुप्तों के पाँव मगध से उखाड़ दिये थे। देवगुप्त मौखरियों से इसी दुश्मनी का बदला लेना चाहता था। शशांक को भी कामरूप के विरुद्ध एक मित्र की आवश्यकता थी। इसी परिस्थिति में वे दोनों एक दूसरे के दोस्त बन गये। बाण के वर्णनों से ऐसा ज्ञात होता है कि देवगुप्त का प्रकृति-शत्रु मौखरी नरेश था और शशांक का था कामरूप नरेश। देवगुप्त ने शशांक की सहायता से कन्नौज पर आक्रमण किया तथा मौखरी-नरेश गृहवर्मन की हत्या कर उसकी पत्नी राज्यश्री को कैद कर लिया। राज्यश्री पुष्यभूति नरेश राज्यवर्धन की बहन थी। अपनी बहन के अपमान का बदला लेने के लिये राज्यवर्धन ने देवगुप्त पर आक्रमण किया। देवगुप्त युद्ध में

१. प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३५२

राज्यवर्धन द्वारा हरा दिया गया पर शशांक ने छल से उसका वध कर डाला। राज्यवर्धन के बाद उसका भाई हर्षवर्धन गुप्त वंश का अंत करने पर तुल गया।

'हर्षचरित' के अनुसार एक मालव नरेश ने गृहवर्मन मौखरी को धोखा देकर मार डाला। यद्यपि गृहवर्मन की हत्या करने वाले का नाम 'हर्षचरित' में नहीं दिया गया है पर मालव नरेश से तात्पर्य देवगुप्त से ही लगाया जाता है। इतिहासकारों ने इस मालव-नरेश का समीकरण देवगुप्त से ही किया है। आर० एन० दण्डेकर ने 'हर्षचरित' में वर्णित मालव नरेश से तात्पर्य हर्ष के अभिलेखों में उल्लिखित देवगुप्त से ही किया है। एच० सी० रायचौधरी एवं आर० सी० मजूमदार भी यही स्वीकार करते हैं कि 'हर्षचरित' का दुष्ट मालवाधिपति देवगुप्त के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। पर मजूमदार का कथन है कि देवगुप्त का महासेन गुप्त के साथ क्या सम्बन्ध था—यह साफ-साफ नहीं पता चलता है। यह हम जानते हैं कि देवगुप्त का उल्लेख हर्ष के मधुवन लेख और बसखेड़ा अभिलेख में इस प्रकार किया गया है—"उसे उन राजाओं में सबसे प्रधान कहा गया है, जो दुष्ट घोड़ों से मिलते-जुलते हैं और जो अन्ततोगत्वा राज्यवर्धन के द्वारा पराजित कर दिये गये।"

महासेन गुप्त और देवगुप्त से पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दण्डेकर ने कहा है कि वह महासेन गुप्त का सबसे बड़ा पुत्र तथा माधव गुप्त एवं कुमार गुप्त का बड़ा भाई था।

माधव गुप्त :—देवगुप्त को राज्यवर्धन ने युद्ध में पराजित कर उसका वध कर दिया और इससे मालवा के उत्तर गुप्त राज कुल का अन्त हो गया पर मालवा से गुप्त राज-वंश का समूल नाश नहीं हुआ था। यह हम जानते हैं कि हर्ष के साथ माधव गुप्त एवं कुमार गुप्त रहा करते थे। जिसके कारण हर्ष एवं माधव गुप्त में दोस्ती होना स्वाभाविक था। अतः हर्ष वर्धन ने देवगुप्त के बाद माधव गुप्त को कन्नौज की ओर से मगध का शासक नियुक्त किया। माधव गुप्त की इस प्रकार की नियुक्ति यह सिद्ध करता है कि वह कन्नौज की ओर से एक अधीनस्थ शासक था (श्री हर्षदेव निजसङ्गमवाञ्छया)। उसे हर्ष के आदेशानुसार ही चलना पड़ता था तथा कन्नौज के सामन्त की हैसियत से उसके ऊपर मगध के राज्य संचालन का भी भार आ पड़ा। पर यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं चल सकी।

आदित्यसेन :—हर्ष के बाद गुप्तों की मगध शाखा ने पुनः एक बड़े भू-भाग पर अपना आधिपत्य कायम किया जिसका श्रेय माधव गुप्त के पुत्र आदित्यसेन को है। वह एक स्वतन्त्र, प्रभावशाली एवं प्रबल शासक सिद्ध हुआ। इसके साथ-

साथ वह हर दृष्टिकोण से एक सफल शासक, साम्राज्य निर्माता एवं संगठनकर्त्ता माना गया है। उसने अपनी शक्ति का अधिक प्रसार किया। वह मगध-साम्राज्य की सीमा पुनः एक बार बंगाल की खाड़ी तक बढ़ाकर ले गया।[1] उसने विजय-यात्रा भी की एवं विजय के पश्चात् अश्वमेध यज्ञ भी जिसकी पुष्टि हमें शाहपुर के शिलालेख से होती है।

आदित्यसेन हर्ष के रण-अभियान से प्रभावित होकर अपगे वंश के गौरव को पुनः स्थापित करना चाहता था। आदित्य सेन के कई लेख प्राप्त हुये हैं—(१) अपसाढ़ का अभिलेख, (२) शाहपुर का लेख, (३) मन्दार का शिलालेख एवं (४) मन्दार का लेख। प्रथम अभिलेख बिहार राज्य के गया जिला, दूसरा शाहाबाद जिला (अब भोजपुर), तीसरा एवं चौथा बिहार के ही भागलपुर जिले में प्राप्त हुआ था। इन सब अभिलेखों के यह आधार पर बड़े गर्व के साथ कहा जा सकता है कि उसका अधिकार पूर्वी बिहार एवं दक्षिणी बिहार पर था तथा इस प्रदेश में उसकी सत्ता को चुनौती देनेवाला कोई नहीं था। मन्दार के शिलालेख से यह स्पष्ट होता है कि उसने "परम भट्टारक महाराजाधिराज" की उपाधि धारण की थी। उसके लिए 'पृथ्वीपति' का भी प्रयोग किया गया है।

बंगाल के विभिन्न भागों में सोने के सिक्के मिले हैं जिन्हें गुप्त सम्राट् के सिक्कों का नकल बतलाया गया है जिसके विषय में कहा जाता है कि ये सब सिक्के मगध के उत्तरवर्ती गुप्त नरेशों द्वारा प्रचलित किये गये थे। मगध के उत्तर-वर्त्ती गुप्त नरेशों में आदित्यसेन ही सबसे पहला नरेश था जिसने इन सिक्कों को प्रचलित किया। इनमें से कुछ सिक्कों द्वारा अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान की सूचना मिलती है।

आदित्यसेन अपने समसामयिक राजाओं में अग्रगण्य था तथा उसका प्रभाव क्षेत्र काफी बड़ा था। उसने राज्य विस्तार के साथ-साथ सांस्कृतिक कार्य में अभिरुचि दिखलाई। लोक कल्याण का भी उसे ध्यान रहता था। उसकी माता ने 'सुरलोक-गृहोपमः' एक मठ बनवाया था जिसे उसने धार्मिकों को दे दिया था। उसकी पत्नी 'कोणदेवी' के एक अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि उसने मंदार एवं देवघर में पुष्करिणी का निर्माण करवाया था जिसका जल लोगों के पीने के काम में आता

---

१. येनेदं शरदिन्दुबिम्बधवला प्रख्यात भूमण्डला
लक्ष्मी संगमकांक्षया सुमहती कीर्तिश्चिरं कोपिता।
याता सागर पारमद्भुततमा सापत्न्यवैरादहो
तेनेदं भवनोत्तमं क्षितिभुजा विष्णोः कृते कारितम् ॥ २६ ॥
(अपसाढ़ अभिलेख)

था। देवघर अभिलेख के अनुसार आदित्यसेन ने अपनी विजय के बाद काफी धन खर्च कर एक मन्दिर का निर्माण करवाया था। देवघर के वैद्यनाथ मन्दिर में 'कोणदेवी' का एक अभिलेख अब भी वहाँ देखने को मिलता है। कुछ इतिहासकारों का यह मत है कि कोणदेवी के निर्देशन में एक ही अभिलेख की दो प्रतिलिपियाँ बनी होंगी जिनमें एक देवघर में रही होगी और दूसरी मन्दार में।

हर्ष के बाद जो अराजकता की स्थिति देश में छा गयी थी तथा विदेशियों के आक्रमण का भय बन गया था, उस स्थिति से मगध को बचानेवाला आदित्यसेन ही था। गुप्तों ने जिस हिन्दू पुनर्जागरण के सिलसिले की शुरूआत की थी, उसे आदित्यसेन ने और आगे बढ़ाया। उसने भगवान् विष्णु का मन्दिर बनवाकर अपने धर्मप्रेम का परिचय दिया। उसने प्राचीन वैदिक मार्ग का अवलम्बन भी किया। उसके लिये 'परमभागवत' उपाधि का भी प्रयोग हुआ है।

देवगुप्त :—आदित्यसेन के बाद उसका पुत्र देवगुप्त गद्दी पर बैठा। उसने भी अपने पिता के समान परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर की उपाधि धारण की। उसके समकालीन शासक वातापी के चालुक्य नरेश विनयादित्य ने अपने केण्डुरप्लेट में इसे 'सकलोत्तरापथनाथ' कहा है। लेखों में उसे 'परममाहेश्वर' कहा गया है जिससे अनुमान लगाया जाता है कि वह शैव था।

विष्णुगुप्त :—देववर्णीक अभिलेख से पता लगता है कि विष्णुगुप्त के बाद उसका पुत्र विष्णुगुप्त शासक हुआ। अपने पिता के समान इसने भी दोनों उपाधियों को धारण किया था जिनसे यह अनुमान लगाया जाता है कि वह भी शैव था। मंगराँव (बक्सर) के अभिलेख से पता लगता है कि वह भी एक कुशल शासक था तथा उसके समय तक मगध का प्रभुत्व बना हुआ था।

जीवितगुप्त द्वितीय :—उत्तर गुप्त वंश का अन्तिम शासक जीवित गुप्त द्वितीय था। इसके लिये भी 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' उपाधि का प्रयोग हुआ है। वह बड़ा ही उदार एवं निपुण तथा कुशल शासक था। बिहार तथा उत्तर प्रदेश के भागों पर उसका शासन था। 'गौडवहो' के अध्ययन से पता चलता है कि उसका संघर्ष कन्नौज के यशोवर्मन के साथ हुआ था। बिहार में एक गुप्त वंश का पता एक नये अभिलेख से चलता है जो मुजफ्फरपुर जिले के कटरा थाना से मिला है। इस अभिलेख में रामगुप्त एवं जीवगुप्त का उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही तीरभुक्ति और चामुण्डा विषय का उल्लेख है। इनका सम्बन्ध कहाँ और किस गुप्त से था, यह कहना कठिन है। एक और गुप्तवंश का पता पंचोभ-ताम्रपत्र से मिलता है जिसमें संग्राम गुप्त का उल्लेख है। इस प्रकार कई प्रकार के गुप्त वंशों का वर्णन बिहार से ही मिलता है पर उनका मूल गुप्त वंश से क्या

सम्बन्ध था या वे स्वयं किस वंश से सम्बन्धित थे यह कहना कठिन है। इतिहासकारों में इनके सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं।[1]

जीवित गुप्त का देववर्णीक अभिलेख कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह अभिलेख तिथि विहीन है। लेख विष्णु मन्दिर के द्वार पर है। वह उदारचित्त तथा उच्च विचार वाला शासक था।

उत्तर गुप्त शासकों की शासन-प्रणाली के विषय में कोई सामग्री हमारे पास नहीं है। अभिलेखों से केवल यही जाना जाता है कि राजा प्रजा की भलाई के लिये सदा चिन्तित रहा करते थे।

मध्यप्रदेश एवं बम्बई प्रान्त के गुप्त शासक :—इन दोनों राज्यों में भी कुछ गुप्त नामधारी राजाओं का वर्णन मिलता है। धारवाड़ में गुतलवंशी नरेश शासन करते थे। ये लोग अपने को सोमवंशी एवं उज्जैन के नृप चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के वंशज मानते थे। महाशिव गुप्त की प्रशस्ति रायपुर जिले के सिरपुर नामक स्थान में मिली है। ये लोग अपने को चन्द्रवंशी एवं गुप्तवंशी कहते थे। हीरालाल के अनुसार मध्यप्रदेश के गुप्त लोगों ने सिरपुर में ही राज्य स्थापित किया, किन्तु अन्त में विनीतपुर (सोनपुर) में बस गये, जहाँ से उन लोगों ने उड़ीसा तथा तेलंगाना के अधिक भागों पर शासन किया।

(ख) कान्यकुब्ज मौखरी

उत्तर गुप्त वंश की ही भाँति मौखरी वंश गुप्त सम्राटों के ह्रास के बाद प्रसिद्ध हुआ। यह एक अत्यन्त प्राचीन वंश था। मौखरी लोग अपने को अश्वपति की संतान मानते थे और सम्भवतः क्षत्रिय जाति के थे। ये अपने को वैवश्वत के वर से प्राप्त अश्वपति के सौ पुत्रों के वंशधर बतलाते थे। महाभारत में इनका वर्णन मिलता है कि ये मद्र के शासक थे। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि ये उत्तर भारत में फैले हुये थे।

मूल :—मौखरी वंश अत्यन्त प्राचीन वंश था। ऊपर हमने कहा है कि ये लोग अपने को वैवश्वत के वर से प्राप्त अश्वपति के सौ पुत्रों के वंशधर बतलाते थे।[2] उनकी वास्तविक उत्पत्ति का ज्ञान हमें नहीं है। पाणिनि के आधार पर मौखरी वंश की उत्पत्ति आदि पुरुष 'मुखर' से ली जाती है तथा उसी के नाम

---

१. देखिये—राधाकृष्ण चौधरी—प्रा० भा० रा० सां० इ०—पृ० ३९९

२. सुतशतं लेभे नृपोऽश्वपतिर्वैवश्वताद्यद्गुणोदितम्।
तत्प्रसूता दुरित वृत्तरुधो मुखराः क्षितीशा क्षतारयः ॥ ३ ॥

एपि. इण्डिका १४, पृ० ११५

पर इस वंश का नाम 'मौखरी' पड़ा। एच. शास्त्री का भी ऐसा ही विचार है। मौखरियों का एक गोत्र भी था। पातंजलि के 'महाभाष्य' पर कैय्यट की जो टीका है उसमें तथा जयादित्य तथा वामन की काशिकावृति में 'मौखर्य्याः' शब्द का प्रयोग गोत्र-नाम के अर्थ में ही हुआ है। बाण ने भी उनके कुल की प्राचीनता का उल्लेख किया है। उसने 'मुखर' को गृहवर्मन के वंश का आदि पुरुष मानता है। हरहा अभिलेख इन्हें सूर्यवंशी मानता है। 'हर्षचरित' में 'सोम सूर्य वंशाविव पुष्यभूति मुखर वंशौ' से पुष्यभूति को सूर्यवंशी तथा मौखरियों को चन्द्रवंशी माना गया है। अभिलेखों से भी इनकी प्राचीनता का बोध होता है। ईसा की तीसरी शताब्दी में उत्कीर्ण लेखों में मौखरी सरदारों का वर्णन मिलता है। यह लेख कोटा (राजस्थान) से २३९ ई० में मिला था। उनकी शक्ति के केन्द्र गंगा की उपरली घाटी में के वर्तमान उत्तर प्रदेश एवं विहार के भाग थे। ई० पू० तीसरी शताब्दी से पूर्व की एक मिट्टी की मुहर पर 'मोखल्लिनाम्' शब्द ब्राह्मी लिपि में लिखा हुआ मिलता है। मौखरी को 'मुखर' या 'मौखरि' दोनों कहा जाता है। ह्वेनसांग के अनुसार हर्षवर्धन वैश्य कुल का था जिसकी पुष्टि मंजुश्रीमूलकल्प से भी हो जाती है। पर हरहा अभिलेख मौखरियों को क्षत्रिय बतलाता है। बी० पी० सिन्हा ने ऐसा मत व्यक्त किया है कि हो सकता है कि प्रारम्भ में ये क्षत्रिय रहे हों, पर बाद में इनकी सामाजिक स्थिति नीचे गिर गई हो।[1] के० पी० जायसवाल ने तो यहाँ तक कह डाला है कि पटना-गया जिले के मौहरी (माहुरी) मौखरी के वंशज थे क्योंकि उनकी राजधानी गया में थी तथा मौखरी परिवार गया के आस-पास के इलाकों में शासन करता था। इसका प्रमाण बराबर एवं नागार्जुनी की पहाड़ियों के अभिलेखों से जो गया शहर से १५ मील उत्तर में है, पता चलता है कि मौखरियों की एक शाखा बिहार में भी शासन करती थी। पर इन अभिलेखों से इस शाखा के तीन शासकों के नामों के अतिरिक्त और कुछ पता नहीं चलता। इन शासकों के नाम यज्ञवर्मन जो संभवतः इस वंश का संस्थापक था, उसका पुत्र शार्दूलवर्मन तथा पौत्र अनन्तवर्मन था। ये तीनों गुप्तों के सामन्त थे तथा अनन्तवर्मन गुप्तों के पतन के समय शासक था। इन अभिलेखों में किसी सम्राट् का वर्णन नहीं मिलता है। सम्भवतः वे गुप्तों द्वारा पराजित कर दिये गये हों। अतः गुप्त सामन्तों के रूप में उन्होंने गुप्त संवत् अपना लिया। छठी शताब्दी में वे स्वतंत्र हो गये। इस शताब्दी के प्रारम्भ तक मौखरी राजाओं ने सामन्तों की उपाधि धारण की थी। किन्तु छठी शताब्दी में उत्तर गुप्त वंश तथा मौखरी वंश के राजाओं के बीच उत्तर भारत पर एकाधिपत्य बनाये रखने के लिये लड़ाई होती रही। यह हम जानते हैं

१. प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३५३

कि उत्तर गुप्त वंश के राजा महासेन गुप्त के समय उत्तर भारत का परम्परागत राजनीतिक केन्द्र मौखरियों के हाथ में चला गया।

मौखरियों की कई शाखाओं का वर्णन बिहार और राजस्थान में मिले हुये लेखों में पाया जाता है किन्तु एक शक्तिमान राजवंश के रूप में इनका उदय गुप्त साम्राज्य के समाप्त होने पर **कान्यकुब्ज** (कन्नौज) में हुआ। इस वंश के प्रारम्भिक राजाओं की मित्रता एवं वैवाहिक सम्बन्ध गुप्तों के साथ था एवं दोनों ने मिलकर गौड़ों को परास्त किया था। बिहार की शाखाओं के विषय में विवरण ऊपर दे दिया गया है। अब हम बदवा एवं उत्तर प्रदेश की शाखा के विषय में जानेंगे। बदवा कोटा राज्य में था। यह नागों की राजधानी पद्मावती से १५० मील पश्चिम की ओर था। तीसरी शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में यहाँ मौखरियों का शासन था। महासेनापति बल मौखरियों का शासन २३० ई० में था। उन दिनों सामन्तों को महासेनापति की उपाधि दी जाती थी। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बल केवल एक सामन्त था। अतः यह अबतक सिद्ध नहीं हो पाया है कि वह पद्मावती के नाग राजाओं अथवा उज्जयिनी के महाक्षत्रपों का सामन्त था। यह कहा जाता है कि बल एवं उसके उत्तराधिकारी वैदिक धर्म के अनुयायी थे। बल के तीन पुत्रों ने एक यज्ञ किया था। अतएव यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि ये बिहार तथा कन्नौज के मौखरियों से सम्बन्धित थे या नहीं क्योंकि इस वंश का पूरा इतिहास नहीं मिलता है।

मौखरियों की कान्यकुब्ज (कन्नौज) की शाखा सबसे अधिक प्रसिद्ध है। कान्यकुब्ज की प्रतिष्ठा जो मौखरियों के समय में स्थापित हुई, वह कई शताब्दियों तक बनी रही। बाण के अनुसार उनकी राजधानी कन्नौज थी। मौखरियों की प्रधान शाखा जो आरम्भ में गुप्त राजाओं की अधीनता स्वीकार करती थी, बाद में अपनी उन्नति करके उत्तर भारत की प्रधान शक्ति बन गयी। इस शाखा का संस्थापक हरिवर्मन था।

हरिवर्मन :—हरिवर्मन मौखरियों की कन्नौज शाखा का प्रथम राजा एवं संस्थापक माना जाता है। मौखरियों की वंशावली में इसका नाम पहला है। हरहा अभिलेख में उसकी उपाधि 'ज्वालामुख' है। असीरगढ़ अभिलेख से यह पता चलता है कि उसका यश चारों समुद्र तक फैला हुआ था। इस अभिलेख में यह भी कहा गया है कि उसने कई राजाओं को अपने अधीन किया। इसे 'महाराजा' कहा गया है।

आदित्यवर्मन :—हरिवर्मन के बाद उसका पुत्र आदित्यवर्मन गद्दी पर बैठा। इसकी माता का नाम भट्टारिकादेवी जयस्वामिनी था। यह ब्राह्मण धर्म को मानने

वाला था। इसने कई यज्ञ किये। इसे भी केवल महाराज कहा गया है। इसका विवाह उत्तर गुप्त राजा श्री हर्षगुप्त की बहन हर्षगुप्ता से हुआ था जिससे इसकी शक्ति और भी मजबूत हो गयी।

ईश्वरवर्मन :—आदित्यवर्मन के बाद गद्दी का उत्तराधिकारी ईश्वरवर्मन हुआ। जौनपुर अभिलेख से इसके विषय में यह पता चलता है कि धार के राजा ने ईश्वरवर्मन पर आक्रमण किया किन्तु वह स्वयं हार गया। ईश्वरवर्मन की जीत से मौखरियों की शक्ति उत्तर भारत में अधिक प्रतिष्ठित हो गयी। असीरगढ़ अभिलेख में इसे केवल महाराज ही कहा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इसने साम्राज्य-विस्तार के लिये युद्ध नहीं किया था बल्कि अपने राज्य की ही सुरक्षा इसने की। किन्तु आर० के० मुकर्जी से इसके साम्राज्य-विस्तार का भी पता चलता है। इनके अनुसार इसने पश्चिम से धार (मालव) तक तथा विन्ध्य एवं रैवतक पहाड़ी तक आन्ध्रों को खदेड़ा था। अपने पूर्वजों के ही समान वह ब्राह्मण धर्म को माननेवाला था। उसने कई यज्ञ किए थे।

ईशानवर्मन :—ईश्वरवर्मन के बाद उसका पुत्र ईशानवर्मन गद्दी पर बैठा। उसने इस वंश की शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ाई। वह पहला मौखरी नरेश था जिसने सम्राटों (महाराजाधिराज) की उपाधि धारण की थी जिससे यह स्पष्ट है कि वह स्वतन्त्र रूप से शासन करता था। उसके पूर्व के तीनों शासकों ने महाराज की उपाधि ली थी जिससे यह स्पष्ट होता है कि ये गुप्त सम्राटों की अधीनता में शासन करते थे। वह एक महान् विजेता भी था। उसने पश्चिमी बंगाल के गौड़ वंश को, पूर्वी दक्षिण के आन्ध्र वंश, पश्चिमी दक्षिण के सुलीक वंश एवं हूणों को भी पराजित किया था।[1] इस बढ़ती हुयी शक्ति से मगध के गुप्त आतंकित हुये। इस नरेश की उपलब्धियों का पता हरहा अभिलेख से चलता है। इसमें ईशानवर्मन के विषय में कहा गया है कि "उसने 'भूमिरूपी टूटी हुई नौका को ऊपर उठा लिया और सैकड़ों राजसी गुण रूपी रस्सियों से उसे चारों ओर से बाँधकर ऐसे समय में डूबने से बचा लिया, जब वह कलिकाल के झंझावात से डगमगा कर रसातल रूपी समुद्र में बैठी जा रही थी।' इसका तात्पर्य यह है कि ईशानवर्मन ने अपने वंश की प्रतिष्ठा बढ़ाई और राजनैतिक स्थिरता स्थापित की।

---

१. जित्वान्ध्रपतिं सहस्रगणितत्रेधा क्षरद्वारणं
व्यावल्गन्नियुतातिसंख्यतुरगान्भङ्क्त्वा रणे शूलिकान्।
कृत्वा चायतिं मोचितस्थलभुवो गौडान्समुद्राश्रया-
नध्यासिष्टनतक्षितीशचरणः सिंहासनं यो जिती॥

एपि. इन्डि.; पृ० १७७–१९०

महाकूट अभिलेख से यह पता चलता है कि कीर्त्तिवर्मन प्रथम ने अंग, वंग, मगध, मद्रुक एवं कलिंग को जीता था। ऐसा संभव है कि ईशानवर्मन से इसका युद्ध हुआ हो। अपसाढ़ अभिलेख से पता चलता है कि जीवितगुप्त प्रथम ने समुद्र के किनारे बसने वाले दुश्मनों के साथ युद्ध किया था। ऐसा अनुमान करना गलत न होगा कि ईशानवर्मन एवं उसके समसामयिक उत्तर गुप्त राजा ने आपस में मिलकर गौड़ों की बढ़ती शक्ति के विरुद्ध सहयोग किया होगा और इन्हीं सफलताओं को देखते हुये ईशानवर्मन ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की होगी। ऐसा बी० पी० सिन्हा का निष्कर्ष है[1]। इसे देखते हुये उत्तर गुप्त राजाओं ने मौखरियों की बढ़ती हुयी इस शक्ति का विरोध किया था। उसने अपने को गुप्तों का एक प्रबल प्रतिद्वन्द्वी प्रमाणित किया। अब उत्तरवर्त्ती गुप्तों से पारस्परिक संघर्ष प्रारम्भ हो गया और इसने मगध के उत्तर गुप्त नरेश कुमार गुप्त से लोहा लिया पर कुमार गुप्त से वह हार गया।

इस प्रकार के विजय-अभियान के साथ-साथ उसने एक और महत्त्वपूर्ण काम किया। देश में हूणों के आक्रमण के कारण सामाजिक अव्यवस्था फैल गयी थी। अतः उसने सामाजिक अव्यवस्था को फैलने से रोका एवं हिन्दूधर्म के पुनरुद्धार में हाथ बँटाया। उसने अपनी मुद्राएँ भी चलाई थीं।

सर्ववर्मन :—ईशानवर्मन के बाद उसका पुत्र उत्तराधिकारी बना। उसे भी महाराजाधिराज की उपाधि थी। वह अपने कुल का सर्वश्रेष्ठ राजा था। उसने अपने समकालीन उत्तरगुप्तनरेश दामोदरगुप्त से युद्ध कर उसे पराजित कर दिया एवं उसकी हत्या भी कर डाली। तत्पश्चात् सर्ववर्मन ने मगध को अपने राज्य में मिला लिया। अब मौखरी मगध के भी शासक हो गये। असीरगढ मुहर में सर्ववर्मन को मौखरी कहा गया है। सिक्कों के आधार पर कुछ इतिहासकारों का यह मत है कि कुछ काल तक सर्ववर्मन उत्तरगुप्त सम्राट् के अधीन रहा किन्तु अपने पिता एवं अपनी पराजय का बदला लेने को चिन्तित था तथा उसने महासेनगुप्त को पराजित कर मगध पर अधिकार कर लिया। अतः मगध पर मौखरियों का शासन सर्ववर्मन से ही प्रारम्भ होता है। देववर्णाक अभिलेख से मगध के पश्चिमी हिस्सों पर मौखरियों का शासन प्रमाणित होता है। नालन्दा मुहर से उसको सम्राटों की पदवी मालूम पड़ती है।

सर्ववर्मन का आधिपत्य प्रत्यक्षतः सोन नदी तक फैल गया। उसने हूणों को भी हराया। उसने पुष्यभूतियों के साथ मिलकर पश्चिमोत्तर सीमा पर हूणों को हराया। इसका निष्कर्ष यह निकला कि एक ओर गुप्तों एवं गौड़ों का गुट बना

१. प्रा० भा० इ०, पृ० ३५५

तथा दूसरी ओर मौखरी और पुष्यभूति वंश का। असीरगढ़ से प्राप्त मुहर से सर्ववर्मन का राज्य दक्षिण तक फैला हुआ बतलाते हैं। किन्तु फ्लीट इसे स्वीकार नहीं करते। इनका समर्थन रमाशंकर त्रिपाठी ने भी किया है। त्रिपाठी के मतानुसार सर्ववर्मन का शासन इस क्षेत्र में नहीं था। उसका राज्य पूरब में मगध, पश्चिम में थानेश्वर की पूर्वी सीमातक तथा उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्य की पहाड़ी तक फैला हुआ था। उसका शासन गौड पर नहीं था तथा उसका गौड पर आक्रमण का प्रभाव क्षणिक ही रहा। उसके सिक्के भी मिले हैं।

भोजदेव के वराह ताम्रपत्र (वि० सं० ८९३) के आधार पर बुन्देलखण्ड पर मौखरियों का आधिपत्य था। इस ताम्रपत्र से ऐसा पता चलता है कि परमेश्वर सर्ववर्मन ने उदुम्बर विषय में थोड़ी जमीन दान थी। बी० पी० सिन्हा ने इस सर्ववर्मन की समता सर्ववर्मन मौखरी से की है। इस ताम्रपत्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मध्यप्रदेश के कुछ भागों पर भी मौखरियों का अधिकार था। महासामन्त एवं महाराज समुद्रसेन के अभिलेख (जो पूर्वी पञ्जाब के निरमन्द नामक जगह से प्राप्त हुआ था) के आधार पर अरवमुथन ने कहा है कि इसमें वर्णित सर्ववर्मन—सर्ववर्मन मौखरी था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्ववर्मन ने हूणों के साथ युद्ध किया क्योंकि हम यह जानते हैं कि राज्यवर्धन हूणों के साथ लड़ने के लिये गया था। पर रमाशंकर त्रिपाठी इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि सर्ववर्मन पूर्वी पंजाब के कांगरा जिले का स्वामी था चूँकि यह मौखरियों के मित्र वर्धनों के अधीन था।

अवन्तिवर्मन :—सर्ववर्मन के बाद अवन्तिवर्मन गद्दी पर बैठा। उसकी राजधानी कन्नौज थी। उसके समय पुष्यभूति और मौखरियों की मैत्री बड़ी गाढ़ी हो गयी थी। वह एक शक्तिशाली नरेश था। देववर्णाक अभिलेख के अनुसार सर्ववर्मन के तुरन्त बाद सूर्यमन्दिर को दान देनेवाला यही अवन्तिवर्मन था। पर, इससे मौखरी वंशावली पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है। बाण ने भी इसका तथा इसके पुत्र गृहवर्मन का उल्लेख किया है, लेकिन उनके पूर्वजों का उल्लेख नहीं किया। नालन्दा अभिलेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि अवन्तिवर्मन सर्ववर्मन का पुत्र था। अवन्तिवर्मन ने अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप में एक विस्तृत साम्राज्य पाया तथा परमभट्टारक, महाराजाधिराज आदि की उपाधियाँ धारण कीं। देववर्णाक अभिलेख में उसे 'परमेश्वर' कहा गया है। प्रभाकरवर्धन उसका समसामयिक था। अवन्तिवर्मन के सिक्के भी मिले हैं।

गृहवर्मन :—हर्षचरित के अनुसार अवन्तिवर्मन का पुत्र गृहवर्मन उसके बाद गद्दी पर बैठा। उसका विवाह थानेश्वर की राजकुमारी राज्यश्री (हर्ष की बहन)

के साथ हुआ। इस प्रकार वर्धन एवं मौखरी वैवाहिक सूत्र में बंधकर मैत्री स्थापित कर लिये। हर्षचरित में इस विवाह का वर्णन मिला है किन्तु विवाह के अवसर पर अवन्तिवर्मन उपस्थित नहीं था। बी० पी० सिन्हा पुत्र की शादी के अवसर पर पिता की अनुपस्थिति को राजनीतिक चाल समझते हैं। उनका कहना है कि मौखरियों को बाह्य आक्रमण का खतरा रहा हो इसलिये अवन्तिवर्मन कन्नौज छोड़ने में असमर्थ रहा हो। यह भी सम्भव है कि अवन्तिवर्मन की मृत्यु हो गयी हो। गौड राजा शशांक एवं उत्तरगुप्त नरेश मालवाशाखा के देवगुप्त ने कन्नौज पर आक्रमण कर गृहवर्मन को मार डाला तथा राज्यश्री को बन्दी बना लिया। सम्भवतः यह घटना ६०६ ई० की है और इस प्रकार मौखरियों के शासन का अन्त हो गया।

मौखरियों ने ५५४ ई० से ६०५ ई० तक शासन किया। उनका राज्य विन्ध्य से लेकर अवध तक और पूरब में पूर्वी बंगाल तक फैला हुआ था। अमात्यों की एक सभा से ये लोग शासन करते थे। राजवंश के कुमार प्रान्तीय शासक होते थे। न्याय की व्यवस्था अच्छी थी तथा राजा के यहाँ अपील की जा सकती थी। उत्तरगुप्तों के साथ उनका संघर्ष चलता रहा। ये लोग ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी थे। उनके शासन-काल में संस्कृति और सभ्यता का प्रचार था। 'कौमुदीमहोत्सव' नामक नाटक की रचना मौखरियों के समय में ही की गई पर इतिहासकारों में मतैक्य नहीं है। फिर भी इन नरेशों ने विद्या के पोषण और प्रचार का प्रयत्न किया।

(ग) स्थाण्वीश्वर (थानेसर) का पुष्यभूति वंश

छठीं शताब्दी के आरम्भ में, जब कि हूण आक्रमण से गुप्त साम्राज्य का पश्चिमी भाग छिन्न-भिन्न हो रहा था उसी समय पूर्वी पंजाब में पुष्यभूति वंश का उदय हुआ। पंजाब के अम्बाला जिले में स्थित स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) नामक स्थान अत्यन्त प्राचीन एवं ऐतिहासिक महत्त्व का नगर था। यह नगर प्राचीन श्रीकण्ठ जनपद की राजधानी थी। इसी श्रीकण्ठ जनपद में पुष्यभूति कुल का प्रथम राजा जन्म लिया जिसका नाम पुष्यभूति था और वह इस वंश का संस्थापक हुआ। उसी के नाम पर इस वंश का भी नाम पड़ा। यह हम जानते हैं कि गौड राजा शशांक और मालवा के देवगुप्त ने कन्नौज पर आक्रमण कर गृहवर्मा को मार डाला जो मौखरी का अन्तिम राजा था। इसकी पत्नी राज्यश्री को कैद कर लिया गया किन्तु राज्यश्री निःसन्तान थी अतः कान्यकुब्ज (कन्नौज) एवं स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) के राज्य एक में मिलकर कान्यकुब्ज साम्राज्य की स्थापना हुई जिसके विषय में अगले अध्याय में प्रकाश डाला जायेगा।

अध्याय ३

थानेश्वर का वर्धन वंश

थानेश्वर (स्थाण्वीश्वर) भारतीय इतिहास का एक बड़ा ही प्रसिद्ध स्थान रहा है। यह प्रदेश अत्यन्त समृद्धिशाली था तथा यहाँ के लोग सुख एवं शान्ति का जीवन व्यतीत करते थे। इसी के आस-पास प्राचीन काल में कौरवों एवं पाण्डवों का महायुद्ध हुआ था। थानेश्वर या स्थाण्वीश्वर प्राचीन श्रीकण्ठ जनपद की राजधानी थी। बाण अपने हर्षचरित में श्रीकण्ठ नामक जनपद का उल्लेख करता है। इसमें आधुनिक दिल्ली एवं हरयाणा प्रदेश सम्मिलित थे। इस प्रदेश में महापुरुषों तथा पुण्यात्माओं की कमी न थी। यह एक पवित्र धर्मक्षेत्र माना जाता था। प्राचीन काल में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के केन्द्र के साथ-साथ यह ऋषियों का निवास-स्थान भी था। परन्तु ह्वेनसांग ने यहाँ के निवासियों की निन्दा की है। उसके कथनानुसार यहाँ के निवासी अन्धविश्वासी, संकीर्णबुद्धि एवं अनुदार थे।

गुप्तों के बाद स्थाण्वीश्वर का पुष्यभूति वंश भारतीय इतिहास में बड़ा ही महत्त्व रखता है। जिस समय हूणों का आक्रमण हो रहा था तथा गुप्त-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था उसी समय छठी शताब्दी की शुरुआत में थानेश्वर में एक नये वंश की स्थापना हुई। इस राज्य वंश का संस्थापक पुष्यभूति था जो शैव धर्मावलम्बी था तथा उसी के नाम पर वंश का नाम भी पुष्यभूति वंश पड़ा था। गुप्तों के बाद उत्तर भारत में जितने भी राजवंश स्थापित हुये उनमें यही वंश कुछ समय के लिये विकेन्द्रीकरण की शक्तियों को रोककर उत्तर भारत में एक साम्राज्य बनाने में समर्थ हुआ।

बाँसखेड़ा ताम्रपत्र, मधुबन ताम्रपत्र, सोनीपत राजमुद्रा एवं नालन्दा राजमुद्रा में जो वर्धन वंश से सम्बधित हैं—हर्ष के केवल चार पूर्वजों का उल्लेख मिलता है वह इस प्रकार है :—

नरवर्धन, राज्यवर्धन, आदित्यवर्धन एवं प्रभाकरवर्धन, राज्यवर्धन द्वितीय। इनमें नरवर्धन पहला राजा हुआ जो छठी शतावदी के प्रारम्भ में थानेश्वर में शासन करता था। ऊपर के तीनों राजाओं को महाराज कहा गया है। इससे यह प्रकट होता है कि ये गुप्तों अथवा हूणों के अधीन थे। नरवर्धन का पौत्र आदित्यवर्धन था जिसकी पत्नी महासेनगुप्ता उत्तरवर्त्ती गुप्तवंश के महासेन गुप्त की बहन थी। इससे यह पता चलता है कि वर्धनों एवं उत्तरवर्त्ती गुप्तों के आपसी सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे। प्रथम तीन राजाओं को ५०० ई० से ५८० ई० के बीच रखा जा सकता है।

मूल :—पुष्यभूति वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इतिहासकारों के बीच मतैक्य नहीं है। उनके विभिन्न मत हैं जिससे कोई एक निश्चित मत स्थिर करना कठिन मालूम होता है। इस वंश के अध्ययन के साधन चीनी यात्रियों के विवरण, अभिलेख और बाणभट्ट की रचनाएँ हैं पर इन सभी साधनों में मतैक्य का सर्वथा अभाव है। बाणभट्ट ने पुष्यभूतियों और मौखरियों की तुलना चन्द्र और सूर्य से की है।[1] पर 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' नामक बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार पुष्यभूति वंश मूलतः वैश्य वर्ण का था।[2] ह्वेनसांग भी अपने यात्रा-वर्णन में कान्यकुब्ज के राजा को फी-शे (वैश्य) लिखता है। उसने हर्ष को 'फी-शे' कहा है। ह्वेनसांग के विषय में कनिंघम ने यह लिखा है कि उसने 'वैश्य' और बैस शब्दों को समझने में भूल की है। कनिंघम के विचार में हर्ष बैस राजपूत वंश के थे। वन्टर्स ने कनिंघम के इस मत पर अपना विचार प्रकट करते हुए कहा है कि कनिंघम का विचार सही हो सकता है पर उसने आगे लिखा है कि यह आश्चर्य का विषय है। गौरीशंकर चटर्जी ने अपनी पुस्तक में कनिंघम के मत का खण्डन करते हुए ह्वेनसांग के मत का ही समर्थन किया है। बूलर ने 'फीशे' का अर्थ वैश्य नहीं किया और कहा कि हर्ष का वंश राजपूत वंश था। राजबली पाण्डेय ने भी हर्ष के वैवाहिक सम्बन्ध को देखते हुए यह कहा है कि हर्ष का वंश राजपूत वंश था।[3] पर अधिकांश विद्वानों की यही धारणा है कि थानेश्वर के राजा वैश्य थे। श्रीनेत्र पाण्डेय के शब्दों में—"वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार गुप्तों ने राज-पद पाने पर क्षत्रिय पद प्राप्त कर लिया था उसी प्रकार पुष्यभूति वंश ने भी राज-पद प्राप्त कर लेने पर क्षत्रिय पद प्राप्त कर लिया और उसका सम्बन्ध क्षत्रिय राजवंशों के साथ होने लगा।"[4]

उनकी उत्पत्ति की स्थिति चाहे जो भी हो पर एक ही बात मानने लायक है कि पुष्यभूति नामक एक व्यक्ति ने जो इस वंश का संस्थापक था—वह शिवभक्त था तथा गुप्त साम्राज्य के अवशेष पर जब बहुत सारे राज्यों का निर्माण हो रहा था तब उस परिस्थिति से लाभ उठाकर उसने भी पुष्यभूति वंश की स्थापना श्रीकण्ठ जनपद में की। निस्सन्देह वह एक शक्तिशाली व्यक्ति रहा होगा। पर उसका हर्ष के पूर्वजों के साथ जिसका नाम ऊपर दे दिया गया है, क्या सम्बन्ध था, यह स्पष्ट नहीं है। पुष्यभूति के विषय में हमें अधिक जानकारी नहीं मिलती है।

---

१. "सोमसूर्यवंशाविव पुष्यभूतिमुखरवंशो।"
२. "आदित्यनामा वैश्यास्तु स्थाण्वीश्वरनिवासिनः।"
३. प्राचीन भारत, पृ० ३०५
४. भारत का बृहत् इतिहास—प्रथम भाग, पृ० ४४१

यह भी हो सकता है कि वह गुप्तों के अधीन कोई सामन्त रहा होगा। जो भी हो, पुष्यभूति ने जिस वंश की स्थापना की, वह प्राचीन भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण वंश है तथा मौखरियों के बाद इस वंश ने कन्नौज (राजधानी) को उसी तरह महत्त्वपूर्ण बना दिया जैसा कि इसके पूर्व पाटलिपुत्र था।

प्रारम्भिक इतिहास :—ऊपर हमने यह दिखलाया है कि हर्षवर्धन के अभिलेखों से उसके सिंहासनारूढ़ होने के पहले पाँच राजाओं ने शासन किया था जिनमें सर्वप्रथम नाम नरवर्धन का आता है और उसके बाद क्रम से राज्यवर्धन प्रथम, आदित्यवर्धन, प्रभाकरवर्धन एवं राज्यवर्धन द्वितीय नामक राजाओं ने राज्य किया। पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि पुष्यभूति इस वंश का संस्थापक था। बाण ने पुष्यभूति के विषय में लिखा है कि वह अत्यन्त प्रतापी राजा था। उसने अपने राज्य की नींव डाली। उसकी दो उपाधियाँ थीं—राजा एवं भूपाल जिनसे यह साफ-साफ पता चलता है कि वह गुप्त सम्राटों के अधीन राजा रहा होगा। पुष्यभूति के कुछ समय बाद इस वंश में नरवर्धन नामक राजा छठी शती के प्रारम्भ में हुआ। यह सूर्य का उपासक था। गुप्त-साम्राज्य के पतन से लाभ उठाकर इसने अपनी शक्ति बढ़ाई। इसका उत्तराधिकारी राज्यवर्धन प्रथम हुआ जिसके विषय में हमारे पास कुछ भी सामग्री नहीं है। इसके पुत्र आदित्यवर्धन ने गुप्त राजकुमारी महासेन गुप्ता से विवाह कर अपनी वैदेशिक नीति को मजबूत किया। जैसा कि हम जानते हैं कि नरवर्धन, राज्यवर्धन प्रथम और आदित्यवर्धन ने 'महाराज' की उपाधि धारण की थी।

प्रभाकर वर्धन :—पुष्यभूति वंश की स्थापना छठी शताब्दी के आरम्भ में हुई थी। प्रभाकरवर्धन आदित्यवर्धन का पुत्र था तथा इसके समय में पुष्यभूति वंश बिलकुल स्वतन्त्र हो गया। यह थानेश्वर वंश का प्रथम राजा था जिसने अपनी उन्नति के द्वारा ख्याति प्राप्त की थी। वर्धन वंश में सर्वप्रथम इसी राजा को 'महाराजाधिराज' की उपाधि से पुकारा गया है। 'हर्षचरित' इसे प्रतापशील भी कहता है। भिटौरा मुद्रा-भाण्ड में 'प्रतापशील' की मुद्राएँ भी मिली हैं। यह एक योग्य सैनिक, महत्त्वाकांक्षी विजेता एवं शक्तिशाली राजा था। उसने महाराजाधिराज के साथ-साथ परमभट्टारक की भी उपाधि ली थी जिसका तात्पर्य होता है कि वह एक स्वतन्त्र राजा था और किसी की अधीनता में शासन नहीं करता था। उसने अपने राज्य विस्तार के लिये पड़ोसी राजाओं पर आक्रमण किया। कहा जाता है कि उसने हूण, गुर्जर, गान्धार, सिन्ध, पंजाब, गुजरात, मालवा आदि के राजाओं को पराजित किया था। उसकी दिग्विजय का वर्णन बाणभट्ट इस प्रकार करता है—"(प्रभाकरवर्धन) हूण रूपी हरिण के लिए सिंह, सिन्धुराज के लिये ज्वर,

गान्धार-राज रूपी मदगन्ध हाथी के लिये घातक महामारी, गुर्जर देश की निद्रा को भङ्ग करने वाला, लाटों की पटुता का अपहरण करने वाला और मालव देश रूपी लता की शोभा को नष्ट करने वाला परशु था।"[1] पर यह सिद्ध नहीं होता है कि उसने सिन्धु तक प्रायः सम्पूर्ण पंजाब पर अधिकार और पड़ोसी राज्यों पर अपना सैनिक आतंक स्थापित कर लिया। बाण के उपर्युक्त कथन से यह मालूम होता है कि प्रभाकरवर्धन एक परम शक्तिशाली सम्राट् था। अब तक वह अपनी विजयों तथा पराक्रम से भारत का सार्वभौम शासक बन चुका था। इस कथन में सर्वप्रथम हूणों का वर्णन है। यह सर्वविदित है कि हूण आक्रामक मिहिरकुल को मालवा के शासक यशोधर्मन ने ५३३ के पूर्व ही कुचल दिया था। मिहिरकुल के इस पतन के बाद उसके वंश का या अन्य कोई हूण शासक फिर से सर उठा नहीं सका। पर इतना मानना होगा कि भारतीय राजनीति से हूण सदा के लिए समाप्त नहीं हो गये। हरहा अभिलेख के शूलिकाओं को कुछ इतिहासकारों ने हूण माना है। मौखरी राजा ईशानवर्मन और उसके पुत्र सर्ववर्मन ने हूणों को हराया था। कुछ अन्य अभिलेखों एवं मुद्राओं से यह पता चलता है कि हूण भारत की शान्ति को बराबर भङ्ग करने की कुचेष्टा करते रहे। सी. वी. वैद्य[2] एवं राधाकुमुद मुकर्जी[3] ने कहा है कि प्रभाकरवर्धन ने पश्चिमी पंजाब (हूण-राज्य), सिन्ध, राजस्थान का भाग (गुर्जर प्रदेश), गान्धार, लाट (गुजरात का भाग) और मालवा पर आधिपत्य स्थापित कर लिया था। अपनी पिछली पराजयों के बाद हूण-गान्धार एवं साकल के आस-पास के प्रदेशों में रहने लगे जहाँ से स्थाण्वीश्वर राज्य पर आक्रमण करना इन्हें सभी दृष्टियों से आसान रहा होगा, ऐसा राजबली पाण्डेय ने कहा है।[4] प्रभाकरवर्धन के जीवन के अन्तिम दिनों में हूणों ने सीमान्त पर आक्रमण ६०४ ई० में किया पर उसके पुत्र राज्यवर्धन ने उन्हें हराकर देश से बाहर कर दिया। जब राज्यवर्धन हूणों से लड़ रहा था तब हर्ष भी उसके साथ था तथा वह सैनिक मोर्चों के पीछे रक्षा की पंक्ति का प्रभारी था। राज्यवर्धन और हूणों में बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ। इसमें राज्यवर्धन के शरीर पर बाणों के अनेक घाव लगे। अभी युद्ध चल ही रहा था कि थानेश्वर में प्रभाकरवर्धन

---

१. "हूण-हरिण-केसरी सिन्धुराजज्वरो गुर्जर-प्रजागरः गन्धाराधिप-गन्धद्विप-कूटपाकलः लाट-पाटव-पाटच्चरः मालव-लक्ष्मीलता-परशुः।"

—हर्षचरित

२. हिस्ट्री ऑफ हिन्दू मेडियेवल इण्डिया, प्रथम खण्ड, पृ० १

३. हर्ष, पृ० ११

४. प्राचीन भारत, पृ० ३०७

बीमार पड़ गये। अतः वह राजधानी वापस आ गया पर उसके पहुँचने के पहले ही प्रभाकरवर्धन की मृत्यु हो गयी। कुछ इतिहासकार बाण के वर्णन को काव्यात्मक मानते हैं। उसे अक्षरशः सत्य नहीं माना जा सकता है। ऐसे इतिहासकारों में विमलचन्द्र पाण्डेय[1] हैं जिनका यह कथन है कि—"इनमें से सिन्ध, गान्धार, लाट जैसे प्रदेशों पर उसके अधिक प्रतापी पुत्र हर्ष का भी राज्य न था।"

पर इनके विपरीत राजबली पाण्डेय[2] उसके साम्राज्य-विस्तार के विषय में अधिक जोर देते हैं। उनका कहना है कि हूणों के बाद सिन्धु का वर्णन है जहाँ के राजा के लिये ज्वर कहा गया है किन्तु सिन्धु प्रदेश का वास्तविक शासक कौन था—इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। तत्पश्चात् उसकी दृष्टि गुर्जर प्रदेश पर गई जिसे वह जीता। इस गुर्जर प्रदेश को पाण्डेय ने राजपूताना एवं पंजाब के प्रदेश को कहा है। उनका कहना है कि यह सम्भव है कि जिन गुर्जर प्रदेश के शासकों को प्रभाकरवर्धन ने जीता वे हरीचन्द्र के वंशज रहे होंगे। उसके बाद उसने गान्धार और लाट (दक्षिण गुजरात) के प्रदेशों पर विजय पायी। मालवा का उस समय कौन शासक रहा होगा यह कहा नहीं जा सकता। लेकिन यह सम्भव है कि प्रभाकरवर्धन के मामा महासेनगुप्त के वंश का कोई व्यक्ति होगा जिसके विषय में कहा जाता है कि वह देवगुप्त ही रहा होगा।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रभाकर वर्धन पुष्यभूति वंश का प्रथम शासक था जिससे न केवल पुष्यभूति वंश के राज्य का समुचित विस्तार किया बल्कि वह इस वंश का प्रथम सार्वभौम सम्राट् था। वास्तव में प्रभाकरवर्धन का राज्य उत्तर में हिमालय पर्वत तक, उत्तर पश्चिम में पंजाब में हूणों के राज्य तक, पूरब में कन्नौज के मौखरियों के राज्य तक, दक्षिण तथा पश्चिम में राजपूताना की मरुभूमि तथा पंजाब तक फैला था। पहले प्रभाकरवर्धन की उत्तरगुप्त राजाओं से दोस्ती थी पर अपने शासन-काल के अन्तिम भाग में उसने मौखरी राजा से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था। उसने अपनी पुत्री राज्यश्री का विवाह मौखरी राजा गृहवर्मन के साथ कर दिया था। उसकी रानी का नाम यशोमती था जिससे दो पुत्र एवं एक पुत्री का जन्म हुआ था। उसके बड़े लड़के का नाम राज्यवर्धन तथा छोटे का नाम हर्षवर्धन था। उसकी मृत्यु का काल ६०५ ई० है।

राज्यवर्धन द्वितीय :—यह हम जानते हैं कि जिस समय राज्यवर्धन हूणों से लड़ रहा था उस समय उसके पिता प्रभाकरवर्धन बीमार पड़ गये थे तथा

१. प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ० १३०
२. प्राचीन भारत, पृ० ३०८

राजधानी कन्नौज में जबतक वह पहुँचा उनकी मृत्यु हो गयी थी। इसकी पुष्टि 'हर्षचरित' से होती है जिसमें लिखा गया है कि हूणों का सामना करने राज्यवर्धन आगे निकल गये थे और हर्षवर्धन शिकार करते हुये पीछे रह गये थे। अतः प्रभाकरवर्धन की गम्भीर बीमारी की खबर पहले हर्ष को मिली इसलिये वह तत्काल पिता को देखने आ गया। प्रभाकरवर्धन की दशा बिगड़ती गयी और वह बच नहीं सका। इस पर उसकी पत्नी यशोमती सती हो गयी।

जब प्रभाकरवर्धन रोगशय्या पर पड़ा था और राज्यवर्धन युद्ध से नहीं लौटा तो उसके पिता ने हर्ष को बुलाकर यह कहा—'यह पृथ्वी तुम्हारी है···राजकोष अपने हाथ में करो।···राजसमूह को अपनाओ।···राज्य-भार संभालो।···शत्रुओं का दमन करो।' इस उक्ति के विषय में स्मिथ एवं राधाकुमुद मुकर्जी ने कहा है कि प्रभाकरवर्धन अपने छोटे राजकुमार को सिंहासन देना चाहते थे अतः उन्होंने मरते समय इस तरह की बातें कही होंगी। किन्तु इसके विपरीत विमल चन्द्र पाण्डेय का मत है। उनका कहना है कि "प्रभाकरवर्धन ने यह सलाह हर्ष को इसलिये दी कि उस समय तक राज्यवर्धन राजधानी में वापस नहीं आ पाये थे। वस्तुतः प्रभाकरवर्धन का कथन दोनों भाइयों के लिये था।"[1]

राज्यवर्धन जब युद्ध समाप्त कर वापस लौटा तो उसे गद्दी पर बैठने के लिये बातें होने लगीं किन्तु वह संन्यास लेने के फेर में था। जिस समय हर्ष को यह मालूम हुआ कि राज्यवर्धन संन्यास लेना चाहते हैं तथा राज्य का भार हर्ष पर डालना चाहते हैं तो उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में इस प्रस्ताव का विरोध किया। हर्ष ने कहा—"मुझसे राज्य करने के लिये कहना वैसा ही है जैसा कि श्रोत्रिय को मदिरापान करने, सद्भृत्य को अपने स्वामी के विरुद्ध विद्रोह करने, सज्जन को अधम के साथ आचार-विचार करने अथवा सती को अपना सतीत्व त्यागने के लिये कहना।' अतः राज्यवर्धन ने इस तरह राजनीतिक अशान्ति की आशंका से विवश होकर गद्दी का भार अपने ऊपर ले लिया। उपर्युक्त राजनीतिक अशान्ति यह थी कि कन्नौज से एक दूत निम्न समाचार लेकर थानेश्वर आया—"जिस दिन राजा (प्रभाकरवर्धन) मृत्यु का दुःखद समाचार मिला उसी दिन मालवा के दुष्ट स्वामी ने महाराज गृहवर्मन का प्राणान्त कर दिया, राजकुमारी राज्यश्री चोर की पत्नी की भाँति कान्यकुब्ज के कारागार में डाल दी गई हैं और उनके चरणों में बेड़ियाँ पहना दी गई हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सुनने में आया है कि वह दुष्ट, यहाँ की सेना को नेताविहीन समझकर इस देश पर भी आक्रमण करने का विचार कर रहा है।" गृहवर्मन का हत्यारा मालवानरेश देवगुप्त था।

१. प्रा० भा० का० रा० तथा सां० इ०, पृ० १३१

यह समाचार सुनकर राज्यवर्धन दस हजार अश्वसेना लेकर तथा राजधानी हर्ष के हाथों छोड़कर मालव-नरेश पर आक्रमण करने के लिये चल पड़ा। यहाँ हमें यह जान लेना चाहिए कि गौडराज शशांक एवं मालव-नरेश देवगुप्त ने मिलकर आक्रमण किया था। शशांक पुष्यभूति तथा मौखरी वंश की शक्ति को छिन्न-भिन्न करना चाहता था। वह यह भी जानता था कि मालवा के उत्तरवर्ती गुप्त नरेशों तथा थानेश्वर के वर्धन लोगों के बीच अनबन थी। अतः उसने मालवा के गुप्तों को अपने साथ लेकर कन्नौज पर आक्रमण किया था जिसे जीतकर वह थानेश्वर पर आक्रमण करना चाहता था। राज्यवर्धन ने देवगुप्त को युद्ध में परास्त किया और उसके राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। मालव-राज देवगुप्त को आसानी से हराकर उसने कान्यकुब्ज को अपने अधिकार में कर लिया। कहा जाता है कि शशांक ने राज्यवर्धन की अधीनता स्वीकार कर ली थी पर अपनी अनुभवहीनता एवं सीधेपन के कारण राज्यवर्धन शशांक के जाल में फँस गया। हम यह जानते हैं कि राज्यवर्धन लड़कपन से ही बौद्ध प्रभाव में आ गया था और स्वभाव से कोमल था।[1] शशांक द्वारा अपनी राजकुमारी का उसके साथ विवाह का प्रस्ताव और निमन्त्रण को स्वीकार कर निरस्त्र उसके यहाँ चला गया। शशांक ने बड़ी निर्दयता से उसका वध कर दिया। इस तरह शशांक ने देवगुप्त की पराजय का बदला लेकर उसने कन्नौज पर अपना आधिपत्य जमा लिया तथा उसने राज्यश्री को बन्दीगृह से मुक्त कर दिया जो विन्ध्याचल की पहाड़ियों में अज्ञात स्थान को चली गयी।

बाण का कहना है कि जब राज्यवर्धन ने बड़ी आसानी से मालव-सेना को पराजित कर दिया तो गौडाधिप मिथ्याचार द्वारा विश्वास दिलाकर राज्यवर्धन को अपने घर ले गया और जब वे अकेले और निःशस्त्र थे तो उन्हें मार डाला।[2] 'हर्षचरित' के ऊपर टीका करते हुए शंकरार्य ने एक नयी सूचना यह दी है कि शशांक ने दूत भेजकर राज्यवर्धन का यह वचन दिया कि वह अपनी कन्या का विवाह उनके साथ कर देगा। इस तरह विश्वास उत्पन्न कर वह उन्हें अपने घर ले गया तथा जब राज्यवर्धन भोजन कर रहा था तो उसने उन्हें धोखे से मार डाला। ह्वेनसांग का भी यह कहना है कि हर्ष का पूर्वगामी राजा (राज्यवर्धन) कर्णसुवर्ण के दुष्ट राजा शशांक द्वारा धोखे से मारा गया। बाँसखेरा अभिलेख से

---

१. "परमसौगतः सुगत इव परहितैकरतः परमभट्टारकमहाराजाधिराज-श्रीराज्यवर्धनः। (बाँसखेरा ताम्रपत्र)

२. तस्माच्च हेलानिर्जितमालवानीकमपि, गौडाधिपेन मिथ्योपचारोपचितःविश्वासं मुक्तशस्त्रं एकाकिनं विश्रुब्धं स्वभवने व्यापा

भी इस बात की पुष्टि हो जाती है कि राज्यवर्धन ने सत्यानुरोध के कारण शत्रु के घर में अपने प्राण खोये।

पर इन सब तथ्यों के विपरीत आर. सी. मजूमदार का कहना है कि शशांक ने विश्वासघात से राज्यवर्धन की हत्या न की थी। उनका मत दो बातों पर आधारित है—पहला कि बाण और ह्वेनसांग दोनों ही हर्ष के साथ रहते थे। अतः उनका कथन विश्वास से परे है। दूसरा यह कि शंकरार्य १४वीं शताब्दी में हुआ था। अतः उसका कथन भी असत्य हो सकता है। विमल चन्द्र पाण्डेय ने आर. सी. मजूमदार के दोनों तथ्यों को निर्बल बतलाया है।[1] इनका कहना है कि बाण ने अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख यथावत् किया है। ह्वेनसांग ने पुलकेशिन चालुक्य द्वारा हर्ष की हार का वर्णन किया है। अतः इन दोनों विद्वानों पर इस तरह का आरोप लगाना उचित नहीं प्रतीत होता है। शंकरार्य चूंकि बाद का लेखक है उसने अनेक ऐतिहासिक तथ्यों को सुरक्षित रखा है। आर. पी. चन्दा का यह कहना काल्पनिक है कि राज्यवर्धन युद्ध करते हुये अथवा आत्मसमर्पण के बाद मारा गया था। अतः यह मत सर्वमान्य है कि अपने मित्र देवगुप्त की पराजय से गौड-नरेश शशांक घबड़ा गया तथा राज्यवर्धन का युद्ध भूमि में सामना न किया और छलपूर्वक राज्यवर्धन को मार डाला।

राज्यवर्धन ने अपने पिता द्वारा स्थापित राज्य को सुरक्षित रखा। वह बड़ा ही कोमल स्वभाव का था तथा बौद्ध धर्म का अनुयायी था एवं प्रजा का बड़ा ही प्रिय था। उसका छोटा भाई हर्ष जिसे वह राजधानी में छोड़कर युद्ध के लिये चल पड़ा था, उसे अब स्वयं संकट का सामना करना पड़ा तथा उसे आपत्तियों के विरुद्ध शस्त्र उठाने पड़े। मन्त्रि-परिषद् ने उसे राजसिंहासन के लिये आमन्त्रित किया तथा छोटे-छोटे विद्रोही राज्यों को एक-एक कर परास्त करने के स्थान पर दिग्विजय का परामर्श दिया। अवन्ति जो उस समय मुख्यमन्त्री था—उसकी घोषणा के अनुसार वह हाथियों की सेना के अध्यक्ष स्कन्द गुप्त तथा सामन्तों एवं अन्य राजाओं के साथ इस कार्यक्रम के लिये चल पड़ा। रास्ते में उसे कामरूप के राजा भास्कर वर्मा से सहायता मिलने की आशा मिली। इसके बाद उसे भण्डि मिला जिससे यह पता चला कि उसकी बहन राज्यश्री कारागार से मुक्त होकर विन्ध्य की ओर चली गई है। हर्ष अब अपनी बहन की खोज में निकल पड़ा और जब वह अग्नि द्वारा अपना प्राण समाप्त करने को थी—ठीक उसी समय हर्ष वहाँ पहुँच गया एवं उसके प्राण की रक्षा की।

यह हम जानते हैं कि गौड़ राजा शशांक और मालवा के देवगुप्त ने कन्नोज

१. प्रा० भा० का० रा० तथा सां० इ०, पृ० १३५

पर आक्रमण कर गृहवर्मन को मार डाला। गृहवर्मन को कोई सन्तान नहीं थी। अतः कान्यकुब्ज और थानेश्वर (स्थाण्वीश्वर) के राज्य एक में मिल गये जिससे कान्यकुब्ज साम्राज्य की स्थापना हुयी जिसकी राजधानी कन्नौज हुयी। थानेश्वर (स्थाण्वीश्वर) के पुष्यभूति वंश के वर्धन राजा लोग अब कान्यकुब्ज साम्राज्य के निर्माता हो गये जिसमें सबसे प्रमुख हर्षवर्धन हुआ। हर्षवर्धन से पूर्व के राजाओं का वर्णन किया जा चुका है। अब हम इस वंश के सबसे महान् सम्राट् हर्षवर्धन के विषय में जानेंगे।

हर्षवर्धन (६०६–६४७ ई०)

सन् ६०६ ई० में प्राचीन भारतीय इतिहास में एक महान् व्यक्ति का आविर्भाव हुआ जिसका नाम हर्षवर्धन था तथा जिसे परिस्थितियों ने महान् राजाओं की श्रेणी में रख दिया। उसके जीवन के अध्ययन के लिये हमारे पास सामग्रियों की कमी नहीं है। उसके लिये अनेक अभिलेख, साहित्य तथा चीनी यात्री का यात्रा-वर्णन उपलब्ध है।

अभिलेख :—हर्षवर्धन के दो ताम्रलेख बाँसखेरा एवं मधुबन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन लेखों से हर्ष के वंश का परिचय मिलता है तथा तत्कालीन इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। सोनपत में तांबे की एक मुहर भी मिली है। नालन्दा से भी उसके लेख मिले हैं। इससे भी कुछ सहायता मिल जाती है।

साहित्य :—हर्ष के काल का इतिहास जानने के लिये दूसरा प्रामाणिक ग्रन्थ बाणभट्ट का 'हर्षचरित' है यद्यपि यह ग्रन्थ अत्यन्त विश्वसनीय है क्योंकि बाण ने जो कुछ अपनी आँखों देखा था वही लिखा है पर कवि होने के नाते बाणभट्ट के ग्रन्थ में अतिशयोक्ति की बड़ी सम्भावना है। अतः इस ग्रन्थ का उपयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिये। 'हर्षचरित' में घटनाओं का जो वर्णन है वह प्रामाणिक माना जाता है। बाणभट्ट की दूसरी प्रसिद्ध रचना कादम्बरी है। यह एक काव्य ग्रन्थ है पर इसके अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

हर्ष स्वयं एक उच्च कोटि का विद्वान् एवं लेखक था। वह एक सफल कवि तथा नाटककार था। नागानन्द, प्रियदर्शिका एवं रत्नावली हर्ष के प्रसिद्ध नाटक-ग्रन्थ हैं। उसके ये ग्रन्थ तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक जीवन पर विशेष कर राज-प्रासादों के जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

ह्वेनसांग का यात्रा-वर्णन :—हर्ष के काल का इतिहास जानने का एक बहुत बड़ा साधन ह्वेनसांग का यात्रा-वर्णन है। इस विवरण से हमें तत्कालीन राजनैतिक; सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक जीवन का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। चीनी ग्रन्थ

'फंग ची' भी हमारे लिये एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इसके अतिरिक्त पुलकेशिन द्वितीय का एहोल अभिलेख भी हर्षकालीन इतिहास पर प्रकाश डालता है।

अतः हम देखते हैं कि हर्षकाल का इतिहास जानने के लिये हमारे पास प्रचुर सामग्री प्राप्त है जो अत्यन्त प्रामाणिक एवं विश्वसनीय है। इसी से हर्ष काल का इतिहास बड़ा ही रोचक बन गया है।

प्रारम्भिक जीवन :—हर्ष का जन्म ५९० ई० में हुआ था। उसके पिता का नाम प्रभाकरवर्धन एवं माता का नाम यशोमती था। उसका बचपन अपने भाई राज्यवर्धन एवं मालवा नरेश के दो पुत्रों के साथ थानेश्वर में व्यतीत हुआ था। बाण से पता चलता है कि हर्ष को युद्ध की अच्छी शिक्षा प्राप्त थी। वह अस्त्र-शस्त्र चलाने में काफी दक्ष था। सन् ६०४ ई० में अपने भाई राज्यवर्धन के साथ अश्वसेना लेकर वह हूणों के विरुद्ध लड़ने गया था। वह पहाड़ी जंगलों में सिंह, बाघ एवं भालुओं का शिकार करता रहा। इसी बीच थानेश्वर से एक दूत यह संवाद लेकर आया कि उसका पिता प्रभाकरवर्धन कठोर ज्वर से पीड़ित है। यह खबर सुनकर वह राजधानी की ओर चल पड़ा और तीन दिनों तक भूख प्यास से पीड़ित रहकर अपने पिता के पास पहुँचा। हर्ष ने राजधानी पहुँच कर अपने बड़े भाई राज्यवर्धन के भी पास दूत भेजा जो उस समय हूणों से युद्ध कर रहा था। पर जब तक राज्यवर्धन अपने पिता के पास पहुँचे, तब तक उसके पिता की मृत्यु हो गई थी। पिता की मृत्यु से उसका हृदय बड़ा क्षुब्ध था तथा वह संन्यास लेना चाहता था पर कन्नौज से एक दूत वहाँ राजनीतिक अशान्ति का पत्र लेकर आया। अतः ऐसी स्थिति में उसे गद्दी पर बैठना पड़ा पर राज्यलक्ष्मी को वह अधिक समय तक भोग न सका। किस प्रकार राज्यवर्धन की हत्या गौडाधिप शशांक ने कर दी इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। राज्यवर्धन की मृत्यु के बाद शासन का सारा भार हर्ष के ऊपर आ पड़ा।

सिंहासनारोहण एवं प्रारम्भिक समस्याएँ :—हर्ष ६०६ ई० में थानेश्वर की गद्दी पर बैठा। उसकी अवस्था इस समय केवल १६ वर्ष की थी। कुछ इतिहासकारों ने बाण के इस कथन से कि 'राज्यलक्ष्मी' ने···अपनी (हर्ष की) इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक (उन्हें) सिंहासन पर बैठाया' यह निष्कर्ष निकाला है कि हर्ष थानेश्वर की गद्दी पर नहीं बैठना चाहा तथा उसे गद्दी पर बैठने के लिये बाध्य किया गया, यह असम्भव-सा प्रतीत होता है। वह भलीभाँति यह समझता था कि उसके भाई का हत्यारा कौन है, राज्यश्री उसकी बहन कहाँ चली गयी आदि और यही कारण है कि वह इससे काफी शोकसन्तप्त था तथा इच्छा न होते हुये भी राज्य ग्रहण करना पड़ा।

कान्यकुब्ज का सिंहासन इस समय खाली था और वहाँ उत्तराधिकारी का प्रश्न था तथा सबसे बड़ी समस्या तो यह थी कि पुष्यभूति तथा मौखरी वंश के शत्रु चारों तरफ उपद्रव मचा रहे थे। अतः सर्वप्रथम कान्यकुब्ज के उत्तराधिकारी का प्रश्न हल करना था। कान्यकुब्ज राज्य के मन्त्रियों ने गृहवर्मन को निःसन्तान समझकर और राजनीतिक परिस्थिति को समझते हुये निर्णय किया कि कान्यकुब्ज के भी सिंहासन पर हर्ष ही बैठे। पहले हर्ष ने कन्नौज के सिंहासन के सम्बन्ध में अपनी हल्की अनिच्छा प्रकट की होगी पर सभी के आग्रह और आश्वासन से उसने कान्यकुब्ज (कन्नौज) राज्य का भी अधिकार स्वीकार कर लिया, यद्यपि सिद्धान्ततः उसका अधिकार राज्यश्री के साथ संयुक्त था और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि अब से कान्यकुब्ज (कन्नौज) एवं थानेश्वर (स्थाण्वीश्वर) का राज्य एक में मिल गये तथा प्रारम्भ के थानेश्वर के पुष्यभूति अब कान्यकुब्ज साम्राज्य के भी निर्माता गृहवर्मन मौखरी की मृत्यु के बाद से हो गये। चीनी ग्रन्थ 'फैंग-किह' से भी यह ज्ञात होता है कि हर्ष अपनी विधवा बहन राज्यश्री के साथ मिलकर शासन करता था। वह राज्य प्रतिनिधि था और राज्यश्री के नाम से कन्नौज पर शासन करता था। इस प्रकार हर्ष के अधीन थानेश्वर एवं कन्नौज राज्यों का एकीकरण हो गया। इससे हर्ष की शक्ति यथेष्ट बढ़ गई। सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रभुत्व स्थापित करने में हर्ष की शक्ति सहायक हुई तथा वह अपने भाई एवं बहनोई के राज्यों का राजा बना और उसने अपने को 'राजपुत्र शीलादित्य' की साधारण उपाधि से सन्तुष्ट किया।

सिंहासन पर बैठते ही हर्ष के समक्ष निम्न समस्याएं थीं :—अपनी बहन का पता लगाना, तथा पुष्यभूति मौखरी वंश के दुश्मनों से अपने दोनों वंशों की रक्षा करना। ये समस्याएँ काफी गम्भीर थीं पर उसने अपनी योग्यता एवं बुद्धिमत्ता से इन सभी प्रश्नों का समाधान निकाला।

प्रतिज्ञा :—भारत के प्राचीन चक्रवर्त्ती राजाओं का अनुकरण करते हुए हर्ष ने भी एक प्रतिज्ञा की :—"मैं आर्य के चरण-रज का स्पर्श करके शपथ खाता हूँ कि यदि मैं कुछ दिनों के भीतर पृथ्वी को...गौडों से रहित न कर दूंगा और समस्त उद्धत राजाओं के पाँवों की बेड़ियों से उसे (पृथ्वी को) प्रतिध्वनित न कर दूं तो मैं पतङ्ग की भाँति जलती हुई अग्नि में अपने को झोंक दूंगा।" हर्ष के सभी मन्त्रियों ने दिग्विजय की प्रतिज्ञा का अभिनन्दन किया तथा विजय की योजना तैयार हुई और सेना का अभियान प्रारम्भ हुआ।

दिग्विजय :—जिस समय हर्ष ने कन्नौज एवं थानेश्वर का राजसूय अपने हाथों में लिया उस समय भारत की राजनैतिक एकता पूर्णरूपेण समाप्त हो चुकी

थी। भारत के विभिन्न भागों में छोटे-छोटे राज्यों की पुनर्स्थापना हो चुकी थी जो आपस में संघर्ष किया करते थे पर किसी में भी इतनी शक्ति न थी कि वह सार्वभौम सत्ता स्थापित कर सके। कन्नौज एवं थानेश्वर के आपस में मिल जाने से हर्ष की शक्ति इतनी बढ़ गयी कि वह एक बार फिर भारत की राजनैतिक एकता स्थापित करने में समर्थ हो सकता था। वह ५,००० हाथी, २०,००० घोड़ों तथा ५०,००० पैदल सेना को लेकर, जैसा कि बाण ने लिखा है, दिग्विजय के लिए चला। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि हर्ष ने इस विशाल सेना की सहायता से पंचहिन्द (पंजाब), कन्नौज, गौड (बङ्गाल), मिथिला तथा उड़ीसा पर विजय प्राप्त की। उसने आगे लिखा है कि शीघ्र ही हर्ष ने अपने भाई की मृत्यु का बदला ले लिया और अपने को भारत का स्वामी बना लिया। उसने पूरब से पश्चिम तक के सभी राष्ट्रों पर विजय प्राप्त कर ली और दूर के प्रान्तों में भी वह अपनी सेनायें ले गया था।

इस दिग्विजय के प्रारम्भ में ही प्राग्ज्योतिषपुर (आसाम) के राजा भास्करवर्मा ने हर्ष का आधिपत्य स्वीकार कर लिया तथा अपने दूत हंसवेग को हर्ष के दरबार में बहुतसे- उपहार के साथ भेजकर मैत्री स्थापित करने की प्रार्थना की। हर्ष ने भी इस मैत्री प्रस्ताव को स्वीकार कर अनेक महत्त्वपूर्ण एवं बहुमूल्य उपहारों के बदले हंसवेग को वापस किया। दोनों की यह मैत्री सम्बन्ध तत्कालीन राजनीति में एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटना है। साथ ही, यह मैत्री-सम्बन्ध दोनों के पारस्परिक हित के लिये भी था। इसका कारण था कि भास्करवर्मा की शशांक से शत्रुता थी, इसलिये शशांक के परम शत्रु हर्ष का उसने साथ दिया। इसके अतिरिक्त हर्ष तथा भास्कर वर्मा दोनों शशांक के पड़ोसी शत्रु थे।[1] आर. डी. बनर्जी का भी यही मत है।

भास्कर वर्मा के विशेष दूत को विदाकर हर्ष ने पुनः अपना अभियान प्रारम्भ किया। निरन्तर चलते-चलते कुछ आगे बढ़ने पर हर्ष सेनापति भांडी से मिला जो राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात् मालव राज्य की सम्पूर्ण सेना के साथ वापस लौट रहा था। उसने हर्ष को सम्पूर्ण घटना क्रम से अवगत कराया। उसने यह भी बताया कि किस प्रकार राज्यवर्धन के पराक्रम से मालवा के शासक को हारना पड़ा तथा किस प्रकार कान्यकुब्ज शत्रु के आधिपत्य में आया और कान्यकुब्ज पर गुप्त नामक किसी राजा का अधिकार हो गया एवं राज्यश्री शत्रु से किसी तरह बचकर विन्ध्यपर्वत की ओर चली गई है। यह समाचार सुनते ही हर्ष ने गौड़ राजा पर स्वयं चढ़ाई करने का निश्चय बदल दिया और कहा कि अब मैं स्वयं

१. आर. जी. बसक—History of North Eastern India, P. 151

राज्यश्री की खोज में निकलता हूँ और तुम सेना के साथ गौड शासक पर आक्रमण करने के लिये प्रस्थान करो।" उसने स्वयं मालव सेना का निरीक्षण किया तथा विन्ध्यवन की ओर प्रस्थान किया जहाँ काफी परिश्रम के बाद उसने अपनी बहन राज्यश्री को स्वयं विन्ध्य के जङ्गलों से खोज निकाला। यह वही समय था जब वह चिता में जलने के लिये कूदने जा रही थी तथा हर्ष के मिलने पर भी वापस आना नहीं चाहती थी।

ऐसी परिस्थिति में गृहवर्मन (राज्यश्री के पति) के बचपन के साथी, दिवाकर मित्र, जो इस समय बौद्ध धर्म की मैत्रेयी शाखा के प्रकाण्ड विद्वान् थे, ने हर्ष की बड़ी मदद की। दिवाकर मित्र के व्यक्तित्व से वह इतनी प्रभावित हुई कि 'ताम्बूल करंकवाहिनी पत्र लता' से हर्ष के पास यह संवाद भिजवाया कि वह कौशेय-वस्त्र धारण करना चाहती है तथा उसे इसकी आज्ञा दी जाय। दिवाकर मित्र ने राज्यश्री को सान्त्वना दी तथा कहा कि अतिशय मानसिक पीड़ा के कारण वह चञ्चल मन की हो उठी है। उसे अपने अग्रज हर्ष की बात माननी चाहिये क्योंकि वह उनके पिता एवं गुरुतुल्य हैं। बाण के इस प्रकार के कथन से यह पता लगता है कि राज्यश्री के प्रस्ताव से वह सहमत नहीं था तथा उसने बौद्धमुनि को जो उत्तर दिया उससे यह ज्ञात होता है कि हर्ष राज्यश्री के बौद्धभिक्षुणी होने के विरुद्ध था। पर उसने यह कहा कि राज्यश्री इतनी अल्पवयस्क है कि अभी उसे पूर्ण विश्राम की जरूरत है। हर्ष ने इस बात पर जोर दिया कि वे पूर्णरूपेण प्रयत्न करेंगे कि उसे शान्ति मिले, चाहे इसके लिये राज्य-कार्य में बाधा उपस्थित क्यों न हो। पर आगे चलकर हर्ष ने यह स्वीकार कर लिया कि अपने उद्देश्य को पूरा कर वह राज्यश्री सहित कौशेय वस्त्र धारण करेगा।

हर्ष की इस तरह की प्रतिज्ञा पर कि अपनी उद्देश्य पूर्ति के बाद दोनों संन्यासी हो जायेंगे, राज्यश्री कान्यकुब्ज लौट आयी। गौड पर आक्रमण कर हर्ष ने शशांक का क्या किया, इसका स्पष्ट पता नहीं चलता है। बाण शशांक के ऊपर किये जाने वाले आक्रमण के सम्बन्ध में बिलकुल मौन है। वह केवल इतना ही लिखता है कि हर्ष ने भाण्डी को सम्पूर्ण सैन्यबल के साथ शशांक को सबक सिखाने के लिये भेजा था तथा वह स्वयं अपनी बहन राज्यश्री की खोज में चला। 'हर्षचरित' में इस बात का खूब वर्णन मिलता है कि अपने शत्रु शशांक के विरुद्ध हर्षवर्धन ने काफी तैयारी की थी पर अन्य किसी भी स्थल पर इन दोनों के बीच सीधी मुठभेड़ का चित्रण नहीं है। हर्ष के मन में अपनी छोटी बहन के प्रति अपार स्नेह था तथा यह स्नेह शशांक के प्रति उसके क्रोध को भी दबाने में सफल हुआ, ऐसा राजबली

१. प्राचीन भारत, पृ० ३१२

पाण्डेय मानते हैं।[१] भाई की हत्या करने वाले शशांक के प्रति वह अपनी प्रतिज्ञा तक को भूल गया। इस बात से यह स्पष्ट होता है कि जिस समय हर्ष अपनी बहन राज्यश्री को खोजने के लिए निकला था, उसी समय शशांक को प्राण बचाकर भागने का अवसर मिल गया तथा वह हर्ष के चंगुल से भाग निकला। गञ्जाम में मिले हुए लेख से मालूम होता है कि ६१९ ई० में शशांक जीवित था तथा गञ्जाम के ऊपर उसका अधिकार था। इससे यह भी विदित होता है कि शैलोद्भव वंशीय माधववर्मन महाराजाधिराज श्री शशांक के अधीन सामन्त के रूप में राज्य कर रहा था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस तिथि तक शशांक का विनाश नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त इससे यह पता चलता है कि ६०६ ई० से ६१९ ई० के बीच हर्ष शशांक को नष्ट नहीं कर सका तथा उसकी शक्ति दक्षिण पश्चिम बङ्गाल में बनी रही।

मिदनापुर में दो ताम्रपत्र मिले हैं जिनमें एक पर सन् ६२९ ई० तिथि दी हुई है। इसमें 'श्री शशांक महीं पाति चतुर्जलधिमेखलाम्' लेख है। इस लेख में शशांक के लिए 'श्री' का प्रयोग किया गया है जब कि ६१९ ई० के गञ्जाम ताम्रपत्र में उसे 'महाराजाधिराज' कहा गया है। इस आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि सन् ६१९ ई० तथा ६२९ ई० के बीच शशांक की स्वतन्त्रता जाती रही। अतः वह हर्ष द्वारा हरा दिया गया था। इस अनुमान की पुष्टि हमें दो साक्ष्यों से होती है :—(१) शे-किआ-फँग-चे का कथन है कि कुमारराज (भास्करवर्मा) के सहयोग से हर्ष ने विधर्मी राजा शशांक एवं उसकी सेना को नष्ट कर दिया जिसकी पुष्टि निधनपुर अभिलेख से भी होती है। इससे यह प्रकट होता है कि भास्करवर्मा ने शशांक की राजधानी कर्णसुवर्ण पर अधिकार कर लिया था। ऐसा सम्भव है कि दोनों मित्रों—हर्ष और भास्करवर्मा—ने सम्मिलित रूप से शशांक पर आक्रमण किया था और उसे पराजित कर उसके राज्य को आपस में बाँट लिया। ६३७ ई० में ह्वेनसांग पूर्वी भारत गया था। उस समय शशांक वहाँ का राजा नहीं था अतः ६३० ई० तक वह मर गया था।

(२) बौद्धग्रन्थ 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' से पता चलता है कि 'ह' से प्रारम्भ होनेवाले नामधारी राजा (हर्ष) ने दुष्ट सोम नाम धारी राजा (शशांक) को हराया और उसे अपने राज्य से बाहर न निकलने के लिये विवश किया। इस कथन के अन्तिम भाग के अर्थ के विषय में इतिहासकारों में मतभेद है। बसाक 'म्लेच्छराज्ये प्रपूजितः' पढ़ते हैं और कहते हैं कि म्लेच्छराज्य (पूर्वी देश) ने हर्ष का स्वागत नहीं किया और उसे वापस आना पड़ा। सुधाकर चट्टोपाध्याय 'आर्य-मंजुश्रीमूलकल्प' के तिब्बती रूपान्तर 'म्लेच्छराज्ये प्रपूजितः' को मानते हैं और कहते हैं कि शशांक को हराने के बाद हर्ष का म्लेच्छराज्य (पूर्वी भारत) में

स्वागत हुआ और वह अपने राज्य वापस आ गया। चाहे तथ्य जो भी हो, पर इस ग्रन्थ से यह स्पष्ट हो जाता है कि हर्ष ने शशांक को पराजित किया था।

ह्वेनसांग के अनुसार—"जैसे ही शीलादित्य (हर्ष) राजा हुआ वैसे ही उसने एक विशाल सेना लेकर अपने भ्रातृहन्ता से प्रतिशोध लेने के अभिप्राय से प्रस्थान किया। उसकी इच्छा हुई कि पड़ोसी राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर ले। पूरब की ओर बढ़कर उसने उन राज्यों पर आक्रमण किया जिन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की थी; छः वर्षों तक, जब तक कि उसने पाँच भारतों के साथ पूर्णतः युद्ध नहीं कर लिया, वह निरन्तर लड़ता रहा।" इस पद का दूसरा पाठ भी प्राप्त होता है जिसके अनुसार हर्ष ने पंच गौड़ से युद्ध करके उसे अपने अधीन कर लिया। पंच भारत में पंजाब (स्वराष्ट्र), कान्यकुब्ज, गौड़, मिथिला, और उड़ीसा भी सम्मिलित थे। पर हर्ष तो ६३४ ई० तक दक्षिणापथ पर आक्रमण के समय तक प्रायः बराबर युद्ध करता रहा। उसके फलस्वरूप उसने काश्मीर से आसाम तक और नेपाल से नर्मदा और महेन्द्रपर्वत (उड़ीसा) तक अपना अधिकार कायम कर सका था। बाण ने इस विजय तालिका में सिन्ध, हिमप्रदेश और नेपाल को भी सम्मिलित किया है। ह्वेनसांग ने आगे लिखा है कि 'तत्पश्चात् अपने राज्य का विस्तार कर उन्होंने अपनी सेना बढ़ाई और ३० वर्षों तक बिना शस्त्र उठाये राज्य करते रहे।' ह्वेनसांग के इस कथन से यह प्रकट होता है कि उसके युद्ध ६ वर्ष तक चले और इस प्रकार उसकी दिग्विजय ६१२ ई० तक समाप्त हो गई होगी क्योंकि हर्षवर्धन का राज्यारोहण ६०६ ई० में हुआ था।

पर अनेक साक्ष्यों से यह पता लगता है कि हर्ष ने कई युद्ध ६१२ ई० के बाद भी किये जिसकी पुष्टि हमें इन तथ्यों से हो जाती है :—(१) हर्ष की जीवनी से यह पता लगता है कि उसने ६४३ ई० में काङ्गोद पर आक्रमण किया था। (२) चीनी लेखक मा-त्वान-लिन का कहना है कि ६१८ ई० और ६२७ ई० के मध्य भारत में बड़ी अशान्ति रही। शीलादित्य (हर्ष) ने एक बड़ी सेना का संगठन किया और अदम्य वीरता से युद्ध किया। मनुष्यों ने अपने कवच नहीं उतारे और न हाथियों ने अपने शरीरत्राण। उन्होंने भारत के चतुर्दिक राजाओं को दण्डित किया जिससे उन सबने उत्तरमुखी होकर उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

हर्ष के विजयों को हम चार भागों में बाँट सकते हैं—(१) बलभी तथा गुर्जर शासक, (२) चालुक्यराज पुलकेशिन द्वितीय, (३) सिन्ध और (४) पूर्वी देश—जैसे मगध, गौड़, ओड्र तथा काङ्गोद के साथ युद्ध।

मालवा निश्चय ही हर्ष के अधीन आ चुका था क्योंकि हर्ष ने अपनी बहन राज्यश्री के अपमान का बदला लेने के लिए मालवा के राज्य पर आक्रमण किया।

देवगुप्त में हर्ष की सेना का सामना करने का साहस नहीं था। वह युद्ध में हारकर भाग गया। हर्ष ने उसका पीछा किया तथा उसे अपनी अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य किया।

(१) वलभी :—वलभी पश्चिमी मालवा के अन्तर्गत था। यह राज्य बड़ा शक्तिशाली था। वलभी राज्य एवं हर्षवर्धन के राज्य की सीमा आपस में स्पर्श करती थी। अतः वलभी पर हर्षवर्धन की दृष्टि पड़ना स्वाभाविक ही था। जयभट तृतीय के ७०८ ई० के नौसारी दान पत्र से प्रकट होता है कि हर्षदेव ने वलभी-नरेश ध्रुवसेन द्वितीय को पराजित किया था तथा ध्रुवसेन ने गुर्जर नरेश दद्द द्वितीय—प्रशान्त राय के राज्य में शरण ली थी।[1] दद्द द्वितीय के दो दानपत्र फैरा अथवा खेड़ा में मिले हैं। इनमें एक की तिथि ६२९ ई० है और दूसरे की ६३० ई० है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हर्ष-वलभी युद्ध ६२९ ई० के पूर्व नहीं हो सकता।

स्मिथ का यह कथन—"वलभी नरेश के साथ होनेवाला युद्ध जिसके परिणाम-स्वरूप ध्रुवसेन द्वितीय पूर्णतः पराजित हुआ और सम्भवतः चालुक्य सम्राट् की सबल सहायता पर निर्भर रहनेवाले भड़ौंच राजा के राज्य में भाग गया—अनुमानतः ६३३ ई० के उपरान्त और पश्चिमी भारत में ह्वेनसांग के जाने के पूर्व (६४१–६४२ ई०) घटित हुआ।" आर. सी. मजूमदार भी इसी मत से सहमत हैं। बाद में वलभी नरेश ध्रुवसेन के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर हर्ष ने अपने एक शत्रु को एक सहायक मित्र बना लिया। ह्वेनसांग वलभी नरेश को हर्ष का दामाद बताता है। इस सिलसिले में नीहाररञ्जन राय का कथन इस प्रकार है—"हर्ष सम्भवतः एक ऐसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित था जिसका प्रभाव उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों सम्राटों पर पड़ता था। यह नर्मदा-सीमा प्रान्त का प्रश्न था और यह प्रश्न पहले से गुप्त सम्राटों के समय उठा था। उन्होंने विजय एवं वैवाहिक सम्बन्धों के द्वारा उसे हल करने की चेष्टा की। वही प्रश्न हर्ष के सम्मुख उपस्थित हुआ।"

इस समय जिस प्रकार उत्तरी भारत में हर्ष का शक्तिशाली राज्य था उसी प्रकार दक्षिणी भारत में चालुक्य-नरेश पुलकेशिन द्वितीय का। पुलकेशिन को यह बात असह्य थी कि नर्मदा की सीमा के निकट कोई प्रतिद्वन्द्वी शक्ति अपना प्रभाव स्थापित करे। अगर हर्ष दक्षिण की ओर बढ़ना चाहता था तो पुलकेशिन उत्तर की ओर। गुजरात प्रदेश को अपने अधीन रखना दोनों के लिए महत्त्वपूर्ण था एवं इन दोनों की सीमाओं पर लाटों, मालवों एवं गुर्जरों के राज्य थे। कीलहर्न का

१. श्रीहर्षदेवाभिभूतो श्रीवलभीपतिपतित्राणोपजातः भ्रमदभ्रविभ्रमयशोवितानः श्री दद्द।

मत है कि सम्भवतः ये राज्य पुलकेशिन के प्रभाव क्षेत्र में थे। वलभी दोनों साम्राज्यों के बीच एक तटस्थ मध्यस्थ राज्य था। इसी से हर्षवर्धन ने उस पर आक्रमण किया था।

(२) चालुक्यराज पुलकेशिन द्वितीय :—पश्चिमी भारत के नरेशों के साथ संघर्ष के कारण दक्षिण भारत के स्वामी पुलकेशिन द्वितीय चालुक्य के साथ हर्षवर्धन का युद्ध हुआ। पुलकेशिन के लेख से यह ज्ञात होता है कि इस युद्ध में हर्ष के हाथी गिर गये और वह भय से भाग गया।[1] इसका वर्णन इस प्रकार है—"जिसके चरण कमलों पर अपरिचित समृद्धि से युक्त सामन्तों की सेना नतमस्तक होती थी, उस हर्ष का हर्ष (आनन्द) युद्ध में मारे हुये हाथियों के बीभत्स दृश्य को देखकर विगलित हो गया।" चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार—"उसने (हर्ष ने) पंचभारत से सेनायें एकत्रित की थीं और सभी प्रदेशों से श्रेष्ठ नायकों को आमन्त्रित किया था तथा वह स्वयं सेनाध्यक्ष बनकर इन लोगों को (पुलकेशिन को) पराजित करने गया था किन्तु वह अब तक इनके दलों को जीत नहीं सका है।" दोनों सेनाओं में सम्भवतः नर्मदा नदी के निकट किसी स्थान पर युद्ध हुआ। युद्ध में किसकी जीत हुई, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। पुलकेशिन के उत्तराधिकारी, यह दावा करते हैं कि हर्ष जैसे प्रतापी राजा पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष में पुलकेशिन ने 'परमेश्वर' की उपाधि धारण की, पर राजबली पाण्डेय इन तथ्यों को धारणा से परे मानते हैं।[2] इनका यह मत है कि पुलकेशिन के उत्तराधिकारी यह दावा केवल अपने महान् पूर्वज के चरित्र को गौरवान्वित करने के लिये करते हैं। ऐहोल के लेख के उस 'हाथियों की मृत्यु' मात्र साक्ष्य के आधार पर हर्ष की पराजय को निर्णायक नहीं माना जा सकता। इसके बाद पुष्यभूति और चालुक्य-साम्राज्य के बीच नर्मदा नदी स्थिर रूप से सीमा बन गई। ह्वेनसांग की जीवनी से यह पता लगता है कि शीलादित्य (हर्ष) ने अपनी निपुणता और सेनापतियों की निरन्तर सफलता पर अभिमान करते हुये तथा आत्मविश्वास से पूर्ण होकर इस राजा (पुलकेशिन) को चुनौती देने के लिये स्वयं सेना का नेतृत्व करते हुये प्रस्थान किया।

इतिहासकारों में इस युद्ध की तिथि के विषय में काफी मतभेद है :—(१) फ्लीट ने इस युद्ध की तिथि ६१२ ई० बतायी है। अपने इस मत की पुष्टि के लिये उन्होने दो प्रमाण दिया है :—

---

१. एपि० इ०, खण्ड ६, पृ० १९

२. प्रा० भा०, ३.१५

(क) ह्वेनसांग का कहना है कि उसने ६ वर्ष तक लगातार युद्ध करने के पश्चात् पंचभारत पर अधिकार कर लिया। हर्ष ६०६ ई० में गद्दी पर बैठा और उसके युद्ध ६१२ ई० तक समाप्त हो गये होंगे।

(ख) हैदराबाद दानपत्र में लिखा है कि युद्धों में अनेक राजाओं को पराजित करने के पश्चात् पुलकेशिन ने परमेश्वर की उपाधि धारण की थी (समरशतसंसक्त पर नृपतिपराजयोपलब्धं परमेश्वरापरनामधेयः)। इन पराजित राजाओं में हर्ष को भी मानना चाहिये। इस दानपत्र की तिथि ५३४ शक संवत् = ६१२ ई० है। अतः हर्ष इस तिथि तक हार गया होगा।

किन्तु ऊपर के इन दोनों तर्कों का खण्डन इस प्रकार किया जा सकता है :—

(क) जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि हर्ष के समस्त युद्ध ६१२ ई० तक समाप्त नहीं हुये थे। अतः इस सम्बन्ध में ह्वेनसांग के कथन भ्रामक हैं।

(ख) हैदराबाद दानपत्र पराजित शत्रुओं में हर्ष का नाम नहीं देता है। सम्भव है इसमें दक्षिणी भारत के छोटे-छोटे राजाओं की ही हार का संकेत हो। हर्ष एक महान् सम्राट् था। अतः अगर [1]वह इस लेख के पूर्व हारा रहता तो इस लेख में उसकी पराजय का वर्णन अवश्य रहता।

(२) फ्लीट की अपेक्षा अल्तेकर का मत अधिक मान्य प्रतीत होता है। उनका कहना है कि हर्ष ६३० ई० और ६३४ ई० के बीच पराजित हुआ होगा। उनका कहना इस प्रकार है :—

(क) वलभी राज्य हर्ष और पुलकेशिन की सीमाओं पर था। अतः कोई भी सेनापति वलभी से बिना निपटे दक्षिण की ओर आगे कैसे बढ़ सकता था। यह सत्य है कि वलभी का युद्ध ६२९ ई० के पूर्व नहीं हुआ था। अतः हर्ष और पुलकेशिन का युद्ध इस तिथि के बाद ही हुआ होगा।

(ख) पुलकेशिन की सफलताओं का वर्णन लोनेटा के अभिलेख में मिलता है जिसका काल ६३० ई० है। इसमें हर्ष की पराजय का उल्लेख नहीं है। अतः इससे अनुमान किया जा सकता हैं कि इस तिथि तक हर्ष-पुलकेशिन युद्ध नहीं हो पाया था।

(ग) ऐहोल अभिलेख की तिथि ६३४ है जिसमें पुलकेशिन की पराजय का उल्लेख है। अतः स्पष्ट है कि इस तिथि तक हर्ष पराजित हो चुका था।

अतः हर्ष-पुलकेशिन युद्ध का काल ६३० से ६३४ ई० के बीच हो सकता है। डुब्रुएल के अनुसार यह युद्ध सातवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में हुआ था। राधाकुमुद मुकर्जी ने हर्ष-पुलकेशिन युद्ध को वलभी पर ही आक्रमण का परिणाम माना है। अल्तेकर ने कहा है कि इस युद्ध का कारण मालवा और गुजरात में उनकी

साम्राज्य-सम्बन्धी योजनाओं का संघर्ष था। आर. सी. मजूमदार के शब्दों में—"मालवा के राजा को दण्ड देने के प्रयत्न में हर्ष को गुजरात के इर्द-गिर्द के शत्रुओं के एक युद्ध का सामना करना पड़ा। उस संघ को पुलकेशिन का सहयोग प्राप्त हुआ और हर्ष की पूर्ण पराजय हुयी। मयूर यामक एक कवि की उक्ति और एक उत्कीर्ण लेख के आधार पर श्रीकण्ठ शास्त्री का यह कहना है कि हर्ष ने कुन्तल, काञ्ची आदि दक्षिण और सुदूर दक्षिण के प्रदेशों पर आक्रमण किया।[1]

(३) **सिन्ध विजय :**—बाण के हर्षचरित से यह पता लगता है कि उसने सिन्धुराज को मथकर उसकी सम्पत्ति स्वायत्त कर ली (अत्र पुरुषोत्तमेन सिन्धुराजं प्रमथ्य लक्ष्मीः आत्मीकृताः)। ह्वेनसांग के यात्रा-वर्णन से यह पता चलता है कि सिन्ध एक शक्तिशाली राज्य था। यह सिन्ध प्रभाकरवर्धन के समय में भी वर्धनों का शत्रु था, अतः यह सम्भव है कि हर्षवर्धन ने सिन्ध की ओर भी सैनिक अभियान किया हो। हर्ष ने उस राज्य को जीतकर अपने अधीन किया तथा उसने अपने शत्रु से युद्ध कर भी वसूल किया।

(४) **पूर्वी देश :**—हर्ष की जीवनी से यह पता लगता है कि ६४३ ई० में चीनी यात्री ह्वेनसांग भास्करवर्मा के निमन्त्रण पर कामरूप गया तो उस समय तक हर्ष कांगोद तथा उड़ीसा को अपने अधीन कर लिया तथा कजंगल (राजमहल के पास) में गंगा के किनारे विश्राम कर रहा था। ऐहोल अभिलेख से प्रकट होता है कि पुलकेशिन का अधिकार कलिंग तथा कांगोद पर भी था। इससे स्पष्ट होता है कि कांगोद पुलकेशिन के साम्राज्य में था तथा हर्ष ने ६४३ ई० में इस पर अधिकार करके पुलकेशिन से अपनी पूर्व पराजय का प्रतिशोध किया। चीनी लेखक मा-त्वान-लिन से यह ज्ञात होता है कि शीलादित्य (हर्ष) ने ६४१ ई० में मगध-सम्राट् की उपाधि धारण की तथा मगध पर अधिकार कर लेने के बाद माधव-गुप्त को मगध की राजगद्दी पर प्रतिष्ठित किया। ह्वेनसांग के वर्णन से यह पता चलता है कि हर्ष ने इस तिथि के बहुत पूर्व मगध को अधिकृत नहीं किया। उसे मगध से होकर ६३७–३८ ई० में यात्रा करते समय यह पता चला था कि हाल ही में शशांक ने गया के बोधिवृक्ष को काट दिया था तथा उसके शीघ्र बाद ही उसकी मृत्यु हो गयी। इस पर मगध के राजा ने हजार गायों के दूध से वृक्ष की जड़ों को सींचकर उसे पुनर्जीवित कर दिया।

भागीरथी के पूरब एवं पद्मा नदी के उत्तर में स्थित बंगाल के भू-भाग पर हर्ष का कभी अधिकार हो सका था या नहीं, यह भी एक विवादास्पद विषय है। पर इसका प्रमाण मिलता है कि हर्ष का मित्र कामरूप का शासक भास्करवर्मा उक्त

---

१. जे० आर० ए० एस, १९२६, पृ० ४८९

भू-भाग पर कुछ समय तक राज्य कर चुका था। मजूमदार कहते हैं कि यह बहुत सम्भव है कि हर्ष की पूर्वी विजयों में भास्करवर्मा ने पर्याप्त सहायता प्रदान की थी और इसी के फलस्वरूप उसे बंगाल का वह भाग हर्ष द्वारा प्रदान किया गया था।

कुछ इतिहासकारों ने कहा है कि नेपाल हर्ष के साम्राज्य के अन्तर्गत था।[1] इसके विपरीत कुछ इतिहासकारों ने इस कथन के औचित्य को नहीं माना है। चीनी यात्री केवल वहाँ के राजवंश का उल्लेख करता है। बाण ने भी साफ-साफ कुछ नहीं लिखा है। इस सम्बन्ध में हर्ष का भी अभिलेख मौन है। पर ऐसा कहा जाता है कि नेपाल के राजा ने हर्ष से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित कर हर्ष को उपहार-स्वरूप बहुत-सा धन भेजा। कुछ प्रबल प्रमाणों के अनुसार कश्मीर भी हर्ष के अधीन था। ऐसा कहा गया है कि जब शीलादित्य ने सुना कि कश्मीर में भगवान बुद्ध का दाँत है तो वह उसकी पूजा करने के लिये वहाँ गया। प्रारम्भ में बौद्धभिक्षुओं ने उस दाँत को दिखलाने से इन्कार किया, पर कश्मीर का राजा हर्ष के पराक्रम के समक्ष झुक गया तथा उस दाँत को हर्ष को भेंट कर दिया। इससे दो बातें हमारे सामने आती हैं—पहली कि बौद्धभिक्षुओं ने जिस दाँत को दिखलाने से इन्कार किया वह राजा ने भेंट कर दिया—हर्ष की वीरता को देखते हुये। दूसरी बात यह थी कि हर्ष ने यद्यपि कोई आक्रमण नहीं किया और न कश्मीर प्रदेश को अपने राज्य में मिलाया, किन्तु यह प्रदेश निश्चित रूप से हर्ष के प्रभाव क्षेत्र में आ गया था।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि कामरूप के राजा भास्करवर्मा ने हर्ष के साथ स्वेच्छा से मैत्री स्थापित कर ली थी, अतः कामरूप का भी प्रदेश हर्ष के प्रभाव क्षेत्र में था। यह मैत्री स्थायी मैत्री के रूप में सदा बनी रही। कामरूप का राजा प्रयाग के दानोत्सव में भाग लेने के लिये आया करता था तथा हर्ष के राज-दरबार में उसकी बड़ी ही प्रतिष्ठा थी। इस प्रकार युद्धों से तथा अपने प्रभाव से हर्ष ने अनेक राज्यों को जीता तथा अनेक राज्यों को अपने प्रभाव के अन्तर्गत रखा। हर्षचरित तथा उत्कीर्ण लेखों से गौड, उत्कल, मिथिला, सिन्ध, नेपाल, सुराष्ट्र आदि पर उसकी विजय के उल्लेख मिलते हैं। पंचगौड़ का अर्थ उस समय—(१) सारस्वत मण्डल (कश्मीर पंजाब), (२) गौड़ (दिल्ली के समीप के प्रदेश), (३) कान्यकुब्ज (उत्तर प्रदेश, बिहार का कुछ भाग और विन्ध्य पर्वत), (४) मिथिला (पूर्वोत्तर बिहार, बंगाल-आसाम) और (५) उत्कल (दक्षिणी बिहार तथा उड़ीसा) था। गौड़ की तत्कालीन परिभाषा बड़ी ही सन्दिग्ध है तथा

---

१. भगवान लाल इन्दुजी, इ० ए०, खण्ड १३, पृ० ४२०–२१

इतिहासकारों के बीच इसको लेकर काफी मतभेद है। हर्ष एक महान् विजेता तो था ही, पर उसे सभी युद्धों में सफलता प्राप्त नहीं हुई। किन्तु सम्पूर्ण उत्तर भारत—हिमालय से लेकर विन्ध्य तक और आसाम से लेकर सिन्ध तक—उसके साम्राज्य में आ गया। वह वास्तविक 'सकलोत्तरापथनाथ' की उपाधि से भूषित हुआ। यह उपाधि हर्ष की विजयों और प्रभाव को देखते हुये सर्वथा अनुकूल ही थी।

साम्राज्य-विस्तार :—बाण ने अपने 'हर्षचरित' में हर्ष को 'सर्वचक्रवर्तिनां-धौरेय' तथा 'चतुःसमुद्राधिपति' कहा है। चालुक्य अभिलेख उसे 'सकलोत्तरापथनाथ' कहता है। इन कथनों के आधार पर अनेक विद्वान् हर्ष को सम्पूर्ण उत्तरी भारत का सम्राट् बतलाते हैं। स्मिथ के अनुसार "उनके (हर्ष के) शासन-काल के पिछले वर्षों में मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र के अतिरिक्त हिमालय पर्वत से लेकर नर्मदा तक (नेपाल सहित) गंगा की सम्पूर्ण तलहटी पर हर्ष का आधिपत्य निर्विवाद रूप से स्थापित था।" के० एम० पणिक्कर ने कहा है कि—"हर्ष ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अपने अधिकार में कर लिया था तथा नेपाल का भी राज्य उसके साम्राज्य में सम्मिलित था।" किन्तु इस के विपरीत एंटिक हासेन नामक फ्रांसीसी विद्वान का मत है। उनका कहना है कि "उसके युद्धों ने उसे सम्पूर्ण उत्तरी भारत की प्रभुता प्रदान की पर उसने नेपाल को हर्ष के साम्राज्य का अंग नहीं स्वीकार किया है।"

राधाकुमुद मुकर्जी ने हर्ष के साम्राज्य को और भी सीमित बतलाया है। इनके मतानुसार—"कुछ प्रदेश तो ऐसे थे जिन पर कान्यकुब्जाधिपति महाराज हर्ष प्रत्यक्ष रूप से शासन करते थे और कुछ प्रदेश ऐसे थे जो उनके प्रभाव में थे एवं उनकी प्रभुता स्वीकार करते थे। प्रत्यक्ष रूप से शासन का क्षेत्र संकुचित था। परन्तु प्रभाव क्षेत्रान्तर्गत कामरूप, नेपाल, कश्मीर तथा वलभी थे।" लेकिन आर० सी० मजूमदार इस मत का विरोध करते हैं। उनके अनुसार—"हर्ष के साम्राज्य में आगरा एवं अवध का संयुक्त प्रान्त, बिहार तथा पूर्वी पंजाब का कुछ भाग उत्तर पश्चिम के मो-ती-पुलो को छोड़कर सम्मिलित था।"

नीहाररंजन राय के अनुसार हर्ष के प्रत्यक्ष शासन के अन्तर्गत वह सम्पूर्ण प्रदेश था जिसे मध्य हिन्द कहा जाता था। पर उसके प्रभावान्तर्गत पूरा उत्तरी भारत था। इसकी सीमायें इस प्रकार थीं—उत्तर-पश्चिम में जालन्धर से लेकर पूरब में आसाम तक—दक्षिण में नर्मदा और महानदी की तलहटी में अवस्थित वलभी राज्य

---

१. "His warfare assured him the sovereignty of the whole of Northern India."—Etinghausen.

से लेकर गंजाम के जिले तक का प्रदेश और उत्तर में नेपाल तथा सम्भवतः कश्मीर भी सम्मिलित थे। ए० सी० बनर्जी ने कहा है कि हर्ष का आधिपत्य उत्तर में शतद्रु के किनारे से लेकर दक्षिण में नर्मदा तक और पश्चिमी मालवा के सीमाप्रान्त से लेकर पूर्व हिमालय के समीप स्थित प्रदेशों तक की भूमि पर स्थापित था। ह्वेनसांग ने शतद्रु और श्रुघ्न नामक दोनों स्थानों की राजनीतिक स्थिति का वर्णन नहीं किया है। इससे यह अनुमान होता है कि ये स्वतन्त्र राज्य नहीं थे। सम्भवतः ये हर्ष के अधिकार में अवश्य रहे होंगे। सतलज नदी के पूरब का इलाका शतद्रु कहलाता था।

नेपाल के सम्बन्ध में हमने यह लिखा है कि नेपाल हर्ष के अन्तर्गत था। इसमें भगवान लाल इन्द्रजी, बूहलर, मुकर्जी, स्मिथ, मजूमदार, फ्लीट एवं त्रिपाठी प्रमुख हैं जिन्होंने नेपाल पर हर्ष के अधिकार को प्रमाणित किया है।

इस मत के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं :—

(क) हर्षचरित का उल्लेख है कि 'अत्र परमेश्वरेण तुषारशैलभुवो दुर्गायाः ग्रहीतः करः।' यहाँ कुछ इतिहासकार तुषार शैलभुवो का तात्पर्य नेपाल समझते हैं।

(ख) नेपाल के कई अभिलेखों में तिथियाँ दी गई हैं। इनसे एक राजा अंशुवर्मा का पता लगता है। इन्द्रजी, बूहलर तथा फ्लीट का कथन है कि इस राजा ने अपने अभिलेखों में हर्ष संवत् का प्रयोग किया है। अतः वह हर्ष के अधीन होगा।

(ग) नेपाली वंशावलियों से यह पता चलता है कि विक्रमादित्य नेपाल गया था तथा वहाँ अपना संवत् चलाया था। कुछ इतिहासकारों ने विक्रमादित्य का समीकरण हर्ष से किया है क्योंकि उस समय हर्ष के अतिरिक्त कोई भारतीय सम्राट् नहीं था जिसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की हो। अतः यह संभावना युक्तिसंगत प्रतीत होती है कि विक्रमादित्य हर्ष की ही उपाधि रही होगी।

किन्तु ऊपर के सभी तर्कों का खण्डन इस प्रकार किया जा सकता है :—

(क) 'हर्षचरित' का कथन बड़ा ही सन्देहास्पद है। बाण ने भी स्पष्ट रूप से कुछ नहीं लिखा है। हर्षचरित में एकमात्र एक पार्वतीय प्रदेश का उल्लेख है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि वह नेपाल ही हो।

(ख) नेपाल के अभिलेखों में जो तिथियाँ दी गई हैं वे किस संवत् की हैं यह स्पष्ट नहीं होता है। उपर्युक्त इतिहासकारों ने अंशुवर्मा की कुछ तिथियों को हर्ष संवत् माना है। पर यह सम्भव नहीं है। ह्वेनसांग जब उत्तरी भारत में आया तब तक अंशुवर्मा की मृत्यु हो चुकी थी। अंशुवर्मा के अभिलेखों में उसकी अन्तिम तिथि ४५ है। अगर इसे हर्ष संवत् की तिथि माना जाय तो उसका तात्पर्य यह होगा कि

६०६ + ४५ = ६५१ ई० में अंशुवर्मा जीवित था। किन्तु ह्वेनसांग इस तिथि के पूर्व ही भारत से लौट चुका था और उसी की सूचना के अनुसार अंशुवर्मा इस तिथि के पूर्व ही मर चुका था।

(ग) भगवान लाल इन्द्र जी ने यह सिद्ध किया है कि नेपाली वंशावलियों का ऐतिहासिक महत्त्व कम है। उनमें उल्लिखित बहुसंख्यक राजा एकमात्र पौराणिक हैं। उनके लम्बे-लम्बे शासन-काल पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। फिर हर्ष की उपाधि विक्रमादित्य नहीं थी। शीलादित्य उसकी उपाधि थी।

सिलवां लेवी के मतानुसार नेपाल एक स्वतन्त्र राज्य था। वांसखेरा तथा मधुवन के लेखों से यह पता चलता है कि अहिच्छत्र और श्रावस्ती उसके साम्राज्य की भुक्ति थी। थानेश्वर एवं कन्नौज तो निस्सन्देह ही उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था—ये उसके गृहराज्य थे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में उसका राज्य थानेश्वर एवं कन्नौज के क्षेत्रों में ही सीमित था पर बाद में उसने अपने साम्राज्य का प्रसार पूरब, पश्चिम एवं दक्षिण में किया। इस प्रकार सारा आर्यावर्त उसके अधीन था और वस्तुतः वह 'सकलोत्तरापथनाथ' (सम्पूर्ण उत्तर भारत का अधिपति) था।

मगध निश्चय ही उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था जिसकी पुष्टि हमें दौत्य सम्बन्धी चीनी कागजात से होती है। हर्षवर्धन को 'मगध राज' कहा गया है। बी० पी० सिन्हा के अनुसार मगध, मुंगेर, हिरण्यपर्वत (इ-लांन्-ना-पो-फा-हो), चम्पा, का-चू-वेन-की-लो (कजंगल), पुण्ड्रवर्धन, समतट, ताम्रलिप्ति आदि राज्य हर्षवर्धन के आधिपत्य में चले आये। कर्णसुवर्ण भी हर्ष के अधीन ही था, जिसे उसकी मृत्यु के बाद भास्करवर्मा ने अपने अधीन कर लिया। जहाँ तक ओड्र या ऊ-टू और कुंग-चू-तो या कांगोद का प्रश्न है—ये आधुनिक गंजाम तथा उड़ीसा के नाम थे। ह्वेनसांग से यह पता लगता है कि इन प्रदेशों पर हर्ष का अधिकार था।

पुलकेशिन द्वितीय के शासन-काल के बाद उसने दक्षिणापथ पर पुनः अधिकार स्थापित करने की चेष्टा की हो, यह बात असम्भव नहीं जान पड़ती। ६४३ ई० में ह्वेनसांग ने लिखा है—"हर्ष ने पश्चिम और पूरब के दूरस्थ राजाओं को जीता। उसका अधिकार सुदूर देशों पर था। वह भारत का अधिपति था तथा उसका यश सुदूर देशों तक पहुँचा।" पर उसके यात्रा-वर्णनों में हमें उत्तर-भारत में ऐसे स्वतन्त्र प्रान्तों का उल्लेख मिलता है जहाँ पर हर्ष का सिक्का चलता था। उसने हर्ष के समकालीन अनेक स्वतन्त्र राज्यों का वर्णन किया है जिनमें—

कपिशा, कश्मीर, जालन्धर, वैराट, मथुरा, मनिपुर (बिजनौर), सुवर्ण गोत्र का देश, उज्जैन, बुन्देलखण्ड, महेश्वरपुर (ग्वालियर प्रदेश), और सिन्ध, कपिलवस्तु, नेपाल, कामरूप (आसाम), महाराष्ट्र, भड़ौंच, वलभी, गुर्जरदेश, जो निश्चय ही हर्ष के साम्राज्य के बाहर थे। पर वह कुल्लू, शतद्रू (सरहिन्द), थानेश्वर, श्रुघ्न (सुघ), ब्रह्मपुत्र (गढ़वाल और कुमाऊँ), गोविसन (काशीपुर, रामपुर एवं पीलीभीत के वर्तमान जिले), अहिच्छत्र (पूर्वी रुहेलखण्ड), विल्सड (एटा जिला), कपित्थ (संकिस्स), अन्युन्ते (अयोध्या या फतहपुर जिला में अफुई), हयमुख (रायबरेली और प्रतापगढ़ के जिले), प्रयाग, कौशाम्बी, विषोक, श्रावस्ती, रामग्राम, कुशिनगर, वाराणसी (बनारस), गाजीपुर जिला, वैशाली, वृज्जिदेश, मगध, मुङ्गेर, भागलपुर, राजमहल, पुण्ड्रवर्धन, समतट, ताम्रलिप्ति, कर्णसुवर्ण (वर्तमान गंजाम के साथ उड़ीसा) में शासन के विषय में मूक हैं। इनके सम्बन्ध में ह्वेनसांग का मौन हो जाना इस बात को सिद्ध करता है कि ये राज्य हर्षवर्धन के साम्राज्य में सम्मिलित थे। इनमें से कुछ तो अवश्य ही हर्ष के साम्राज्य के अन्तर्गत थे, जिनकी पुष्टि हमें अन्य प्रमाणों से भी होती है।

किन्तु यह तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि उसका साम्राज्य पर्याप्त विशाल था। हर्ष के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनके आधार पर हम उस सम्राट् के साम्राज्य विस्तार का अनुमान लगा सकते हैं। हुइ-ली ह्वेनसांग के जीवन-चरित के सम्बन्ध में लिखी गई पुस्तक सि-यू-की से ज्ञात होता है कि हर्ष के साम्राज्य में उड़ीसा प्रदेश भी शामिल था जिसकी पुष्टि उस घटना से होती है जिसमें हर्ष ने बौद्ध श्रेष्ठ एवं विद्वान् जयसेन को उड़ीसा के अस्सी ग्रामों की राजकीय आय दान में दे दी थी। इसके अलावे बंगाल के कजङ्गल नामक स्थान में उसने परिषद् सभा बुलाई थी जिससे यह ज्ञात होता है कि बङ्गाल उसी के अधीन था। उसकी दिग्विजय के समय हर्ष की शक्ति और प्रभाव से आस-पास के अनेक राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। अतः उसके साम्राज्य में "पैतृक-राज्य, भोग राज्य, अधीन राज्य एवं अधीन मित्र सभी सम्मिलित थे।"[1]

हर्ष के सार्वभौम रूप का साक्ष्य विभिन्न राज्यों से उसके सम्बन्धों एवं उनके प्रदेशों में उसकी यात्राओं द्वारा प्रकट होता है। हर्ष ने आसाम के राजा को अपने सामन्त के रूप में अभिषिक्त किया था। उसने कश्मीर के राजा के पास बुद्ध के अवशेष के रूप में दाँत लेने के लिये वहाँ आ गया। जालन्धर के राजा उदितों को उसने समस्त भारत में बौद्ध धर्म के कार्य-कलाप नियन्त्रण के लिये नियुक्त किया।

१. राजबली पाण्डेय—वही, पृ० ३१६

ह्वेनसांग के वापस लौटते समय उसने उदितों को सीमाप्रदेश तक उसे सुरक्षित रूप से ले जाने के लिये नियुक्त किया। इसके अतिरिक्त हर्ष ने स्वयं ह्वेनसांग की सुविधा के लिये अन्य राज्यों के अध्यक्षों के नाम पत्र लिखे तथा वह खुद कुछ रक्षकों का निरीक्षण किया। एक महान् विजेता होने के बावजूद भी उसने विजित देशों पर प्रत्यक्ष रूप से शासन करने की चेष्टा नहीं की।

'हर्षचरित' से यह स्पष्ट होता है कि वह बहुत बड़ा सम्राट् था। चालुक्य लेखों में उसे 'सकलोत्तरापथेश्वर' कहा गया है। उस काल में उत्तरापथ का तात्पर्य तक्षशिला से श्रावस्ती तक का वाणिज्य-मार्ग समझा जाता था पर दक्षिण वाले इस शब्द का प्रयोग नर्मदा नदी के उत्तर की सम्पूर्ण भूमि के अर्थ में करते थे। भण्डारकर के मतानुसार यह शब्द दसवीं शताब्दी तक मध्यप्रदेश के उत्तर में स्थित प्रदेश के लिये प्रयुक्त होता था। और, यह शब्द हर्ष के लिये इसलिए प्रयुक्त होता था कि वह समस्त उत्तरभारत का नाथ समझा जाता था। ह्वेनसांग के वर्णन से यह पता लगता है कि प्रयाग की मोक्ष परिषद् में १८ अधीनस्थ राज्यों के राजा उपस्थित थे। बाण भी उसके अधीनस्थ राजाओं का वर्णन करता है। उसके अनुसार हर्ष को चारों समुद्र का विधाता कहा गया है।

हर्ष ने चीन में दूतमण्डल भी भेजे। इस विषय में मा-त्वान-लिन का वर्णन महत्त्वपूर्ण है। वह कहता है कि 'शीलादित्य ने मगधराज की उपाधि धारण की और एक पत्र के साथ अपना एक दूत चीनी सम्राट् के पास भेजा। इस भारतीय दूत मण्डल के बदले में चीनी सम्राट् ने लिअंग-होऐ-किंग नामक अपना दूत इस आशय के आमन्त्रण पत्र के साथ भेजा कि शीलादित्य (हर्ष) चीन की अधीनता स्वीकार कर ले। मा-त्वान-लिन आगे कहता है कि हर्ष ने चीन-सम्राट् को अपना अधिपति मान लिया। पर मा-त्वान-लिन के कथन पर शत-प्रतिशत विश्वास नहीं किया जा सकता। इससे अधिक-से-अधिक यही सिद्ध होता है कि हर्ष और चीन-सम्राट् ने एक दूसरे की सभा में दूत भेजे थे। ६४३ ई० में एक अन्य चीनी दूत-मण्डल भारत आया था जिसका नेता लि-चि-पाओ था। वांग-ह्वेन-सी के नेतृत्व में एक अन्य चीनी-दूत मण्डल ने भारत के लिये ६४७ ई० में प्रस्थान किया पर उसके भारत पहुँचने के पूर्व ही हर्ष की मृत्यु हो चुकी थी।

शासन-प्रबन्ध :—हर्ष के काल की शासन-व्यवस्था मूलतः गुप्तकालीन शासन प्रणाली थी। उसने गुप्तकालीन शासन-व्यवस्था को आधार मानकर यथा-स्थान कुछ साधारण परिवर्तनों के साथ अपनी शासन-प्रणाली का निर्माण किया था। इस काल के बड़े-बड़े उत्तरदायी कर्मचारियों के वही नाम थे जो गुप्तकाल में थे। देश में सुव्यवस्थित शासन कायम रखने के लिये उसने कोई भी प्रयत्न नहीं

रख छोड़ा। वह स्वयं राज्य-कार्य देखता था। यही नहीं निरीक्षण करने के लिये वह सम्पूर्ण साम्राज्य के विभिन्न भागों में घूमता था। फलतः उसकी नागरिक शासन-व्यवस्था उदार सिद्धान्तों के अनुसार होती थी। किन्तु गुप्त सम्राटों के समय की अपेक्षा दशा अवनति की ओर ही थी। सड़कें उतनी सुरक्षित नहीं थीं। चीनी यात्री स्वयं एकाधिक बार लुटेरों द्वारा लूटा गया। फौजदारी के कानून इस काल में अधिक कठोर थे। जघन्य अपराधों के लिये कान-नाक-हाथ-पैर काटने की सजा थी और अग्नि, जल, तराजू और विष द्वारा परीक्षा की प्रथा भी बहुत प्रचलित थी।

शासन को सुव्यवस्थित एवं सुविधाजनक बनाने के लिये उसे केन्द्रीय शासन, प्रान्तीय शासन एवं ग्राम-शासन की विभिन्न इकाइयों में विभक्त कर दिया गया था। उसके अभिलेखों से पता चलता है कि उसका राज्य कई भुक्तियों या प्रान्तों में बँटा हुआ था ; प्रत्येक भुक्ति कई विषयों अर्थात् जिलों में बँटा रहता था। प्रत्येक विषय कई पथकों अर्थात् तहसीलों में बँटा था। एक पथक में कई गाँव होते थे। अतः गाँव शासन की सबसे छोटी इकाई थी।

कुल मिलाकर हर्ष ने लगभग चालीस वर्ष तक राज्य किया। उसका साम्राज्य बहुत बड़ा था। इतने बड़े साम्राज्य को निश्चय ही एक बड़े सक्षम प्रशासन की आवश्यकता थी जो देश को हर्ष के नेतृत्व में सुलभ हो सका था। उसके शासन प्रबन्ध पर प्रकाश डालने वाले प्रमुख साधनों में बाण के ग्रन्थ कादम्बरी तथा हर्षचरित, हर्ष के अभिलेख तथा मुद्रायें और चीनी यात्री का यात्रा-विवरण और जीवनी उल्लेखनीय हैं। ये सब साधन हर्षकालीन भारत के शासन-प्रबन्ध पर समुचित प्रकाश डालते हैं।

केन्द्रीय शासन :—हर्ष का केन्द्रीय शासन अत्यन्त सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित था। इसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिये इसके निम्नाङ्कित विभिन्न अङ्गों पर अलग-अलग प्रकाश डालना आवश्यक है :—

राजा का स्थान :—राजा ही राज्य का सर्वोच्च अधिकारी था। वह परमभट्टारक, परमेश्वर, परमदेवता, महाराजाधिराज आदि उपाधियों को धारण करता था। इसके अतिरिक्त उसकी अन्य उपाधियाँ भी थीं—एकाधिराज, चक्रवर्त्ती, सार्वभौम एवं परमदैवत। राजा की गणना देवताओं में होती थी और लोगों को ऐसा विश्वास था कि धनद, वरुण, इन्द्र, यम आदि के गुण उसमें विद्यमान रहते थे। बड़े-बड़े अधिकारियों की नियुक्ति, आज्ञापत्रों तथा घोषणा पत्रों का प्रवर्तन, आय-व्यय की देख-रेख तथा विदेशी नीति का सञ्चालन वह स्वयं करता था। वह अपने मन्त्रियों की नियुक्ति करता था। न्यायाधीश का काम राजा

स्वयं करता था तथा बड़े-बड़े अभियोगों का निर्णय करता था और अपील भी सुनता था। युद्ध के काल में वह सेना का नेतृत्व भी करता था और शान्ति के समय में सैन्य-संगठन एवं सैन्य-निरीक्षण। अशोक की तरह हर्ष भी धार्मिक आदर्श और भावना से प्रभावित था। इसी से वह राज्य-कार्य और प्रजा के हित में लगा रहता था। इन कार्यों के अतिरिक्त हर्ष का शासन सम्बन्धी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जनता के सुख-दुख का अनुसन्धान द्वारा पर्यवेक्षण करना था। ह्वेनसांग से हमें यह पता लगता है कि अपनी पूर्वी यात्रा के क्रम में किस प्रकार कजङ्गल में दरबार किया। वह अपने राज्य में अपनी सेना तथा सामन्तों के साथ बड़ी शान के साथ भ्रमण किया करता था तथा दुष्टों को दण्ड दिया करता था तथा सदाचारियों को पुरस्कार देता था। इन यात्राओं से उसे देश एवं जनता की दशा का पूरा ज्ञान हो जाता था तथा अपनी प्रजा के कष्टों को दूर करने का वह पूरा प्रयत्न करता था। बाँसखेरा तथा मधुबन के लेखों में क्रमशः वर्धमान कोटी तथा कवित्थक के जय-स्कान्धावारों का उल्लेख मिलता है। ये जयस्कान्धावार सम्राट् के अस्थायी शिविरों को कहा जाता था, डेरा हट जाने पर यह स्कान्धावार जला दिया जाता था। अपने दैनिक कार्यों को हर्ष ने तीन भागों में बाँट दिया था। एक भाग शासन तथा दो भाग धर्म के कार्यों के लिये निश्चित था। सम्राट् की इस सतर्कता तथा परिश्रम का उसके राजकर्मचारियों पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता था। हर्ष स्वयं अर्थशास्त्र के ग्रन्थों में निर्धारित आदर्शों के पालन करने का प्रयत्न किया करता था। ह्वेनसांग ने हर्ष के परिश्रम तथा उसकी दानशीलता की बड़ी प्रशंसा की है।

हर्ष ने राजमहल, कन्नौज, प्रयाग, अवध, उड़ीसा, कश्मीर, वलभी, रेवा, गंजाम आदि स्थानों की यात्रा की थी। उसके लिये दिन बहुत छोटा होता था। उसने अपने नाटक नागानन्द में राजपद का आदर्श प्रस्तुत किया है। कादम्बरी में भी राजपद के आदर्श का वर्णन है। राजा के निजी अधिकारियों में प्रतिहार, विनयासूर, स्थपित, प्रतिनर्तक, द्यूतक, लेखक आदि थे।

मन्त्रि-परिषद् :—सम्राट् की सहायता के लिये एक मन्त्रि-परिषद् थी जिसका मुख्य काम राजा को उचित मन्त्रणा देना होता था। मन्त्री को सचिव या अमात्य कहा जाता था। मन्त्रि-परिषद् का राजा के निर्वाचन में हाथ होता था जिसका प्रमाण स्वयं हर्ष ही है। यह हम जानते हैं कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के समय उत्तराधिकार तथा गृहवर्मन की हत्या के बाद राज्य-संचालन के प्रश्न मन्त्रियों द्वारा निर्णीत हुये थे। इस परिषद् की गलती से ही राज्यवर्धन को शत्रु-शिविर में भेजा गया, जहाँ धोखे से उसका बध किया गया। ह्वेनसांग के अनुसार पोनी के नेतृत्व में कन्नौज के मन्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों ने हर्ष को कन्नौज का राजमुकुट प्रदान किया था। मंत्रियों तथा अन्य कर्मचारियों को वेतन भूमि के अनुदान के

रूप में मिलता था। तात्पर्य यह कि उसके समय सामन्तवाद की प्रथा जम चुकी थी। अपने नाटकों में हर्ष ने अमात्य और प्रधानामात्य शब्दों का प्रयोग हर्ष ने मन्त्री एवं प्रधानमन्त्री के लिये किया है। नागानन्द नाटक में प्रधानामात्य को दैनिक राजकार्य में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। वह राजा के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और युवराज के समकक्ष होता था। राज्य की भूमि का एक चौथाई भाग सरकारी कर्मचारियों में वेतन के लिये सुरक्षित रखा जाता था। केन्द्रीय शासन का संगठन कई विभागों में हुआ था, जो अध्यक्षों अथवा मन्त्रियों के संरक्षण में रहते थे। हर्ष के समय प्रधानमन्त्री, अवन्ति तथा सम्भवतः उसका ममेरा भाई भाण्डी सन्धिविग्रहिक था। सिंहनाद उसका सेनापति था। गज-सेना के सेनापति के पद पर स्कन्द गुप्त था। पर हर्ष के लेखों में स्कन्द गुप्त को महासामन्त और महाप्रमातार कहा गया है। अश्वारोही सेना का सेनापति कुंतल था। सेना के कुछ अन्य पदाधिकारी भी थे। बसाढ़ की एक मुहर से रण-भण्डागार विभाग का उल्लेख मिलता है। दान-पत्रों पर भी हर्ष के पदाधिकारियों की सूची प्राप्त होती है जिनमें दौस्साधनिक, प्रमातार, राजस्थानीय, कुमारामात्य, उपरिक एवं विनय-पति प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त आभुक्तक, मीमांसक, भोगिक या भोगपति, दीर्घद्रुग, करणिक आदि प्रमुख व्यक्ति थे जो केन्द्रीय शासन में सहायता देते थे। लेखक नामक पदाधिकारी का भीं उल्लेख किया गया है। इन्हें कहीं-कहीं दीवर भी कहा गया है। अनेक दीवरों के ऊपर एक दीवरपति होता था।

राज्य के प्रमुख कर्मचारी :—ह्वेनसांग के ही विवरण से हमें यह ज्ञात होता है कि राज्य के पदाधिकारियों का शासन में महत्त्वपूर्ण हाथ था और देश का स्वामित्व अधिकारियों के हाथ में था। साम्राज्य की विशालता एवं यातायात के सीमित साधनों के कारण विविध प्रान्तों के समुचित शासन के लिये साम्राज्य में अनेक शासन केन्द्रों का निर्माण किया गया था। रमाशंकर त्रिपाठी ने कुछ सैन्य एवं गृह विभाग के पदाधिकारियों की सूची इस प्रकार दी है :—

महासन्धिविग्रहाधिकृत (युद्ध और शान्ति सचिव), महाबलाधिकृत (सर्वोपरि सेनाध्यक्ष), सेनापति, वृहदश्ववार (अश्वसेनाध्यक्ष), कटुक (गजसेनाध्यक्ष); चाटभट (नियत एवं अनियत अथवा वैतनिक तथा अवैतनिक सैनिक), दूत; राजस्थानीय (परराष्ट्र मन्त्री), उपरिक महाराज (प्रान्तीयशासक), आयुक्त (साधारण अधिकारी), मीमांसक (न्यायाधीश), महाप्रतिहार (राजप्रासाद का रक्षक), भोगिक अथवा भोगपति (उपज का राजकीय भाग ग्रहण करनेवाला); दीर्घद्रुग (तीव्रगामी संवादक), अक्ष पटलिक (रेकर्ड क्लर्क), अध्यक्ष (विविध विभागों के अध्यक्ष), लेखक, करणिक (क्लर्क), सेवक आदि।

शासन का सामन्तवादी स्वरूप :—जैसा कि हम जानते हैं, हर्ष ने अपने ४२ वर्षों के शासन-काल में एक सुदृढ़ शासन-प्रणाली का जन्म दिया जो बाद में उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गयी। उसका शासन सामन्तवादी व्यवस्था पर आधारित था। सामन्तवाद अब राज्य-व्यवस्था का एक अभिन्न अङ्ग बन गया। ह्वेनसांग ने कहा है कि हर्ष के समय में शासन उदार था तथा लोगों से जबर्दस्ती बेगार नहीं ली जाती थी। पर सरकारी अधिकारियों को वेतन के रूप में जमीन देने की प्रथा चल पड़ी। 'हर्षचरित' के अनुसार सामन्त-पद्धति का काफी विकास हो पाया था। ऐसा कहा जाता है कि हर्ष का शासन चूँकि उसके द्वारा स्वयं बनाया हुआ था अतः हर्ष के बाद वह शासन-व्यवस्था समाप्त हो गयी पर सामन्तवादी व्यवस्था का विकास उसके बाद काफी हुआ।

साम्राज्य में अनेक शासन-केन्द्रों का निर्माण किया गया था। प्रान्तीय शासकों के लिये कुछ कर्मचारी रहते थे और गांव में ग्रामिक तथा अष्टकुलाधिकरण। हर्ष की अपनी देन इस शासन पर थी अतः इसे ठीक रूप से समझकर चलाने वाला हर्ष के बाद कोई भी नहीं रहा। इसके अतिरिक्त हर्ष बराबर घूमता रहता था तथा स्थान-स्थान पर जयस्कान्धावार भी होते थे, जहाँ अस्थायी राजधानी होती थी। अतः एक स्थायी राजधानी का निर्धारण नहीं हो सका। कमजोरी का मूल कारण यह भी था कि उसे अपने सामन्तों पर निर्भर होना पड़ता था तथा उन्होंने जो प्रथा चला दी उससे सामन्तों की शक्ति में काफी वृद्धि हो गयी और इसके बाद सामन्तवाद के विकास और उसकी प्रगति में इससे काफी सहायता पहुँची।

प्रान्तीय शासन :—हर्ष का साम्राज्य अत्यन्त विशाल था। अतः विविध प्रान्तों पर अंकुश रखना बड़ा ही आवश्यक था इसलिये हर्ष ने प्रान्तों के महत्त्व को अच्छी तरह समझा था। प्रान्तों को भुक्ति या देश के नाम से पुकारा जाता था। दूरस्थ प्रान्त राज्यपाल, प्रान्तीय शासक या उपरिक महाराज, सामन्त तथा महासामन्तों के हाथ में था। उसका साम्राज्य कई इकाइयों में बंटा हुआ था जिनमें—राष्ट्र, देश, भुक्ति और विषय इत्यादि थे। अहिच्छत्र, श्रावस्ती, कौशाम्बी और पुण्ड्रवर्धन प्रमुख भुक्ति थे। प्रत्येक प्रान्त कई जिलों में विभक्त था जो प्रदेश अथवा विषय कहलाते थे। विषय पदक और पदक गांव में बंटे हुये थे। प्रान्तों के अधिकारी उपर्युक्त लिखित अधिकारियों के अतिरिक्त गोप्ता, भोगपति, राजस्थानीय एवं राष्ट्रीय भी हुआ करते थे। इनकी नियुक्ति सम्राट् स्वयं करता था, पर अपने अधीनस्थ अधिकारियों की नियुक्ति वे लोग स्वयं करते थे। सीमान्त प्रदेश के शासक सम्भवतः गोप्ता कहलाते थे। जिले के शासकों को प्रान्तीय शासक नियुक्त करते थे जिसे विषयपति कहा जाता था। विषयपति विभिन्न जातियों के हुआ करते थे। विषयपतियों की राजधानियाँ अधिष्ठानों में हुआ करती थीं। इन

अधिष्ठानों में उनके अधिकरण (अदालतें तथा कार्यालय) हुआ करते थे। प्रान्त तथा जिले के शासन के लिये दाण्डिक, चौरोद्धरणिक, दण्डपाशिक आदि कर्मचारी होते थे।

ग्राम शासन :—शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव होता था। 'महत्तर' नामक पदाधिकारी का उल्लेख ग्राम के अधिकारियों में मिलता है जिसे 'ग्रामिक' भी कहा जाता था और उसका मुख्य काम गाँव के सब मामलों की देखभाल करना था। सरकारी तौर पर ग्राम शासन अच्छी तरह संगठित था और वहाँ के शासन में गैरसरकारी लोगों का भी काफी हाथ था। बाण 'आग्रहारिक' नामक किसी पदाधिकारी का उल्लेख करता है जो सम्भवतः दान दी गई भूमि का प्रबन्धक था। 'महत्तरों' के अतिरिक्त गाँव से सम्बन्धित कर्मचारियों के दो अन्य वर्ग थे अर्थात् अष्ट कुलाधिकरण एवं ग्रामिक। अष्टकुलाधिकरण सम्भवतः छोटे-छोटे विभाग होते थे जिन्हें आठ कुलों का निरीक्षण करना पड़ता था। प्रारम्भिक गाँव का मुखिया होता था पर यह स्पष्ट नहीं है कि वह सरकारी कर्मचारी होता था या गाँव वाले इसे स्वयं निर्वाचित कर लिया करते थे। हस्तान्तरित करने या लेने-देने के काम का निरीक्षण करने के सम्बन्ध में सरकार इन कर्मचारियों की परामर्श लेती थी। इनके अतिरिक्त अक्षपटलिक अर्थात् गाँव का लेखा रखने वाला भी होता था जिसे सरकार नियुक्त करती थी। उत्कीर्ण लेखों से अष्टकुलाधिकरण, शौल्किक (शुल्क अथवा चुंगी वसूल करने वाला), गौल्मिक (वन, उपवन आदि का निरीक्षक), आग्रहारिक (ब्राह्मणों को दिये हुये ग्रामों की देख-भाल करने वाला), ध्रुवाधिकरण (भूमि कर का अध्यक्ष), भाण्डागाराधिकृत (भण्डार का अध्यक्ष), तलवाटक (गाँव का लेखा-जोखा रखने वाला), उत्खेटयित (कर वसूल करने वाला), पुस्तपाल (लेखा रखने वाला), अक्षपटलिक (कागज-पत्र का संरक्षक), दिविर या लेखक, करणिन् (रजिस्ट्रार), कर्त्तृ या शासयितृ (कागजपत्रों की पाण्डुलिपि बनाने वाला) के उल्लेख पाये जाते हैं। इससे यह मालूम होता है कि ग्रामीण-शासन सरकारी तौर से बहुत अच्छी तरह संगठित था और गाँव के शासन में गैर-सरकारी स्थानीय लोगों का भी काफी हाथ था।

राजस्व विभाग :—हर्ष का शासन-प्रबन्ध बड़ा ही उदार तथा दयापूर्ण था। लोगों से बेगार नहीं ली जाती थी और न उन्हें अतिरिक्त कर देना पड़ता था। शासन की धुरी धन है जिसके बिना कोई भी जनहित, लोकहित अथवा सार्वजनिक लाभ के हेतु निर्माण का कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सकता। अतः राजस्व विभाग शासन का बड़ा ही आवश्यक विभाग समझा जाता है। सरकारी आय के मुख्य स्रोत थे :—

१. उद्रंग (भूमिकर)
२. अपरिकर (नियमित कर के अतिरिक्त कर)
३. धान्य (यह शुल्क कुछ विशेष अनाजों के ऊपर लगाया जाता था)
४. हिरण्य (यह वह शुल्क था जो खनिज पदार्थों पर लगाया जाता था)
५. शारीरिक श्रम (जो द्रव्य अथवा अनाज के रूप में कर नहीं दे पाते थे, उनसे यह कर निश्चित ढंग से लिया जाता था)
६. न्यायालय शुल्क (न्यायालयों का शुल्क)
७. अर्थदण्ड (अभियुक्तों से दण्ड के रूप में जो रकम वसूल होती थी)

भूमि-उपज का छठा भाग कर के रूप में लिया जाता था। राज्य की सबसे बड़ी आमदनी भूमि से होती थी। सारी भूमि का पर्यवेक्षण और माप होती थी। खेतों की सीमा निर्धारित होती थी। खेतिहर भूमि खेतों (प्रत्यय अथवा केदार) में बंटी हुयी थी। पर्यवेक्षण विभाग के मुख्य अधिकारी को प्रमाता (नापने वाला) कहा जाता था। इसके अतिरिक्त सीमाप्रदाता और न्यायकर्णिक होते थे। भूमि सम्बन्धी कागजात सुरक्षित रखे जाते थे। सिंचाई के लिये सरकारी प्रबन्ध था।

उपर्युक्त करों के अतिरिक्त दूध, फल, चरागाहों पर भी कर लगाया जाता था। अनाज की मण्डियों में बिकी हुई वस्तुओं के नापतौल के आधार पर निर्धारित कर लगाया जाता था। नदियों तथा स्थल मार्ग से आने वाले सामान पर कर लिया जाता था। आयात कर भी वसूल किया जाता था। राजकीय आय को बड़ी उदारता से खर्च किया जाता था। इस आय को चार मदों में खर्च किया जाता था—एक भाग की आय आर्थिक कृत्यों तथा सरकारी कार्यों में खर्च की जाती थी, दूसरे भाग की आय सार्वजनिक उच्च अधिकारियों पर; तीसरे भाग की आय विद्वानों को पुरस्कार तथा वृत्ति में और चौथे भाग की आय दान-पुण्य के कार्यों में खर्च की जाती थी। लोकहितकारी कार्यों में ही अधिक सरकारी पैसे खर्च होते थे।

न्याय तथा दण्ड :—हर्ष ने अपने राज्य में न्याय की भी पूर्ण व्यवस्था कर रखी थी। शासन व्यवस्था ठीक संगठित होने के कारण प्रजा द्वारा सरकारी नियमों का भंग बहुत कम होता था। यद्यपि प्राय: लोग शान्ति-पूर्वक रहते थे और अपराधों की बड़ी न्यूनता थी पर सड़कें तथा जलमार्ग पूर्ण रूप से सुरक्षित न थे। ह्वेनसांग ने लिखा है कि सरकारी शासन ईमानदारी से होता है और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध अच्छा है, इसलिये अपराधी वर्ग बहुत छोटा है, पर अपराध तो होते ही थे। वह स्वयं कई बार डाकुओं के चंगुल में पड़ गया था। उसका दण्ड-विधान बड़ा ही कठोर था। बड़े-बड़े अपराधियों को मृत्युदण्ड और कारावास दण्ड दिया जाता

था। राजद्रोह के लिये आजीवन कारावास का दण्ड दिया जाता था। अराजकता को दूर करने के लिये कठोर दण्ड-विधान आवश्यक था। कुछ अपराधों के लिये अपराधियों को नगर से निकाल दिया जाता था तथा उन्हें जंगलों में रहने के लिये बाध्य किया जाता था। सामाजिक सदाचार के प्रतिकूल आचरण करने, माता-पिता के साथ अनुचित व्यवहार करने तथा विश्वासघात करने पर अंग-भंग कर दिया जाता था। इसमें एक नाक, एक कान, एक हाथ या एक पैर काट लिया जाता था। साधारण अपराध के लिये जुर्माना किया जाता था। दण्डनीयों को दण्डित करने एवं भलों को पुरस्कृत करने के विचार से हर्ष स्थान-स्थान की यात्रा किया करता था। जल, अग्नि, तुला तथा विष द्वारा अपराधी की परीक्षा भी ली जाने की प्रथा थी। दण्ड-विधान की कठोरता के कारण समाज में अपराध कम होते थे और जनता सुख तथा शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करती थी। 'हर्षचरित' में त्यौहारों पर कैदियों को छोड़े जाने का उल्लेख मिलता है। कुलों की रजिस्ट्री नहीं होती थी। इतना होने पर भी हर्ष का शासन-प्रबन्ध गुप्तों के समान नहीं था क्योंकि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में जब फाह्यान भारत की यात्रा कर रहा था तो उसे किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा पर ह्वेनसांग को जल तथा थल दोनों मार्गों में डाकू मिले। यह शासन की ढिलाई का सबसे बड़ा प्रमाण है। इस प्रकार का प्रसंग हमें ह्वेनसांग के जीवनी में भी मिलता है।

"एक बार पंजाब में चेनाब नदी को पार करने और शाकल नगर को छोड़ने के पश्चात् वह (ह्वेनसांग) पलाश के वन में से गुजरा। वहाँ ५० डाकुओं के एक दल ने उस पर आक्रमण कर दिया, वस्त्रादि सब कुछ लूट लिया और हाथ में तलवार लेकर उसका पीछा किया। अन्त में एक ब्राह्मण ने जो खेत जोत रहा था, उसकी रक्षा की। उसने पुकारकर ८० हथियारबन्द आदमियों को एकत्रित किया।"

सार्वजनिक हित के कार्य :— हर्ष सम्राट् अशोक की तरह बड़ा ही उदार तथा प्रजा का शुभचिंतक था। अतएव उसने बहुत सी लोकोपकारी तथा धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की थी। हर्ष साहित्यकारों का आश्रयदाता था। कला, संस्कृति और धार्मिक कृत्यों पर वह खूब खर्च करता था। उसने वैदिक धर्मावलम्बियों तथा बौद्धों के लिये मन्दिर, चैत्य, विहार तथा स्तूप बनवाये। उसने सड़कों के निर्माण तथा उनकी सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था की थी। इन सड़कों के किनारे यात्रियों की सुविधा के लिये पांथ-शालायें बनवाई गयी थीं। शिक्षा की व्यवस्था अच्छी थी तथा साहित्यकारों को पुरस्कृत किया जाता था। नालन्दा एवं अन्य विद्यापीठों को राज्य की ओर से सहायता मिलती थी। दान-पुण्यों तथा धार्मिक कृत्यों में भी राज्य की ओर से बहुत-सा धन खर्च किया जाता था। हर्ष दान देने में

अद्वितीय था। हर पाँच वर्ष पर वह अपनी समस्त सम्पत्ति दान के रूप में बांटा करता था।

सेना एवं पुलिस :—हर्ष के पास एक विशाल सेना थी। अपने समस्त साम्राज्य को एक सूत्र में बाँधने के लिये उसने अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाई। ह्वेनसांग लिखता है "अपने राज्य की सीमायें बढ़ाकर उसने अपनी सेना की संख्या बढ़ाई। गज-सेना की संख्या बढ़ाकर ६०,००० और अश्वसेना की १००,००० कर दी।" हाथी उसे स्थानीय राजाओं द्वारा दान में मिले थे और कुछ उसके गजक्षेत्राधिकारियों के द्वारा पकड़े गये थे। घोड़े अरब, फारस, कम्बोज और सिन्ध जैसे देशों से आते थे। उसके स्थायी सेना की संख्या ६ लाख थी। इसके अतिरिक्त अस्थायी सैनिक भी होते थे। उत्कीर्ण लेखों में जल-सेना का भी उल्लेख पाया जाता है। प्रारम्भ में ही सैन्य पदाधिकारियों का नाम दे दिया गया है। प्रायः सेना का सञ्चालन सम्राट् स्वयं करता था।

आन्तरिक सुरक्षा एवं शान्ति के लिए हर्ष ने पुलिस विभाग का भी संगठन किया। इस विभाग में दण्डपाशिक, दण्डिक, चौरोद्धरणिक आदि कर्मचारियों का वर्णन मिलता है। 'हर्षचरित' में यामचेटि का उल्लेख है। यह रात्रि में पहरा देने वाली स्त्री होती थी। गुप्तचरों का भी प्रबन्ध था जिसका मुख्य काम छिपकर पता लगाना होता था तथा वे न्याय एवं शासन में सहायता पहुँचाते थे।

लेखा-विभाग :—केन्द्रीय शासन का एक महत्त्वपूर्ण विभाग लेखा-विभाग था। ह्वेनसांग के कथनानुसार जहाँ तक उनके कागज-पत्रों तथा लेखों का सम्बन्ध था उनके अलग-अलग निरीक्षक होते थे। सरकारी इतिहास तथा कागज-पत्रों का सामूहिक नाम 'नील पिट' होता था। उनमें भले तथा बुरे सबका उल्लेख किया जाता था और सार्वजनिक आपत्ति तथा सुकाल का लेखा विस्तारपूर्वक किया जाता था।

मुद्रायें :—श्रीपतसल (प्रपातशील) और श्री शलदत्त (शीलादित्य) की चाँदी की मुद्रायें मिली हैं। ये प्रभाकर और हर्ष की मुद्रायें हो सकती हैं क्योंकि उनकी उपाधियाँ मिलती हैं। एक स्वर्ण मुद्रा भी मिली है जिस पर हर्षदेव लिखा हुआ है। नालन्दा एवं सोनपत में हर्ष की मुहरें भी मिली हैं।

हर्ष का धर्म एवं कन्नौज तथा प्रयाग का धार्मिक सम्मेलन :—धार्मिक क्षेत्र में भी हर्ष ने काफी प्रसिद्धि एवं यश प्राप्त किया। वह एक महान् धर्म परायण सम्राट् था और अशोक की भाँति अत्यन्त सहिष्णु था। वह सभी धर्म वालों को आश्रय देता था। बाण के कथनानुसार हर्ष दिग्विजय के समय नील लोहित (शिव) का उपासक था। बांसखेरा एवं मधुबन अभिलेख हर्ष को क्रमशः परम

माहेश्वर उपाधि युक्त तथा माहेश्वर का उपासक बताते हैं। बाद में चलकर हर्ष बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। प्रारम्भ में सम्भवतः हीनयान सम्प्रदाय में था और तत्पश्चात् ह्वेनसांग के सम्पर्क में आकर महायान सम्प्रदाय का समर्थक हो गया।

उसकी धार्मिक नीति के सम्बन्ध में ह्वेनसांग का विवरण काफी महत्त्वपूर्ण है। वह लिखता है—"उसने (हर्ष) पञ्च भारत में मांसाहार बन्द करा दिया तथा जीवों को कठोर शारीरिक दण्ड देने की मनाही कर दी। उसने गङ्गा तट पर हजारों स्तूपों का निर्माण करवाया और अपने सम्पूर्ण राज्य में यात्रियों के लिये विश्राम-गृह बनवाये तथा बौद्धस्थानों में विहारों की स्थापना कराई। वह नियमित रूप से पञ्चवर्षीय दान-वितरण का आयोजन करता और धर्म के निमित्त अस्त्र-शस्त्रों के अतिरिक्त अपना सर्वस्व दान कर देता था।......वह प्रतिदिन १०० बौद्ध भिक्षु तथा ५०० ब्राह्मणों को भोजन कराता था। राजा का दिन तीन भागों में विभक्त था जिसमें एक भाग राज-काज के लिये तथा शेष दो धार्मिक कृत्यों के लिये निर्धारित थे।

हर्ष की शान्ति की विजय उसकी युद्ध की विजयों से कहीं अधिक व्यापक थी। उसने कन्नौज में महायान के सिद्धान्तों के प्रचार के लिये एक विशेष समारोह का आयोजन किया था जो धर्म महोत्सव के नाम से प्रसिद्ध है। इस उत्सव में २० देशों के राजा एवं प्रतिनिधि सम्मिलित हुये थे। यहाँ हर्ष ने पाँचों भारतों के नृपतियों एवं विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वानों का स्वागत किया था। ह्वेनसांग एवं भास्करवर्मा भी उपस्थित थे। इस उत्सव में बुद्ध की पूर्णाकार एक सुवर्ण प्रतिमा स्थापित की गई थी। इस प्रतिमा को जो तीन फीट ऊँची थी एक अलंकृत हाथी पर रख कर जलूस निकाला गया। जलूस समाप्त हो जाने पर हर्ष ने बुद्ध की प्रतिमा की पूजा की और एक भोज दिया। इसके बाद धार्मिक वाद-विवाद प्रारम्भ हुआ। ह्वेनसांग ने महायान सम्प्रदाय के गुणों की पूर्ण समीक्षा की। उसने उपस्थित विद्वानों को चुनौती दी किन्तु किसी को विरोध करने का साहस नहीं हुआ। इस सभा में ह्वेनसांग का भाषण १८ दिनों तक निर्विरोध चलता रहा। हर्ष उसके भाषण से बड़ा प्रभावित हुआ तथा उसका बड़ा आदर-सत्कार किया। उसे बहुत से उपहार देने का प्रयत्न किया, जिन्हें चीनी यात्री ने लेने से इनकार किया।

ह्वेनसांग की भारत-यात्रा के काल में ही हर्ष ने प्रयाग में भी एक सभा की थी। यह सभा तीस वर्षों से हर पाँचवें वर्ष होती चली आ रही थी। हर्ष ने इस सभा में अपने छठें पञ्चवर्षीय दान-वितरण का आयोजन किया। इस सभा में वलभी के ध्रुवभट्ट एवं भास्करवर्मा भी सम्मिलित हुये थे तथा इसमें विभिन्न सम्प्रदायों के

लगभग ५ लाख लोगों ने भाग लिया। इस अवसर पर हर्ष बुद्ध, सूर्य एवं शिव सभी देवताओं को समान रूप से सम्मानित करता था और सबकी प्रतिभाओं की बड़े समारोह के साथ पूजा करता था तथा दान बाँटा जाता था। कोष समाप्त हो जाने पर हर्ष ने अपने व्यक्तिगत रत्न और वस्तुएँ दान में दे डालीं। इसी से यह महादान भूमि कहलाती थी। ह्वेनसांग के कथनानुसार हर्ष ने अपनी पाँच वर्ष की सम्पूर्ण सम्पत्ति इस छठे अधिवेशन में दान दे दी थी। इस अधिवेशन के पहले दिन बुद्ध की प्रतिमा की पूजा की गई, दूसरे दिन सूर्य की और तीसरे दिन शिव की पूजाएँ की गई थीं। चौथे दिन बौद्ध भिक्षुओं को दान दिया गया। इसके बाद बीस दिन तक ब्राह्मणों को दान दिया गया। दस दिन तक जैन तथा अन्य सम्प्रदाय वालों को दान दिया गया। फिर दस दिन तक साधुओं को दान दिया गया और एक महीने तक दीन-दुखियों, अनाथों, असहायों तथा लूले-लँगड़े को दान दिया गया। इस तरह के दान-वितरण का प्रभाव तो उसके राजकोष पर अवश्य ही पड़ा होगा।

अब यह एक विचारणीय प्रश्न है कि हर्ष का व्यक्तिगत धर्म क्या था? अपने अभिलेखों में उसने अपने को 'परम माहेश्वर' कहा है। 'हर्षचरित' से यह प्रकट होता है कि शशांक के विरुद्ध प्रस्थान करने के पूर्व हर्ष ने नील लोहित (शिव) की पूजा की थी। कृष्णदत्त बाजपेयी ने फर्रुखाबाद में हर्ष की एक स्वर्णमुद्रा प्राप्त की है जिस पर नन्दी पर आसीन शिव और पार्वती के चित्र उत्कीर्ण हैं। ये उसके शैव होने का प्रमाण देते हैं पर बाद में ह्वेनसांग के प्रभाव में आकर बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुआ तथा उसके ही प्रभाव से वह बौद्ध हो गया।

राज्यश्री (बौद्ध)—उसकी बहन का भी प्रभाव उस पर अवश्य पड़ा होगा। कन्नौज के समारोह से उसके महायानी होने का प्रमाण मिलता है पर महासम्मेलन के प्रारम्भ में जो जलूस निकाला गया उसमें बुद्ध की मूर्त्ति सबसे आगे थी। उनके दोनों ओर ब्रह्मा के रूप धारण किये हुये भास्करवर्मा और शक्र का रूप धारण किये हुए हर्ष अनुचर की भाँति चल रहे थे। अधिवेशन में ह्वेनसांग ने यह घोषणा कर दी थी कि जो व्यक्ति मुझे वाद-विवाद में पराजित करेगा उसे अपना शीश भी दे दूँगा। उसने अपने भाषण में महायान-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की खूब प्रशंसा की। कुछ लोगों ने ह्वेनसांग की हत्या करने का षड्यन्त्र रचा। इस पर हर्षवर्धन ने घोषणा की—'जो व्यक्ति ह्वेनसांग को चोट पहुँचायेगा, उसे प्राणदण्ड दिया जायेगा।' इसका अर्थ यह था कि सम्मेलन में ह्वेनसांग के मत के विरुद्ध बोलने की स्वतन्त्रता नहीं दी गई। यह महायान धर्म के प्रति पक्षपात था। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि हम उसे बौद्ध धर्म का प्रचारक नहीं कह सकते क्योंकि हम देखते हैं

कि प्रयाग में उसने बुद्ध के साथ ही सूर्य एवं शिव की भी पूजा की थी। उसने ब्राह्मणों को भोजन कराया तथा खूब दान दिये। कश्मीर से बुद्ध का दाँत लेकर उसने कन्नौज के संघाराम को दिया। बौद्ध धर्म का प्रभाव उसके जीवन-दर्शन पर पड़ा। उड़ीसा में महायान धर्म का प्रचार करने के लिये हर्ष ने नालन्दा महाविहार के चार प्रचारकों को भेजा। उसने सैकड़ों स्तूपों एवं विहारों का निर्माण कराया। पशु बध और माँस भक्षण के विरुद्ध कठोर नियम बनाया। गरीबों के लिये उसने भोजन एवं औषधियों का प्रबन्ध किया तथा पुण्यशालाओं का निर्माण भी करवाया। महायान धर्म की प्रधानता काफी थी तथा उसके १८ शाखाओं का वर्णन मिलता है।

अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध :—हर्ष न केवल महान् विजेता तथा कुशल शासक था बल्कि वह एक बड़ा राजनीतिज्ञ भी था। उसका अपने विजित तथा अधीनस्थ राज्यों के साथ किसी भी प्रकार का क्रूर व्यवहार नहीं था। उसकी परराष्ट्र नीति उदारता एवं मित्रता के सिद्धान्तों पर आधारित थी। वह जानता था कि केवल सैनिक बल से ही राज्य को सुरक्षित नहीं बनाया जा सकता। अतएव उसने अपने पड़ोस तथा विदेशी राज्यों से मैत्री भी कर रखी थी। उसकी अधीनता में रहते हुये भी सभी छोटे-छोटे राज्य परस्पर फूलते और विकसित होते थे। अपने राजत्व-काल के प्रारम्भ में ही उसने कामरूप (आसाम) के शासक भास्करवर्मा से सन्धि तथा मैत्री कर ली थी। यह मैत्री स्थायी तथा बड़ी ही लाभप्रद सिद्ध हुई। इसी से भयभीत होकर शशांक को कन्नौज छोड़ देना पड़ा था। वलभी के शासक से भी बाद में मैत्री हो गयी थी जिससे हर्ष ने अपनी कन्या का विवाह ध्रुवभट्ट (ध्रुवसेन) के साथ कर दिया था। इस वैवाहिक सम्बन्ध से हर्ष को दक्षिण जाने का मार्ग मिल गया।

ह्वेनसांग के अनुसार उसके मित्र राज्य इस प्रकार थे—वलभी, भड़ौच, जलन्धर, सिन्धु, उज्जैन, गुर्जर प्रदेश, बुन्देलखण्ड, सुवर्ण-गोत्र-देश, महेश्वरपुर (ग्वालियर का परवर्ती प्रदेश), बैराट, मथुरा, मतिपुर (बिजनौर के समीप), कश्मीर, कपिलवस्तु, कामरूप, नेपाल, कपिशा तथा महाराष्ट्र। उसने किस प्रदेश या राज्य के लिये सुवर्ण-गोत्र प्रदेश कहा है, यह अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है। उपरोक्त में से अनेक तो इस प्रकार के राज्य थे जिनसे हर्ष ने युद्ध किया और उन्हें युद्ध में परास्त करके उन्हें मुक्त कर दिया। भड़ौच का राजा दद्दा द्वितीय भी वलभी के साथ ही मैत्री-स्थापित कर लिया था। नेपाल और कश्मीर के साथ हर्ष का व्यवहार किस प्रकार का था, यह स्पष्ट नहीं है। उसने चीन के साथ भी पारस्परिक मैत्री का सम्बन्ध स्थापित किया। इससे हमें पता चलता है कि

हर्षवर्धन ने सुदृढ़ राष्ट्र एवं विस्तृत साम्राज्य की स्थापना के साथ ही साथ एक सफल और आदर्श परराष्ट्रनीति का व्यवहार जीवनपर्यन्त किया था।

ह्वेनसांग का यात्रा-विवरण :—हर्ष के शासन काल में ह्वेनसांग ६२९ ई० में भारत आया और ६४५ ई० तक रहा। वह भारत में आये हुए सभी चीनी यात्रियों में सर्वश्रेष्ठ एवं प्रसिद्ध है। उसके समय में चीन में थाङ वंश शासन कर रहा था। उसका जन्म ६०५ ई० में होनान्-फू के निकट एक नगर में हुआ था। उसका भाई पहले ही भिक्षु हो गया था। उसने भी अपने भाई का ही अनुकरण किया तथा भिक्षु बन गया। वह बचपन से ही जिज्ञासु था तथा ज्ञान एवं सत्य की खोज किया करता था। उसने चीन के विभिन्न भागों में जाकर अध्ययन किया। बाद में वह चङ्गन में रहने लगा। उन दिनों क्यूसुआ चीन का राजा था। ह्वेनसांग एवं उसके कई साथी सम्राट् के समक्ष होकर भारत-यात्रा की योजना रख उससे सहायता की याचना की थी। पर राजा ने कोई भी सहायता नहीं दी। इससे ह्वेनसांग तनिक भी हतोत्साहित नहीं हुआ तथा ६२९ ई० में अपनी २४ वर्ष की अवस्था में बुद्ध की भूमि—भारत के लिये प्रस्थान कर दिया। उसके साथ उसके दो और मित्र थे। ये तीनों व्यक्ति लाङ्गजू की ओर चले। यहाँ पहुँचने पर उन्हें व्यापारियों से बड़ा प्रोत्साहन मिला जिन्होंने बड़ी ही उदारतापूर्वक उसके लिये यात्रा के सामानों का प्रबन्ध कर दिया। वहाँ से वह गोबी की मरुभूमि में पहुँचा जहाँ वह अकेला था। रास्ते की कठिनाइयों को देखते हुए उसके दोनों साथी वापस लौट गये। अब वह आगे की ओर बढ़कर हामी नगर में पहुँचा जहाँ के शासक ने उसे कुछ महीनों के लिये धर्मोपदेश देने को बाध्य किया। हामी से ह्वेनसांग काशार राज्य में पहुँचा जहाँ के राजा ने उसका बड़ा स्वागत किया। वहाँ वह दो महीने तक रहने के बाद बहुत से रक्षकों तथा यात्रा सामग्री के साथ विदा हुआ। बहुत सी मुसीबतों का सामना करते हुए वह पठानों के देश में आया। वहाँ भी उसकी काफी इज्जत की गयी। अब वह समरकन्द पहुँचा जहाँ वह कुछ दिनों तक रहने के बाद आक्सस नदी के किनारे आया।

यहाँ पहुँचने पर ह्वेनसांग को एक और साथी मिल गया जो बहुत दिनों तक भारत में रह चुका था। यहाँ से वे दोनों एक साथ मिलकर चले तथा बलख आ गये। यहाँ बौद्ध धर्म का काफी प्रचार था। इसके अतिरिक्त बहुत से स्तूप एवं मठ बने हुये थे। वहाँ से ह्वेनसांग शीघ्र ही प्रस्थान कर दिया तथा अनेक आपत्तियों का सामना करता हुआ हिन्दूकुश पर्वत के पास बामियान नगर में पहुँचा जो बौद्ध धर्म का केन्द्र था। हिन्दूकुश पर्वत को पारकर वह काबुल नदी के किनारे-किनारे नगरहार आया जो इलाहाबाद के निकट है। अब ह्वेनसांग वहाँ से चलकर

पेशावर पहुँचा तथा पेशावर से सिन्ध नदी को पार करके तक्षशिला पहुँचा। तक्षशिला से वह कश्मीर गया जहाँ वह सन् ६३१ ई० में पहुँचा था। यहाँ के एक विहार में वह दो वर्षों तक अध्ययन किया। कश्मीर से मथुरा, थानेश्वर होते हुये वह हर्ष की राजधानी कन्नौज पहुँचा। यहाँ हर्ष ने उसका आदर-सत्कार किया। यहाँ से वह अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, पाटलिपुत्र, गया एवं राजगीर होते हुये नालन्दा पहुँचा जहाँ नालन्दा महाविहार में उसने दो वर्षों तक संस्कृत एवं बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया।

ह्वेनसांग नालन्दा से आसाम होता हुआ ताम्रलिप्ति पहुँचा। यहाँ से चलकर उड़ीसा होता हुआ ६४० ई० में काञ्चीपुर अर्थात् काञ्चीवरम् पहुँचा। यहाँ से महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, सिन्ध, मुल्तान तथा गजनी होता हुआ अपने पुराने मार्ग से काबुल नदी के किनारे पर पहुँच गया जहाँ से पामीर की पर्वतश्रेणियों को पार करते हुये काश्गर तथा खोतान होता हुआ वह अपने देश को लौट गया। ह्वेनसांग की मृत्यु ६६४ ई० में हो गयी।

ह्वेनसांग ने अपना भ्रमण वृत्तान्त लिखा है जो हर्षकालीन भारत के ज्ञान के लिये एक अमूल्य साधन है। उसने लिखा है कि हर्ष का शासन सुव्यवस्थित तथा प्रजाहितकारी था। पर देश में पूर्ण शान्ति नहीं थी क्योंकि स्वयं उसे कई बार नाव पर या पैदल चोरों, डकैतों व नाविक डाकुओं का सामना करना पड़ा था। ह्वेनसांग जिन क्षेत्रों से गुजरा उसके विषय में कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा था। वह लिखता है—कश्मीर के लोग धोखेबाज तथा कायर होते थे, मथुरा के लोग विद्वान एवं नैतिक आचरण का सम्मान करते थे, थानेश्वर के लोगों को अभिचार क्रिया से विशेष प्रेम था। कन्नौज के विषय में उसने लिखा है कि उनका रूप परिष्कृत होता था तथा वे चमकीले रेशमी वस्त्र पहनते थे। वे विद्या एवं कला के व्यसनी तथा स्पष्ट एवं अर्थपूर्ण वक्ता थे। मालवा के लोग नम्रस्वभाव के साथ-साथ बुद्धिमान होते थे तथा वे मगध-निवासियों की तरह विद्वानों का आदर करते थे। इसी प्रकार पुण्ड्रवर्धन के निवासी भी विद्वानों का सम्मान किया करते थे। कामरूप वाले ईमानदार होते हुए भी कड़े स्वभाव के थे तथा वे विद्याप्रेमी और अध्यवसायी थे। उड़ीसा, आन्ध्रप्रदेश एवं धनकटकवासी भी कड़े स्वभाव के थे। चोलदेश वाले लुच्चे, लफंगे होते थे। द्रविड़ के लोग पूर्णरूपेण विश्वसनीय, साहसी एवं सार्वजनिक हितपूर्ण और विद्याप्रेमी होते थे। महाराष्ट्र के लोग अभिमानी, युद्धप्रेमी, कृतज्ञ प्रतिकार लेने वाले तथा कष्टपीड़ितों के लिये आत्म-त्याग करने वाले थे। इस प्रकार के कथन का क्या आधार हो सकता है, यह अस्पष्ट है पर रतिभानुसिंह 'नाहर' ने इसे ह्वेनसांग का वैयक्तिक अनुभव कहा है। उनके अनुसार जिस प्रकार आज भी कुछ स्थानों के लिये कहावतें प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार उन दिनों भी उक्त

नगरों के सम्बन्ध में ऐसी कहावतें कही जाती थीं जिनके आधार पर ह्वेनसांग ने ऐसा लिखा था।[1]

ह्वेनसांग के मतानुसार विदेशी लोग भारत को ब्राह्मणों का देश समझते थे। सभ्य लोग जिनमें बौद्ध भी थे, संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे। ब्राह्मण धर्म अनेक दलों में बँटा हुआ था जो बाह्य विशिष्ट चिह्नों जैसे मुण्डमाल घुटे सिर, गाँठ से बँधे बाल और भस्म से रंगे शरीर द्वारा पहचाने जाते थे। संन्यासी लोग त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे। वे धन की चिन्ता नहीं करते थे। वे अपना भोजन माँग कर करते थे। राजा अपने दरबार में इन्हें आने के लिए बाध्य नहीं कर सकते थे। ये संन्यासी देश भर में घूमते रहते थे।

बौद्ध धर्म अवनति पर था। बोधगया एवं पाटलिपुत्र उजाड़ थे। गान्धार, कपिशा और सिन्ध स्वतन्त्र साम्राज्य थे जिनके अधीन अन्य राज्य थे। ह्वेनसांग ने कन्नौज की सभा का वर्णन किया है जिसमें उसे बडा विद्वान घोषित किया गया था।

नालन्दा विश्वविद्यालय :—उत्तर पूरब भारत के बिहार प्रदेश में नालन्दा महाविहार अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। यहाँ उसने शीलभद्र के चरणों में बैठ कर योग का अध्ययन किया था। यहाँ के कुलपपि उस समय भारत के महान् पण्डित शीलभद्र थे। यह एक स्नातकोत्तर विश्वविद्यालय था। इस विश्वविद्यालय में दस हजार विद्यार्थी एवं एक हजार शिक्षक थे एवं प्रतिदिन सौ व्याख्यान होते थे।

नालन्दा विश्वविद्यालय को कुमारगुप्त प्रथम तथा उसके अनेक उत्तराधिकारियों ने प्रश्रय एवं महत्त्व प्रदान किया था। हर्ष ने इसके लिये पर्याप्त धन राशि दी थी। शीलभद्र के पूर्व दिंगनाथ, स्थिरमति एवं धर्मपाल विश्वविद्यालय के कुलपति रह चुके थे। नालन्दा में कठिन परीक्षा के बाद प्रवेश मिलता था। विश्वविद्यालय में प्रवेश तभी सम्भव था जब द्वारपाल द्वारा ली गई परीक्षा में विद्यार्थी सफल हो जाये पर केवल ३० प्रतिशत विद्यार्थी ही इसमें सफल होते थे। स्त्रियों का प्रवेश वैध था पर वे कक्षा में विद्यार्थियों से बात नहीं कर सकती थीं, पर वे बाहर बात कर सकती थीं।

शिक्षा का माध्यम नालन्दा में संस्कृत था। यहाँ प्रारम्भिक, माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षाओं की व्यवस्था थी। प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए विद्यार्थियों की अवस्था ८ से १३ वर्ष की थी तथा माध्यमिक के लिये १३ से २० वर्ष। इस विश्वविद्यालय की उपाधि का विश्व में बड़ा महत्त्व था। विश्वविद्यालय तथा वहाँ के छात्र अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर रहे थे। यहाँ कोरिया, मंगोलिया, जापान,

१. प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ६४४

चीन, तुखार, तिब्बत, लंका आदि विदेशों से विद्यार्थी और विद्वान पढ़ने के लिये आते थे। ह्वेनसांग को ऐसे ५६ विद्यार्थी मिले। इनमें से कुछ भारतीय नाम रख लिये थे जैसे—ह्वानचाओ–प्रकाशमति, ताओही–श्रीदेव, ताओ चेङ्ग–चन्द्रदेव, ताचेङ्ग-तेङ्ग–महायान प्रदीप, ताओलिन–शीलप्रभ, तिङ मुन–प्रज्ञादेव।

यह विश्वविद्यालय दुनिया के प्राचीन विद्यालयों में था। सभी विद्यार्थी और शिक्षकों के रहने और खाने-पीने का प्रबन्ध था। यहाँ उच्चतम शिक्षा दी जाती थी। यहाँ की शिक्षा उच्च कोटि की थी। यह विचार गोष्ठियों में विचारों के आदान-प्रदान पर आधारित थी। पढ़ते और विचार करते हुये वे लोग इतने व्यस्त रहते थे कि उन्हें दिन बहुत छोटा मालूम पड़ता था। दिनरात वे एक दूसरे को उपदेश देते रहते थे। छोटे और बड़े एक दूसरे की सहायता करते थे जिससे वे पूर्णता प्राप्त कर सकें।

यह विश्वविद्यालय उदारता के लिये प्रसिद्ध था। यहाँ कला, विज्ञान, शिल्प और उद्योग की शिक्षा की व्यवस्था थी। बौद्ध विषयों की शिक्षा का ही नहीं वरन् वैदिक शिक्षा, चिकित्सा, व्याकरण इत्यादि विषयों की शिक्षा का भी प्रबन्ध था। हेतुविद्या (तर्क), शब्दविद्या (व्याकरण), चिकित्सा विद्या (भैषज्य), सांख्य, योग, न्याय, सर्वास्तिवाद, माध्यमिक आदि विभिन्न दर्शनों की शिक्षा का पूरा प्रबन्ध था। चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा अनिवार्य थी। ह्वेनसांग के समय में वहाँ सात विहार और आठ प्रकोष्ठ थे। विहार में कई गगनचुम्बी महल थे। पुस्तकालय नौमंजिले का था।

वहाँ के छात्रावास में विद्यार्थियों के रहने के लिये कमरा था जिसमें पत्थर की चौकी थी तथा किताब और अन्य सामान रखने के लिये आलमारियाँ दीवाल में ही बनी थीं। चारो ओर बरामदा था। जिसके बाद खुला आँगन था जिसमें सामूहिक शिक्षा एवं पूजा होती थी।

बिश्वविद्यालय का खर्च राजकीय एवं धनी व्यक्तियों के दान से चलता था। अनेक गाँव एवं भूमि दान में दिये गये थे। विश्वविद्यालय का अपना कृषिक्षेत्र था। हर्ष नालन्दा विश्वविद्यालय को बहुत सा धन दानस्वरूप दिया करता था। विद्यार्थी निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करते थे। गाँवों से विश्वविद्यालय को चावल, मक्खन, घी इत्यादि निश्चित मात्रा में मिलता था। भोजन पौष्टिक मिलता था। पालयुग भी नालन्दा के इतिहास में प्रगति का काल था। विश्वविद्यालय की अपनी मुद्रा थी जिस पर 'श्री नालन्दा महाविहार आर्य भिक्षु संघस्य' लेख उत्कीर्ण था। उससे सम्बद्ध पृथक् बिहार या विद्यालय थे जिनकी अपनी-अपनी मुद्राएँ थीं। ऐसी एक मुद्रा गुणाकर नामक संघ या विद्यालय की थी। स्थानीय विद्यालय के अलावे विदेशी विद्यालय

भी विश्वविद्यालय से सम्बद्ध थे जिसे सुवर्णद्वीप के शैलेन्द्रवंश के महाराज बालपुत्रदेव ने स्थापित किया था।

हर्ष का व्यक्तित्व और मूल्यांकन :—समुद्रगुप्त जैसे दिग्विजयी सम्राटों की भाँति हर्ष भी एक महान् विजेता था। उसमें अद्वितीय सैनिक प्रतिभा थी। उसने विजयों के द्वारा भारतीय साम्राज्य को सुसम्बद्ध बनाया। वह एक महान् शासक था। प्रजाहित उसका सबसे महान् कार्य था। वह इसे पूरा करने के लिये सदैव तत्पर रहा। दण्ड के भय से उस समय अपराधों की संख्या बहुत ही कम थी। वह एक कुशल साम्राज्य-निर्माता था। हर्ष विद्यानुरागी था। उसके दरबार में बाण, मयूर, हरिदत्त, मातंग, दिवाकर आदि विद्वान रहते थे। वह कलानुरागी भी था। उसके संरक्षण में अनेक कलाओं की उन्नति हुई। वह विरागी स्वभाव का था। उसने बड़े ही संकोच से राजमुकुट ग्रहण किया था। उसके पिता, बहनोई, भाई की मृत्यु तथा बहन के बन्दी बना लेने से उसका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो गका था। धार्मिक दृष्टि से वह बड़ा ही उदार एवं सहिष्णु था। आरम्भ में उसकी हिन्दू धर्म में अधिक श्रद्धा थी पर बाद में वह बौद्ध धर्मानुयायी हो गया, फिर भी वह सब धर्मों का समान आदर करता था।

प्रारम्भ में हर्ष को शिकार से बड़ा चाव था। यद्यपि हर्ष ने अपने बाहुबल से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी परन्तु न तो उसमें समुद्रगुप्त के सैनिक गुण थे और न चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की शासन-पटुता। इसी कारण उसकी मृत्यु के बाद ही उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अपने जीवन-काल में उसने बड़ी ही उदारता एवं योग्यता के बल पर शासन किया तथा अपनी प्रजा की ऐहिक एवं आध्यात्मिक उन्नति का प्रयत्न किया। एक स्वेच्छाचारी सम्राट् होते हुये भी वह लोकमत का आदर करता था तथा नैतिक बल का अवलम्ब लेता था। लोकमत के अनिश्चित होने के कारण एवं अपनी बहन राज्यश्री की अनुपस्थिति में उसने कन्नौज का राज्यसिंहासन स्वीकार नहीं किया। यद्यपि उसका भाई राज्यवर्धन संन्यास लेने के लिये तैयार था पर हर्ष ने अपने अनुरोध से उसे शासन की बागडोर लेने के लिये बाध्य किया था। इससे यह पता लगता है कि वह राज्यलोलुप नहीं था। यद्यपि अशोक की तरह वह अहिंसा का पुजारी तथा बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया था पर अशोक की भाँति वह धर्म-प्रचारक न था। वह केवल धर्मरक्षक था। राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है—"हर्ष के चरित्र में समुद्रगुप्त तथा अशोक दोनों के गुणों का समन्वय था। समुद्रगुप्त की भाँति विभिन्न दिशाओं में विजय प्राप्त करके उन्होंने सम्राट् का पद प्राप्त किया तथा देश की ऐतिहासिक एकता को पुनः स्थापित किया। उसके उपरान्त युद्ध को सदैव के लिये तिलांजलि देकर अशोक की भाँति अपनी सम्पूर्ण शक्ति को शान्ति के

कार्यों में लगाया और देश की भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति में योग देकर उसके सांस्कृतिक व्यक्तित्व तथा महानता को विकसित किया।"

हर्षवर्धन विद्या के प्रति उदार था। ह्वेनसांग के मतानुसार हर्ष राजकीय क्षेत्रों का चतुर्थांश प्रख्यात मेधावियों को पुरस्कृत करने में व्यय करता था। बाण के अनुसार हर्ष अपनी काव्य-कथाओं में अमृत-वर्षा करता था। सोड्ढल नामक ११वीं शती के एक विद्वान ने हर्ष को अपने ग्रन्थ में कवीन्द्र कहा है। १२वीं शती के कवि जयदेव ने अपने 'प्रसन्नराघव' में हर्ष को काव्य का हर्ष कहा है। ७वीं शती के चीनी यात्री इत्सिंग ने लिखा है कि शीलादित्य (हर्ष) साहित्य प्रेमी थे तथा उन्होंने जीमूतवाहन की कथा को पद्य में लिखा था। इसके अतिरिक्त हर्ष ने प्रियदर्शिका एवं रत्नावली नामक नाटकों की भी रचना की थी। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान जयसेन को उसने उदारतापूर्वक उड़ीसा के अस्सी बड़े नगरों की आय दान कर दी। नालन्दा महाविहार को भी उसने दान दिया था।

कुछ इतिहासकार उसकी तुलना कनिष्क से करते हैं किन्तु वह कनिष्क जैसा महान् सेनापति न था। धर्म के इतिहास में कनिष्क का स्थान बहुत ही ऊँचा है। उसने बौद्ध धर्म के उत्थान में यथेष्ट योगदान दिया लेकिन हर्ष का दान उतना बड़ा नहीं था। उसमें न चन्द्रगुप्त मौर्य का युद्धकौशल ही था और न अशोक का ऊँचा आदर्श ही फिर भी भारतीय इतिहास में उसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। शासक एवं विजेता के रूप में महान् होने साथ ही साथ वह शान्तिस्थापक के रूप में भी महत्त्वपूर्ण था। उसकी शान्ति की विजय उसकी युद्ध की विजयों से कहीं अधिक व्यापक थी। उसने अपनी प्रजा के कल्याण के लिये एवं देश के सांस्कृतिक स्तर को ऊपर उठाने के लिये कुछ भी नहीं उठा रखा। भारतीय इतिहास में वह अपनी सहिष्णुता, उदारता, दान एवं विभिन्न प्रतिष्ठानों की स्थापना के लिये सदा प्रसिद्ध रहेगा।

हर्षवर्धन ने भीषण आपत्तियों का भी बड़े धैर्य के साथ सामना किया था। महानता के सारे लक्षण उसमें विद्यमान थे। वह महत्त्वाकांक्षी सम्राट् था तथा राजनीतिक चालों में पारंगत था। उसने गुप्तों के बाद भारत में व्याप्त अराजकता का अन्त किया।

हर्ष की मृत्यु :—लगभग ४५ वर्षों तक शासन करने के उपरान्त ६४७–४८ ई० में हर्ष का देहावसान हो गया। उसके कोई पुत्र नहीं था। उसके मरते ही उसका राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। अब भारतीय इतिहास का साम्राज्यवादी काल समाप्त हो गया। विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियाँ फिर प्रबल हो गयीं तथा उत्तर भारत में एकाधिपत्य के लिये संघर्ष प्रारम्भ हो गया। वी० ए० स्मिथ ने इस मत का समर्थन किया है। यह ठीक है कि उसने भारत के बहुत बड़े भाग पर अधिकार

स्थापित किया था तथा एक विशाल साम्राज्य का निर्माण भी किया था। पर इसकी मृत्यु के बाद भारत में कुछ ऐसे साम्राज्यों की स्थापना हुयी, जो हर्ष के साम्राज्य से बड़े होने के साथ-साथ शक्तिशाली भी थे। इसलिए यह कहना उचित नहीं जँचता कि वह भारत का अन्तिम शक्तिशाली हिन्दू सम्राट् था। राधाकृष्ण चौधरी ने कहा है कि—"भारतीय इतिहास में बहुधा ऐसा होता आया है कि साम्राज्य के पतन के बाद और उसके एकताजनक प्रभाव के हटने के फलस्वरूप छोटे-छोटे राज्यों का उदय हुआ जो आपस में राज्यशक्ति के लिये लड़ते-झगड़ते रहे हैं। हर्ष की मृत्यु के बाद भी यही बात हुयी, इसलिये हम इसे अस्वाभाविक नहीं कह सकते।"

यह हम जानते हैं कि हर्ष को कोई पुत्र नहीं था अतः अरुणाश्व या अर्जुन नामक उसके एक मन्त्री ने अपने को सम्राट् घोषित कर कन्नौज के सिंहासन पर बैठ गया। इसी समय चीन से एक दूत-मण्डल वङ्गहुएन्से के नेतृत्व में भारत आया। अर्जुन ने इस दल में से कुछ की हत्या करवा दी। पर इस दल का नेता वङ्गहुएन्से अपने प्राणों की रक्षा के लिये नेपाल के राजा के पास भागा। उन दिनों नेपाल तिब्बत के अधीन था तथा तिब्बत के राजा ने चीन की राजकुमारी से विवाह भी कर लिया था। वङ्गहुएन्से ने नेपाल तथा तिब्बती सेनाओं के साथ अर्जुन पर आक्रमण कर दिया और उसे कैद कर चीन ले गया जिससे तिरहुत का प्रदेश तिब्बत राज्य का एक अंग बन गया तथा ७०३ ई० तक उसके अधीन रहा। अर्जुन को प्राणदण्ड दे दिया गया। बी० पी० सिन्हा, के० एम० पणिक्कर आदि प्रसिद्ध इतिहासकार ने अर्जुन या अरुणाश्व को तिरहुत का ही राजा मानते हैं तथा कुछ इतिहासकार इसे चीन-भारत के झगड़े का यह प्रथम उदाहरण स्वीकार करते हैं। के० एम० पणिक्कर ने इस घटना को नितान्त महत्त्वहीन समझा है। उनके शब्दों में—"कुछ इतिहासकारों ने अपनी आदत के अनुसार तिल का ताड़ बना दिया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि चीन ने भारत पर चढ़ाई की थी।"[1]

इसके बाद कन्नौज का इतिहास अन्धकारमय है तथा हर्ष की मृत्यु के बाद का ७५ वर्ष का इतिहास ठीक-ठीक नहीं ज्ञात हो सका है। हर्ष साम्राज्य के अन्य भागों में भी बड़ी गड़बड़ी आरम्भ हो गयी। असम में भास्कर वर्मा ने कर्ण सुवर्ण एवं उसके आस-पास के क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। मगध में माधवगुप्त के पुत्र आदित्यसेन ने अपने को स्वतन्त्र राजा घोषित कर दिया और एक अश्वमेध यज्ञ भी किया। पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के राज्य भी स्वतन्त्र हो गये। राजपूताना के गुर्जर एवं कश्मीर में करकोटकों का उत्थान हुआ। इस तरह भारत की राजनैतिक

---

१. भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण, पृ० ८१

एकता पुनः छिन्न-भिन्न हो गयी और भारत में छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हो गयी जो आपस में संघर्ष करने लग गये ।

हर्ष को भारत का अन्तिम सम्राट् कहना ठीक नहीं मालूम पड़ता । हर्ष के बाद भी भारत में बहुत सारे सम्राट् हुये जिनका राज्य हर्ष से बड़ा नहीं तो छोटा भी नहीं था तथा हर दृष्टिकोण से वे हर्ष के बराबर माने जाते थे । इनमें ललितादित्य मुक्तापीड़ और यशोवर्मन का साम्राज्य, पालों और प्रतिहारों का साम्राज्य, चन्देल यशोवर्मन एवं कलचुरी गग तथा कर्ण का साम्राज्य, राष्ट्रकूट ध्रुव और गोविन्द तृतीय का साम्राज्य, राजेन्द्र चोल का साम्राज्य तथा चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ का साम्राज्य उल्लेखनीय हैं ।

ऊपर के सभी साम्राज्यों के इतिहास को सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया जाये तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि हर्ष प्राचीन भारत का अन्तिम सम्राट् नहीं था । हर्ष के बाद भी मगध के राजा आदित्यसेन ने दिग्विजय की परम्परा को पूरा कर अश्वमेध यज्ञ किया था । इसके अतिरिक्त कन्नौज का महत्त्व बना रहा । राधाकृष्ण चौधरी इसे गलत मानते हैं कि हर्ष की मृत्यु के बाद राजनीतिक चेतना का ह्रास हुआ । हाँ एक वात यह है कि मौर्य या गुप्त काल ही तरह हर्ष के बाद स्थायित्व नहीं रहा और इसका मुख्य कारण यह था कि हर साम्राज्यवादी मौका मिलने पर अपना-अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाना चाहता था, अतः उनमें आपसी संघर्ष होना स्वाभाविक था ।

हर्ष की मृत्यु के बाद इतिहास का क्रमिक विकास जारी रहा तथा भारतीय सांस्कृतिक जीवन का ह्रास नहीं हुआ । कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में काफी वृद्धि हुई · साहित्य का भी उत्तरोत्तर विकास हुआ । विद्या और कला की सर्वांगीण उन्नति होती रही । इन सब तथ्यों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हर्ष के बाद भारतीय इतिहास ने कोई नया मोड़ नहीं लिया । एक इतिहासकार ने यहाँ तक कह डाला है कि उसे न तो अन्तिम हिन्दू सम्राट् कहना युक्तिसङ्गत होगा और न यह कि उसके बाद भारतीय इतिहास अन्धकार के गर्त में चला गया । इसलिये उसकी मृत्यु का कोई भी ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है ।

सामाजिक अवस्था

हर्षकालीन समाज जाति के आधार पर अवलम्बित था तथा उसके नियमों से अनुशासित था । देश में परम्परागत चार जातियाँ विद्यमान थीं तथा चारों जातियों में भिन्न-भिन्न मात्रा में धार्मिक अनुष्ठानजनित पवित्रता थी । समाज के विभिन्न पहलुओं को निम्न प्रकार से देखेंगे :—

समाज :—समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य समृद्ध वर्ग थे। शूद्रों की कई जातियाँ थीं जिनमें पारशव, निषाद, पुक्कुस आदि संकरवर्ण के माने जाते थे। ह्वेनसांग ने परम्परागत चार जातियों के अतिरिक्त मिश्रित जातियों का भी उल्लेख किया है। उसके अनुसार सब जातियों में ब्राह्मण सबसे अधिक पवित्र और सबसे अधिक सम्मानित थे। ब्राह्मण राज-काज में भी भाग लेते थे तथा हर्ष के कुछ मन्त्री ब्राह्मण भी थे। वे अपने प्राचीन षट्-कर्म तक ही सीमित न थे और अन्य जातियों के व्यवसायों को अपना लिये थे। वे लोग अपने नामों के अन्त में शर्मा तथा स्वामी का प्रयोग करते थे। क्षत्रियों के सम्बन्ध में ह्वेनसांग ने लिखा है कि वे सरल, निर्दोष एवं मितव्ययी जीवन विताने वाले थे। क्षत्रिय लोग अपने नामों के अन्त में वर्मा तथा त्राता का प्रयोग करते थे। वैश्य वणिज-व्यापार करते थे इनका व्यवसाय मुख्यतः व्यापार था जिसके लिये ये लोग निकट तथा दूर के देशों में जाया करते थे। समाज में ब्राह्मणों के वाद वैश्यों का ही स्थान था क्योंकि उन्हीं के हाथों मे राष्ट्र की अर्थ शक्ति रहती थी। व्यापारी होने के कारण बैंक उन्हीं के हाथों में था। वैश्य लोग अपने नामों के अन्त में गुप्त, भूति, दत्त आदि का प्रयोग करते थे। चौथा वर्ग शूद्रों का था जिनका मुख्य कार्य कृषि था। इनकी दशा इस काल में काफी सुधर गई थी। इनके हाथों में भी कुछ राजनैतिक शक्ति होती थी तथा शूद्रों के कई राजवंश भी थे। मिश्रित जातियों की उत्पत्ति अनुलोम एवं प्रति-लोम विवाहों से हुई थी। अछूतों की भी संख्या समाज में काफी बढ़ गई थी जिन्हें नगर के बाहर रहना पड़ता था। मेहतर, कसाई, मछुए, नट, चाण्डाल आदि इस वर्ग में सम्मिलित थे। इनके निवास-स्थान चिह्नित कर दिये गये थे। अन्त्यज भी इन्हें कहा जाता था। इनमें मतप, श्वपाक एवं जल्लाद आदि थे।

समाज में जातिभेद का बीजारोपण प्रारम्भ हो गया था। शूद्रों के बनाये गये भोजन को ब्राह्मण नहीं ग्रहण कर सकते थे। ऊँच और नीच का भेद साफ-साफ मालूम पड़ने लग गया था। शूद्रों एवं अन्त्यजों की स्थिति अच्छी नहीं थी। ऐसा मालूम है कि उच्च वर्ण वाले इन्हें घृणा की दृष्टि से देखने लगे थे। जब वे लोग राह चलते थे तो भयभीत अवस्था में सड़क के वायीं तरफ चलते थे। एक चाण्डाल कन्या का वर्णन बाण के 'कादम्बरी' में है जिसमें ऐसा वर्णन किया गया है कि एक चाण्डाल कन्या राजा के दरबार में गयी तो वह राजा का ध्यान आकर्षित करने के लिए लकड़ी के द्वारा आवाज करती जाती थी क्योंकि वह शूद्र कन्या अस्पृश्य थी।

अपराधी जितनी उच्च जाति का होता था उतना ही कम उसे दण्ड मिलता था। इसी प्रकार कर भी सभी जातियों पर समान रूप से नहीं लगाया जाता था।

विवाह :—समाज में सजातीय विवाह की प्रणाली थी पर इसके अतिरिक्त अन्तर्जातीय विवाह की भी प्रथा थी। इस समय अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी तथा इन्हीं से उत्पन्न लोग वर्णसंकर होते थे। बहुविवाह की प्रथा थी तथा पुरुषों का पुनर्विवाह भी होता था। विवाह गोत्र और पिण्ड से बाहर होता था। दक्षिण भारत में मामा की कन्या के साथ विवाह करना वैध समझा जाता था पर उत्तरी भारत में यह अवैध माना जाता था। यद्यपि उच्च वर्ण के लोगों में पुनर्विवाह का निषेध था पर निम्न वर्ण के लोगों में इसकी प्रथा थी। स्त्रियाँ पुनर्विवाह नहीं करती थीं। शूद्र एवं वैश्य स्त्रियाँ पुनर्विवाह करती थीं। सती की प्रथा इस समय प्रचलित थी जिसका प्रमाण हमें हर्ष की माता से ही लगता है। वह अपने पति की मृत्यु के पहले ही जल कर मर गयी थी। हर्ष की बहन राज्यश्री भी अपने पति की मृत्यु के बाद चिता में जलकर मर जाना चाहती थी। विधवाएँ श्वेत वस्त्र पहनती थीं। राजाओं के अन्तःपुर में बहुसंख्यक स्त्रियाँ, रखैल एवं वेश्याएँ रहती थीं।

नारियों की स्थिति :—स्त्रियाँ संगीत, नृत्य, चित्रकला एवं शिक्षा आदि में निपुण होती थीं। पर उनका पारिवारिक जीवन शान्ति-पूर्ण न था। समाज में माता का कितना उच्च स्थान था इसकी कल्पना हम इस प्रकार कर सकते हैं कि उसकी यथोचित सेवा न करने वाला व्यक्ति दण्ड का भागी होता था। उच्च कुलों में पर्दा प्रथा का प्रचलन था। 'हर्षचरित' के आधार पर कहा जा सकता है कि राजघराने की स्त्रियाँ पूर्णतया विलासिता एवं उपभोग की वस्तु होती थीं। लड़कों की तरह लड़कियों की भी शिक्षा का प्रबन्ध था। हर्ष की बहन राज्यश्री सुशिक्षिता थी। स्त्रियों का स्थान कन्या, स्त्री और माता के रूप में बहुत ऊँचा था।

वस्त्राभूषण :—समाज में अधिकतर लोग श्वेत वस्त्र का ही प्रयोग करते थे। रङ्ग-बिरङ्गे वस्त्रों का समाज में प्रचलन नहीं था। कपड़े लोग शरीर पर धारण नहीं करते थे। यहाँ तक कि राजा भी केवल दो ही वस्त्र का प्रयोग करता था—एक धोती और दूसरा उत्तरीय। कुलीन लोग साफे का भी प्रयोग करते थे। स्त्रियाँ एक लम्बा वस्त्र पहनती थीं जो दोनों कन्धों को ढँके रहता था। लोग जामा तथा जाकेट एवं कंचुकी का प्रयोग करते थे। साधारण लोग कमर के चारों ओर बगल तक एक लम्बा पर कम चौड़ा कपड़ा लपेटते थे तथा दाहिने कंधे को खुला छोड़ देते थे। कुछ लोग मूँछ मुड़वाते थे। गले में हार तथा सिर पर माला रखने की प्रथा थी। कुलीन लोग छाता लगाया करते थे जिनमें बहुमूल्य रत्न जड़े रहते थे। आभूषणों के प्रति लोगों की बड़ी चाह थी।

बहुमूल्य हार, रत्न-जटित मुकुट, अँगूठी, कड़े इत्यादि अत्यन्त प्रिय आभूषण थे। कर्ण फूल कान के आभूषणों में मुख्य था। स्त्री और पुरुष दोनों आभूषणों का प्रयोग करते थे।

भोजन :—साधारण लोगों का भोजन सात्विक था। भोजन में मांस, लहसुन और प्याज का प्रयोग नहीं होता था। जनसाधारण का भोजन गेहूँ तथा चावल था। घी, दूध, दही, चीनी, मिश्री, रोटी आदि प्रधान भोज्य पदार्थ थे। मिट्टी तथा लकड़ी के वर्तनों का प्रयोग केवल एक बार किया जाता था। ब्राह्मण मदिरा का स्पर्श नहीं करते थे पर क्षत्रिय लोग मामूली तौर पर लेते थे।

निवास :—धनी व्यक्ति नगरों में रहते थे। गरीबों के मकान घास-फूस के बनते थे। नगरों के चारों ओर रक्षा भित्तियाँ बनी होती थीं। नगर की सड़कें कम चौड़ी तथा टेढ़ी-मेढ़ी होती थीं। धनाढ्य लोगों के भवन ईंटें तथा लकड़ी के बने होते थे घर में बैठने के लिए मचिया का व्यवहार होता था।

रीति-रिवाज :—परिवार में पुत्र के जन्म लेने पर उत्सव मनाया जाता था। सन्तान के लिये स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के अनुष्ठान करती थीं। विवाह का उत्सव बड़े ही धूमधाम से मनाया जाता था। इस काल में भिन्न-भिन्न प्रकार के व्रतों तथा उत्सवों के भी उदाहरण मिलते हैं। ह्वेनसांग के मतानुसार तीन प्रकार की अन्त्येष्टि क्रिया विद्यमान थीं—या तो शव को श्मशान घाट पर ले जाकर जला देते थे, या जलविलयन कर देते थे या जङ्गल में खुला छोड़ देते थे। आत्महत्या की भी प्रथा थी।

मनोरञ्जन के साधन :—लोग शतरञ्ज एवं पाशा खेला करते थे। नाटक का अभिनय भी होता था। गाँवों में मदारी, नट आदि बहुधा घूम-घूमकर अपना कौशल दिखलाते थे। प्रेक्षागृह, संगीतशाला एवं चित्रशालाओं का उल्लेख मिलता है। चैत मास की पूर्णिमा को वसन्तोत्सव मनाया जाता था।

राजमहल का जीवन :—राजमहल का जीवन विलासितामय था। वहाँ नृत्यसंगीत में अपने को पूर्णतया भुलाये रखना ही एकमात्र मापदण्ड जीवन का था। ये लोग फूल, सुगन्धित पदार्थों तथा प्रलेपनों का प्रचुर प्रयोग करते थे। नृत्यों में रानियाँ, वेश्याएँ, वृद्ध, सामन्त तथा राजधानी के सभी युवक भाग लेते थे। अनियन्त्रित रूप से लोग आमोद-प्रमोद मनाते थे। राजमहल का जीवन बड़ा गन्दा भी होता था। कभी-कभी राज्य के मन्त्री गुप्त रूप से प्रेम भी किया करते थे। राजमहल में वेश्याएँ भरी रहती थीं। जीवन का मुख्य लक्ष्य उपभोग ही होता था तथा सरलता, संयम एवं नियन्त्र की कमी रहती थी।

धार्मिक-अवस्था

हर्ष के समय की धार्मिक दशा बड़ी ही सन्तोषजनक थी। राजा एवं प्रजा दोनों में उच्चकोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी। लोग अपनी इच्छानुकूल शिव, सूर्य, विष्णु, बुद्ध एवं अर्हत की पूजा किया करते थे। इस काल में भगवान् बुद्ध एवं जैन तीर्थंकर ऋषभदेव राम एवं कृष्ण की तरह अवतार माने जाने लगे। राजा में भी उच्च-कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी तथा सभी सम्प्रदाय वालों को राज्य का आश्रय प्राप्त होता था।

राजधर्म एवं राजकीय धार्मिक नीति :—थानेश्वर के राजवंश में उच्च-कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी। इस वंश का संस्थापक पुष्यभूति शैव था। उसके बाद का राजा नरवर्धन था जिसके धर्म का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। इसके बाद के तीन राजा सूर्य के उपासक थे। प्रभाकरवर्धन भी सूर्य का उपासक था। उसका बड़ा पुत्र राज्यवर्धन बुद्ध का अनुयायी था किन्तु छोटा पुत्र हर्षवर्धन प्रारम्भ में 'माहेश्वर' था। ह्वेनसांग के ही वर्णन से उसके बौद्ध होने का प्रमाण मिलता है। बौद्ध धर्म से वह जीवन के उत्तरार्ध में प्रभावित हुआ था। पर सरकारी कागजातों से वह अपने को माहेश्वर (शैव) ही घोषित करता था। यद्यपि वह अपने राजत्वकाल के अन्तिम भाग में बौद्ध हो गया था पर न तो वह अशोक की तरह बौद्ध धर्म का प्रचारक बना और न अन्य धर्मों के प्रति उसकी उदारता तथा सहिष्णुता कम हुयी।

कन्नौज में आयोजित धर्म-सभा का वर्णन ह्वेनसांग करता है। उसके अनुसार हर्ष वैदिक, पौराणिक, बौद्ध तथा जैन आदि सभी धर्मों का आदर करता था। उसमें सभी सम्प्रदायों के पण्डित आमन्त्रित थे तथा सभी सम्प्रदायों के देवताओं की मूर्त्तियाँ उसमें स्थापित और पूजित हुयीं। धार्मिक मामलों में वह उदार था तथा हर्ष ने प्राचीन भारतीय राजाओं की उदार धार्मिक नीति का अवलम्बन किया था।

प्रयाग की सभा में उसने बुद्ध के साथ-साथ सूर्य एवं शिव की भी पूजा की थी। इसके अतिरिक्त बौद्धों के साथ-साथ ब्राह्मणों तथा जैनियों को भी दान दिया था। इस अवसर पर लाखों लोग इकट्ठा होते थे तथा वह साधुओं, भिक्षुकों, अनाथों, रोगियों और दरिद्रों को करोड़ों की सम्पत्ति दान करता था। कश्मीर से बुद्ध का दाँत लाना, बौद्ध मठों, विहारों एवं स्तूपों का निर्माण करवाना, प्रति वर्ष बौद्ध भिक्षुओं की सभा करना तथा पशुओं की हत्या तथा मांस भक्षण का निषेध यह बतलाता है कि हर्ष का बौद्ध धर्म में बड़ा प्रेम था तथा वह उसके सिद्धान्तों का पालन करने लगा था।

ह्वेनसांग तथा हर्षचरित से हमें यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि तत्कालीन भारत में ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन धर्मों का विशेष प्रचार था। नीचे उनका विवेचन किया जाता है :—

ब्राह्मण धर्म :—हर्ष के समय में सबसे व्यापक धर्म वैदिक या ब्राह्मण धर्म था। प्रयाग तथा वाराणसी अब इस धर्म के प्रमुख केन्द्र बन गये थे। इस धर्म की प्रधानता के ही कारण ह्वेनसांग ने भारत को 'ब्राह्मणों का देश' कहा है। कन्नौज में दो सौ से अधिक देवमन्दिर विद्यमान थे। ब्राह्मण धर्म में मूर्ति पूजा बड़े जोरों से प्रचलित हो गयी थी तथा इसमें यन्त्र, मन्त्र तथा तन्त्र का भी प्रचार था। सौभाग्य एवं समृद्धि के लिये मङ्गल के कार्य किये जाते थे। ब्राह्मण लोग हवन करते थे तथा गाय को बहुत ही पवित्र मानते थे। इस धर्म के वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर गाणपत्य आदि सम्प्रदायों के कई उपसम्प्रदाय उत्पन्न हो गये थे जो अपने अलग-अलग चिह्नों से पहचाने जाते थे। इस काल में विष्णु, शिव, सूर्य, दुर्गा, पार्वती आदि की उनके अनेक रूपों में उपासना चल पड़ी थी। पूजा की विधियों में पहले मूर्त्तियों को दूध से स्नान कराया जाता था फिर फूल, धूप, गन्ध, ध्वजा, बलि, विलेपन तथा दीप आदि समर्पित किये जाते थे। शैव धर्म का रूप अब विकृत होता जा रहा था। कर्मकाण्डों के रूप में अब उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही थी। रमाशङ्कर त्रिपाठी ने ब्राह्मण धर्म के विषय में लिखा है—"ब्राह्मण यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करते, गाय का आदर करते तथा सौभाग्य और समृद्धि के अर्थ अनेक क्रियाओं के अनुष्ठान करते थे। ब्राह्मण धर्म की एक विशेषता उसकी दार्शनिक शाखाओं तथा साधुवर्गों की अनेकता में थी। बाण ने कपिल और कणाद के अनुयायियों, वेदान्तियों, आस्तिकों; लोकायतिकों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार साधुओं के अनेक वर्गों का भी उसने उल्लेख किया है। इनमें से मुख्य निम्नलिखित थे। केशलुञ्चक (सिर के बाल उखाड़ने वाले), पाशुपत, पञ्चरात्रिक, भागवत आदि। जीवन-वृतान्त में भी भूतों, कापालिकों, जुतिकों, सांख्यों, वैशेषिकों आदि का वर्णन है। ये भिक्षाटन करते थे और बिना व्यक्तिगत आवश्यकताओं की परवाह किये अपने दृष्टिकोण से सत्य की खोज में लगे रहते थे।"

बौद्धधर्म :—बौद्धधर्म उन्नत अवस्था में था। यह सम्भव है कि ह्वेनसांग जिन-जिन स्थानों में गया था वहाँ वह उन्नत दशा में रहा हो पर वैशाली, कौशाम्बी तथा श्रावस्ती में बौद्ध धर्म की अवस्था अच्छी नहीं थी। बौद्ध धर्म के मुख्य सम्प्रदाय महायान एवं हीनयान में से प्रथम का अस्तित्व अधिक महत्त्वपूर्ण था। ह्वेनसांग ने किस प्रकार कन्नौज एवं प्रयाग की सभा में महायान धर्म को सर्वमान्य कराया इसका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। हर्ष स्वयं भी इस सम्प्रदाय के प्रति विशेष कृपालु था। कन्नौज में बौद्ध मठों की संख्या सौ थी जिनमें दस हजार से अधिक

भिक्षु निवास करते थे। ये बौद्ध मठ भिक्षुओं के केन्द्र बन गये थे। बौद्ध धर्म की १८ शाखाओं का वर्णन ह्वेनसांग ने किया है जिनके क्रिया-अनुष्ठान भिन्न-भिन्न थे। प्रत्येक शाखा अपने को अन्य शाखाओं से उच्चतम समझती थी।

जैनधर्म :—धीरे-धीरे जैन धर्म का उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत की ओर प्रसार हो रहा था। हर्ष के समय में जैन धर्म उन्नति नहीं कर रहा था क्योंकि यह लोकप्रिय धर्म न रह गया था। वैशाली, पुण्ड्रवर्धन एवं समतट के अतिरिक्त भारत के अन्य भागों में इस धर्म का प्रायः अभाव-सा हो चला था। उक्त स्थानों में भी दिगम्बर सम्प्रदाय वालों का ही बोलबाला था। इनकी दूसरी शाखा श्वेताम्बर थी जिसका वर्णन ह्वेनसांग करता है। दक्षिण में जैन धर्म की काफी प्रतिष्ठा थी। चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय जैन धर्म को प्रश्रय देता था तथा ह्वेनसांग को काञ्ची में बहुत से जैन मन्दिर देखने को मिले थे।

आर्थिक अवस्था

हर्षकालीन आर्थिक दशा का अध्ययन करने के लिये हमें निम्नलिखित बातों पर विचार करना आवश्यक है :—

कृषि :—लोगों का प्रमुख व्यवसाय कृषि ही था। अधिकांश लोग गाँवों में निवास करते थे। भूमि कई प्रकार की होती थी जिनमें अन्न, फल, फूल अधिक मात्रा में उत्पन्न किया जाता था। औद्योगिक एवं वाणिज्य सम्बन्धी उन्नति के कारण अब वैश्य वर्ग इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दे रहा था तथा शूद्र ही बहुधा कृषि-कार्य करते थे। नदियों की घाटियों में सिंचाई की सुविधा के कारण बहुत अच्छी खेती होती थी। जहाँ पर जल उपलब्ध नहीं था वहाँ पर तालाब और कुओं की समुचित व्यवस्था की गयी थी। चारागाहों के लिये भी भूमि अधिक मात्रा में छोड़ी जाती थी जिससे पशुओं के चारे की समस्या हल हो जाती थी।

व्यवसाय एवं व्यापार :—व्यवसाय एवं व्यापारी दोनों की अवस्था अच्छी थी। नगरों में निवास करने वाले लोगों की जीविका का प्रधान साधन व्यापार तथा कल सम्बन्धी कार्य था। अन्तर्देशीय तथा विदेशी दोनों व्यापारियों की दशा काफी अच्छी थी। बंगाल में ताम्रलिप्ति एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। पाटलिपुत्र से एक राजमार्ग उज्जैन होता हुआ भड़ौंच जाता था जिससे काफी व्यापार होता था। इस समय व्यवसाय पूँजीपतियों के हाथ में नहीं था वरन् उद्योगों की श्रेणियाँ बनी हुयी थीं। जिसकी पुष्टि हमें बाण तथा ह्वेनसांग दोनों के विवरणों से होती है। यह व्यापारिक संघ व्यापार का कार्य करते, मुद्राओं की शुद्धता की जाँच करते तथा बैंक का प्रबन्ध करते थे। विभिन्न प्रकार के व्यवसायों के लिये भिन्न-भिन्न

प्रकार की श्रेणियाँ बनी हुई थीं। इस तरह हर्ष के समय में पटकार, तैलिक, मृत्तिकार, शिल्पकार, वणिक आदि की अलग-अलग श्रेणियाँ बनी थीं। व्यापारिक संस्थाएँ अपने व्यापार की शिक्षा की भी सुव्यवस्था करती थीं। इस कारण व्यापार बड़े ही अच्छे ढंग से चला करता था। विदेशी व्यापार जल तथा थल दोनों से हुआ करता था। ह्वेनसांग के अनुसार कपिशा में भारत के कोने-कोने से व्यापारिक सामग्रियाँ पहुँचा करती थीं। यहाँ से ईरान तथा यूरोप तक व्यापारिक मार्ग जाता था। कश्मीर से होकर मध्यएशिया एवं चीन तक भारत का व्यापार होता था। जल मार्ग का व्यापार भी बड़ी उन्नत दशा में था जिसका प्रमुख केन्द्र बंगाल का ताम्रलिप्ति था जहाँ से दक्षिण पूर्वी द्वीप समूहों से सम्बद्ध और सम्भवतः मलाया, सुमात्रा आदि से व्यापार का यही प्रमुख जल मार्ग था।

देश समृद्धिशाली एवं धनधान्यपूर्ण था। बाण से हमें नगरों में करोड़पति के निवास करने की सूचना मिलती है। नगरों में ऊँचे-ऊँचे भवन, मनोरम उद्यान तथा सुन्दर तालाब लोगों की सम्पत्ति के सूचक थे। रहन-सहन का स्तर बड़ा ही ऊँचा था। बाण के अनुसार देश में सोने तथा मोतियों की प्रचुरता थी। हर्ष के समय में देश वैभय-युक्त था। इसी कारण लोग दान में धन तथा भूमि दिया करते थे तथा मन्दिरों का निर्माण कराया करते थे।

शिक्षा, साहित्य एवं कला

भारतीय शिक्षा की ह्वेनसांग ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उसके समय में भारतवर्ष अपनी विद्या, ज्ञान एवं साहित्य के लिये प्रसिद्ध था। विदेशी भी यहाँ पढ़ने के लिये आते थे। हर्ष राष्ट्रीय आय का चतुर्थांश विद्या तथा कला को प्रश्रय देने में व्यय करता था। ह्वेनसांग ने लिखा है कि अध्यापक अपने विद्यार्थियों के साथ बड़ी सहानुभुति रखते थे। वे बड़े ही मेहनत से पढ़ाते थे तथा व्यक्तिगत सेवा के अतिरिक्त उनसे कुछ नहीं लेते थे। अध्यापकों की सहानुभूति एवं परिश्रम के कारण ही विद्यार्थी केवल सात ही वर्ष की अवस्था में शास्त्र पढ़ने लगते थे। नालन्दा विश्वविद्यालय बौद्धों का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय था जिसका वर्णन पीछे किया जा चुका है।

हर्ष को विद्या से बड़ा प्रेम था। इसलिये उसके समय में शिक्षा का बड़ा प्रचार था। यह शिक्षा विशेषकर ब्राह्मणों एवं बौद्ध भिक्षुओं द्वारा दी जाती थी। राज्य की ओर से विद्या का आदर किया जाता था। बालकों के अतिरिक्त बालिकाओं को भी शिक्षा दी जाती थी। कन्याओं की शिक्षा घर पर ही होती थी। सम्पूर्ण भारत में शिक्षा के सैकड़ों केन्द्र थे। वलभी के राजा भी हर्ष ही की तरह विद्या-प्रेमी थे। अतएव वलभी में भी बौद्धों का हीनयान विश्वविद्यालय था। ह्वेनसांग ने

लिखा है कि—"विद्या के परिष्करण के निमित्त उत्सुक कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो एकान्तवास में सन्तुष्ट हैं और नियम-संयम वद्ध जीवन बिताते हैं। वे साधारण मानव-जीवन की गतिविधियों से दूर रहते हैं। उनका यश दूर तक विस्तृत है। राजे जो उनकी आवभगत एवं उनका सम्मान करते हैं, उन्हें अपने दरबार में आने को बाध्य नहीं कर सकते। चूँकि राज्य ही विद्वज्जनों का सम्मान और सत्कार करता है और जनता भी उच्च प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों का आदर करती है अतः ऐसे लोगों का सम्मान और उनकी प्रशंसा प्रचुरता से फैली है और राज्य तथा जनता द्वारा उनके निमित्त दिया जाने वाला ध्यान विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।"

हर्ष के समय में प्राचीन साहित्य और शास्त्रों का अध्ययन प्रचलित था तथा इस काल में भी काव्य, नाटक, आख्यायिका, कथा, दर्शन, धर्म-विज्ञान, गणित, ज्योतिष आदि पर कई ग्रन्थ लिखे गये। वह स्वयम् उच्च कोटि का विद्वान तथा साहित्यकार था और विद्वानों तथा लेखकों का आश्रयदाता था। कविवर बाणभट्ट इस काल की महान् विभूति थे जिन्होंने 'हर्षचरित' की रचना कर अपने आश्रयदाता की कीर्त्ति को अमर बना दिया। इसके अतिरिक्त कादम्बरी भी उसकी अन्य अमरकृति है। 'चण्डि-शतक' एवं पार्वती-परिणय (नाटक) का भी रचयिता उसे ही माना जाता है। हर्ष की सभा में बाण का श्वसुर मयूर, हरिदत्त, जयसेन, मातंग, दिवाकर आदि प्रसिद्ध कवि और लेखक रहते थे। मयूर के विषय में यह कहा जाता है कि उसने कामशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अष्टक' की रचना की थी जिसके लिये उसकी पुत्री ने उस ग्रन्थ के लिये उसे अभिशाप दिया जिस कारण मयूर को कुष्ठ हो गया। इसके प्रायश्चित्त में उसने 'सूर्यशतक' नामक ग्रन्थ लिखा जिससे उसका कोढ़ समाप्त हो गया।

समुद्रगुप्त की भाँति उसे भी कई ग्रन्थों का प्रणयन करने का यश प्राप्त है। 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' तथा 'नागानन्द' नामक नाटक उसकी रचनाएँ हैं। बाण के मतानुसार हर्ष में उच्च कोटि की काव्य शक्ति थी। पर ११वीं शताब्दी के मम्मट एवं १७वीं शताब्दी के परमानन्द एवं नागोजी ने इन नाटकों को हर्ष की रचना होने में सन्देह किया है। इस प्रकार का सन्देह प्राचीन विद्वानों ने भी किया था। उनका कहना था कि सम्भवतः ये नाटक 'धावक' नाम के कवि ने लिखे थे और उसने धन के लोभ में हर्ष के नाम से उन्हें प्रकाशित कर दिया था। ऐसा भी हो सकता है कि वे हर्ष की ही कृतियाँ हैं पर उनमें किसी अन्य विद्वान ने सुधार तथा संशोधन किया है।

हर्षकालीन कला की प्रशंसा ह्वेनसांग ने की है। उसे चित्रकला से भी बड़ा अनुराग था और स्वयं एक अच्छा चित्रकार था। बंसरवेड़ा से प्राप्त उसने अपने

एक दान-पत्र में अपना हस्ताक्षर चित्रलिपि में किया है। इस काल में हिन्दू, बौद्ध एवं जैन मन्दिर और मूर्त्तियाँ बड़ी संख्या में बनीं। उसने नालन्दा में पीतल की चादर से आवेष्टित एक मठ बनवाया था। अजन्ता की कुछ कृतियाँ इस काल की हैं। उत्तर-भारत, दक्षिण और सुदूर दक्षिण में बड़े-बड़े नगरों, भवनों, मन्दिरों, मूर्त्तियों तथा चित्रों के बहुत से उल्लेख इस काल में पाये जाते हैं। कुछ इतिहासकारों के अनुसार मध्यप्रदेश के रायपुर जिले में सिरपुर नामक स्थान में स्थित ईंटों का बना हुआ लक्ष्मण मन्दिर हर्ष के शासन-काल में बना था। कुमारस्वामी के विचार में मुण्डेश्वरी (माहेश्वरी) का अष्टकोण मन्दिर जो शाहाबाद (अब रोहतास) जिले के अन्तर्गत भभुआ नामक स्थान के नजदीक स्थित है हर्ष के समय में ही बना। हर्ष के काल में भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र की बुनाई, छपाई तथा रंगाई की कला बड़ी उन्नत अवस्था में थी। इस समय के बड़े-बड़े सुन्दर बेल-बूटे भी काढ़े जाते थे। हाथी दाँत तथा लकड़ी के कार्य में भी कारीगर बड़े होशियार थे।



अध्याय ४

सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का भारत

उत्तर एवं पश्चिमोत्तर प्रदेशों में नए राज्यों का उदय

राजनीतिक अवस्था :—

हर्ष की मृत्यु के बाद भारत के राजनीतिक गगनमण्डल पर एक बार पुनः कुछ समय के लिए अन्धकार छा जाता है। उत्तरी भारत में छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हो जाती है जिनके पारस्परिक संघर्ष को इस युग की राजनीतिक अवस्था की विशेषता कहा जा सकता है। हर्ष निस्सन्तान मरा, जिससे उसके सिंहासन पर उसके किसी अमात्य ने अपना अधिकार जमा लिया। चीनी अनुश्रुति में एक मन्त्री का नाम अर्जुन दिया गया है, जिसने वोंग-ह्यूत-त्से द्वारा संचालित चीनी मिशन को लूट लिया और उसके कुछ अनुचरों का वध कर दिया। इसके बाद वोंग-ह्यून-त्से ने तिब्बत के राजा से सैनिक सहायता लेकर अर्जुन को पराजित कर दिया और उसे बन्दी बनाकर अपने साथ चीन ले गया। किन्तु चीनी मिशन के अध्यक्ष वोंग-ह्यून-त्से के पराक्रम का वर्णन निस्सन्देह अतिरञ्जमापूर्ण है। केवल आठ हजार सैनिकों की सहायता से, जिसे पड़ोस के राज्यों से ग्रहण किया गया था, अपने देश से इतनी दूर वोंग-ह्यून-त्से के द्वारा भारतीय नरेश की पराजय और उसका बन्दी बना लिया जाना नितान्त अस्वाभाविक जान पड़ता है।

हर्ष की मृत्यु के बाद राजनीतिक विकेन्द्रीकरण और साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया तथा उसके राज्य में अशान्ति एवं अव्यवस्था मच गई। हर्षोत्तर-कालीन भारत की राजनीतिक अवस्था के सम्बन्ध में हमें कुछ बातें स्मरण रखनी चाहिए। पहली बात तो यह है कि हर्ष को भारत का अन्तिम साम्राज्य निर्माता कहना इतिहास के तथ्यों की अवहेलना करना है। ललितादित्य और सम्भवतः यशोवर्मन ने जिस साम्राज्य पर शासन किया वह किसी प्रकार भी हर्ष के साम्राज्य से छोटा या कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। कुछ समय के उपरान्त पालों और प्रतिहारों ने जिन साम्राज्यों की स्थापना की वे विस्तार में हर्ष के साम्राज्य की अपेक्षा कहीं अधिक बड़े थे और उससे अधिक स्थाई भी प्रमाणित हुए। प्रतिहारों का साम्राज्य तो अधिक सुसंगठित भी था। इसके पश्चात् चन्देल यशोवर्मन और कलचुरी गंग तथा कर्ण ने भी जिन राज्यों की स्थापना की उनका विस्तार हर्ष के साम्राज्य के बराबर था। दक्षिण भारत में तो और विशालतर साम्राज्यों का निर्माण हुआ।

हर्ष के जीवन-काल से ही भारत की राजनीतिक शक्ति का केन्द्र दक्षिणी भारत में जमने लगा था। ध्रुव और गोविन्द तृतीय के नेतृत्व में राष्ट्रकूटों ने एक शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण किया। विक्रमादित्य षष्ठ के अधीन भी अनुवर्ती चालुक्यों का साम्राज्य काफी बड़ा था। राजेन्द्र चोल ने जिस महान् सामाज्य को स्थापित किया वह गंगा के मुहाने से लेकर कुमारी अन्तरीप तक फैला था और बंगाल की खाड़ी के पार राज्य भी उस साम्राज्य में सम्मिलित थे। इन सब उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए हम यह नहीं कह सकते कि हर्ष हिन्दू भारत का अन्तिम हिन्दू सम्राट् था।

हर्ष का साम्राज्य भूमिसात हो गया था किन्तु उसकी राजधानी कन्नौज का वैभव उसके बाद की साम्राज्यलिप्सुओं के लिए प्रेरणा और उत्साह के स्रोत-रूप में विद्यमान रहा। डॉ० राय चौधरी ने लिखा है कि "कन्नौज सभी के लिए दृष्टि का केन्द्र था। पश्चिमी एशिया की लड़ाकू जातियों के लिए जो बेबीलोन था, ट्यूटनिक वर्बरों के लिए जो रोम था, पूर्वी और दक्षिणी योरप के मध्यकालीन जगत् के लिए जो वाइजेन्टियन था, वही महोदय श्री ईसा की आठवीं और नवीं शताब्दियों के उदीयमान राजकुलों के लिए था।" कन्नौज को उसके पहले गौरव पर समासीन करने का प्रयत्न हर्षोत्तर भारत के वीर और महत्त्वाकांक्षी सेनानायक तथा राजा करते रहे। हर्ष का राजसिंहासन जब प्रतिहारों ने हस्तगत कर लिया तो कन्नौज एक बार फिर चमक उठा। इसके पूर्व यशोवर्मन के शासनकाल में भी थोड़े समय के लिए कन्नौज को वैभव के दिन देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उसकी राजसभा को वाक्पतिराज और भवभूति जैसे लब्ध प्रतिष्ठित कवियों ने गौरवान्वित किया था।

हर्षोत्तर-कालीन भारत की राजनीतिक सक्रियता का सबसे जबर्दस्त सबूत हमें राजनीतिक प्रभुत्व के लिए उस महान् संघर्ष द्वारा प्राप्त होता है जो राष्ट्रकूटों, गुर्जर-प्रतिहारों और बंगाल के पालवंशी नरेशों के बीच हुआ था। राजनीतिक चेतना का उस काल में ह्रास नहीं हुआ था, यद्यपि यह सच है कि मौर्यों और गुप्तों का सुविशाल साम्राज्य एवं उनकी सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली के अभाव में इस युग के कवि को कहना पड़ा कि—'हमारे वे दिन अब चले गए, 'तेहि नो दिवसा-गताः'। राजनीतिक एकता के अभाव में भी देश में संस्कृति की धारा अविच्छिन्न रूप से बहती रही, यद्यपि इस काल की भारतीय संस्कृति मौर्य और गुप्तकालीन संस्कृति की भाँति सप्राण, सशक्त और स्फूर्तिमयी न थी। परस्पर सन्धि-विग्रह के कार्यों में लगे रहने पर भी इस काल के नरेश संस्कृति संरक्षण और लोक-कल्याण के कार्यों से उन्मुख अथवा उदासीन नहीं थे। हर्ष के बाद उत्तर भारत में जो प्रमुख राजनीतिक शक्तियाँ थीं उनका विवेचन करने से इस समय की राजनीतिक प्रवृत्ति भली-भाँति समझ में आ जाएगी।

हर्ष की मृत्यु के साथ ही भारत के साम्राज्यवादी इतिहास का अन्त हो गया। इसके पूर्व देश के शक्तिशाली और दूरदर्शी राजाओं के सामने भारत में एकच्छत्र सार्वभौम का आदर्श बना रहता था। इसका परिणाम यह होता था कि बहुत से अवसरों पर एक राजनीतिक सत्ता के अन्तर्गत देश केन्द्रित और संगठित हो जाता था; उसकी शक्ति और समृद्धि बढ़ जाती थी। किन्तु हर्ष की मृत्यु के समय यह प्रवृत्ति शिथिल पड़ गयी थी और भारत की राजनीतिक एकता जाती रही। उत्तर भारत में कान्य-कुब्ज साम्राज्य का पतन हुआ और दक्षिण में चालुक्य साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया। विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी और भारत कई भागों में विभक्त हो गया। जो नए राज्य बने वे प्रान्तीय थे; उनमें सार्वदेशिक होने की क्षमता नहीं थी। वह देश की सबसे बड़ी राजनीतिक दुर्बलता थी और विदेशी आक्रमणों के समय स्पष्ट प्रदर्शन हुआ।

नये राज्यों का उदय

१. काश्मीर :—

प्राचीन इतिहास

प्राचीन भारत में काश्मीर का शेष भारत के साथ बहुत गहरा और अविच्छिन्न राजनीतिक सम्बन्ध नहीं था। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से काश्मीर कभी भी भारत से पृथक् नहीं था। कुछ समय तक तो काश्मीर संस्कृत विद्या के प्रमुख केन्द्र के रूप में रहा। अशोक का काश्मीर पर अधिकार था। यहाँ पर उसने अनेक स्तूप बनवाये। नेपाल के नगर ललितपाटन की भाँति काश्मीर में भी अशोक ने एक नगर की स्थापना की थी। चीनी यात्री के विवरण के अनुसार अशोक ने सम्पूर्ण काश्मीर को एक बौद्ध संघ को व्ययार्थ दान कर दिया था। कल्हण की "राजतरंगिणी" में इस बात का उल्लेख मिलता है कि अशोक की मृत्यु के बाद जब मौर्य साम्राज्य की केन्द्रीय शक्ति का ह्रास होने लगा तो उसके पुत्र जालौक ने; जो काश्मीर में राजप्रतिनिधि के रूप में शासन कर रहा था; अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करके केन्द्र से पृथक् एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर दी थी। उसके बाद बहुत दिनों तक काश्मीर का इतिहास अन्धकारमय रहा। बड़े-बड़े साम्राज्यों के अन्तर्गत होते हुए भी अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण वह भारतीय इतिहास की मुख्य धारा से अलग रहा। यहाँ कुषाण राजाओं (कनिष्क और हुविष्क) ने राज्य किया और फिर हूण शासक मिहिरकुल ने भारत के गुप्त सम्राट् से [पराजित होने पर वहाँ अपना राज्य कायम किया। मुद्राओं से यह ज्ञात होता है कि वह शैव-मतावलम्बी था। उज्जैन के राजा हर्ष विक्रमादित्य के आक्रमण के फलस्वरूप हूणों के राज्य का अन्त हो गया। उसने काश्मीर की गद्दी पर कवि मातृगुप्त को बिठा

दिया; परन्तु प्रवरसेन द्वितीय ने उसे तुरन्त निकाल दिया। कुछ लोग इसी प्रवरसेन द्वितीय को प्रवरपुर (श्रीनगर) का संस्थापक मानते हैं। उसके बाद काश्मीर का इतिहास सातवीं शताब्दी के आरम्भ में गोनन्द के पौराणिक कुल के अन्त के बाद दुर्लभवर्द्धन के राज्यारोहण से प्रारम्भ होता है।

कर्कोट वंश (नाग वंश) :—

सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कर्कोट वंश (नाग वंश) की स्थापना हुई। इसका संस्थापक दुर्लभवर्द्धन हर्षवर्द्धन का समकालीन था। वह शक्तिशाली राजा था और सिंहपुर (केट), उरशा (हजारा) तथा राजपुर (रागौरी) के राजा उसके सामन्त थे। उसने ३६ वर्ष तक उस विशाल प्रदेश पर शासन किया। तक्षशिला; सिंहपुर आदि उसके राज्य में सम्मिलित थे। ह्वेनसांग दो साल तक उसके राज्य में था।

इस वंश का सबसे शक्तिशाली राजा ललितादित्य मुक्तापीड़ था। (७२४-७६० ई०)। वह बड़ा प्रतापी और विजयी राजा हुआ। उसकी दिग्विजय का वर्णन राजतरंगिणी में मिलता है। पहले उसने पंजाब को जीता। उसके बाद कन्नौज के राजा यशोवर्मन से उसका युद्ध हुआ और उसके राज्य के पश्चिमी भाग पर उसने कब्जा कर लिया। उसने गौड़, तुषार देश (आक्सस का ऊपर वाला भाग) और दरद देश (काश्मीर का उत्तरी भाग) पर आक्रमण किया। भोटों के देश (भूटान और तिब्बत) में भी उसकी सेनाएँ पहुँचीं। चीन के सम्राट् के साथ उसका दौत्य सम्बन्ध था। उस समय मध्य एशिया पर अरबों का आक्रमण हो रहा था और उसमें तिब्बत वालों ने अरबों का साथ दिया था। मुक्तापीड़ ने तिब्बती सेनाओं को हराया, जालन्धर, लोहारू को जीता, सिन्धु के शाहियों को पराजित किया और कल्हण के अनुसार बंगाल, उड़ीसा, काठियावाड़, कम्बोज, तुषार तथा दरद प्रदेशों पर विजय प्राप्त की। चीन के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। वह मात्र एक विजेता ही नहीं, बल्कि कला और साहित्य का संरक्षक भी था। उसने बहुत से बौद्ध विहार और हिन्दू देवताओं के मन्दिर बनवाए। सर्वप्रसिद्ध मार्तण्ड मन्दिर उसी के समय बना था। उसने परिहासपुर (परसपोर) में बुद्ध की विशाल मूर्त्ति स्थापित करायी। उसने हुष्करपुर और अन्य स्थानों में बौद्ध विहार बनवाया और भूतेश शिव परिहास केशव विष्णु आदि ब्राह्मण देवताओं के मन्दिर बनवाए। उसे कुछ लोग दुर्लभवर्द्धन का तीसरा पुत्र मानते हैं।

उसके बाद उस वंश का दूसरा प्रतापी राजा उसका पोता जयापीड़ विक्रमादित्य था। जयापीड़ विनयादित्य कर्कोट राजकुल का अन्तिम पराक्रमी और प्रतापी सम्राट् था, जो जीवन भर युद्धों में रत रहा, उसने उससे भी अधिक विजय प्राप्त

की। उसने गौड़, कन्नौज, नेपाल आदि प्रदेशों को जीता। जयापीड़ विद्वानों का संरक्षक था। वह साहित्यिकों का संरक्षक था और उसकी राजसभा में उद्भट, वामन और दामोदर गुप्त 'कुट्टनीमतम्' का लेखक थे। लगातार युद्धों के कारण उसका कोष खाली हो गया था; इसलिए अपने शासनकाल के अन्तिम दिनों में प्रजा का शोषण करना शुरू किया। अतः धीरे-धीरे कर्कोट वंश कमजोर हो गया और नवीं शताब्दी के मध्य उत्पल वंश की स्थापना हुई। उसने ७७९ ई० ८१० ई० तक राज्य किया।

उत्पल वंश :—

उत्पल वंश के अवन्तिवर्मन (८५० ई०) ने व्यर्थ की लड़ाइयों में अपनी शक्ति नष्ट न कर देश के शासन-सुधार, आर्थिक विकास और प्रजा की भलाई में उसका उपयोग किया। सबसे पहले देहातों में उत्पात करने वाले दाभर उपाधिकारी सामन्तों को उसने कड़ाई से दबाया। उसके कर्म सचिव सुय्य ने सिंचाई के लिए कई नहरें बनवायी और वितस्ता (झेलम) के रास्ते को बदल कर बाढ़ से उस प्रदेश की रक्षा की। उसने सुय्यपुर (सोपुर) और अवन्तीपुर नामक नगरों की स्थापना भी की। उसके सत्प्रयास से भूमि की उपज काफी बढ़ गई और खाद्य पदार्थों के दाम गिर गये। देश में व्यवस्था, आन्तरिक सुरक्षा और आर्थिक सुव्यवस्था दृढ़ हुई। उसने अनेक मन्दिर बनवाये तथा उसके व्यय का प्रबन्ध किया और ब्राह्मणों को प्रभूत दान दिया। उसके दरबार में 'ध्वन्यालोक' के लेखक 'आनन्द-वर्द्धन'; जैसा महान् विद्वान् रहता था। उसने ८८३ ई० तक राज्य किया।

उसके बाद उसका उत्तराधिकारी शंकरवर्मन शासक हुआ। उसने सुदूर देशों को जीता। उसके इस अभियान के फलस्वरूप खजाना खाली हो गया और मन्दिरों की सम्पत्ति लूटनी पड़ी। राज्याधिकार के लिए भी उसे गृह-युद्ध करना पड़ा था। उसने युद्धनीति अपनायी तथा दवीभिसार (झेलम-चिनाब के बीच का भाग) त्रिगर्त (काँगड़ा) और गुर्जर राज्यों पर आक्रमण किया। उसने प्रजा पर अनुचित कर लगाए; मन्दिरों और धर्मोत्सवों से भी कर वसूला। लल्लितशाही ने अलखान गुर्जर की सहायता काश्मीर के विरुद्ध की थी, अतः उसने महेन्द्रपाल प्रतिहार के कुछ प्रदेशों को छीनकर थक्किय राजा को दे दिया। उरशा के अभियान से लौटते समय उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी नीति से प्रजा दरिद्र हो गयी और पैसे के अभाव में विद्याक्षेत्रों का भी ह्रास हुआ। उसने ९०२ ई० तक शासन किया।

उसके पुत्र गोपालवर्मन के मन्त्री प्रभाकरदेव ने काबुलघाटी के शाही राजा सामन्तदेव को पराजित किया और उसे उपदस्थ कर तोरमाण (कमलू) को राजगद्दी पर बैठाया। ९०४ ई० में गोपालवर्मन की मृत्यु हो गयी। यह बड़े ही विप्लव

का काल था। ६०४ से ६३६ ई० तक उत्पल वंश का इतिहास खून-खराबियों से भरा पड़ा है। गोपालवर्मन के बाद शासनतन्त्र बिगड़ता गया। तन्त्री और एकाङ्गी नामक सैनिक अधिकारियों के अत्याचार से प्रजा पीड़ित थी। राजा स्वयं विलासी और भागी होने के कारण जनता को बचा नहीं सकते थे। मन्त्री और सैनिक भ्रष्टाचार और धन संग्रह में जुट गये और दुर्भिक्ष भी पड़ गया। पार्थ नामक बाल शासक के समय बहुत बड़ा अकाल पड़ा। लाखों प्रजा भूखी मर गयी। मन्त्रियों, तन्त्रियों और बनियों ने बहुत महँगा अनाज बेचकर धन कमाया। पार्थ अपनी प्रजा को कोंड़े से दण्ड देता था।

पार्थ को मारकर उसका पुत्र उन्मत्तावन्ति (६३७–३८ ई०) राजा हुआ। उसका उन्मत्त नाम उसकी दुष्टता का द्योतक था। उसने जयन्त नामक बौद्ध विहार में अपने सभी सौतेले भाइयों को अन्न-जल के बिना तड़पाकर यमलोक सिधरवाया। उसके पागलपन की पराकाष्ठा उस समय पहुँचती थी जब वह स्त्रियों के गर्भ को काटकर तमाशा देखता था। उन्मत्तावन्ति दुष्टा-विदुष्ट, बिच्छू से जनता को कटवाता था। कल्हण लिखता है—"मैं कठिनाई से अपने काव्य को आगे बढ़ा पाता हूँ, क्योंकि राजा की अपवित्र कथा को छूने में यह इतना ही भय खाता है जितनी की एक डरी हुई घोड़ी।" प्रजा के भाग्य से उसका शासनकाल छोटा था। वह एक भयंकर रोग से मरा। उसके पुत्र शूरवर्मन के अत्यन्त संक्षिप्त शासन के बाद ६३६ ई० में उत्पल वंश का अन्त हुआ।

पर्व गुप्त वंश :—

सूरवर्मन के बाद ब्राह्मणों ने गोपालवर्मन के मन्त्री प्रभाकर देव के पुत्र को अपना राजा चुना। उसने नौ साल (६३६–४८ ई०) तक शासन किया और उसके शासनकाल में देश में शान्ति और सुव्यवस्था रही। उसके पुत्र संग्राम को उसके मन्त्री पर्वगुप्त ने ६४६ ई० में मार कर गद्दी छीन ली। दिद्दा इस वंश की शक्तिमती रानी थी और उसने लगभग ५० वर्ष अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष रूप से शासन किया। उसके समय देश में शान्ति रही और बहुत से मन्दिरों का निर्माण हुआ। वह भीमशाही की नतिनी और लोहार राजा सिंहराज की कन्या थी। वह अत्यन्त महत्त्वाकांक्षिणी थी। यद्यपि उसके समय भी राजषड्यन्त्र होते रहे, दामरों और ब्राह्मणों की ओर से उसका विरोध होता रहा, किन्तु उसने नीच कुलीय तुंग नामक एक खश की सहायता से अपनी शक्ति कायम रखी। तुंग से उसका प्रेम था तथा नैतिक दृष्टि से वह भ्रष्ट थी। १००३ ई० में उसकी मृत्यु हुई और उसके बाद उसका भतीजा संग्राम राम गद्दी पर आया। उसने लोहर नामक नवीन राजवंश की स्थापना की।

लोहर वंश :—

संग्राम राम इस वंश का संस्थापक था। संग्राम के शासन (१००३–२८ ई०) के समय शाही राजा त्रिलोचन पाल ने महमूद गजनी का विरोध करने के लिए एक संघ बनाया था, जिसमें वह सम्मिलित था। संघ के अन्य सदस्यों के साथ वह पराजित हुआ। महमूद गजनी ने १०२१ ई० में काश्मीर पर आक्रमण किया, परन्तु लोह कोट का दुर्ग न जीत सकने तथा अन्य भौगोलिक कारणों से उनकी सेना बिना विजय किये काश्मीर से लौट आयी। ग्यारवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में काश्मीर का इतिहास कलश और हर्ष जैसे राजाओं के समय में अव्यवस्था, विलासिता, अत्याचार, शोषण आदि का इतिहास है। इन राजाओं ने प्रजा पर अत्याचारपूर्ण शासन के लिए तुरुष्क (मुसलमान) सेनापतियों को नियुक्त किया, जो राजवंश के लिए घातक सिद्ध हुआ। डामरों ने विद्रोह किया और सारे काश्मीर में अराजकता छा गयी। संग्राम के समय जो राजवंश स्थापित हुआ था; वह किसी प्रकार १३३९ ई० तक बना रहा। यह शासन बहुत दुर्बल और अप्रिय था।

लोहर वंश का दूसरा शासक (१०२८ ई०) अनन्त था उसके समय काश्मीर की स्थिति सुधरी। उसकी रानी सूर्यमती शासन और कोष को सुधारने के लिए उसके मन्त्री के रूप में कार्य करती थी। आसपास के प्रदेशों में आक्रमणों के फलस्वरूप उसका सारा कार्य नहीं के बराबर हो गया। उसने अपने योग्य मन्त्री हलधर के परामर्श से अपने पुत्र कलश को राज्य दे दिया। परन्तु कलश विद्रोही सिद्ध हुआ; अतः उसके पिता ने आत्महत्या कर ली और उसकी माता सती हो गयी। इस घटना से कलश के चरित्र में सुधार आया और काश्मीर का खोया हुआ सम्मान फिर से प्राप्त कर लिया।

१३३९ ई० में एक स्थानीय तुरुष्क (मुसलमान) सेनापति (शाहगीर नामक) ने श्री संसदीन (शामसुद्दीन) की उपाधि धारण कर एक नए मुस्मिम राजवंश की स्थापना की। इसके समय में भी हिन्दू-संस्कृति, संस्कृत भाषा और ब्राह्मणों की प्रधानता बनी रही। परन्तु यह युद्ध राजनीतिक थी। शीघ्र इसमें परिवर्तन हुआ और एक शताब्दी के भीतर ही कश्मीर की जनता का योजनाबद्ध धर्मपरिवर्त्तन किया गया। धीरे-धीरे यह मुस्लिम वंश दृढ़ होता गया। मुगल सम्राट् अकबर के समय तक बाहरी आक्रमणों से विशेषकर अपनी भौगोलिक परिस्थिति के कारण सुरक्षित रहा। अकबर ने काश्मीर को १५८७ ई० में मुगल-साम्राज्य में मिला लिया।

हर्ष :—

इसके बाद हर्ष काश्मीर का शासक हुआ। वह कलश का पुत्र था। पारिवारिक कष्टों के बावजूद उसने अपने राज्य की स्थिति सुधारी तथा विद्या और संस्कृति

को प्रोत्साहन दिया। उसने भी सैनिक-प्रसार प्रारम्भ कर दिया और उसकी आवश्यकता पूरी करने के लिए मन्दिरों तथा मठों को लूटना और भारी कर लगाना प्रारम्भ किया; जिससे सेनापति उच्छल ने अपने भाई सुर-सल के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। ११०१ ई० में हर्ष का वध हुआ। कल्हण हर्ष के मित्र का पुत्र था। उसने राणतरंगिणी में उसके राज्य का सम्पूर्ण वृत्तान्त प्रस्तुत किया है। उसके बाद उच्छल काश्मीर का राजा हुआ। उसने अपने भाई को लोहर का राजा नियुक्त किया। रछ ने शीघ्र ही उसे मार डाला। तब सिंहासन पर शीघ्रतापूर्वक एक के बाद दूसरा आक्रान्ता आया और काश्मीर के इतिहास में अन्धकार युग आ गया। ११२३ ई० में सुस्सल के पुत्र जयसिंह ने शान्ति स्थापित की। उसने ३० वर्ष राज्य किया (११५५ ई० तक)। मुसलमानों की सहायता से उसे अपने सामन्तों के विद्रोह को उसने दबा दिया। उसके बाद अयोग्य शासक हुए। जयदेव (११९८–१२१३ ई०) ने इतिहास में कुछ सम्मान प्राप्त किया। संग्राम के समय जो राजवंश स्थापित हुआ, वह किसी प्रकार १३३९ तक रहा। उसी वर्ष एक मुसलमान शासक का राज्य स्थापित हुआ। किन्तु उसके समय भी संस्कृत भाषा की प्रधानता रही। वह मुसलमान शासक कुछ ही दिन पूर्व मुसलमान हुआ था। रिचेन नामक एक तिब्बती राजा ने भी काश्मीर पर अपना अधिकार बढ़ाया था।

काश्मीर का इतिहास लोलुपता, लूट, अत्याचार, शासकीय दुर्व्यवस्था और आर्थिक शोषण का इतिहास रहा है।

काश्मीर के इतिहास का महत्त्व

कुमारजीव के 'जीवन चरित' से ज्ञात होता है कि अशोक के समय से ही काश्मीर बौद्ध धर्म का केन्द्र था। साथ ही वह शैव धर्म के एक विशेष सम्प्रदाय का केन्द्र रहा है। यह सम्प्रदाय शंकर के अद्वैत दर्शन के निकट था। इसकी श्रुतियों को शैव सूत्र कहते थे। इस सम्प्रदाय ने वसुगुप्त, कल्लट, सोमानन्द, उत्पल आदि महान् लेखकों के समूह को जन्म दिया। काश्मीर संस्कृत साहित्य का केन्द्र था। राजा मातृगुप्त स्वयं एक महान् कवि था। भौमक ने पाणिनि के व्याकरण के नियमों का उदाहरश प्रस्तुत करने के लिए पद्य में रामायण की कथा लिखी अवन्तिवर्मन की सभा में कवियों का प्रतिष्ठितवृन्द था। बौद्ध ग्रन्थ अवमानश तक की प्रेरणा से शिवस्वामी ने कप्फणाभ्युदय नामक महाकाव्य लिखा। रत्नाकर ने शैवदर्शन पर लेखनी चलायी। अभिनन्दिन ने सरल कविता में बाण की कादम्बरी को अनुदित किया। क्षेमेन्द्र ने गुणाढ्य की बृहत्कथा को विस्मृति के गर्भ से बचाकर सरल पद्यात्मक प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया। उसने अवदान कल्पलता में अनेक बौद्ध कथा को सरल रूप में प्रस्तुत किया। उसने विष्णु के अवतारों, रामायण और

महाभारत के कथानकों और काव्यशास्त्र के विषयों को लेकर बहुत-सी रचनाएँ की। सोमदेव ने कथासरितसागर की रचना की। विल्हण यहाँ के दरबार में राजकवि था। वह बाद में अन्य दरबारों में भी गया। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' की रचना की। संस्कृत साहित्य का यह सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक ग्रन्थ है। काश्मीर काफी दिनों तक हिन्दू और बौद्ध संस्कृतियों का प्रधान केन्द्र रहा और वहाँ संस्कृत भाषा की प्रधानता बनी रही। आरम्भिक मुसलमान राजाओं के शासन काल में ब्राह्मणों का राजनीतिक प्रभाव कायम रहा।

काश्मीर के शासकों ने अपनी शासन नीति में लोक कल्याण को बहुत महत्त्व दिया, यद्यपि इसके परवर्त्ती शासकों ने विलासिता, लोलुपता और नृशंसता का ऐसा परिचय दिया कि उसकी तुलना भारत के प्राचीन इतिहास में अन्यत्र नहीं मिल सकती, किन्तु जिस समय काश्मीर को सुयोग्य नरेश प्राप्त हुआ, कला, संस्कृति और धर्म के क्षेत्र में इसने महत्त्वपूर्ण उन्नति की। ललितादित्य और अवन्तिवर्मन की शासनकालों को काश्मीर के इतिहास का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

२. काबुल और पंजाब के शाही राज्य

तुर्की शाही :—

कुषाणों के वंशज, अपना साम्राज्य नष्ट हो जाने पर भी काबुल घाटी में बने रहे। समुद्रगुप्त के समय में वे दैवपुत्र शाही 'शाहानुशाही' कहलाते थे। ह्वेनसांग ने इन लोगों को क्षत्रिय कहा और अलबेरुनी ने "शाहीय" उपनाम का उल्लेख किया है। इसका अर्थ यह है कि कुषाणों ने पूर्णतः हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लिया था और वर्ण-व्यवस्था में इनको क्षत्रिय का स्थान मिल गया था। अलबेरुनी इनको 'तुर्की-शाही' कहता है। उसके अनुसार बर्हत् किन् के वंशजों ने, जिनमें से एक कनिष्क था, शाहीय (शाही) उपाधि के साथ काबुल पर सात पीढ़ियों तक शासन किया। इनको वह हिन्दू तुर्क कहता है। सम्भवतः इन्हीं में से एक ह्वेनसांग का समकालीन था। इस वंश के राजा सातवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक बराबर अरबों से लड़ते रहे और उनके प्रसार को रोकते रहे। इस वंश का अन्तिम राजा लगतुमान था जिसको गद्दी से हटाकर उसका ब्राह्मण मन्त्री कल्लर राजा बना।[1]

हिन्दू शाही :—

कल्लर ने जिस वंश की स्थापना की उसको अलबेरुनी तुर्कों से भिन्न करने के लिए हिन्दू शाही (भारतीय शाही) कहता है। अलबेरुनी के मतानुसार सामन्द

१. सखाउ, अलबेरुनीज इण्डिया, भाग २, पृ० १३.

(सामन्त), कमलू , भीम, जयपाल, आनन्दपाल, तरोजनपाल (त्रिलोचनपाल) और भीमपाल ने शासन किया। इनमें से कई एक की ऐतिहासिकता सिक्कों से सिद्ध होती है। राजतरंगिणी से भी इन शाही राजाओं के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है, यद्यपि इनके नामों में कुछ भिन्नता आ जाती है, जैसे कल्लर को लल्लिय और कमलू को तोरमाण कहा गया है।

कल्लर अथवा लल्लिय ने शंकरवर्मन के गुर्जर-शत्रु को सहायता पहुँचाई थी। गोपालवर्मन ने जिस शाही राजा को हराया था वह सम्भवतः सामन्त अथवा सामन्द था। पंजाब और अफगानिस्तान में सामन्त के बहुसंख्यक सिक्के पाये जाते हैं। वे वृषभ-अश्वारोही शैली के हैं जिनके चित ओर 'श्री सामन्तदेव' अंकित पाया जाता है। राजतरंगिणी के अनुसार शाहियों के ऊपर विजय के पश्चात् काश्मीर के मन्त्री ने शाही-राज्य तोरमाण (कमलू) को दे दिया। इस वंश का दूसरा नरेश भीम था जिसने भीमकेश्वर नामक विष्णु-मन्दिर काश्मीर में बनवाया। वह काश्मीर की रानी 'दिद्दा' का नाना था। देवाई (गदून प्रदेश) में उसका एक प्रस्तर-अभिलेख मिला है, जिस पर 'महाराजाधिराज शाही श्री भीम देव' उत्कीर्ण है। काबुलिस्तान में इसके सिक्के पाये गए हैं।

८७०–७१ ई० में शाही राजाओं की राजधानी उद्भाण्डपुर (काबुल घाटी में स्थित) पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् विवश होकर शाहियों ने पूर्वी पंजाब में भटिंडा (भट्टनगर) को अपनी राजधानी बनाया।

जयपाल :—उत्तरी स्वातघारी के एक शिलालेख से परमहारक महाराजाधिराज श्री जयपाल देव नामक एक राजा का वर्णन है जो पश्चिम में पूर्वी अफगानिस्तान और लघमान के पूर्व में सरहिन्द तथा दक्षिण में मुलगन तक फैले राज्य की उपलब्धि के लिए प्रसिद्ध था। जलालाबाद नामक स्थान पर उसने सुबुक्तगीन के काल में मुसलमानी आक्रमणों का सामना किया और इस प्रकार उसने भारत के सन्तरी का काम किया। मुसलमानी आक्रमण का संकेत पाते ही उसने भारतीय राजाओं को सन्देश भेजा। इस चेतावनी के फलस्वरूप ९९१ ई० में कन्नौज; चहमान और चन्देल राजाओं ने सुबुक्तगीन को रोकने के लिए एक संघ बनाया। मुसलमानी आक्रमण से अफगानिस्तान में शाही-सत्ता नष्ट हो गयी थी। उदमाण्डपुर पर मुसलमानी अधिकार हो जाने के बाद शाही-राजाओं ने पूर्वी पंजाब में भटिण्डा नामक स्थान को अपनी राजधानी बनाया। जयपाल को काबुल घाटी वापस लेने के लिए सुबुक्तगीन के साथ अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी। जयपाल इस सन्धि का पालन न कर सका और फिर मुसमानों ने आक्रमण कर दिया। हिन्दू राजाओं का संघ अभी दृढ़ नहीं हो पाया था। हिन्दू लोग पराजित हो गए। १००१ ई० में

सुबुक्तगीन के पुत्र महमूद ने आक्रमण किया और जयपाल को परास्त किया। वह आत्मग्लानि से चिता सजा कर मर गया। उसके बाद उसका लड़का आनन्दपाल राजा हुआ। अपने पिता की तरह उसने भी १००८ में हिन्दू राजाओं का एक संघ बनाया; किन्तु तुर्कों के सामने यह संघ विफल रहा। उसके बाद त्रिलोचनपाल और भीमपाल युद्ध करते हुए मारे गए। पश्चिम पंजाब तुर्कों के हाथ चला गया। लाहौर में यामिनी वंश की स्थापना हुई। मुसलमानों के विरुद्ध बने संघों में कन्नौज के राजा राज्यपाल और चन्देल-राजा विद्याधर ने अपना सब कुछ लगा दिया। एक मुसलमान इतिहासकार के अनुसार प्रान्तों में हिन्दू औरतों ने अपने रत्न बेच दिये और सोने के आभूषण गलाकर इस युद्ध के लिए चन्दे इकट्ठे किये। इस प्रकार, भारतीय सीमा-प्राचीर के सिंहद्वार की रक्षा करते हुए शाही-शासक शून्य में विलीन हो गये।

सिन्ध :—

प्राचीन काल में सिन्धु-सौवीर (उत्तर सिन्धु) के प्रसिद्ध प्रदेश थे। महाभारत युग में सौवीर का राजा जयद्रथ कौरवों का मित्र और अभिमन्यु का हन्ता था। यवन-आक्रमण के समय महत्त्वपूर्ण सैनिक मार्ग यहाँ से होकर जाता था। शक और हूण आक्रमण के समय यह प्रदेश ध्वस्त था। गुप्त साम्राज्य के समय इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता, अवन्तिराष्ट्र अथवा सौराष्ट्र में यह सम्मिलित था। पुष्यभूति वंश के प्रभाकरवर्द्धन के दिग्विजय के समय यह एक स्वतन्त्र राज्य था जिसको उसने त्रस्त किया था (सिन्धु-राजज्वरों···)। हर्ष के मरने पर पश्चिमोत्तर भारत में जो पहला राज्य स्वतन्त्र हुआ वह था—सिन्धु। ह्वेनसांग के अनुसार हर्ष के समय में एक शूद्र वंशी राजा शासन करता था, जिसकी राजधानी अलोर (आधुनिक रोरी के पास) थी। इस वंश के राजाओं की उपाधि राय थी। हर्ष के बाद चार पीढ़ी तक इस वंश का राज्य रहा। अन्तिम राजा साहसी नाम का था। उसकी मृत्यु पर चच नामक ब्राह्मण मन्त्री ने राज्य पर अधिकार कर लिया। इसके समय में सिन्ध राज्य का काफी विस्तार हुआ। उसके राज्य की सीमाएँ उत्तर में काश्मीर तक पहुँच गयी। उसने चालीस वर्ष तक राज्य किया। उसकी मृत्यु के बाद उसका भाई चन्द्र राजा हुआ परन्तु उसके सम्बन्ध में कुछ विशेष जानकारी नहीं है। उसका शासन-काल स्वल्प था। उसके पश्चात् चच का पुत्र दाहिर सिंहासन पर बैठा। दाहिर के ऊपर अरबों ने ७१२ ई० में आक्रमण किया।

मुसलमानों का आगमन

जिस समय भारतवर्ष में हर्ष और पुलकेशिन (द्वितीय) शासन कर रहे थे; उसी समय इसलाम के रूप में एक नई शक्ति का उदय हुआ। इसके पहले अरब के

निवासी कई जातियों में बँटे हुए थे; जो आपस में लड़ा करते थे उनमें अज्ञान बहुत था और वे जड़ पदार्थों और देवी-देवताओं को पूजते थे। ५७१ ई० में हजरत मुहम्मद का मक्का नामक स्थान में जन्म हुआ। उनको ऐसा भान हुआ कि ईश्वर की ओर से उन्हें धर्म की प्रेरणा हुई है। इसलिए वे अपने को ईश्वर का पैगम्बर (दूत) कहते थे। उन्होंने ईश्वर की एकता (तौहीद) और उसके मानने वाले सभी मनुष्यों की समता का उपदेश दिया। उन्होंने अल्लाह (ईश्वर) और उसके पैगम्बर को न मानने वाले को काफिर (अपराधी) बतलाया। इस नए धर्म का नाम इसलाम (शान्ति) था और उसमें विश्वास करनेवालों को मुसलमान कहते हैं। इस धर्म के उपदेशों ने अरबों में एक अपूर्व शक्ति और साहस का संचार कर दिया। पहले हजरत मुहम्मद का विरोध हुआ और उन्हें मक्का छोड़कर मदीना ६२२ ई० में भागना पड़ा। इस घटना को 'हिजरत' (पलायन) कहते हैं और हिजरी सन् इसी समय में प्रारम्भ हुआ। किन्तु थोड़े ही दिनों में इसलाम का सम्मान सारे अरब में छा गया। ६३२ ई० में हजरत मुहम्मद का देहान्त हुआ। इसके बाद अबूबकर, उमर, उस्मान और अली नामक चार खलीफाओं ने इसलाम धर्म और उसकी राजनीतिक शक्ति का प्रसार किया। पड़ोस के देशों पर बिजली की तरह इसलाम की सत्ता स्थापित होने लगी। अरबों ने ६३६–३७ में ईरान की पारसी राजा यज्दगुर्ज को हराकर ईरान पर अपना अधिकार कर लिया। बहुत से लोग जबर्दस्ती मुसलमान बनाए गए; कुछ लोग वहाँ से भाग कर भारतवर्ष में चले आए जो फारसी कहलाते हैं। बहुत शीघ्र बिलोचिस्तान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया में इसलाम फैल गया और उन देशों की प्राचीन संस्कृति और राज्य नष्ट हो गए।

सबसे पहले खलीफा उमर के समय में कोंकण के तट पर अरबों के सामुद्रिक हमले हुए, किन्तु चालुक्यों की सेना ने उनको बुरी तरह हराकर भगा दिया। सामुद्रिक आक्रमणों में भी अरब हार गए। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अरबों की शक्ति को स्थल के रास्ते सिन्ध पर आक्रमण करने का बहाना मिल गया। सिंहल का राजा जिस जहाज से खलीफा के लिए उपहार भेज रहा था वह सिन्ध के बन्दरगाह देवल पर लुट गया। खलीफा के पूछने पर सिन्ध के राजा दाहिर ने सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया। अतः ७१०–११ ई० में मकरान के रास्ते और समुद्र तट से एक नौजवान सेनापति मुहम्मद इब्न कासिम के नेतृत्व में देवल पर अरब आक्रमण प्रारम्भ हो गया। दाहिर युद्ध के लिए तैयार नहीं था। सिन्धु नदी के पश्चिम का सारा प्रान्त छोड़कर वह उसके पूर्व भाग आया। सिन्धु के पश्चिमी तट पर अरबों का आधिपत्य हो गया। उत्तर में दाहिर के भाई ने उनका कड़ा विरोध किया परन्तु वहाँ की सारी जनता बौद्ध थी अतः युद्ध की दृष्टि से बेकार

थी। अन्त में अरब वहाँ भी विजयी हुए। सिन्धु नदी के पूर्वी तट को दाहिर के बेटे जयसिंह ने घेर रखा था। नदी के बीच में एक टापू था। यहाँ का मुखिया अरबों से मिल गया और उनको सिन्धु के पूर्वी तट पर उतार दिया। सिन्ध के जाटों और मेंडों ने भी, जो दाहिर के शासन से असन्तुष्ट थे, अरबों का साथ दिया। दाहिर वीरता से लड़ा, परन्तु आन्तरिक असन्तोष और बाहरी सहायता के अभाव के कारण वह हार गया, और मारा गया। उसकी स्त्री ने भी एक छोटी-सी सेना लेकर अरबों का सामना किया, परन्तु अन्त में जौहर करके जल मरी। इसके बाद अरबों ने सिन्ध के प्रधान नगर बहमनाबाद, अलोर (राजधानी) और आगे बढ़कर मुल्तान पर कब्जा कर लिया।

खलीफा हिसाम के समय (७२४–४३ ई०) में उसने सिन्ध प्रान्त के शासक जुनैद ने प्रसार-नीति का अनुसरण करते हुए भीनमाल (दक्षिण-पश्चिम राजस्थान) लाट (गुजरात) और उज्जैन (अवन्ती) के गुर्जर-प्रतिहार राज्यों पर आक्रमण किया। अवन्ती के प्रतिहार राजा प्रथम नागभट ने अरबों को हराकर पीछे खदेड़ दिया। यद्यपि प्रतिहार राजाओं ने दाहिर की सहायता न कर अपनी राजनीतिक अदूरदर्शिता का परिचय दिया तथापि उन्होंने अरबों के प्रसार को रोककर वास्तव में भारत के प्रतिहार (ड्योढ़ी पार) का काम किया। अरबों से खलीफा की शक्ति के दुर्बल पड़ जाने पर सिन्ध को मुलतान, मंसूरा आदि छोटे-छोटे राज्यों में बाँट लिया। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में गजनी के तुर्कों ने महमूद के नेतृत्व में सिन्ध के अरब राज्यों का अन्त कर दिया। इसके बाद उत्तर सिंध में तुर्क और दक्षिण सिन्ध में हिन्दू सुमर शासन करते रहे। तुर्कों द्वारा सुमरों का अन्त चौदहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ।

३. गुजरात का चालुक्य अथवा सोलंकी वंश

(अनहिलवाड़)

हर्षवर्धन के समय में लाट (गुजरात) पर अधिकार पाने के लिए उत्तर-भारत और दक्षिण-भारत दोनों ही प्रयत्न कर रहे थे। वहाँ का वलभी राजा ध्रुवसेन पहले दक्षिण के चालुक्य सम्राट् द्वितीय पुलकेशिन् के प्रभाव-क्षेत्र में था; बाद में हर्ष के प्रभाव-क्षेत्र में आ गया। इसके बाद इन प्रदेशों के ऊपर प्रतीहारों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। दसवीं शताब्दी के मध्य में जब उनका ह्रास होने लगा तब वहाँ चालुक्य (सोलंकी) वंश की स्थापना हुई। यह मूलतः दक्षिण के चालुक्यों की शाखा में था। चालुक्यों ने अन्हिलवाड या अन्हिलपाटक को अपनी राजधानी बनाया।

मूलराज (९७४–९९५ ई०)

इस वंश का संस्थापक मूलराज था जिसने गुजरात में चापोटक वंशी अपने मामा को लगभग ९४१ ई० में मारकर राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। इसके पश्चात् उसने अपने बाहुबल से सारस्वत मण्डल (गुजरात का एक भाग) को अपने कब्जे में कर लिया। इस विजय से उत्साहित होकर उसने कच्छ के राजा लाखा (लक्षराज) को हराकर मार डाला और वामन स्थली (सुराष्ट्र में वनथली) को अधिकृत किया। उसने कच्छ, काठियावाड़, लाट और अजमेर को मिलाया। पुनः उत्तर बढ़कर उसने शाकम्भरी के चाहमान राजा से लड़ाई की। मूलराज शैवधर्म का अनुयायी था। उसने बहुत से मन्दिरों का निर्माण कराया और ब्राह्मणों को वृत्ति दी। ९९६ ई० में उसने आत्महत्या कर ली।

भीमदेव प्रथम (१०२२–६४ ई०)

इस वंश का प्रसिद्ध राजा भीमदेव प्रथम था। जब वह सिन्ध में युद्ध कर रहा था तब परमार भोज ने उसकी राजधानी अन्हिलवाड़ को लूट लिया। इसके शासन-काल में महमूद गजनी का सुराष्ट्र के ऊपर आक्रमण हुआ। वह बहुत तेजी से अन्हिलवाड़ के मुख्य द्वार पर पहुँचा। भीम उससे भयभीत होकर भाग निकला। इसके बाद महमूद ने उसकी सम्पत्ति के लोभ और मूर्त्तिभंजन की नीति के कारण प्रसिद्ध सोमनाथ के मन्दिर पर चढ़ाई की। पर इसके रक्षकों ने महमूद का सामना किया, परन्तु अन्त में वे हार गए। यह कहा जाता है कि मन्दिर के पुजारियों ने महमूद से प्रार्थना की कि वह मूर्त्ति के बदले प्रचुर द्रव्य लेकर उसे लौटा दे। उसने उत्तर दिया : "मैं मूर्त्तिविक्रेता नहीं हूँ मूर्त्तिभंजक हूँ।" बहुत से हिन्दू मारे गए, मन्दिर ध्वस्त और भ्रष्ट हुए। मन्दिर की विपुल सम्पत्ति लूट कर भग्नमूर्त्ति के साथ महमूद गजनी लौटा। मूर्त्ति का पत्थर वहाँ जामा मस्जिद के दरवाजे की सीढ़ियों में लगाया गया, जिससे पाक नमाज पढ़ने वाले उस पर पैर रखकर जायँ। महमूद के लौट जाने पर भीम ने अपनी शक्ति का पुनरुद्धार और प्रसार किया। पहले उसने आबू के परमार राजा को हराया। जब वह सिन्ध के ऊपर आक्रमण कर रहा था परमार राजा भोज के सेनापति कुलचन्द्र ने अन्हिलवाड़ को लूटा। इससे क्रुद्ध होकर भीम ने चन्द्र के कलचुरि लक्ष्मीकर्ण से मैत्री कर ली और दोनों ने मिलकर मालवा पर आक्रमण किया। इस युद्ध में मालवा ध्वस्त हुआ। परन्तु चालुक्यों और कलचूरियों की मैत्री स्थायी नहीं रही। मालवा शीघ्र स्वतन्त्र हो गया। भीम की लक्ष्मीकर्ण से लड़ाई हुई जिसमें कलचुरि राजा पराजित हुआ। भीम के पुत्र कर्ण के समय में परमार राजा उदयादित्य ने सौराष्ट्र पर आक्रमण किया। किन्तु कर्ण शीघ्र संभल गया। इसने बहुत से मन्दिर और पोखरे बनवाये

और नगर बसाये। उन्हीं नगरों में से एक आगे चलकर अहमदाबाद नाम से प्रसिद्ध हुआ।

जयसिंह (१०९३–११४३ ई०)

कर्ण का उत्तराधिकारी जयसिंह बड़ा वीर और विजयी हुआ। जब वह गद्दी पर बैठा उस समय अवयस्क था, अतः उसकी माता नियणल्ल देवी ने उस समय राज्य सँभाला। वयस्क होते ही उसने नाडोल के चाहमान राजा को पराजित किया और सौराष्ट्र को एक सामन्त चूड़ासम के राज्य को छीन लिया। तत्पश्चात् उसका ध्यान मालवा की तरफ गया। वहाँ के दुर्बल राजा नरवर्मन् और यशोवर्मन् से बारह वर्ष तक उसका युद्ध चलता रहा और अन्त में अपनी अधीनता स्वीकार कराकर उसने 'अवन्तिनाथ' की उपाधि धारण किया। जयसिंह पूर्वोत्तर में अपनी शक्ति फैलाना चाहता था परन्तु चन्देल राजा मदन वर्मा ने उसके वढ़ाव को रोका। कलचुरि राजाओं और गहड वालों के साथ जयसिह का मित्रता का सम्बन्ध था। एक लेख में कहा गया है कि उसने बरबरक को जीता। बरबरक को अनुश्रुतियों में दैत्य कहा गया है। विद्वानों का अनुमान है कि वह कोई अनार्य जाति का मुखिया अथवा कोई तुर्क सेनापति था। सी० बी० वैद्य के अनुसार 'अरब' के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है। सम्भवतः उसने अरबों को कभी हराया हो। जयसिंह अपने कुलधर्म शैवधर्म का अनुयायी था, यद्यपि और धर्मों को भी आश्रय देता था। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि उसकी सभा में रहते थे।

उसने बहुत से देवालय बनवाये और विद्या तथा कला को आश्रय दिया। जयसिंह अपने वंश का सबसे शक्तिशाली, सबसे धार्मिक और दयालु राजा था। यह कहा जाता है कि उसकी माता सोमनाथ के दर्शन को जा रही थी। उसने सोमनाथ दर्शन पर लगे हुए कर को न दे पाने वाले यात्रियों को दर्शन बिना ही निराश लौटते हुए देखा और बहुत दुखी हुई। कर से उसे एक लाख रुपये प्रतिवर्ष की आय थी, पर उसने उसे उठा लिया। उसने अपनी प्रजा के बहुत से ऋण स्वयं चुकाये और एक संवत् का प्रवर्त्तन किया। उसकी उदारता और महत्ता से कवि और विद्वान् ही नहीं योद्धा भी अभिभूत होकर उसके पार्षद बनते थे; जैसे परमार उदयादित्य का पुत्र जगद्र देव बना था। वह सबका समान रूप से सम्मान करता था। उसने 'सिद्धराज' और 'अवन्तिनाथ' की उपाधि धारण की। वह वास्तव में चक्रवर्त्ती सम्राट् था।

कुमार पाल (११४४–७१ ई०)

जयसिंह का उत्तराधिकारी कुमार पाल उसी के समान महत्त्वाकांक्षी था। उसने शाकम्भरी के चाहान राजा अर्णोराज की सेनाओं को परास्त किया। आबू

के परमारों के विद्रोह को दबाया और मालवा के ऊपर चालुक्यों के आधिपत्य को भी दृढ़ किया। कोंकण के राजा मल्लिकार्जुन को हराकर उसने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। कोई चंदिराज उसके ऊपर आक्रमण करने जा रहा था। बीच में उसके गले का हार एक पेड़ की डाल में फँस गया, क्योंकि वह हाथी पर बैठा था, और मर गया। कुमार पाल विद्या और कला के प्रश्रय के लिए अपने वंश में सबसे अधिक प्रख्यात था। उसके समय में हेमचन्द्र सूरि जीवित थे, जिन्होंने धर्म, दर्शन, व्याकरण आदि विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे। कुमार पाल ने सोमनाथ मन्दिर का भी जीर्णोद्धार कराया। उत्कीर्ण लेखों में कुमार पाल को शैव कहा गया है, यद्यपि जैन-ग्रन्थों में उसे जैन बतलाया गया है। उसने जैन-धर्म के प्रभाव से अपने राज्य में जीव-हिंसा का निषेध कर दिया।

कुमारपाल के बाद गुजरात के चालुक्यों का पतन और उस पर तुर्कों के आक्रमण फिर शुरू हो गए। भोला भीम (११७८ ई०) के समय गोर के तुर्कों ने गुजरात पर आक्रमण किया, किन्तु उन्हें हार कर वापस जाना पड़ा। ११९७ ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने अपनी सेना यहाँ भेजी परन्तु उसको स्थायी सफलता न मिली। मालवा के परमारों और देवगिरि के यादवों के आक्रमण से चालुक्यों की शक्ति और शिथिल होती गयी।

४. गुजरात का बघेल-वंश

उसी समय कुमारपाल की बहन से उत्पन्न बघेलवंश में लवण प्रसाद राजा हुआ, जिसने दक्षिण गुजरात में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। थोड़े दिनों में अन्हिलवाड के ऊपर भी बघेलों का अधिकार हो गया।

बघेलवंश का प्रवर्तक आनक पहले राजा का एक मन्त्री था। लवण प्रसाद के राज्य काल में उसने चालुक्यों से उनके राज्य का उत्तरी भाग छीन लिया और सिंहण के राज्यकाल में देवगिरि के यादवों को परास्त किया। उसका पौत्र विशाल देव (१२४३-६१ ई०) यादवों का शत्रु था। उसने तीन वर्ष लम्बे अकाल में अपनी प्रजा की रक्षा की। उसके समय बघेलों की शक्ति चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी। १२९७ ई० में अलाउद्दीन ने बघेलों के खिलाफ अपनी सेना भेजी। मुसलमानी सेना को देखते ही करणदेव बघेल राजधानी छोड़कर भाग गया। इसके बाद ही गुजरात से हिन्दू-राज्य का लोप हो गया।

५. नेपाल

हिमालय की तराई में बिहार और आधुनिक उत्तर प्रदेश की उत्तरी सीमा पर सिक्किम और कुमायूँ के बीच लगभग ५०० मील लम्बा नेपाल का राज्य फैला

हुआ था। इसका विस्तार पश्चिम में अलमोड़ा जिले से पूर्व में दार्जिलिङ्ग की पहाड़ियों तक है। प्राचीन काल में यह गण्डक और कोशी नदियों के बीच केवल २० मील लम्बा और १५ मील चौड़ा था। इसी के अन्दर काठमाण्डू था और इसे नेपाल की उपत्यका कहा जाता था। यहाँ के निवासी संसार से पृथक् जीवन बिताते थे। व्यापार आदि के मामले में इसका तिब्बत और चीन से सम्बन्ध था। यहाँ के लोगों में किरात-रक्त का काफी मिश्रण है, परन्तु राजनीतिक और भौगोलिक दृष्टि से भारत से इसका अधिक सम्बन्ध रहा है। नेपाल का प्राचीन इतिहास तो धुंधला है किन्तु अशोक मौर्य के समय से इसका सम्पर्क भारत से था। नेपाल की घाटी से अशोक का घनिष्ठ सम्बन्ध था। उसकी पुत्री चारुमती और दामाद देवपाल खतिय ने यहाँ वहुत से स्तूप और विहार बनवाये थे। अशोक ने ही ललित-पाटन नगर बसाया था। १११ ई० के बाद के शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि नेपाल में क्रमशः किरात, सोमवंशी और सूर्यवंशी या लिच्छवि राजवंशों ने राज्य किया। अन्तिम राजवंश लिच्छवियों का ही था। उसके अन्तिम राजा शिवदेव के मन्त्री अंशुवर्मन ने ठाकुरी वंश की स्थापना की। उसने ५९५ ई० में ठाकुरी संवत् को चलाया। अंशुवर्मन पर तिब्बती प्रभाव था। प्रयाग प्रशस्ति से यह ज्ञात होता है कि नेपाल प्रत्यन्त का स्वतन्त्र देश था। अंशुवर्मन के समय से नेपाल के इतिहास का सिलसिलेवार पता लगता है। उसने सारी शक्ति अपने हाथ केन्द्रित कर ली और लगभग ४५ वर्ष राज्य किया। कुछ लोगों का कहना है कि वह हर्षवर्द्धन का करद अधीन राजा था। उसी के समय नेपाल में हर्ष संवत् का प्रवेश हुआ। हर्ष का आधिपत्य नेपाल पर था अथवा नहीं, यह कहना कठिन है। तिब्बत के राजा स्तांग से उसने अपनी लड़की व्याही थी। उसके (अंशुवर्मन) उत्तराधिकारी अपने को लिच्छवि कहते रहे। उसके वाद पुनः नेपाल का इतिहास अन्धकारमय हो जाता है।

८७९ ई० में नेपाल से तिब्बत का प्रभुत्व उठ गया और एक नया संवत् चालू हुआ। नेपाल में लिच्छवि वंश का प्रत्यावर्तन हुआ। नया संवत् ८७९-८० सम्भवतः विदेशी आधिपत्य से स्वतन्त्र होने के उपलक्ष में चलाया गया था। यह संवत् नेपाल में अब भी प्रचलित है। नेपाल तिब्बत के नियन्त्रण से मुक्त हुआ था और तभी वह संवत् प्रारम्भ हुआ था। राजा गुण कामदेव के ६० वर्ष लम्बे शासन में देश को समृद्ध और सम्पन्न बनाया गया। इसके बाद सोमेश्वर द्वितीय चालुक्य ने नेपाल पर आक्रमण किया और चालुक्यों का प्रभाव बारहवीं शताब्दी तक रहा, जब नेपाल

---

१. On Bihar edited R. K. Chaudhary. लेखक का ही Jiṣṇu Gupta of Nepal लेख भी जो J. B. R. S. में प्रकाशित है।

सैनिक शिवदेव ने दक्षिण का आधिपत्य समाप्त कर दिया। मिथिला में कर्णाट वंश की स्थापना के बाद कर्णाट शासक नान्यदेव ने भी अपना प्रभाव नेपाल पर बढ़ाया। नान्यदेव ने अपना राज्य मिथिला तक विस्तारित किया था। इधर जब उत्तर भारत में पंजाब से लेकर बङ्गाल तक मुसलमान आक्रमकों ने देश की शान्ति भङ्ग कर रखी थी, तब नान्यदेव के विरुद्ध किसी मुसलमान शासक की हिम्मत नहीं पड़ी। नान्यदेव के बाद सबसे प्रतापी राजा हरिसिंह हुआ। हरिसिंह नेपाल की तराई से लेकर मिथिला तक की भूमि का एकछत्र स्वामी था। सिमरावपुर में उसकी राजधानी थी। उसके कार्य-काल में प्रशासन की उत्तम व्यवस्था थी। प्रशासन के काल में उसे देवादित्य, उसके पुत्र वीरेश्वर और पौत्र चण्डेश्वर तीनों का अनवरत सहयोग मिला। ये तीनों महासांधि विग्रहक के पद पर आसीन थे। तत्कालीन साहित्य में इस बात का उल्लेख है कि सम्पूर्ण नेपाल को जीतने का श्रेय चण्डेश्वर को ही था। ये तीनों मन्त्री इस बात की पुष्टि करते हैं कि हरिसिंह का शासन-काल काफी लम्बा था। वह लगभग १२८०-८१ ई० में राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुआ और १३२४-२५ ई० में गयासुद्दीन का हमला हुआ जिसका हरिसिंह ने बड़ी बहादुरी के साथ सामना किया। मुसलिम इतिहासकारों के वर्णन में एक-रूपता का अभाव होते हुए भी उनके तथ्यों से इस बात की पुष्टि होती है कि मुसलमान आक्रमण से यद्यपि तिरहुत के आस-पास का कुछ प्रदेश आक्रमकों के हाथ आ गया था, किन्तु बहादुर हिन्दू राजा हरिसिंह नेपाल की तराई में बिलकुल सुरक्षित था। यही कारण है कि बरनी और निजामुद्दीन सुल्तान और हरिसिंह की मुठभेड़ का उल्लेख तक नहीं करते। बल्कि "धूर्त समागम" नाटक में इस बात का उल्लेख है कि हरिसिंह और उसके मन्त्रियों ने सुलतान को करारी मात दी। इसके बाद नेपाल के इतिहास में १७६८ ई० तक कोई विशेष घटना नहीं हुई। इस समय वर्त्तमान राजा वंश की स्थापना नेपाल में हुई।

नेपाल भारत के धार्मिक आन्दोलन से अछूता नहीं रहा। अशोक के समय वहाँ बौद्ध-धर्म ने प्रवेश किया। कालान्तर में वहाँ तान्त्रिक महायान का प्रचार हो गया। फिर भी हिन्दू धर्म काफी सशक्त था। उसके प्रभाव तथा बौद्ध-धर्म के आचारादि के प्रति भिक्षुओं की उपेक्षा के कारण बौद्ध-धर्म का ह्रास हो गया। नेपाल का प्रमुख शैव तथा देवता शिव (पशुपति) हैं।

६. मौखरी वंश

हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद कान्यकुब्ज का इतिहास लगभग ७५ वर्ष तक अन्धकारमय रहा। जिस तरह छठी शताब्दी में मालवाधिपति यशोवर्मन् भारत के राजनीतिक आकाश में उल्का की तरह चमक उठा था वैसे ही ८वीं शताब्दी में

यशोवर्मन नामक कान्यकुब्ज का राजा था। उसके वर्मन् नामान्त से ज्ञात होता है कि वह मौखरी-वंश का ही था। कुछ जैन ग्रन्थों के आधार पर उसका सम्बन्ध मौर्यों से जोड़ा जाता है, किन्तु इस मत की पुष्टि के लिए प्रमाण नहीं है। गउडवहो (गौड़वह) नाम के प्राकृत काव्य से ज्ञात होता है कि उसने मलय, वंग, मगध, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, मरु, पंजाब (श्रीकंठ) और हिमालय प्रदेश पर दिग्विजय किया था। मगध के ऊपर उसके विजय और शासन की बात तो उसके नालन्दा में उत्कीर्ण लेख से सिद्ध हो जाती है। उसके समय में मगध का राजा सम्भवतः जीवितगुप्त द्वितीय था। उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए ऊपर के प्रदेशों पर उसकी सैनिक यात्रा भी असम्भव मालूम पड़ती। यशोवर्मन् साहित्य और कला का आश्रयदाता था। उसकी सभा में उत्तर रामचरित, महावीर चरित और मालती-माधव के रचयिता भवभूति, गउडवहो के लेखक वाक्पति आदि साहित्यकार रहते थे।[1] पहले काश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड़ से उसकी मैत्री थी। दोनों ने मिलकर अरब, तिब्बत और चीन के विरुद्ध भारतीय सीमा को सुरक्षित रखा। पीछे राजनीतिक प्रतियोगिता के कारण दोनों में संघर्ष हो गया। यशोवर्मन को ललितादित्य मुक्तापीड़ ने हराया। यशोवर्मन की मृत्यु के बाद उसके तीन नाममात्र के उत्तराधिकारी हुए, जिनके सम्बन्ध में कुछ भी मालूम नहीं है।

आयुध वंश :—

मौखरी वंश के बाद तीन आयुध नामान्त राजाओं—वज्रायुध, इन्द्रायुध और चन्द्रायुध के ७७० ई० से लेकर ८१६ ई० तक शासन किया। इनमें से पहले के समय काश्मीर के राजा जयापीड ने कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया। इन्द्रायुध के समय में राष्ट्रकूटों के आक्रमण उत्तर-भारत पर हुए। ध्रुव राष्ट्रकूट ने गंगा-यमुना के दो अरब को जीत कर इन नदियों की चिह्न अपने साम्राज्य लक्षणों में जोड़ लिये। कुछ काल बाद बंगाल के राजा धर्मपाल ने इन्द्रायुध को गद्दी से उतार कर अपने आश्रित चक्रायुध को राजा बनाया। किन्तु शीघ्र ही राष्ट्रकूटों का आक्रमण हुआ और ध्रुव के उत्तराधिकारी गोविन्द तृतीय के प्रति धर्मपाल और चक्रायुध दोनों को आत्मसमर्पण करना पढ़ा।[2] वे इस समय मध्य देश पर आधिपत्य जमाने के लिए पाल, राष्ट्रकूट और प्रतिहारों में त्रिकोणात्मक प्रतियोगिता चल पड़ी। अन्त में प्रतिहारों को सफलता मिली। ८१६ ई० में मालवा के प्रतिहार राजा

---

१. देखिये—हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० १९६
स्टेन०—राजतरंगिणी की भूमिका, पृ० ८९
२. एपि० इण्डि०, भाग १८, पृ० २४५, २५३

द्वितीये नागभट्ट ने चक्रायुद्ध को; "जिसका नीच आचरण उसके परावलम्बन से प्रमाणित था"[1]; परास्त कर कान्य-कुब्ज को अपने अधिकार में कर लिया।

७. कान्यकुब्ज के राजपूत वंश

राजपूतों की उत्पत्ति :—

यह हम जान चुके हैं कि हर्ष के वाद भारत की एकता पुनः शिथिल पड़ गयी। विकेन्द्रीकरण की भावना बलवत्ती होने के कारण देश पुनः छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। इन विभिन्न राज्यों को एकता के सूत्र में बाँधने वाली एक प्रमुख सत्ता का उस समय अभाव था। सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का इतिहास राजपूत काल कहा जाता है। लगभग चार सौ वर्ष (८००–१२०० ई०) तक इन राजपूतों ने भारतीय इतिहास में सक्रिय रूप से भाग लिया।

राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है। कब और कैसे इसकी उत्पत्ति हुई; यह बात भारतीय इतिहास का एक विवादास्पद प्रश्न है। विषय इतना विवादग्रस्त है कि निश्चित रूप से इस सम्बन्ध में कोई मत देना असम्भव-सा प्रतीत होता है। यह निश्चित है कि इन लोगों ने विशाल साम्राज्य की स्थापना कर (जिसका आधार सामन्तवाद था) भारत की एकता का एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया था तथा तत्कालीन विदेशी आक्रमणकारियों का मुकाबला बड़ी वीरता से किया था। संस्कृत भाषा में राजपूत शब्द का उल्लेख नहीं है किन्तु 'राजपुत्र' शब्द मिलता है। राजपूत लोग अपने आपको प्राचीन सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी क्षत्रियों के वंशज मानते हैं। ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से इस जाति की उत्पत्ति हुई। एक सिद्धान्त यह भी है कि राजपूतों की उत्पत्ति अग्नि कुल या अग्निकुण्ड से हुई। परशुराम क्षत्रियों से क्रुद्ध हो गए और उन्होंने भारत को क्षत्रियों से मुक्त कर दिया। क्षत्रियों का विनाश होने पर राजाओं का अभाव हुआ और जनता अपने अधिभार और कर्त्तव्यों से विमुख हो गयी। अतः आबू पर्वत पर चालीस दिनों तक एक यज्ञ हुआ। वहीं यज्ञकुण्ड से परमार, सोलंकी, पँवार और चौहान की उत्पत्ति हुई। यह एक कथन मात्र है, क्योंकि इस यज्ञ का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है, अतः इतिहासकार इसे संदिग्ध दृष्टि से देखते हैं। इस कथन का प्रचार सोलहवीं शताब्दी के चारणों और भाटों ने किया। इस कथन के पीछे सत्य का अभाव है।

प्रसिद्ध इतिहासकार टाड के अनुसार राजपूतों की उत्पत्ति मध्य एशिया की एक सिचियन जाति से हुई तथा उनके अनुसार राजपूतों का सम्बन्ध विभिन्न

---

१. वही, पृ० १७८, ११२

विदेशी जातियों से है। इन्होंने ही बाद में चन्द्रवंशी तथा सूर्यवंशी क्षत्रियों से अपना सम्बन्ध स्थापित किया। टाड के अनुसार जो राजपूत अपना सम्बन्ध सूर्यवंश से स्थापित करते हैं तथा सूर्य की पूजा करते हैं, वे विदेशियों के सन्तान हैं और जो राजपूत नाग की पूजा करते हैं वे भारत की मूल निवासियों के वंशज हैं। किन्तु इस सिद्धान्त को भी लोग न्यायसङ्गत नहीं मानते। राजपूतों के कुछ प्रचलित रीति-रिवाज विदेशियों से मिलते हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि हूणों के आक्रमण के फलस्वरूप भारतीय वर्णाश्रम में जो हेरफेर हुए उसके फलस्वरूप राजपूतों की उत्पत्ति हुई। राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में हूणों का सम्बन्ध तत्कालीन राजवंशों से था। इसलिए हूण भी बाद में चलकर राजपूतों की श्रेणी में रखे गये। वे लोग पर्याप्त समय तक भारत में रह कर भारतीय समाज में विलीन हो गये। सबसे मान्य मत यह है कि राजपूत प्राचीन क्षत्रियों के वंशज हैं, यद्यपि उनमें विदेशियों का भी रक्त है। बहुत सारे लोग जो शासक हुए, वे क्षत्रियों की श्रेणी में आ गये और बाद में चलकर राजपूत कहकाने लगे; जैसे—भर, गुहिलोट आदि। यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उन्होंने भारतीय इतिहास में अपने लिए एक अच्छा स्थान बना लिया है।

राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अभी तक कोई निर्विवाद मत स्थापित नहीं हो सका है। भोज के ग्वालियर-अभिलेख और बाउक के जोधपुर-अभिलेख से यह पता लगता है कि राजपूत लोग अपनी प्रसिद्धि के लिए अपना सम्बन्ध रामचन्द्र के वंशज से जोड़ना चाहते हैं, या जोड़ रहे हैं। सूर्यवंश और रामचन्द्र के साथ तो वे लोग अपना सम्बन्ध जोड़ते चले ही आ रहे हैं। 'पृथ्वीराजरासो' में राजपूतों के ३६ कुलों का वर्णन है और ये लोग सूर्य, शशि और यदुवंश से सम्बन्ध बतलाते हैं। हम्मीर महाकाल में चौहानों को सूर्यपुत्र कहा गया है। शक-कुषाण से भी राजपूतों की उत्पत्ति बतलायी गयी है। राजपूत गुर्जर भी थे।

सी० बी० वैद्य उस मत को नहीं मानते हैं और राजपूतों को आर्यों की सन्तान कहते हैं। राजशेखर ने गुर्जर प्रतिहार को रघुकुल तिलक कहा है। विद्वानों में इस प्रश्न को लेकर अब भी काफी मतभेद है और इस सम्बन्ध में दो मुख्य मान्य मत हैं :—

१. राजपूत विदेशी थे : और

२. राजपूत इसी देश के रहने वाले थे और इसी देश के पोषक थे—

इस मान्य मत को लेकर अब भी वाद-विवाद चल ही रहा है।

गुर्जर प्रतिहार वंश

इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं है। एक अभिलेख से ऐसा पता लगता है कि ये लोग गुर्जरों की एक शाखा थे और मध्य एशिया की उन

जातियों में से एक थे जो गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद हूणों के साथ अथवा उसके बाद पश्चिमोत्तर मार्ग से भारत आए थे। इनको गुर्जरों की एक शाखा होने का प्रमाण राष्ट्रकूट-अभिलेखों एवं अबूजैद और अलमसअदी (अरब लेखक) के लेखों से भी मिलता है। कन्नड कवि पम्प महिपाल प्रतिहार को गुर्जरराज कहता है। किन्तु प्रतिहार लोग अपना मूल पुरुष लक्ष्मण को मानते हैं जो राम के दरवाजे पर प्रतिहार का काम करते थे। राजशेखर ने अपने संरक्षक महिपाल को 'रघुकुल तिलक' कहा है। इस वंश का उदय गुर्जर या प्राचीन गुजरात में हुआ। छठी शताब्दी के मध्य एक महत्त्वाकांक्षी रणकुशल ब्राह्मण हरिश्चन्द्र ने प्रतिहारवंशी क्षत्रिय-कन्या से विवाह किया। उस समय के धर्मशास्त्रीय नियम के अनुसार भद्रा के पुत्रों द्वारा मातृवर्ग से क्षत्रिय प्रतिहार राजवंशी की परम्परा चली। उन्होंने उत्तर में बढ़कर माण्डव्यपुर (माँडोर) पर अधिकार कर लिया और उत्तर के पुष्यभूतियों के प्रभाव को रोका। प्रतिहारों ने बहुत शीघ्र सारे गुर्जर या लाट और मालवा पर अपना अधिकार कर लिया। उज्जैन उनका प्रधान केन्द्र था। इसका प्रमाण राष्ट्रकूट अमोघवर्ष लेखों से लगता है। 'जैन हरिवंश' में वत्सराज को अवन्ती का राजा कहा गया है। प्रतिहारों के प्रारम्भिक इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण थी—सिन्ध में अरबों का विस्तार रोकना और उन्हें सिन्ध के भीतर घेर रखना। इस समय वस्तुतः उन्होंने भारत के प्रतिहार का काम किया। मालवा में प्रवेश करने के बाद उन्होंने मध्य-प्रदेश की राजनीति में भाग लेना शुरू किया।

वत्सराज के पूर्व ही नागाव लोक अथवा नागभट्ट प्रथम ने इस वंश को मजबूत किया। इसने म्लेच्छ राज की सेनाओं को पराजित किया और मडौल तक धावे मारे। दो नाममात्र से राजा हुए। चौथा राजा वत्सराज था, जिसने अपनी विजयों के कारण पर्याप्त कीर्त्ति प्राप्त की। मण्डिजाति को परास्त कर उसने उस पर अपना अधिकार कायम किया। उसके समय कान्य-कुब्ज में आयुध वंश के दुर्बल शासक शासन कर रहे थे और मध्य देश पर अधिकार के लिए प्रतिहार, राष्ट्रकूट और पालों के बीच संघर्ष चल रहा था। इस होड़ में वत्सराज पीछे रहने वाला नहीं था। उसने गौड़ नरेश धर्मपाल को परास्त किया, किन्तु अन्त में वह स्वयं ध्रुव राष्ट्रकूट से परास्त होकर रेगिस्तान में आश्रय ढूंढ़ने को बाध्य हुआ।

---

१. देखिए :—R. C. Majumdar : The Gurjara Pratihara.
B. N. Puri : The Gurjara Pratihara.
P. Bhatia : History of the Gurjara Pratihara.

नागभट्ट द्वितीय (८०५-३३ ई०)

नागभट्ट द्वितीय वत्सराज का योग्य उत्तराधिकारी था। वह बड़ा वीर और महत्त्वाकांक्षी था। उसने ८०५ ई० में राज्य पाने के बाद अपने कुल की प्रतिष्ठा पुनः बढ़ाने के प्रयत्न किए, क्योंकि वह कट्टर साम्राज्यवादी था। उसने कान्य-कुब्ज पर अधिकार जमाया और अपनी राजधानी अवन्ती से हटाकर कन्नौज में की। उसने मुंगेर में मगध और बंगाल के राजा धर्मपाल को हराया। उसकी इस विजय से भयभीत होकर आन्ध्र, सिन्धु, विदर्भ (बरार) और कलिंग (उड़ीसा) के शासकों ने उसकी मैत्री के लिए प्रार्थना की। भोज की ग्वालियर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने आनर्त (उत्तरी काठियावाड़), मालवा, मत्स्य (पूर्वोत्तर राजस्थान), किरात (हिमालय प्रदेश), तुरुष्क (सिन्ध के अरब) और वत्स (प्रयाग के पास कोशाम्बी) पर विजय प्राप्त की थी, किन्तु तृतीय गोविन्द राष्ट्रकूट ने नागभट्ट को एक बार हरा दिया था, परन्तु ८१४ ई० में गोविन्द तृतीय की मृत्यु के बाद राष्ट्रकूटों के आन्तरिक कलह के कारण नागभट्ट द्वितीय को उसके खतरे से 'फुरसत मिली। द्वितीय नागभट्ट के पुत्र रामभद्र का शासन दुर्बल था। और उसके प्रान्तीय सामन्तों ने स्वतन्त्रता घोषित कर दी।

मिहिर भोज

रामभद्र का उत्तराधिकारी मिहिरभोज (८३६-८८१ ई०) ने बहुत शीघ्र ही सम्पूर्ण मध्यप्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इस समय बंगाल के राजा देवपाल की शक्ति दृढ़ होने के कारण पूर्व में मिहिरभोज के राज्य का विस्तार न हो सका, किन्तु दक्षिण-पश्चिम में नर्मदा और सुराष्ट्र तक उसका आधिपत्य फैल गया। पश्चिम में पूर्वी पंजाब उसके राज्य में सम्मिलित था। इसके बाद उसने अपने वंश के पुराने शत्रु राष्ट्रकूटों (द्वितीय ध्रुव धारावर्ण और द्वितीय कृष्ण) के साथ युद्ध जारी रखा और दक्षिण से आगे नहीं बढ़ने दिया।

अरब यात्री सुलेमान ने भोज के साम्राज्य, उसके शासन, उसके राज्य के व्यापार तथा समृद्धि और अश्वारोही सैनिक बल की प्रशंसा की है। तथा अरबों और इस्लाम का उसको सबसे बड़ा शत्रु माना है। मिहिर-भोज ने अपने शासन-काल में राज्य में शान्ति स्थापित की तथा पहले के दान-पत्रों को जो रामभद्र के शासन में निलम्बित थे, पुनः जारी किया था।

महेन्द्रपाल प्रथम (८८५-९१० ई०)

मिहिरभोज के बाद उसका पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम शासक हुआ। उसके समय प्रतिहारों की शक्ति बनी रही। उसने पूर्व में मगध, उत्तर बिहार और बंगाल को पालों से जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। परन्तु उत्तर-पश्चिम में शंकरवर्मन्

के आक्रमण से उसके राज्य का कुछ भाग उसके हाथ से निकल गया। पेहोआ प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि नरनाल जिले तक उसका शासन पूर्ववत् था। पश्चिम में उसका आधिपत्य सौराष्ट्र तक था, उसके दो सामन्त बलवर्मन् और अवन्तिवर्मन् द्वितीय शासन करते थे। इसके प्रमाण अनार (जूनागढ़ रियासत) से प्राप्त ८९३ ई० और ८९९ ई० के दो लेख हैं।[1]

महेन्द्रपाल कवियों और लेखकों का उदार प्रश्रयदाता था और उसकी सभा में प्रसिद्ध कवि, नाटककार और रीतिकार राजशेखर रहते थे, जिन्होंने काव्यमीमांसा, कर्पूरमंजरी, बाल-रामायण और बाल-भारत की रचना की थी।

महिपाल (९१३–९४४ ई०)

महेन्द्रपाल प्रथम के बाद राज्य में कलह शुरू हो गई। पहले तो कोक्कलचन्दि की सहायता से उसका पुत्र भोज द्वितीय गद्दी पर बैठा, किन्तु शीघ्र ही हर्षदेव चन्देल की सहायता से उसके विमातापुत्र महिपाल ने उससे राज्य छीन लिया। वह क्षितिपाल, विनायकपाल और हेरम्बपाल नामों से प्रसिद्ध था। उसे राष्ट्रकूट आक्रमणों का सामना करना पड़ा। गोविन्द चतुर्थ के खम्भात-पत्र लेखों से ज्ञात होता है कि इन्द्र तृतीय ने महोदयश्री जैसे शत्रु नगर को पूर्णतः नष्ट कर दिया था। इन्द्र ने अपने सामन्त नरसिंह चालुक्य को साथ लेकर प्रयाग तट के प्रदेश लूटे। उस स्थिति से पालों ने भी लाभ उठाया और अपने खोये हुए पैत्रिक प्रदेशों को सोन नदी तक जीत लिया। धीरे-धीरे महिपाल ने अपनी स्थिति दृढ़ कर ली और केरल, कुन्तल, कलिंग, मुरूल मैकल, कुलूत, रमठ आदि प्रान्तों तक उसका लोहा माना जाने लगा। क्षेमेश्वर ने अपने नाटक चण्डकौशिक में उसे कर्णाट का विजेता कहा है और राजशेखर ने उसे आर्यावर्त का नृपति कहा है। उसके समय फिर राष्ट्रकूटों का उत्तर भारत पर आक्रमण जारी हो गया और उसके अन्तिम समय प्रतिहार शक्ति का पतन प्रारम्भ हो गया। अल मसउदी उसकी शक्ति की सराहना करता है और राष्ट्रकूट-प्रतिहार-शत्रुता का भी उल्लेख करता है।

उसके बाद उसके पुत्र द्वितीय महेन्द्रपाल ने उसको किसी प्रकार सुरक्षित रखा। इसके बाद देवपाल के समय में जेजाक-भुक्ति (बुन्देलखण्ड) का चन्देल राजा यशोवर्मन् प्रायः स्वतन्त्र हो गया और उसने देवपाल से विष्णु की एक बहुमूल्य मूर्त्ति बलात् लेकर खजुराहो के एक मन्दिर में उसकी स्थापना की। देवपाल के अनन्तर विजयपाल के समय में प्रतिहारों के कई सामन्त स्वतन्त्र हो गये, जैसे गोपाद्रि (ग्वालियर) के कच्छप घाट, डाहल के चेन्द, मालवा के परमार, मेवाड़ के गुहिल, शाकंभरी के चहमान आदि। १०वीं शताब्दी के अन्त में राज्यपाल सिंहासन पर

---

१. एपि० इण्डि०, १, १०

बैठा। इसके समय में पश्चिमोत्तर भारत में गजनी के तुर्कों के आक्रमण शुरू हो गये थे। काबुल और पंजाब के शाही राजा जयपाल और उसके पुत्र आनन्दपाल ने तुर्कों का सामना करने के लिए जो संघ बनाया था, उसमें राज्यपाल ने भी अपनी सेना भेजी थी, संघ के साथ उसकी सेना भी पराजित हुई। १०१८ ई० में महमूद गजनी ने पंजाब को आक्रान्त करते हुए कान्यकुब्ज पर चढ़ाई की। राज्यपाल असावधान, निर्बल और आत्मविश्वासहीन था। पहले वह गंगा पार करके बारी की तरफ भागा परन्तु पीछे हार करके महमूद की अधीनता स्वीकार कर ली। मध्य प्रदेश के तथा कथित अधिपति राज्यपाल के कायरतापूर्ण आत्म-समर्पण पर अप्रसन्न हो चन्देल राजा गंड ने अपने युवराज विद्याधर के साथ एक सेना कन्नौज भेजी। विद्याधर ने राज्यपाल को मारकर उसके पुत्र त्रिलोचन को गद्दी पर बैठाया। महमूद ने यह समाचार सुनकर फिर अपनी सेना कन्नौज भेजी, त्रिलोचनपाल ने भागकर अपनी जान बचायी और १०२७ ई० तक जीवित रहा। इस वंश का अंतिम राजा यशपाल १०३६ ई० में वर्त्तमान था। इसके बाद प्रतिहारों की शक्ति का मूलोच्छेद हो गया और उनके सम्बन्ध में कुछ भी मालूम नहीं।[1]

गहड़वाल-वंश

प्रतिहारों के पतन के बाद मध्य प्रदेश में ग्यारहवीं शताब्दी में अराजकता फैल गयी। चेदि के कलचुरि, राष्ट्रकूट और मालवा के परमारों ने कान्यकुब्ज राज्य के ऊपर कई बार आक्रमण किया। १०३३ ई० में पंजाब के तुर्क शासक नियाल्त-गीन के कन्नौज और वाराणसी के ऊपर धावा मारा। इस प्रकार जब अराजकता से पृथ्वी त्रस्त थी, तब इस शताब्दी के अंतिम पाद में गहड़वालों का उदय हुआ।

गहड़वाले के मूल के विषय में काफी मतभेद है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वे राष्ट्रकूटों अथवा राठौरों की एक शाखा थे। उनके अभिलेखों में उनकी उत्पत्ति के विषय में कोई उल्लेख नहीं है। सम्भवतः वे प्राचीन प्रतिष्ठान अथवा कौशाम्बी के चन्द्रवंशियों की सन्तान थे और इस समय मिर्जापुर की पहाड़ियों (गुहाओं) के प्रदेशों में राजनीतिक शक्ति के रूप में प्रकट हुए। अतः गहड़वाल (गुहावाले) कहलाये। गहड़वाल अनुश्रुतियों में ययाति के किसी दूर वंशज से इनका सम्बन्ध जोड़ा गया है।

---

१. यद्यपि प्रतिहारों की सत्ता बड़ी शक्ति के रूप में समाप्त हो गयी, फिर भी अधीन सामन्त के रूप में विभिन्न स्थानों पर वे बाद तक शासन करते रहे। विक्रम सम्वत् १२०७ का ग्वालियर रियासत से मिला मलयवर्मन का कुरेठ्ठ पत्र लेख, उसके भाई नृवर्मन का विक्रम सम्वत् १३०४ का लेख इसके प्रमाण है।

चन्द्रदेव (१०८५-११०० ई०)

इस वंश का प्रथम शासक चन्द्रदेव था। वही इस वंश का प्रवर्त्तक भी माना जाता है। उसने चन्देल राजा कीर्तिवर्मा के सेनापति गोपाल को हराकर अपने राज्य की नींव डाली थी, जैसा कि एक शिलालेख से ज्ञात होता है। उसने काशी, कोशल (अयोध्या), कुशिक (कन्नौज) और इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) की तुर्कों से रक्षा की। गहड़वालों की प्रथम राजधानी वाराणसी थी। चन्द्रदेव ने अपने राज्य का विस्तार पश्चिम की ओर करते हुए कान्यकुब्ज के राजा गोपाल को १०८५ ई० में हराया और कन्नौज पर अधिकार कर लिया। उसने समस्त उत्तर प्रदेश पर अपना अधिकार कायम किया और पूर्व में बंगाल के सेना के बढ़ाव को भी रोका। उसकी 'परम भट्टारक' 'महाराजाधिराज' और 'परमेश्वर' उपाधि थी। उसने तुरुष्क दण्ड नामक एक विशेष कर लगाया था, जिससे मुसलमानों के आक्रमण रोकने के लिए सेना का खर्च चलाया जाता था या उन्हें कर देने की व्यवस्था की जाती थी।

चन्द्रदेव के पुत्र मदनपाल के राजनीतिक कार्यों के बारे में कुछ विशेष मालूम नहीं है। वह आयुर्वेद का अच्छा ज्ञाता था।

गोविन्दचन्द्र (१११४–५५ ई०)

चन्द्रदेव के बाद गोविन्द चन्द्र राजा हुआ। वह बड़ा ही प्रतापी शासक था। युवराज की हैसियत से ही उसने तुर्कों का आक्रमण विफल किया था। पूर्व में उसने पालों की शक्ति क्षीणता से लाभ उठाकर मगध के पश्चिमी भाग पर अधिकार कर लिया। पटना और मुंगेर अब उसके राज्य में मिला लिये गये। उसकी विजय पताका दशार्ण (दक्षिणी मालवा) तक फहरी। 'कृत्यकल्पतरु' का विद्वान् लेखक लक्ष्मीधर उसका मन्त्री था। काश्मीर, गुजरात और चोल राज्यों से उसका मैत्री सम्बन्ध था। वह काफी शक्तिशाली था और उसका यश दूर-दूर के देशों तक फैला था। काश्मीर के जयसिंह, गुजरात के सिद्धराज जयसिंह और दक्षिण के चोल भी उसके मित्र थे। उसने बौद्ध जेतवन विहार को—जो उस समय उत्कल के विद्वान् भिक्षु शाक्य रक्षित और उसके चोल शिष्य वागीश्वर रक्षित के अधीन था—कुछ ग्रामों का दान किया। उसकी पत्नी कुमार देवी ने—जो पीढ़ी की रहने वाली थी—सारनाथ में एक बौद्ध विहार और मूर्ति का उद्धार किया। वह स्वयं दानी, विद्वान और विद्वानों का आदर करने वाला था।

विजयचन्द्र (११५५–७० ई०)

गोविन्दचन्द्र के बाद उसका पुत्र विजयचन्द्र गद्दी पर बैठा। 'पृथ्वीराज रासो' में उसकी विजयों का उल्लेख मिलता है। उसने लाहौर से खुसरो को निकाल दिया

परन्तु विग्रहराज वीसलदेव ने उससे दिल्ली छीन ली। उसने दक्षिण बिहार पर गहड़वाल सत्ता कायम की।

जयचन्द्र

विजयचन्द्र के बाद उसका पुत्र जयचन्द्र ११७० ई० में कन्नौज के सिंहासन पर बैठा। वह विजयी, परम वैष्णव और दानी था। विद्यापति ने 'पुरुष-परीक्षा' में उसका वर्णन किया है। उसके दरबार में नान्यदेव का पुत्र मल्लदेव रहता था। उसके पास एक बड़ी विशाल सेना थी। उसने देवगिरि के यादवों, गुजरात के सोलंकियों और तुर्कों को कई बार हराया था। उसका राज्य बनारस और गया तक था। अपनी विजय के उपलक्ष में उसने राजसूय यज्ञ किया था। उसने आठ सामन्त राजाओं को भी बन्दी बनाया था। उसने अपनी पुत्री संयोगिता का स्वयंवर किया। गहड़वालों का चाहमानों (चौहानों) से वैर चला आता था। स्वयंवर में पृथ्वीराज चौहान द्वारा संयोगिता के अपहरण से दोनों वंशों की शत्रुता और बढ़ गयी। ११९३ ई० में जब शहाबुद्दीन गोरी ने चौहानों पर चढ़ाई की तो पारस्परिक शत्रुता के कारण जयचन्द्र ने तुर्कों का साथ दिया। चौहानों को हराने के बाद शहाबुद्दीन ने कन्नौज पर भी आक्रमण किया और चन्दावर की लड़ाई में जयचन्द्र मारा गया। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि पृथ्वीराज ने तलावड़ी के मैदान में शहाबुद्दीन को ११९१ ई० में पराजित किया था। तभी से शहाबुद्दीन उससे बदला लेना चाहता था और मौका पाकर उसने बदला लिया भी। जयचन्द्र के मरने के बाद शहाबुद्दीन ने उसका राज्य उसके पुत्र हरिश्चन्द्र को लौटा दिया। जयचन्द्र संस्कृत विद्या का संरक्षक था। उसके राजकवि तथा संस्कृत के प्रख्यात कवि श्री हर्ष ने उसी के शासनकाल में काव्य और शास्त्र ग्रन्थों की रचना की। श्री हर्ष के मुख्य ग्रन्थ हैं 'नैषधचरित' और 'खण्डनखण्डखाद्य।' १२२४ ई० में इल्तुतमिश ने कन्नौज पर अधिकार कर गहड़वालों का अन्त कर दिया।

चाहमान या चौहान वंश

हर्ष के साम्राज्य के पतन के बाद साकंभरी (सांभर) के आसपास इस वंश का उदय हुआ। सूर्यवंश में उत्पन्न सामन्त अथवा चाहमान नामक विजेता ने इस वंश की स्थापना की। उसी समय से यह वंश चाहमान वंश कहलाया। हम्मीर-महाकाव्य और पृथ्वीराजविजय के अनुसार चौहान सूर्य के पुत्र चाहमान नामक अपने पूर्वज के वंशज थे। वे चार अग्निकुलों में से एक थे। जिन राजकुलों ने यज्ञाग्नि के सामने अरबों और तुरुष्कों से देश रक्षा का शपथ लिया था उनमें चाहमान वंश भी था, अतः आगे चलकर यह अग्निकुलीय भी कहलाया। इन्होंने अग्नि-संस्कार द्वारा समाज में उच्च स्थान प्राप्त किया।

इस वंश के प्रारम्भिक राजाओं में वासुदेव और गूवक के नाम उल्लेखनीय हैं। हर्ष प्रस्तर लेख से ज्ञात होता है कि ये लोग नागभट्ट द्वितीय के समकालीन थे। १२वीं शताब्दी में चौहान शासक अजय राज ने अजमेर नगर बसाया और उसे राजप्रासादों और देवालयों से अलंकृत किया। दुर्लभराज (९७३ ई०) अपने भाई विग्रहराज का उत्तराधिकारी था ज: एक प्रसिद्ध राजा था। दुर्लभराज के बाद अनेक राजा हुए किन्तु किसी ने कोई ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेखनीय कार्य नहीं किया। अजयराज का पुत्र अर्णोराज भी प्रसिद्ध राजा था। उसने आना सागर झील और बाँध बनवाकर मुसलमानों के आक्रमण से अपवित्र भूमि को पवित्र किया। सम्भवत: १०५० ई० के लगभग उसका गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल से युद्ध हुआ। इस युद्ध से उसके प्रभाव में कोई कमी नहीं आई।

विग्रहराज चतुर्थ या वीसलदेव (११५३–६४ ई०)

विग्रहराज चतुर्थ या वीसलदेव एक प्रतापी राजा था और उसने हिमालय से विन्ध्य पर्वत के बीच की सारी भूमि पर अधिकार कर लिया था। उसने गहड़वालों से दिल्ली छीन ली और तोमरों को पराजित किया। उसने पंजाब के हिसार जिले पर आक्रमण किया और पंजाब के गजनवी राजा को हराया। उसका राज्य शिवलिंग पर्वत से उदयपुर तक फैल गया। उसके समय चौहान शक्ति की काफी वृद्धि हुई। वह यशस्वी कवि और लेखक भी था। उन्होंने 'हरकेलि' नाटक और 'ललितविग्रहराज' नामक दो नाटकों की रचना की, जिनके कुछ अंश अजमेर में "अढ़ाई दिन का झोपड़ा" नामक मस्जिद से लगे पत्थर पर अंकित पाये गये थे। मसजिद भी वीसलदेव द्वारा निर्मित एक भव्य संस्कृत महाविद्यालय को तोड़कर बनायी गयी थी। महाकवि सोमदेव ने वीसलदेव के चरित्र के बखान में 'ललित-विग्रहराज' की रचना की थी। राजपूत शासकों में उसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह अपने समय का एक महान् विजेता और प्रभावशाली नरेश था। साहित्य-कला का प्रेमी और मर्मज्ञ होने के साथ-साथ वह स्वयं एक नाटककार भी था। ११६४ ई० में उसका देहान्त हुआ।

पृथ्वीराज तृतीय (११७९–११९३ ई०)

इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा पृथ्वीराज तृतीय था। मुसलमान इतिहासकारों का वही 'रायपिथौरा' है। वह चन्दवरदाई द्वारा लिखित पृथ्वीराज रासो और पृथ्वीराज विजय का नायक है। उसने ११८८ ई० में चन्देल राजा परमर्दिदेव को परास्त किया। ११८७ ई० में उसने गुजरात के राजा द्वितीय भीम पर आक्रमण किया, जिसने बाद में उसके साथ सन्धि कर ली। उसके सम्बन्ध में वीरता और रोमाञ्च की बहुत सी कहानियाँ प्रचलित हैं और उसके व्यक्तित्व पर

एक अद्भुत प्रभा-मण्डल है। वह साहित्यिक और दन्तकथाओं का पात्र है। उसने कन्नौज के राजा जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता को स्वयंवर से उस समय उड़ा लिया जब उसने उसकी प्रतिमा के गले में जयमाला डाल दी। इसमें सन्देह नहीं कि वह एक वीर शासक था। चन्देल, गहड़वाल और गुजरात के सोलंकियों के साथ उसने युद्ध किया। तुर्कों ने भारत के इस गृह-कलह से लाभ उठाया। ११९१ ई० में शहाबुद्दीन ने एक बड़ी सेना लेकर उत्तर भारत पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज ने भारतीय राजाओं का एक संघ बनाया। तलावड़ी के मैदान में शहाबुद्दीन बुरी तरह पराजित हुआ। इस हार से वह क्षुब्ध था फिर भी उसने ११९३ ई० में आक्रमण किया। इस बार जयचन्द्र ने पारस्परिक विरोध के कारण पृथ्वीराज का साथ नहीं दिया। भारतीय राजाओं का संघ पृथ्वीराज के नेतृत्व में पराजित हुआ। पृथ्वीराज पकड़ा गया और मारा गया। इसके फलस्वरूप अजमेर और दिल्ली पर मुसलमानों का आधिपत्य हो गया। अजमेर पृथ्वीराज के एक पुत्र को कर देने की शर्त पर लौटा दिया गया। किन्तु उसके चाचा हरिराज ने उसे गद्दी से हटाकर स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी, अतः शहाबुद्दीन के सेनापति ने पुनः अजमेर पर आक्रमण कर चौहान-सत्ता नष्ट कर दी। पृथ्वीराज का पुत्र रणथम्भोर चला गया और वहाँ चौहान कुल की शाखा प्रतिष्ठित हुई। उस राज्य का अन्त अलाउद्दीन खिलजी ने १३०१ ई० में किया।[1]

बुन्देलखण्ड के चन्देल वंश

जहाँ आजकल बुन्देलखण्ड है वहीं पर नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चन्देलों की राजनीतिक शक्ति का उदय हुआ। वी० ए० स्मिथ के अनुसार चन्देल भरों और गोंडों की जाति के राजपूत थे। जन-श्रुतियों के अनुसार यह चन्द्रात्रेय अथवा चन्द्र वर्मा काशी के गहड़ वाल राजा इन्द्रजित के पुरोहित हेरम्ब की पुत्री हेमवती का चन्द्रमा से उत्पन्न पुत्र था, जो चन्द्रमा की सहायता से ही बुन्देलखण्ड में राज्य स्थापित करने में समर्थ हो सका। आर० वी० रसेल के मत से चन्देल शायद गहड़वालों की ही एक शाखा थे तथा उनका चन्देल नाम चन्देरी से बना है। किन्तु सी० वी० वैद्य का कहना है कि चन्देल उनका गोत्र नाम है तथा वे राजपूत क्षत्रिय थे, क्योंकि चन्दबरदायी द्वारा ३६ राजाओं के नामों में छन्द (चन्द) का नाम

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिये :—

(i) विग्स, फिरिश्ता—'हिस्ट्री आफ दि राइज आफ दि मोहम्डमन पावर' खण्ड—१; पृ० १७०—१८०

(ii) सी० वी० वैद्य—'डाउन फाल आफ हिन्दू इण्डिया', भाग—३, पृ०—३१२—१६, ३२२—२५

आया है। 'कुमार-पाल-चरित' में भी चन्देल नाम से क्षत्रिय के रूप में उनका उल्लेख हुआ है। इनकी राजधानी खजुराहो थी।

इस वंश का सर्वप्रथम राजा मन्नुक हुआ। उसके पौत्र जयसिंह अथवा जेजा के नाम पर यह प्रदेश जेजाकभुक्ति कहलाया। पहले चन्देल राजे शक्तिशाली प्रतिहारों के करद सामन्त थे। किन्तु प्रतिहारों की शक्ति क्षीण होने पर राजा हर्षदेव चन्देल के समय से चन्देलों की शक्ति जोरों से बढ़नी शुरू हुई। उसने प्रतिहार को राज्य प्राप्त करने में सहायता दे अपनी प्रतिष्ठा बढ़ायी। उसने साँभर के चाहमानों तथा चेदि के कलचुरियों से विवाह सम्बन्ध स्थापित कर अपनी स्थिति दृढ़ कर ली। उसके पुत्र यशोवर्मन ने मालवा, चेदि और महाकोशल पर आक्रमण करके अपने राज्य का विस्तार काफी कर लिया और व्यवहार में वह प्रतिहारों से बिलकुल स्वतन्त्र हो गया, यद्यपि उसका नाम मात्र का आधिपत्य स्वीकार करता रहा। गौड़, मिथिला, गुर्जर और काश्मीर प्रदेश में उसने शक्ति बढ़ायी। विजय के फल-स्वरूप उसने सम्राट् पद ग्रहण किया। उसने राष्ट्र-कूटों से कालिंजर छीन लिया। पुण्य देवी उसकी सम्राज्ञी थी।

एक शिलालेख में उसे महाराजाधिराज कहा गया है। उसने खजुराहो के विष्णु मन्दिर का निर्माण किया। यह उस समय की कला उत्तम प्रतीक है। इस सम्बन्ध में उसने देवपाल प्रतिहार को वैकुण्ठ की विष्णु मूर्ति देने को बाध्य किया, जिसे उसने अपने मन्दिर में प्रतिष्ठित किया।

धंग-वंश (९५०–१००२)

इस वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक धंग था। यशोवर्मन का पुत्र धंग बड़ा प्रतापी और विजयी था। उसने कालिंजर के अजेय दुर्ग का निर्माण कराया। काशी और प्रयाग उसके राज्य में शामिल थे। उसे एक शिलालेख में सिंहल, कांची, आन्ध्र, कोशल, अंग, मिथिला, राढ़ और कन्नौज का विजयी कहा गया है। उसने प्रतिहारों का दूसरा प्रसिद्ध गढ़ गोपाद्रि (ग्वालियर) छीन लिया। उसका राज्य काफी विस्तृत था और वह एक शक्तिशाली शासक था। जयपाल ने तुर्कों के प्रतिरोध मे जो संघ बनाया था उसमें धंग ने सक्रिय रूप से भाग लिया था। उसने अपने सम्राट पद को विद्या के प्रोत्साहन से अलंकृत किया। उसका मुख्यमन्त्री विद्वान् तार्किक अक्षपाद था। माधव कवि और रामकवि ने खजुराहो शिलालेख के कुछ भाग लिखे तथा गौर जहद और यशपाल ने इसका उत्खनन किया। उसने शम्भु के कलापूर्ण मन्दिर और उसी के समान अन्य मन्दिरों का निर्माण किया।[1]

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए :—

(i) N. S. Bose : The Chandellas.

(ii) S. K. Mitra : Early Rulers of Khajuraho और

(iii) रामकुमार का चन्देलों पर शोध-निबन्ध

उसने १०० वर्ष से भी अधिक आयु भोग कर प्रयाग में शिव का जय करते हुए गङ्गा-यमुना संगम में जल समाधि ले ली।

गंड

उसके बाद उसका पुत्र गंड शासक हुआ। वह भी बड़ा शक्तिशाली शासक था। उसने १००८ ई० में महमूद गजनी का सामना करने के लिये जयपाल के पुत्र आनन्द पाल के द्वारा बनाये हुए संघ में भाग लिया। दुर्भाग्य से यह दूसरा संघ भी पराजित हुआ। उसके बाद जब प्रतिहार राजा जयपाल ने महमूद का आधिपत्य कायरतापूर्वक स्वीकार कर लिया तब गंड ने अपने पुत्र विद्याधर द्वारा उसको सिंहासन से हटाकर त्रिलोचन पाल को कान्य-कुब्ज (कन्नौज) का राजा बनाया। क्रुद्ध होकर महमूद ने दो बार चन्देलों पर आक्रमण किया, किन्तु निराश होकर वापस जाना पड़ा। दूसरी वार धंग ने आत्मसमर्पण किया और महमूद धन लेकर लौट गया। कुछ लोग धंग के बाद विद्याधर को शासक मानते हैं। उसने महमूद के प्रति आत्मसमर्पण करने के कारण राज्यपाल प्रतिहार को घोर दण्ड दिया। परमार भोज और कलचुरी कोक्कल के साथ विद्याधर का संघर्ष था, किन्तु उसके सामने इन राजाओं की एक न चली। महमूद को भी विद्याधर के साथ मित्रता करनी पड़ी। कच्छपात और महोबा के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उसने महमूद का डटकर विरोध किया। विद्याधर का शासन अल्पकालीन था (१०२५–१०३० ई०)।

कीर्ति वर्मा (१०६०–११००)

विद्याधर के बाद दूसरा शक्तिशाली और प्रतापी राजा कीर्ति वर्मा हुआ, जिसने अपने पड़ोसी कलचुरियों को परास्त कर अपनी स्थिति मजबूत की। इसके सभा पण्डित कृष्ण मिश्र ने "प्रबोधचन्द्रोदय" नाटक लिखा, जिसमें रूपक के सहारे वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

उसके बाद मदन वर्मा शासक हुआ। उसने कलचुरी राजा को हराया और मालवा के परमार राजा को मारकर अपने वंश की कीर्ति बढ़ायी। उसने सोलंकियों से भी युद्ध किया। उसकी बढ़ती हुई शक्ति से आतंकित होकर गहड़वालों ने उसे अपना मित्र बनाया।

चन्देल वंश का अन्तिम शक्तिशाली राजा परमर्दि अथवा परमल था। इसके समय में अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज ने चन्देलों पर आक्रमण करके उनको दुर्बल बना दिया था, किन्तु अन्त में परमर्दि ने चन्देलों की लड़खड़ाती हुई शक्ति को संभाल लिया। किन्तु उसमें इतनी शक्ति न थी कि वह तुर्कों की बाढ़ को रोक सके। १२०३ ई० में गहड़वालों की शक्ति नष्ट हो जाने के बाद जब कुतुबुद्दीन

ऐबक ने कालंजर पर आक्रमण किया, तब परमर्दि ने उसका घोर विरोध किया, किन्तु सूखा पड़ जाने तथा सामग्री समाप्त हो जाने के कारण उसे भी समर्पण करना पड़ा। इसके बाद तुर्कों का आधिपत्य कालंजर और महोवा दोनों पर हो गया और चन्देलों का छोटा-सा राज्य दक्षिण बुन्देलखण्ड में बचा रहा। इस राज्य का अस्तित्व १५६४ ई० तक था, जबकि अकबर ने इस पर आक्रमण किया और यहाँ की राजकुमारी दुर्गावती लड़ती हुई वीरगति को प्राप्त हो गयी।

राजनीति के अतिरिक्त चन्देलों की कृतियों में उनके खजुराहो, कालंजर तथा महोवा नगरों, कई एक सरोवरों और खजुराहो में भव्य मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख किया जा सकता है।

कलचुरी-वंश

उत्तर भारत के मध्य कालीन राजवंशों में सबसे प्राचीन कलचुरी राजवंश था। कर्ण के वाराणसी ताम्रपत्र तथा युवराज देव द्वितीय के बिलहरी-अभिलेखों में कलचुरियों को बुध आदि पौराणिक राजाओं के वंशज कृतवीर्य अर्जुन के वंश का कहा गया है।[1] कलचुरी प्राचीन हैहय क्षत्रियों की एक शाखा थे। यह चालुक्य लेखों में विक्रमादित्य प्रथम के पुत्र विक्रमादित्य द्वारा हैहयों (माहिष्मती के कलचुरियों) के परास्त किये जाने[2] तथा विक्रमादित्य द्वितीय द्वारा दो हैहय राजकुमारियों—त्रैलोक्य महादेवी और लोक महादेवी—से विवाह किये जाने का उल्लेख है।

ये लोग कोक्कल प्रथम के समय से विख्यात हुए। उसने त्रिपुरी को अपनी राजधानी बनाया। उसने महादेवी नामक एक चन्देल राजकुमारी से विवाह किया और अपनी पुत्री का विवाह राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय से किया। इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्धों के द्वारा उसने अपना महत्त्व बढ़ाया। कृष्ण द्वितीय को उसने पूर्वी चालुक्य राजा वेंगी के विजयादित्य तृतीय के विरुद्ध सहायता की। उसने प्रतिहारों के गृह-युद्ध में भी हस्तक्षेप किया। उसके उत्तराधिकारी लक्ष्मण (९५०–७५ ई०) ने उड़ीसा पर आक्रमण किया और वहाँ के कलियनाग की मूर्त्ति लेकर सोमनाथ में स्थापित की। चालुक्य राजा विक्रमादित्य के साथ उसने अपनी पुत्री का विवाह किया। राजशेखर ने, जो युवराज देव प्रथम कलचुरि के राजकवि थे, माहिष्मती को बाल रामायण में कलचुरियों की राजधानी लिखा है।

---

१. इंस्क्रिप्शन्स ऑफ कलचुरी—चेदि एरा १, २०९
२. इण्डि० ऐ० टी० ६, पृ० ९१, ७, पृ० ३०२
३. एपि० इण्डि० ३, पृ० ३

मध्य भारत एवं पश्चिमी भारत में हैहय क्षत्रिय बहुत पहले से रहते आये हैं। उनका इतिहास बीच-बीच में अन्धकारमय हो गया है। बहुत पहले से ही ये हैहय क्षत्रिय इस क्षेत्र में राज्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे। लगभग ४१६–४१७ ई० में माहिष्मती में एक स्वतन्त्र राजा महाराज सुबन्धु की स्थिति उसके दो दान-पत्रों से ज्ञात होती है, जो महिष्मती से जारी किये गए थे। इस राजा के विषय में हमें कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती है पर अनुमानतः वह महिष्मती के कलचुरियों का, जिनका स्वतन्त्र राज्य छठी शताब्दी में फिर स्थापित हुआ, पूर्वज हो सकता है। प्रथम कोक्कल देव ने लगभग ८७९ ई० में और आगे बढ़कर डाहल प्रदेश में चिपुरी प्रदेश (जबलपुर के पास तेतर गाँव) पुनः नया राज्य स्थापित किया। माहिष्मती के कलचुरियों और कोक्कल देव के बीच में काफी लम्बा, लगभग १५० वर्षों का, अन्तर है पर उनका सम्बन्ध उनके लेखों में मिली सामग्री के आधार पर जोड़ा जा सकता सकता है।

त्रिपुरी : राज्य का विकास

त्रिपुरी के कलचुरी वंश का संस्थापक प्रथम कोक्कल देव था। जैसा कि हम देख चुके हैं; उसने चन्देल राजकुमारी नट्टादेवी से विवाह किया तथा अपनी पुत्री का विवाह दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा द्वितीय कृष्ण अकाल वर्ष से किया। विलहरी और वाराणसी अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने राष्ट्रकूट कृष्णराज तथा भोजदेव को क्रमशः वेंगी के चालुक्य विजयादित्य तृतीय के विरुद्ध[1] तथा महिपाल प्रथम के विरुद्ध सहायता दी थी।[2] वाराणसी अभिलेख के अनुसार उसने चित्रकूट के राजा श्री हर्ष और शंकरनाग को भी अभयदान दिया था। सम्भवतः कोकल्ल ने अपनी पुत्री लज्जा का विवाह पाल राजा विग्रह पाल से किया था।[3] पृथ्वीदेव प्रथम के अमोडा अभिलेख में कोकल्ल द्वारा कर्णाट, वंग, गुर्जर, शाकम्भरी, तुरुष्क और रघु के वंशजों से हाथी, घोड़े आदि धन राशि छीने जाने का वर्णन है।[4] कर्णाट का राजा राष्ट्रकूट तथा रघु के वंशज गुर्जर प्रतिहार रहे होंगे।[5] दूसरे विजय केवल गर्वोचित्त हैं। कोकल्ल के पुत्र और उत्तराधिकारी शंकरगण मुग्ध-

---

१. एपि० इण्डि० ६, पृ० १९३, फ्लीट का लेख।
२. अलतेकर—राष्ट्रकूट एण्ड देयर टाइम्स, पृ० १०१
बनर्जी—हैहयाज ऑफ त्रिपुरी, पृ० ४
ड़ॉ० त्रिपाठी—हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० २५५–५६
३. इण्डि० ऐण्टी० १५, पृ० ३०५
४. मिराशी—इ० क० चे० ए० २, स० ७६
५. मिराशी—भूमिका, पृ० ७६

तुंग प्रसिद्ध धवल ने दक्षिण कोसल (छत्तीस-गढ़ तथा आसपास) के राजा से पाली (विलासपुर) जीता था।

प्रथम युवराज देव

शंकर का पुत्र बालहर्ष था, जिसका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई प्रथम युवराज देव प्रसिद्ध राजा हुआ। विलहरी शिलालेख में गौड़ (बंगाल), कर्णाट (कर्णाटक), लाट (गुजरात), काश्मीर तथा उड़ीसा की स्त्रियों के साथ विलास करने का उल्लेख है[1], जिससे कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उसने इन प्रदेशों पर आक्रमण भी किया[2]; क्योंकि इसका समर्थन राजशेखर के नाटक 'विद्धशालभंजिका' से होता है, जिसका नायक स्वयं प्रथम युवराज देव था। इसके अनुसार राजा ने मगध, मालवा, पाञ्चाल, अवन्ती, जालन्धर और केरल की स्त्रियों से विवाह किया। इसमें उसे 'उज्जयिनी भुजङ्ग' कहा गया है, जिससे उसके मालवा पर आक्रमण का संकेत मिलता है। विलहरी लेख में उसके द्वारा तीनों समुद्रों तक और उत्तर में कैलाश तक विजय-यात्रा का उल्लेख है, जो उसके सैनिक अभियान का द्योतक है। वह परमेश्वर और 'त्रिकलिंगाधिपति' की उपाधियाँ धारण करता था। उसने चालुक्य राजकुमारी नोहला देवी से विवाह किया तथा अपनी पुत्री कन्दका देवी का विवाह राष्ट्रकूट वदिग अथवा तृतीय अमोघवर्ष से किया। तृतीय अमोघवर्ष को उसने उसके गृह-युद्ध के समय सहायता दी थी (विद्धशालभंजिका)। किन्तु खजुराहो शिलालेख के अनुसार चन्देल राजा यशोवर्मन् ने चेदिराज (प्रथम युवराज देव) को हराया।[3]

लक्ष्मण राज (९४५–९७० ई०)

एक कन्नडी लेख के अनुसार राष्ट्रकूट तृतीय कृष्ण ने अपने उत्तर के आक्रमण के समय चेदि-राज्य में एक विजय स्तम्भ स्थापित किया था। यह घटना लक्ष्मण राज के राज्य-काल में हुई थी। सम्भव है कि उसे कृष्ण ने हराया हो। उसके वंशजों के अनुसार उसने कश्मीर, गुर्जर, लाट, पाण्डय और बंगाल के राजाओं को हराया था। काश्मीर और बंगाल के विजयों के प्रमाण नहीं हैं किन्तु विलहरी लेख में कोसल और उड़ीसा पर उसके आक्रमण का उल्लेख है। उसके पुत्र तृतीय शंकरगण (९७०–८० ई०) को भी चन्देलों से हारना पड़ा। शंकरगण का छोटा भाई युवराज देव द्वितीय (९८०–९९० ई०) उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसे परमार

---

१. विलहरी शिलालेख, वी. वी. मिराशी, इ० क० चे० ए०; पृ० १०६
२. वही, भूमिका, पृ० ७७
३. एपि० इण्डि० १, पृ० १२७

राजा वाक्पति मुंज ने हराया तथा कुछ समय के लिए त्रिपुरी पर अधिकार कर लिया। उसका पुत्र द्वितीय कोकल्ल (९९०–१०१५ ई०) भी कोई वीर राजा न था। गुर्गी शिलालेख के अनुसार उसने गुर्जर राज (प्रतिहार राज्यपाल), गौड राज (महिपाल), कुन्तल राज (पंचम-विक्रमादित्य) को हराया था।

गांगेय-देव (१०१५–१०४१ ई०)

गांगेय-देव इस वंश का प्रमुख शासक था। उसने अपनी वीरता और पराक्रम से राज्य की प्रतिष्ठा, बल और सीमायें सभी में वृद्धि की और एक बार फिर कलचुरी-वंश उत्तर-भारत के शक्तिशाली राज्यों में गिना जाने लगा। दक्षिण में उसने कुन्तल के राजा { (सम्भवतः जयसिंह) (१०१५–१०४२ ई०) } पर आक्रमण किया। कुलनेर अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने भोज परमार और राजेन्द्र चोल से जयसिंह के विरुद्ध युद्ध-सन्धि की थी।[1] किन्तु शीघ्र ही भोज ने गांगेय पर आक्रमण कर उसे हराया, जिसका उल्लेख पारिजातमंजरी, उदयपुर-प्रशस्ति और कलावान लेख में हुआ है।

गांगेय देव ने उत्कल देश (उड़ीसा) पर विजय की, जिसमें उसे तुम्मोण के कलचुरियों ने सहायता की[2]। उसका दक्षिण कोसल के महाशिवगुप्त ययाति से काफी दिनों तक युद्ध चलता रहा और अन्त में गांगेय देव विजयी हुआ। १०२७ ई० में गांगेय देव ने चन्देल राज्य को रौंदते हुए कांगड़ा घाटी तक विजय-यात्रा की और कीर देश के राजा को बन्दी बनाया।[3] फिर दोआब को उसने जीता तथा पूर्व में प्रयाग तक अपने राज्य का विस्तार किया। उसके वाराणसी पर अधिकार का संकेत तख्त-ए-वैहाकी से मिलता है। जिस समय अहमद नियाल्तगीन ने वाराणसी पर धावा किया था, उस समय वाराणसी गांगेय देव के अधिकार में था।

सम्भवतः उसे एक बार फिर चन्देल राजा विजय पाल से हार खानी पड़ी।[4] किन्तु अन्ततः विजयी वही रहा। उसने अपने पुत्र कर्ण के नेतृत्व में अंग और मगध पर भी आक्रमण किया, किन्तु इसमें उसे सन्धि करनी पड़ी।[5] गांगेय देव ने प्रयाग को अपनी दूसरी राजधानी बनाया, जहाँ उसकी मृत्यु हुई।

---

१. एपि० इण्डि० १५, पृ० ३३०
२. रीवा लेख, वी० वी० मिराशी, इ० क० चे० ए० १, स० ५१;
३. इ० क० चे० ए० १, स० ५०
४. ए० पि० इण्डि० १, पृ० २२२
५. ज० बु० टे० सो० पृ० ९

लक्ष्मी-कर्ण (१०४१–१०७३ ई०)

लक्ष्मी कर्ण अपने पिता की भाँति एक महान् विजेता था, जिसने पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में सफल आक्रमण किये। उसे 'मध्ययुग का नेपोलियन' कहा जा सकता है। रीवा शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने पूर्वी बंगाल के राजा को जीता। नरसिंह के भेराघाट लेख से ज्ञात होता है कि वंग और कलिंग साथ-साथ उसके अधीन हो गये। रीवा लेख के २५वें श्लोक के अनुसार उसने काञ्ची और कुन्तल पर आक्रमण किया और पल्लवों को नष्ट किया। बनारस में कर्ण मेरु नामक शिव मन्दिर उसकी सत्ता का द्योतक है। उसने कांगड़ा और कन्नौज पर भी आक्रमण किया। उसने अपने समकालीन चन्देल शासन को भी परास्त किया। बंगाल के पाल शासकों के साथ भी संघर्ष हुआ और अन्त में दीपंकर श्रीज्ञान के हस्तक्षेप से उसकी पुत्री यौवनश्री का विवाह विग्रह पाल तृतीय से हुआ। गुजरात के चालुक्य राजा भीम के साथ उसने भोज परमार को परास्त किया।

इस प्रकार लगभग १०५२ ई० तक वह उत्तर-भारत का सबसे शक्तिशाली राजा हो गया था, जिसके राज्य की प्रभाव सीमा उत्तर में कांगड़ा तक पूरब में बंगाल तक और पश्चिम में भीम के राज्य गुजरात तक तथा दक्षिण में चोल और चालुक्य राज्यों तक फैल गयी। उसने केवल मालवा और जेजाक भुक्ति को अपने राज्य में मिलाया। पूर्व में पाल, पश्चिम में भीम उसके मित्र थे, दक्षिण में चोल उससे डरते थे, उत्तर में उसका पूरा प्रभाव था। सम्भवतः १०५२-५३ ई० में उसने चक्रवर्ती की हैसियत से पुनः राज्याभिषेक कराया। उसकी शक्ति का प्रभाव चोल, कलिंग और पाण्डय राजाओं पर पड़ा, किन्तु उसके शासन के अन्तिम काल में उसकी अनेक बार हार हुई। मालवा में उदयादित्य स्वतन्त्र हो गया। चन्देल, कीर्तिवर्मा और सोमेश्वर चालुक्य की शत्रुता का भी उसे सामना करना पड़ा। इन कारणों से कलचुरी शक्ति जर्जर हो गयी। यों कलचुरी बारहवीं शताब्दी के अन्त तक महाकोशल में शासन करते रहे। लगभग १०७३ ई० में कर्ण ने अपने पुत्र यशः कर्ण (हूण कन्या से उत्पन्न) का स्वयं अभिषेक किया।

लक्ष्मी कर्ण कलचुरी वंश का सबसे महान् सम्राट था। वह धर्म और साहित्य का आश्रयदाता भी था।

यशःकर्ण और उसके वंशज

लगभग १०७३ ई० में ही यशः कर्ण ने आन्ध्र देश पर रत्नपुर शाखा के कलचुरी जाजल्लदेव की सहायता से आक्रमण किया और सप्तम विजयादित्य को हराया।[१] उसने चम्पारन (बिहार) पर भी आक्रमण किया किन्तु उसमें वह सफल न हो सका।

---

१. जबलपुर लेख इ० क० चे० ए० १, स० ५६

उसके समय से ही कलचुरी साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया। कन्नौज तथा मालवा स्वतन्त्र हो गये और वाराणसी को उसके हाथ से गहड़वालों ने छीन लिया। उसको परमार लक्ष्मण देव ने उसके राज्य में ही हराया तथा चन्देल संल्लक्षण वर्मन ने भी उसे हराया। साथ ही उसे चालुक्य षष्ठ विक्रमादित्य के हाथों भी पराजय मिली। लगभग ११२३ ई० में उसका राज्य काल समाप्त हो गया।

उसके उत्तराधिकारी गयाकर्ण और नरसिंह भी ह्रासोन्मुख ही रहे। नरसिंह का भाई जयसिंह कुछ वीर अवश्य था किन्तु उस समय तक उसके शत्रु राज्य इतने प्रबल हो चुके थे कि वह कोई बड़ी सफलता न प्राप्त कर सका। उसके उत्तराधिकारियों को दक्षिण के यादवों और उत्तर के मुसलमानों ने बिलकुल ही दबा दिया और कुछ ही दिनों में कलचुरी वंश समाप्त हो गया।

मालवा का परमार वंश

परिचय—

दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब प्रतिहारों का आधिपत्य मालवा में नष्ट हो गया तब वहाँ परमार शक्ति का उदय हुआ। परमार वीर और युद्ध प्रिय मालवों के वंशज थे। राजस्थान और उसके आसपास के देशों पर जिन चार क्षत्रिय राजवंशों ने तुर्कों से अपने देश की रक्षा के लिए अग्नि के सम्मुख शपथ ली थी, उनमें से परमार भी एक थे, जो आगे चलकर अग्नि कुलीय भी कहलाये। राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से परमार वंश का इतिहास बड़ा ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। कुछ लोग इन्हें 'राष्ट्रकूटों का वंशज' मानते हैं। अनुश्रुतियों के अनुसार वशिष्ठ ने उनके पूर्वजों को अभिसृष्ट किया था। एक अभिलेख में उन्हें राष्ट्रकूट जाति का कहा गया है।

शक्ति का विकास

इस शाखा का आदि पुरुष परमार था, परन्तु राजनीतिक शक्ति के रूप में इसका संस्थापक उपेन्द्र अथवा कृष्णराज था। वह राष्ट्रकूटों का सामन्त था। गणना से कृष्ण का समय ९१० ई० से प्रारम्भ होता है। ९४६ ई० के प्रतापगढ़ अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि इस समय उज्जयिनी, जहाँ उनकी शक्ति स्थापित हुई, पूर्णतः प्रतिहारों के अधिकार में थी। सम्भवतः उज्जयिनी के लिए राष्ट्रकूटों और प्रतिहारों में प्रतियोगिता चलती रही और अन्त में महत्त्वाकांक्षी राष्ट्रकूट सामन्त वहाँ अपनी शक्ति जमाने में सफल हुआ और फिर स्वतन्त्रता घोषित कर दी।

इस वंश का पहला ऐतिहासिक शासक भी यह हर्ष था। उसे 'श्रीहर्ष' भी कहा जाता है। वही प्रथम स्वतन्त्र और शक्तिशाली शासक था। उसका संघर्ष

मान्यखेट के राष्ट्रकूटों से हुआ। उसने खोहिग नामक राष्ट्रकूट शासक को परास्त कर विपुल सम्पत्ति प्राप्त की। उसने राजस्थान के हूण वंश को भी युद्ध में पराजित किया। इस हूण-नरपति का नाम रद्रूपाती था। उसकी विजयों का उल्लेख धनपाल रचित 'पाइअलच्छी नाममाला' नामक ग्रन्थ में है।

वाक्पति मुंज (९७२–९९८ ई०)

हर्ष का उत्तराधिकारी वाक्पति मुंज था। वास्तव में मालवा के परमारों की शक्ति का उत्कर्ष वाक्पति मुंज के समय में प्रारम्भ हुआ। उसने राष्ट्रकूटों की तरह 'श्रीवल्लभ' और 'अमोघवर्ष' की उपाधियाँ धारण की। उसने सबसे पहले त्रिपुरी के राजा द्वितीय युवराज को पराजित किया। इसके बाद लाट (गुजरात), कर्णाटक, चोल और केरल के राजाओं को युद्ध में हराया। उसका सबसे प्रसिद्ध विजय कल्याणी के चालुक्य राजा द्वितीय तैलप के ऊपर था। मेरुतुंग के प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार मुञ्ज ने तैलप को छः बार हराया और उसके राज्य के उत्तरी भाग पर अधिकार भी कर लिया। सातवीं बार उसने गोदावरी पार कर चालुक्यों पर आक्रमण किया और इस बार वह स्वयं तैलप से पराजित होकर बन्दी बना लिया गया। भागने के षड्यन्त्र में पकड़ा जाने पर वह मारा गया। उसकी मृत्यु के सम्बन्ध में एक रोमांचकारी कथा है। जब वह कारागृह में था तब तैलप की बहन से उसका प्रेम हो गया। कारागृह से सुरङ्ग बना कर दोनों भागना चाहते थे। किन्तु चालुक्य राजकुमारी ने अपने भाई के स्वार्थ को अधिक महत्त्व दिया। उसने भेद खोल दिया।

मुंज विजेता होने के अतिरिक्त स्वयं विद्वान् और कवियों तथा लेखकों का आश्रयदाता था। उसकी सभा में परिमल गुप्त, धनंजय (दशरूपक के लेखक), धनिक, भट्टहलायुध, अमितगति आदि कवि और विद्वान् रहते थे। उसने कई सरोवर और मन्दिरों का निर्माण कराया।

८. मिथिला

प्राचीन काल से ही मिथिला का भारतीय इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रहा है। उपनिषद् काल में मिथिला ब्रह्मविद्या का प्रधान केन्द्र था। बौद्धकालीन साहित्य में भी मिथिला की अवस्था वर्णित है। अजातशत्रु के बाद से मिथिला मगध का अङ्ग बन गयी। चीनी यात्री सुंगचुन टिएल-लो का वर्णन किया है, जिसका समीकरण तिरहुत या मिथिला से किया जाता है। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं था। अर्जुन अथवा अरुणाश्व ने हर्ष की गद्दी हड़प ली और स्वयं राजा बन बैठा। उसने तिरहुत अथवा मिथिला पर भी अपना आधिपत्य जमाया।

तिब्बत से संघर्ष

अर्जुन अथवा अरुणाश्व ने वोंग के साथ दुर्व्यवहार किया और उसे कष्ट दिया। वोंग लौटकर नेपाल चला गया। नेपाल और तिब्बती राजाओं ने चीनी राजदूत की सहायता की। वोंग ने एक बड़ी सेना के साथ तिरहुत पर आक्रमण किया और अर्जुन से बदला लिया। इस लड़ाई के फलस्वरूप तिब्बत का प्रभाव उत्तरी बिहार पर बढ़ गया और यह प्रभाव लगभग ६० वर्ष तक रहा। वोंग अर्जुन को गिरफ्तार कर चीन ले गया। श्री राधाकृष्ण चौधरी के अनुसार तिरहुत एवं नेपाल के इतिहास में यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है। वोंग ने स्वयं इस घटना का वर्णन किया था, किन्तु वह अब उपलब्ध नहीं है। वोंग उत्तरी-भारत से काफी परिचित था, क्योंकि वह उसके बाद पुनः ६५७ ई० और ६६४ ई० में आया था।

मात्वालीन ने इस घटना का विवरण इस प्रकार दिया है—"अपने राज्य के बीसवें वर्ष में चीनी सम्राट् चीङ्गाक्वान (६४६ ई०) ने वोंग के नेतृत्व में एक दूत-मण्डल मगध राज के पास भेजा। जब दूत-मण्डल मगध पहुँचा तब वहाँ की गद्दी पर हर्ष नहीं था, बल्कि उसकी गद्दी को हड़पने वाला ही वहाँ शासक था। उसने दूत-मण्डल का विरोध किया और उसके विरुद्ध अपनी सेना भेजी। उस समय दूत-मण्डल के साथ बहुत कम सैनिक थे, जिन्हें उसने गिरफ्तार कर लिया।[2]

दूत-मण्डल इस अपमान को सहने के लिए तैयार नहीं था, अतः वोंग वहाँ से लौटकर तिब्बत चला गया। तिब्बत ने एक हजार सैनिकों और नेपाल ने सात हजार सैनिकों से उसकी सहायता की। वोंग ने उन्हें संगठित किया और अर्जुन पर अचानक आक्रमण किया। अर्जुन के तीन हजार सैनिक मारे गये और दस हजार से ज्यादा डूब गये। अर्जुन स्वयं अपना राज्य छोड़कर भाग गया। उसने फिर अपने बिखरे हुये सैनिकों को एकत्र किया और संघर्ष की चुनौती दी, किन्तु इसके पूर्व ही सेनापति जिन ने उसे पकड़ लिया और उसके एक हजार सैनिकों को मार डाला। अर्जुन जिन द्वारा पराजित हो गया। राजा, रानी और उसके बच्चे गिरफ्तार कर लिये गये और उनके सैनिक आक्रामकों के अधीन हो गये। ५८० नगरों पर उसने अपना अधिकार कायम कर लिया। अर्जुन को चीन लाया गया और उसे वहाँ किसी पद पर नियुक्त किया गया।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिये :—
डॉ० उपेन्द्र ठाकुर का History of Mithila एवं डॉ० राधाकृष्ण चौधरी का ही History of Bihar और मैथिली में मिथिलाक राजनीतिक इतिहास तथा मिथिलाक सांस्कृतिक इतिहास।

२. राधाकृष्णचौधरी, प्रा० भा० रा० सां० इ०, पृ० ५१४

एक तिब्बती परम्परा में श्री सांग गम्पो (तिब्बती शासक) की विजयों का वर्णन है किन्तु उसमें भारत की इस घटना का कोई उल्लेख नहीं है। भारतीय राजनीति में उस तिब्बती शासक ने किसी प्रकार का भाग लिया, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है। वह नेपाल के अंशु वर्मा का दामाद था और भारत से भी उसका सांस्कृतिक सम्पर्क था। उसी के समय तिब्बती लिपि का भी विकास भारतीय लिपि के आधार पर हुआ और बहुत सारे भारतीय विद्वान भी तिब्बत गये, किन्तु किसी ने इस घटना का उल्लेख नहीं किया है। इसलिए मात्वालीन का क्या आधार था, यह कहना कठिन है। लुसिआनो पेतेक ने तिब्बती परम्पराओं का गहन अध्ययन किया है, किन्तु उसने भी कहीं इस घटना का जिक्र नहीं किया है। नेपाली परम्परा में भी कहीं इस घटना का उल्लेख नहीं मिलता है।

सिलवाँ लेवी के अनुसार अर्जुन या अरणाश्व तीर भुक्ति का शासक था। अर्जुन का संघर्ष वोंग के साथ गणकी के किनारे हुआ था। मात्वालीन के लेख से इतना तो अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि हर्ष के बाद अराजकता छा गयी थी और उसका राज्य कई भागों में विभक्त हो गया था। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्वी भारत हर्ष के मरने के बाद पुनः स्वतन्त्र हो गया था। अर्जुन ने इस राज्य को हड़प लिया था और तिरहुत में शासन करना शुरू कर दिया था। मात्वालीन के अतिरिक्त सिलवाँ लेवी और रमेशचन्द्र मजुमदार इस बात को मानते हैं कि तिब्बती सम्राट् (श्रौंग) ने अपने पिता की साम्राज्यवादी नीति के अनुकरण में भी भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप किया होगा; क्योंकि हम देखते हैं कि बाद में उसके पुत्र ने श्रौंग की साम्राज्यवादी नीति जारी रखी। नेपाल तो तिब्बत के प्रभाव में बहुत दिनों तक रहा ही। भारतीय इतिहास और मिथिला के इतिहास पर तिब्बती प्रभाव लगभग ७०३ ई० तक बना रहा। नेपाल और तिरहुत ने तिब्बती सत्ता के खिलाफ विद्रोह किया। श्रौंग के उत्तराधिकारी ने नेपाल और भारत पर आक्रमण किया था। उसके मरने के बाद उक्त क्षेत्रों ने पुनः अपने को तिब्बती प्रभाव से मुक्त किया।

७०३ ई० के बाद मिथिला के इतिहास की जानकारी के लिए ठोस साधनों का अभाव है। लामा तारकनाथ के अनुसार यहाँ चन्द्रवंश का राज्य था, किन्तु यह प्रश्न अभी तक विवादास्पद है। दसवीं शताब्दी के आरम्भ में जेजाक भुक्ति (जेजाक) के चन्देलों ने मिथिला पर आक्रमण किया। प्रतिहार, भोज और महेन्द्र पाल ने भी मिथिला पर आक्रमण किया। नारायण पाल के भागलपुर लेख से ज्ञात होता है कि पाल राजा ने तिरहुत में कुछ गाँव शिवमन्दिर चलाने के लिए दिये थे। महिपाल प्रथम के इमादपुर-अभिलेख से स्पष्ट है कि उस समय तक पालों का अधिकार मिथिला पर बना हुआ था। कुछ लोगों का विश्वास है कि कलचुरी

गांगेय देव ने मिथिला पर आक्रमण किया था, किन्तु अब इस मत का खण्डन किया जाने लगा है। पाल-राजाओं का शासन मिथिला पर विग्रह पाल तृतीय के समय तक बना रहा। इसका प्रमाण यह है कि नौलागढ़ और वनगाँव से उसके अभिलेख मिले हैं।

कर्णाटों का अभ्युदय

जिस समय पालवंश की समाप्ति हो रही थी उसी समय दक्षिण के चालुक्य वंश के षष्ठ विक्रमादित्य के आक्रमण के फलस्वरूप मिथिला में कर्णाट वंश और बंगाल में सेनवंश का अभ्युदय हुआ। उसकी सेना में बहुत से कर्णाट सिपाही थे; जो मिथिला और बंगाल में बस गये थे। सेन-अभिलेखों में सेनों को ब्रह्म क्षत्रिय कहा गया है। कर्णाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इतिहासकारों में काफी मतभेद है। कुछ लोगों का विश्वास है कि राष्ट्रकूटों के साथ जो लोग मगध में आ कर बस गये थे उन लोगों ने ही पाल साम्राज्य के बाद अपना सिर उठाया और मिथिला में अपना राज्य कायम किया। पाल अभिलेखों में भी कर्णाट शब्द का उल्लेख मिलता है। ऐसा भी कहा जाता है कि राजेन्द्र चोल के उत्तरी आक्रमण के फलस्वरूप जो लोग इधर आगे वही कर्णाट कहलाये। क्षेमेश्वर के चण्डकौशिक में वर्णित घटनाओं से भी कर्णाटों की उत्पत्ति का सम्बन्ध कुछ लोग जोड़ते हैं। सम्भव है कि पहले कर्णाट लोग इस क्षेत्र में आये हों किन्तु विक्रमादित्य के आक्रमण के फलस्वरूप जो लोग यहाँ आये उन लोगों ने ही यहाँ कर्णाट वंश की स्थापना की। नान्य देव, जो इस वंश का संस्थापक था, अपने को सामन्त कहता है। यह निश्चित है कि वह यहाँ के किसी शासक का सामन्त नहीं था। विक्रमांक चालुक्यों ने अपने उत्तरी आक्रमणों से दूर-दूर के देशों को जीता था और उनके लौटने के बाद उनके कुछ सामन्त बंगाल, मिथिला और कन्नौज में स्वतन्त्र शासक हुए। इन प्रदेशों में इन नवीन राज्यों की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

नान्य देव

१०९७ ई० में नान्य देव ने मिथिला में कर्णाट वंश का राज्य कायम किया। राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से इसे मिथिला के इतिहास में स्वर्णयुग कहा जाता है। चूँकि इस युग में ही मिथिला में संगठित राज्य प्रणाली की स्थापना हुई और कला, साहित्य तथा मिथिला भाषा का भी विकास हुआ। मुसलमानी आक्रमण से त्रस्त बौद्ध तथा अन्य विद्वान मिथिला तथा नेपाल में आये तथा सभी प्रदेशों के मूल्यवान् ग्रन्थ इन्हीं दो प्रदेशों में रखे गये। कर्णाट-शासन-काल (१०९७–१३२५ ई०) में मुसलमानों का प्रभाव मिथिला में पूर्णरूपेण नहीं जम पाया था। उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों के अध्ययन से ही हम नान्यदेव

का मूल्याङ्कन कर सकते हैं। बंगाल में सेन-वंश और गहड़वार अपने-आपमें फँसे हुए थे तब नान्यदेव ने मिथिला और नेपाल पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। सेनों से लोहा लेने के लिए नान्य देव ने गहड़वारों से सम्बन्ध रखा। विजय सेन के देवपाड़ा शिलालेख से पता चलता है कि विजय सेन और नान्य देव के बीच लड़ाई हुई थी, जिसमें नान्यदेव परास्त हुआ। अपने लम्बे राज्य काल में उसने पाल, कलचुरी सेन और गहड़वारों के पारस्परिक संघर्षों के बीच अपनी दूरदर्शिता, नीति-कौशल और बहादुरी से अपने राज्य को दृढ़ किया और उत्तरोत्तर शक्तिशाली बनाया। प्रारम्भ में नान्य देव महासामन्त था और बाद में स्वतन्त्र शासक हो गया। श्रीधर दास और रत्न देव उसके मन्त्री थे। श्रीधर दास का पिता वटु दास सेन वंश का महासामन्त था और श्रीधर को महामाण्डलिक पदवी प्राप्त थी। उसका एक शिलालेख अधराढाड़ी (दरभंगा) में मिला है, जिसमें नान्य को नृप कहा गया है। नान्य देव की राजधानी सिमराँव में थी। यह स्थान अभी नेपाल में है।

मल्ल देव

नान्य देव के दो पुत्र थे— मल्ल देव और गंग देव। मल्ल देव का उल्लेख विद्यापति ने 'पुरुष-परीक्षा' में किया है। मल्ल देव का एक अभिलेख 'भीठ भगवानपुर' (दरभंगा) में मिला है (जिसमें 'ॐ श्री मल्ल देवस्य' लिखा है)। मल्लदेव बड़ा वीर और साहसी था। वह कुछ दिनों तक कन्नौज के राजा जयचन्द्र के यहाँ रहा और बाद में चिक्कोर के राजा के यहाँ भी। मल्ल देव और गंग देव में अच्छा सम्बन्ध नहीं था। सम्भव है कि नान्य देव के मरने के बाद यह राज्य दो भाइयों में बँट गया और पूर्वी भाग का मालिक मल्ल देव तथा पश्चिमी भाग का गंग देव हुआ। चूँकि गंग देव कानूनी रूप से सिमराँव का उत्तराधिकारी हुआ, इसलिए वंश तालिका में उसी का नाम आता है। किन्तु यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि विद्यापति ने मल्ल देव को ही युवराज कहा है। उसकी राजधानी भीठ भगवानपुर में थी और उसी के नाम पर जिले में मलहर्द, मल्हनी, गोपाल और पूर्णियाँ की सीमा पर मलडीहा है।

गंग देव

गंग देव एक कुशल शासक था। उसने अपने मन्त्री श्रीधर दास और रत्न देव की सहायता से उत्तमोत्तम रीति से अपना राज-काज चलाया। उसके समय शासन प्रणाली को ठोस बनाया गया। राजस्व कर वसूलने के विचार से उसने अपने राज्य को परगनों में बाँटा। प्रत्येक परगने पर मुखिया या प्रधान नियुक्त किया गया, जो 'चौधरी' नाम से प्रसिद्ध हुआ। न्याय करने के लिए पंचायती

व्यवस्था की गयी। गंग देव ने गौड़ पर विजय प्राप्त की और 'गौड़ध्वज' उपाधि से विभूषित हुआ।

नरसिंह देव

गंग देव के बाद नरसिंह देव शासक हुआ। उसके समय मिथिला और नेपाल के बीच कुछ खटपट हुई। वह अपने चाचा मल्ल देव के साथ कन्नौज जाया करता था। उसके बाद रामसिंह देव राजा हुआ।[1] वह विद्या और धर्म का प्रेमी था। उसके समय वेद की टीकाएँ लिखी गयीं, सामाजिक और धार्मिक नियमों का प्रतिपादन किया गया और शासन-विधान में काफी सुधार हुआ। प्रत्येक गाँव के लिए कोतवाल नियुक्त हुआ। गाँव का प्रत्येक समाचार कोतवाल चौधरी को देता था। उसके समय पटवारियों की प्रथा चली। उसका सान्धि विग्रहिक देवादित्य ठाकुर था। उसके समय श्रीधर आचार्य ने 'अमरकोष' की टीका लिखी। उसके शासन काल में तिब्बती यात्री धर्म-स्वामी मिथिला आया था और उसके दरबार में कुछ दिनों रहा भी। उसने तत्कालीन मिथिला के बारे में कुछ लिखा है। १२३६ ई० में वह नालन्दा विश्वविद्यालय में पढ़ने आया था। इससे सिद्ध होता है कि उस समय तक नालन्दा विश्वविद्यालय विद्यमान था। धर्मस्वामी के लेखों से यह ज्ञात होता है कि उस समय मिथिला पर मुसलमानों का प्रकोप काफी बढ़ गया था। रामसिंह देव के बाद शक्तिसिंह (शक्रसिंह) शासक हुआ। वह बड़ा ही क्रूर और अत्याचारी था और उसकी निरंकुशता पर अंकुश रखने के लिए सामन्तों ने अपनी एक समिति बना ली थी।

हरिसिंह देव

शक्तिसिंह के बाद हरिसिंह देव राजा हुआ। वह इस वंश का सबसे प्रतापी राजा था। उसे कर्णाट वंशोद्भव शत्रु जेता 'हरिसिंह देव महाराज' कहा गया है। उसका सान्धि विग्रहिक देवादित्य था। और उसके बाद वीरेश्वर उसका मन्त्री हुआ। चण्डेश्वर ठाकुर (राजनीति रत्नाकर का रचयिता) भी उसका मन्त्री था। उसके समय नेपाल पर आक्रमण हुआ। चण्डेश्वर ने वाग्मती के तट पर तुलापुरुष दान किया। हरिसिंह के समय मिथिला में पंजी प्रथा का विकास हुआ। जिस कुलीन प्रथा की स्थापना का श्रेय बल्लाल सेन को दिया जाता है उसी कुलीन प्रथा का श्रेय मिथिला में हरिसिंह देव को है। इसमें उसे अपने मन्त्री सूर्यकर ठाकुर से

---

१. इसके दरबार में तिब्बती यात्री धर्मस्वामी आया था। धर्मस्वामी के विवरण से रामसिंह देव के शासन पर काफी प्रकाश पड़ता है।
देखिये :—**L. Petech—Medieval History of Nepal.**

बड़ी सहायता मिली थी। १३२३-२४ ई० में मिथिला पर गयासुद्दीन तुगलक का आक्रमण हुआ और उसके फलस्वरूप कर्णाट वंश का अन्त हो गया। कर्णाट वंश का प्रभाव तो १३७५ ई० तक बना रहा, किन्तु इसका शासन अब नाममात्र के लिए कुछ क्षेत्रों पर ही रह गया था।

कर्णाट वंश[1] के समय संस्कृत साहित्य अपने चरमोत्कर्ष पर था। मिथिला 'स्मृति' का प्रधान केन्द्र थी। उसी के समय मैथिली की प्रथम पुस्तक 'वर्णरत्नाकर' की रचना ज्योतिरीश्वर ठाकुर के द्वारा हुई। न्याय और तर्क शिक्षा के लिए बाहर से लोग मिथिला आया करते थे। मिथिला उस युग में संस्कृत और विद्या का केन्द्र था। उस युग में धर्मशास्त्र पर अनेक निबन्ध लिखे गये।

९. बंगाल

पालवंश :—

हर्ष के समकालीन गौड (बंगाल) का राजा शशांक था। वह बड़ा शक्तिमान् राजा था और उसका आधिपत्य उत्कल और बंगाल तक फैला हुआ था। ह्वेनसांग के अनुसार वह कर्ण-सुवर्ण का राजा था। गंजाम के शैलोद्भव भी उसका आधिपत्य मानते थे। शशांक की मृत्यु के बाद बंगाल पर हर्ष का आधिपत्य रहा और ६४८ ई० में हर्ष की मृत्यु के बाद आसाम के राजा भास्कर वर्मा का आधिपत्य रहा। इसके बाद बंगाल में अराजकता फैल गयी और कान्यकुब्ज, काश्मीर और आसाम के राजाओं ने उस पर अधिकार जमाने की कोशिश की। जब बंगाल का प्रदेश इस प्रकार की अव्यवस्था से त्रस्त था तब साधारण कुल में उत्पन्न परन्तु महत्त्वाकांक्षी युवक गोपाल ने एक राजवंश की स्थापना की। खालिमपुर ताम्र-पत्र के अनुसार अराजकता से व्याकुल होकर प्रजा ने गोपाल को स्वयं अपना राजा चुना। इस वंश के सभी राजाओं का नामान्त पाल था, इसलिये यह वंश पाल-वंश कहलाया। बाद के पाल-लेखों में गोपाल को सूर्यवंशी क्षत्रिय कहा गया है। तिब्बती ग्रन्थकार बुस्टन के अनुसार ये लोग नीच जाति के थे। जिस स्थिति में गोपाल का चुनाव हुआ उससे स्पष्ट हो जाता है कि बंगाल में राजनीतिक चेतना प्रबल थी। कुछ लोग मगध को और कुछ बंगाल को उनका पैत्रिक घर मानते हैं।

---

१. नेपाल के प्रतापमल्ल के अभिलेख में कर्णाट वंश की तालिका इस प्रकार है—

आसीत् सूर्यवंशरघुकुलवंशजो रामचन्द्रो नृपेशः
तद्वंशे नान्यदेवोऽवनिपतिरभवत् तत्सुतो गंगदेवः।
तत्पुत्रोऽभून्नृसिंहो नरपतितुल्यस्तक्षरपतिसुतो राजसिंहः
तज्जः श्रीशक्तिसिंहो धरणिपतिरभूद् पालसिंहस्तस्मात्कर्णाटचूडामणिहंरियत्सिंहदेवोस्य वंशे।

गोपाल

पाल वंश का सर्वश्रेष्ठ शासक गोपाल था। उसने अराजकता का अन्त और पुण्ड्र, बंग तथा मगध पर अपना आधिपत्य जमा लिया। पाल वंश की नींव उसके समय दृढ़ हुई। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसने नालन्दा के समीप उदन्तपुर नामक स्थान में एक महाविहार की स्थापना की। उसने करीब २५ वर्ष तक शासन किया।

धर्म-पाल

धर्मपाल इस वंश का सबसे प्रमुख शासक के साथ-साथ संस्थापक भी था। वह विजयी और धार्मिक था। उसने तत्कालीन उत्तर भारत की अराजकता से लाभ उठाकर अपने राज्य की सीमाएँ खूब बढ़ा लीं। तारकनाथ के अनुसार उसके राज्य का विस्तार पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक, पश्चिम में जालन्धर तक, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्य-पर्वत तक था। पाल-लेखों में भी इस बात का उल्लेख है कि उसने इन्द्रायुध (कन्नौज) के राजा को हराकर गद्दी से उतार दिया और उसके पुत्र चक्रायुध को अपने प्रतिनिधि के रूप में कन्नौज की गद्दी पर बिठाया। कन्नौज की सभा में २० राजाओं ने उसका आधीन्य स्वीकार किया था। आधिपत्य के लिए उसे प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों से संघर्ष करना पड़ा। प्रतिहार वत्सराज और राष्ट्रकूट ध्रुव ने बारी-बारी से उसे परास्त किया। राष्ट्रकूट अभिलेख (संजय-लेख) में कहा गया है कि उसने स्वयं आत्मसमर्पण किया। नागभट्ट प्रतिहार ने चक्रायुध से कन्नौज छीनकर धर्मपाल के साम्राज्य का स्वप्न भंग कर दिया। प्रतिहारों और पालों के बीच मुंगेर में संघर्ष हुआ।

बंगाल और बिहार पर धर्मपाल का आधिपत्य था। उसने पंजाब और कन्नौज तक अपने अधिकार का विस्तार किया। पंजाव, पूर्वी राजपूताना, मालवा, बशर, भोज, मत्स्य, कुरु, यदु, अवन्ती, गान्धार आदि के शासक उसकी सत्ता मानते थे। उसका प्रभाव क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। इस विशाल क्षेत्र को अपनी शासन व्यवस्था के अन्तर्गत रखने का दुस्साहस उसने नहीं किया। वह उत्तरापथ और पंचगोड का स्वामी कहलाता था। उसने केदारनाथ तक के प्रदेश जीत लिये थे।

धर्मपाल का नाम भारत के महान् शासकों में लिया जाता है। उसने महाराजाधिराज, परमेश्वर और 'परम भट्टारक' उपाधियाँ धारण कीं। उसने पाटलिपुत्र में एक बहुत बड़े दरबार का आयोजन किया। वह स्वयं बौद्ध था और उसने विक्रमशिला का प्रसिद्ध बौद्ध विहार बनवाया था। उसने सोमपुर विहार की भी स्थापना की। वह नालन्दा महाविहार का भी संरक्षक था। वह बौद्ध के अतिरिक्त वर्णाश्रम का भी पोषक था। वह शास्त्रीय नियमों का पालन करवाता था। उसी

के समय बोधगया में चतुर्मुख महादेव की प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई थी। उसके समय धीमन और वीरपाल ने एक नये कला सम्प्रदाय की नींव रखी। उसने ३२ वर्ष तक राज्य किया।

देव-पाल

उसके बाद उसका पुत्र देवपाल शासक हुआ। वह ८१५ ई० में गद्दी पर बैठा। उसने ३५ वर्ष तक राज्य किया और हिमालय, विन्ध्य तथा रेवा तक के प्रदेश पर विजय प्राप्त की। उसने गुर्जर, राष्ट्रकूट, हूण और उत्कल के दर्प का दमन किया। उसके शिलालेखों में पाण्डच और कम्बोज का भी जिक्र है। उत्कल और कामरूप पर भी उसकी विजय का उल्लेख मिलता है। उसने पूरब में प्रतिहारों की गति रोक दी। उसका सम्पर्क पूर्वी द्वीपों के राज्यों से भी था। मुंगेर अभिलेख में कहा गया है कि उसनें सेतुबन्ध रामेश्वर तक अपना अधिकार स्थापित किया। दर्भपाणि और केदार मिश्र उसके निपुण मन्त्री थे। उसके समय पाल साम्राज्य उत्तर-भारत का शक्तिशाली साम्राज्य था और काश्मीर की सीमा से असम तक के लोग उसकी सत्ता स्वीकार करते थे। दक्षिण में पाण्डच राज्य तक उसका प्रभाव था। उसने पाल साम्राज्य को संगठित किया। वह एक महान् विजेता के साथ ही धर्म का संरक्षक भी था। मगध में उसने मन्दिर और विहार बनवाये तथा नालन्दा के विकास में योगदान दिया। जलालाबाद के विद्वान वीरदेव को उसने नालन्दा विहार का अध्यक्ष नियुक्त किया। जावा के शैलेन्द्र राजा वलपुत्रदेव ने एक दूतमण्डल भेजकर उसे समादृत किया था। इसका मुख्य उद्देश्य नालन्दा में जावा के विद्यार्थियों के लिए एक विशेष विद्यालय के निर्माण के हेतु मगध के पाँच ग्रामों के एक अनुदान की व्यवस्था करना था। उसके समय में कला और वास्तु को भी प्रोत्साहन मिला। देवपाल के समय पाल साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया और उसकी मृत्यु के बाद ही साम्राज्य पतनोन्मुख हुआ।

नारायण-पाल

देवपाल का पुत्र नारायण पाल लगभग ८५६ ई० में राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसके समय मिहिर-भोज और महेन्द्र पाल के आक्रमण हुए। उन्होंने मगध का एक भाग प्रतिहार राज्य में मिला दिया। तत्पश्चात् राष्ट्रकूट शासक अमोघ वर्ष ने बंगाल पर आक्रमण किया और अंग, बंग और मगध पर अपना अधिकार जमा लिया। उसके पुत्र कृष्ण द्वितीय ने गौड़ों को विनम्र व्रत की शिक्षा दी। अन्त में उसने अपने पुत्र राज्यपाल का कृष्ण द्वितीय की पुत्री भाग्य देवी से विवाह कर दिया। इस वैवाहिक सम्बन्ध से पाल शासक को थोड़ी राहत मिली। नारायण पाल को उड़ीसा के शुलकी राजा रणस्तम्भ का भी सामना करना पड़ा जिसने

राढ़ को जीत लिया। कृष्ण जिले के एक और साधारण राजा ने बंग, मगध और गौड़ को जीतने की डींगें मारीं और स्पष्ट है कि उससे पाल साम्राज्य की शक्ति काफी क्षीण हो गयी थी। इसके अतिरिक्त नारायण पाल को असम, उड़ीसा, गोरखपुर और कलचुरी राजा यशोवर्मन् के आक्रमणों के संकटों का भी सामना करना पड़ा। यशोवर्मन् को 'बंग-भंग-निपुण' कहा गया है। हरिकेल के राजा कान्तिदेव और कम्बोज ने भी आन्तरिक विद्रोह करना शुरू कर दिया। ५४ वर्ष तक राज्य करने पर भी वह पाल साम्राज्य को विभिन्न संकटों से बचाने में असमर्थ रहा। उसकी माता चेदिकुल की राजकुमारी थी और उसका नाम लज्जा था। उसने अपने शासनकाल में शिवमन्दिर के लिए तीरभुक्ति का एक गाँव दान किया था। पूर्वी बंगाल पर चन्द्रवंश का अधिकार हो गया था और पाल साम्राज्य दक्षिण बंगाल तक ही सीमित रह गया था। अपने शासन के अन्तिम दिनों में प्रतिहारों के गृह-कलह से लाभ उठाकर उसने उदन्तपुर पर फिर अधिकार कर लिया। अंग पर भी उसका अधिकार था।

राज्यपाल

नारायणपाल की मृत्यु के बाद उसका पुत्र राज्यपाल गद्दी पर बैठा जिसका विवाह राष्ट्रकूट तुंग की कन्या से हुआ था। इस विवाह का राजनीतिक महत्त्व था। प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के आपसी संघर्ष से लाभ उठाकर उसने सोन नदी के किनारे तक अपनी पैतृक भूमि पुनः प्राप्त कर ली।

गोपाल-द्वितीय

राज्यपाल के बाद उसका पुत्र गोपाल द्वितीय गद्दी का अधिकारी हुआ। उसके समय पालों को उत्तर बंगाल खोना पड़ा और बंगाल में कम्बोजों का आगमन हुआ। पाल साम्राज्य इस समय संकट की घड़ी से गुजर रहा था। इसी समय चन्देल यशोवर्मन और उसके पुत्र धंग ने गौड़ और मिथिला पर आक्रमण किया। कलचुरियों का आक्रमण भी इसी समय प्रारम्भ हो गया था। पालों की शक्ति दिनानुदिन समाप्त होती जा रही थी। नालन्दा और बोध गया में गोपाल के अवशेष प्राप्त हुए हैं। उसके बाद उसका पुत्र विग्रहपाल द्वितीय शासक हुआ। इस समय पालों की हालत और भी खराब हो गयी।

महिपाल-प्रथम

महिपाल प्रथम ९९० ई० में शासक हुआ। एक शिला-लेख से ज्ञात होता है कि महिपाल के समय में शक्ति का पुनरुत्थान हुआ और उसने उन प्रदेशों को जीता जिन पर अनधिकृत व्यक्तियों ने कब्जा कर किया था। उत्तरी बंगाल में किरात जाति के कम्बोज उपद्रवियों की सत्ता को उसने सदा के लिए नष्ट कर

दिया। उसी के समय में (१०२३ ई०) कांची के चोल राजा राजेन्द्र ने बंगाल और बिहार पर आक्रमण किया, महिपाल हार अवश्य गया परन्तु ये भू-भाग शीघ्र ही पुनः उसके अधिकार में आ गये। दूसरा आक्रमण चेदिराज गांगेय देव का हुआ जिसने पश्चिमोत्तर प्रान्तों पर अधिकार कर लिया। फिर भी उसके राज्य का विस्तार काफी था; जैसा कि उसके लेखों के प्राप्ति स्थानों—दिनाजपुर, मुज़फ्फ़रपुर, पटना, गया, टिपरा आदि—से प्रमाणित है। महिपाल बौद्ध था। उसने सारनाथ में कई चैत्य बनवाये तथा मूलगन्ध कुटी, धर्म राजिका स्तूप और धर्म चक्र की मरम्मत करायी। वह एक कुशल योद्धा और सफल शासक था। वह जनप्रिय और प्रजा हितकारी भी था। उसके बाद पुनः पाल साम्राज्य का पतन शुरू हो गया।

महिपाल बंगाल के शासकों में काफी ख्याति प्राप्त कर चुका है। उसके समय में कला की उन्नति हुई। नालन्दा के विशाल बुद्ध मन्दिर का पुनर्निर्माण इसके शासन-काल के ग्यारहवें वर्ष में कराया गया था। बनारस के बौद्ध-मन्दिरों की मरम्मत उसके सम्बन्धियों, स्थिरपाल और वसन्तपाल ने करायी थी।

नयपाल

महिपाल के बाद उसका पुत्र नयपाल बहुत कम समय तक अधिकारी हुआ। चेदिराज लक्ष्मीकर्ण से उसका युद्ध कई वर्षों तक चला। महाबोधि विहार के दीपंकर श्री ज्ञान ने दोनों में सन्धि करायी और नयपाल के पुत्र विग्रह पाल का विवाह लक्ष्मी कर्ण की पुत्री यौवन श्री से हुआ। इसके शासन काल में हिन्दुओं का तीर्थस्थान गया एक भव्य और शानदार नगर के रूप में हो गया। गया जिले के शासक विश्वरूप ने नयपाल के शासन के पन्द्रहवें वर्ष में विष्णु के पदचिह्नों के निकट कई मन्दिर बनवाये, जिनमें गदाधर का मन्दिर प्रसिद्ध है।

विग्रहपाल (विग्रहपाल तृतीय)

नयपाल के बाद उसका पुत्र विग्रहपाल तृतीय गद्दी पर बैठा। विग्रहपाल तृतीय यद्यपि एक श्रद्धालु बौद्ध था तथापि उसने सूर्य ग्रहण अथवा चन्द्र ग्रहण के अवसर पर एक बार गङ्गा में स्नान किया और सामवेद के पण्डित एक ब्राह्मण को एक ग्राम दान में दिया। उसके दो अभिलेख उत्तर बिहार में मिले हैं—एक भौलागढ़ (मुंगेर) से और दूसरा बनगाँव (सहरसा) से। इन दोनों अभिलेखों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि कलचुरी दबाव से बचने के लिए विग्रहपाल तृतीय ने अपना कर्म स्थान उत्तर बिहार को बनाया। उसके समय चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने भी पाल साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। विग्रहपाल ने अपने सत्प्रयास से पाल साम्राज्य को किसी प्रकार बचाकर रखा; किन्तु उसके बाद उसके पुत्रों में गृह युद्ध शुरु हो गया। जब पाल वंश के शासक आपस में लड़ रहे थे

तब पूर्व बंगाल में वर्मन उठ खड़े हुए और वारेन्द्र के आदिवासी कौवर्तों ने अपने नेता दिव्य अथवा दिव्योक के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। रामचरित के अनुसार महिपाल ने अपने भाई शूरपाल और रामपाल को बन्दी बना लिया था। कैवर्त नेता दिव्योक ने विद्रोह कर उसके भाइयों को मुक्त कर दिया। विद्रोहियों ने उत्तर बंगाल में स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया।

विग्रहपाल तृतीय के उत्तराधिकारी
रामपाल

रामपाल जब गद्दी का अधिकारी हुआ तब पाल साम्राज्य की स्थिति बड़ी शोचनीय थी। कैवर्त-विरोध के साथ-साथ उसे दुर्घर्ष सामन्तों का भी सामना करना पड़ा। रामचरित (सन्ध्याकर नन्दी-रचित) के अनुसार रामपाल ने अपने व्यक्तित्व औदार्य से उन सामन्तों को जीता। इन सामन्तों और अपने मामा राष्ट्रकूट मथन की सहायता से वह कैवर्तों के विरुद्ध बढ़ा। उसने और उसके सेनापति शिवराज ने दिव्योक के पुत्र कैवर्त राजा भीम को बन्दी बना लिया। बाद में भीम को प्राण दण्ड मिला और रामपाल ने अपनी पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। उसने कलिंग और कामरूप पर भी विजय प्राप्त की और पूर्व बंगाल के यादव राजा यादव वर्मन तक ने उसके संरक्षण की प्रार्थना की। पूर्वी बंगाल पर सेनों ने और मिथिला पर कर्णाटों ने अपना अधिकार कर लिया। इन विजयों से प्रोत्साहित हो उसने कलिंग और कामरूप पर आक्रमण किया। किन्तु यह पाल-शक्ति के बुझते दीपक की अन्तिम लौ थी। रामपाल के दुर्बल उत्तराधिकारियों में कुमार पाल, गोपाल, मदन पाल के नाम उल्लेखनीय हैं। तेरहवीं शताब्दी के शुरू में तुर्क आक्रमण के समय इस वंश का अन्तिम राजा इन्द्र द्युम्न पाल अत्यन्त शक्तिहीन और सामना करने में असमर्थ था।

पाल साम्राज्य का पतन :—

रामपाल के बाद पाल साम्राज्य की स्थिति और अधिक डांवाडोल हो गयी। उसके पुत्र कुमार पाल के समय में आसाम स्वतन्त्र हो गया। उसका पुत्र गोपाल तृतीय मदन पाल के द्वारा मार डाला गया। मदनपाल का अधिकार दक्षिणी बिहार, पटना और मुंगेर तक विस्तृत था। उसके पश्चात् गोविन्द पाल शासक हुआ जिसका अधिकार केवल गया तक सीमित रह गया। गोविन्द पाल गहड़वालों और सेनों के बीच घिर गया। दोनों ओर से घिर जाने पर पाल साम्राज्य की स्थिति बड़ी ही शोचनीय हो गयी। पाल नरेश नाममात्र को ही राजा रह गये। सेनवंश के उत्कर्ष, सामन्तों के विद्रोह और परवर्ती पाल नरेशों की अयोग्यता के कारण पालों के साम्राज्य का पतन हो गया।

अन्य राजवंश

श्री राधाकृष्ण चौधरी के अनुसार[1] पालों के बाद चन्द्रवंश का उदय हुआ। इसके नरेश अपने आपको महाराजाधिराज कहते थे। इन लोगों का निवास स्थान रोम्हतगिरि था। सुवर्ण चन्द्र, त्रैलोक्यचन्द्र और श्रीचन्द्र को महाराजाधिराज तथा परम सौगत उपाधियों से विभूषित पाया जाता है। विक्रमपुर श्रीचन्द्र की राजधानी थी। उसने पुण्ड्रवर्धन भुक्ति, कुमार तालक मण्डल और पद्मा नदी के तट पर पद्मावती विषय में भूमि के सतत अनुदान किये। इस वंश का दूसरा महत्त्वपूर्ण राजा गोविन्दचन्द्र था जिसका राज्य सनद्वीप और पैकपारा में था। वह राजेन्द्र चोल द्वारा हरा दिया गया। कलचुरि-आक्रमण के फलस्वरूप इस वंश का अन्त हुआ और कलचुरियों की मदद से उनके स्थान पर यादवों का राज्य प्रारम्भ हुआ।

यादव वंश :—

इस वंश का प्रसिद्ध राजा जातवर्मा हुआ जिसकी शादी कलचुरि कर्ण की पुत्री वीरश्री से हुई थी। इस विवाह से उसने अपनी स्थिति मजबूत की। भंग, कामरूप, द्रिव्य और गोवर्द्धन के लिए वह संकट बन गया। उसने पुण्ड्रवर्धन भुक्ति पर आक्रमण किया तथा उत्कल के राजा हरि वर्मा और उसके मन्त्री गोवर्द्धन को भी हरा दिया। उसके उत्तराधिकारी भोजवर्मा ने अपने सार्वभौम पद को बनाये रखा और पुण्ड्रवर्धन तक राज्य किया। यादव राजाओं को पहले पालों ने और फिर सेनों ने पराजित कर भगा दिया।

सेन-वंश

मूल :—

ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में जब कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने बंगाल पर आक्रमण किया तब उसके एक सेनापति सामन्त देव या सामन्त सेन ने उत्तरी उड़ीसा में सुवर्ण रेखा नदी के किनारे काशी पुरी नामक नगरी में एक राजवंश की स्थापना की। सामन्त देव या सामन्त सेन का वंश सेन-वंश कहलाया। सामन्त सेन चन्द्रवंशी कर्णाट क्षत्रिय थे।[2] इस वंश के राजा ब्राह्मणोचित गुणों से

---

१. वही, पृ० ५०५

२. देव पारा लेख; एपि० इण्डि० १,३०५। सेनों की जाति का प्रश्न भी एक विवाद का विषय हो गया है।

डॉ० भण्डारकर उन्हें ब्रह्म-क्षत्रिय (मूल ब्राह्मण और बाद में क्षत्रिय वृत्ति अपना लेने वाले) मानते हैं।

युक्त वैदिक धर्म के संरक्षक थे, अतः यह वंश ब्रह्म-क्षत्र भी कहलाता है। सामन्त सेन और उसका पुत्र हेमन्त सेन दोनों ही सामन्त के स्वतन्त्र राजा नहीं।

विजय सेन :—

हेमन्त सेन का पुत्र विजय सेन वास्तव में इस वंश का पहला स्वतन्त्र और शक्तिमान् राजा था। उसने पूर्व की ओर बढ़कर बंगाल पर आक्रमण किया और पालों से दक्षिण और दक्षिण-पूर्व बंगाल छीनकर पूर्वी बंगाल में विक्रमपुर को अपनी राजधानी बनाया जहाँ से उसका लेख प्राप्त हुआ है। पालों का ह्रास इस समय प्रारम्भ हो गया था। बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में विजय सेन ने उत्तरी बंगाल भी पालों से जीत लिया। उसने तिरहुत के नान्य देव, कामरूप (आसाम) और कलिंग के राजाओं को भी युद्ध में हराया। देवपारा लेख में उसके विजयों का वर्णन सविस्तार दिया हुआ है। उसके पास सशक्त जहाजी बेड़ा था, जिसने खेल में ही गंगा की धार में पश्चिमी प्रदेश जीत लिया। विजय सेन ने कलिंग के राजा चोल गंग से मित्रता का सम्बन्ध रखा। उसने लगभग ४० वर्ष तक शासन किया। वह वैदिक धर्म का अनुयायी और क्षत्रियों का संरक्षक था। देवपारा लेख के अनुसार उसने कई यज्ञ किये। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि पालों के संरक्षण में पल रहे बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप वैदिक धर्मानुयायी सेन राज्य स्थापित हुआ।

बल्लाल सेन :—

विजय सेन के बाद उसका पुत्र बल्लाल सेन राज्य का शासक हुआ। उसने अपने पिता के राज्य को सुरक्षित रखा, परन्तु उसने कोई राजनीतिक महत्त्व की विजय नहीं प्राप्त की। सम्भवतः उसने मिथिला को जीता और कैवर्तों के विद्रोह को दबाकर पाल राजा द्वितीय महिपाल अथवा रामपाल को बन्दी बनाया था।[1] उसका शासन काल बौद्ध-धर्म के स्थान पर ब्राह्मण धर्म या वैदिक धर्म के प्रचार वर्ण-व्यवस्था के सुधार, ऊँची जातियों में कुलीनता के उदय और शैव-सम्प्रदाय के प्रसार के लिए प्रसिद्ध है। वह विद्वान् था और उसने दान सागर और अद्भुत सागर नामक ग्रन्थों की रचना भी की। वृद्धावस्था में बल्लाल सेन प्रयाग चला गया और जीते जी उसने जल समाधि ली।

बंगाल के वैद्य उन्हें वैद्य (ब्राह्मण + वैश्य) मानते हैं, किन्तु ब्रह्म क्षत्रिय शब्द का अर्थ ब्रह्मोपेत क्षत्रिय है—
देखिये—सी० वी० वैद्य :—
डॉ० फा० हि० इ०, पृ० २३०।

१. सी० वी० वैद्य—डा० फा० हि० इ०, पृ० २२८।

लक्ष्मण सेन

वल्लाल सेन की मृत्यु के बाद उसके पुत्र लक्ष्मण सेन का जन्म हुआ। वह वंश का अंतिम शक्तिशाली राजा था। १११४ ई० में उसके जन्म दिन और शासन के प्रारम्भ से एक संवत् का भी प्रवर्त्तन हुआ, जिसे लक्ष्मण संवत् कहा जाता है। अपने शासन के प्रारम्भ में उसने कामरूप (आसाम) और कलिंग पर आक्रमण किया और अपनी विजयों के उपलक्ष में तीर्थराज प्रयाग और काशी में पुण्यार्थ जय स्तम्भ स्थापित किया।[1] उसने लक्ष्मणावती (लखनौती = गौड) को अपनी राजधानी बनाया। लक्ष्मण सेन स्वयं विद्वान तथा विद्वानों और कवियों का आश्रयदाता था। उसके दरवार में गीतगोविन्द के रचचिता जयदेव और पवनदूत के रचयिता धोयिक नामक कवि तथा हलायुध, उमापतिधर, शरण, गोवर्धनाचार्य और श्रीधरदास आदि विद्वान रहते थे। वह बड़ा ही गुणवान् और लोकप्रिय राजा था। श्री वी. ए. स्मिथ ने लिखा है—"लक्ष्मण सेन असाधारण गुणों वाला राजा था। उसने किसी के साथ अन्याय नहीं किया और उसकी उदारता तो कहावत बन गयी।" वह वैष्णव था और बंगाल में हरि (विष्णु) की पूजा का प्रचलन उसी के समय में हुआ। लक्ष्मण सेन के बाद सेन-वंश की शक्ति क्षीण होने लगी। उसके पुत्र माधव सेन के समय में कुतुबुद्दीन के तुर्क सेनापति मुहम्मद बिन-वख्तियार ने ११९९ ई० में बंगाल पर आक्रमण किया। मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार गौड़ पर तुर्कों का अधिकार हो गया।

लक्ष्मण सेन का शासन संस्कृत साहित्य के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उसकी राजसभा में पाँच रत्न रहते थे जिनके नाम जयदेव, उमापति, धोयी, हलायुध और श्रीधर दास थे।

१०. कलिंग और ओड्र का इतिहास

अपने संकुचित अर्थ में गोदावरी और महानदी के बीच पूर्वी समुद्र तट का प्रदेश कलिंग कहलाता था और उसके उत्तर सुवर्ण रेखा की घाटी तक का भूभाग ओड्र नाम से प्रसिद्ध था। किन्तु कभी-कभी पूरा वर्त्तमान उड़ीसा प्रान्त कहा जाता था। हर्ष के बाद का उडीसा का इतिहास अन्धकारमय है। खारवेल और उसके चेदिराज्य के बाद कलिंग छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया। कलिंग के बाद का इतिहास निम्नलिखित राजवंशों का वृत्तान्त है—

---

१. वाकरगंज अभिलेख, ज० ए० सी० ब० १०, पृ० ९७–१०४

२. देखिये—सी० वी० वैद्य, डॉ० फा० हि० इ०, पृ० २३२–३४ तथा ३४१-४५ तथा गौरीशंकर ही० ओझा० टाड (हिन्दी)

पितृ भक्त :—

इस वंश के संस्थापक उमा वर्मा ने अपने एक शिलालेख में अपने-आपको कलिंगाधिपति बताया है। उसकी राजधानी सिंहपुर थी। उसके एक उत्तराधिकारी महाराज नन्द प्रभंजन वर्मा ने एक लेख में अपने वंशानुगत नाम पितृ भक्त और उपाधि 'कलिंगाधिपति' का उल्लेख किया है।

माठर :—

श्री राधाकृष्ण चौधरी[1] के अनुसार ये पितृभक्तों के प्रतिद्वन्द्वी थे। इनकी राजधानी पिष्टपुर थी। इनके एक राजा शक्ति वर्मा ने 'कलिंगाधिपति' उपाधि ग्रहण की। एक अन्य राजा अनन्त शक्ति वर्मा ने पितृ भक्तों की राजधानी सिंहपुर से कलिंग के राजा की हैसियत से एक दान पत्र जारी किया। जिससे पता चलता है कि इन राजाओं ने मध्य कलिंग में पितृ भक्तों के केन्द्र पर विजय प्राप्त कर ली थी। शिला लेखों से इस वंश के निम्नलिखित राजाओं का उल्लेख मिलता है—शंकर वर्मा, शक्ति वर्मा, (आर्यंद) प्रभंजन वर्मा, अनन्त शक्ति वर्मा। अनन्त ने अपने-आपको परम माहेश्वर कहा है।

वासिष्ठ :—

वासिष्ठों का वासिष्ठी पुत्र और माठरी पुत्र नामधारी बहुत से राजवंशों से वैवाहिक सम्बन्ध था। एक शिलालेख में प्रभंजन को वसिष्ठ कुल चन्द्र कहा गया है।

पूर्वी गंग :—

ये गंग राजा सम्भवतः मैसूर के गंगवंश की एक शाखा से सम्बद्ध थे। इनकी राजधानी कलिंग नगर (गंजाम जिले का आधुनिक मुखलिगम्) थी। इस वंश का प्रतिष्ठापक इन्द्र वर्मा प्रथम था, जो अपने आपको 'त्रिकलिंगाधिपति' कहता था। यह शब्द शायद पूर्वी चालुक्यों की राजधानी वेंगी और दक्षिणी कोशल के दक्षिण में अवस्थित कलिंग नगर के मध्यवर्ती अटविक प्रदेश के लिए प्रयुक्त होता था। इन्द्रवर्मा ने ४९० ई० में अपना एक अलग संवत् चलाया। उसने ५३५ ई० तक राज्य किया। बाद के राजा इन्द्रवर्मा द्वितीय और इन्द्रवर्मा चतुर्थ थे। उन लोगों ने ६५० ई० तक राज्य किया। देवेन्द्र वर्मा नामक एक राजा ने अपने-आपको गुणार्णव का पुत्र बतलाया और स्वयं द्वारा जीते गये समस्त कलिंग का अपने को अधिपति घोषित किया। प्रारम्भिक गंग वंश की एक शाखा श्वेतक में राज्य करती थी। प्रारम्भिक गंगवंश के बाद का इतिहास चालुक्यों और चोलों द्वारा इसकी पराजय का इतिहास है।

१. वही, पृ० ५२१

१०३८ ई० में वज्रहस्त अनन्त वर्मा ने उत्तर कालीन पूर्वी गंगवंश की स्थापना की। उसने भी 'कलिंगाधिपति' उपाधि का पुनरुद्धार किया। अनन्त वर्मा के नेतृत्व में ये गंग इतने शक्तिशाली हो गये कि पश्चिमी चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ ने कुलोत्तुंग चोल के विरुद्ध उसकी सहायता माँगी, परन्तु कुलोत्तुंग ने उसे परास्त किया। किन्तु उसने शीघ्र ही उसने अपनी खोयी हुई शक्ति प्राप्त कर ली और १०९० ई० से पहले विजयापट्टम् जिले में अपने नवविजित राज्य को दृढ़ किया। १११८ ई० में उसने कलिंग के गृहयुद्ध से लाभ उठाकर समस्त कलिंग को अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद गंग राजाओं ने उत्कल और कलिंग दोनों राज्यों के अधिपतियों की दोनों उपाधियाँ ग्रहण कीं। उसने बंगाल पर आक्रमण किया और कलचुरी तथा परमार राजाओं से युद्ध किया। वह ११५० ई० तक जीवित रहा और पुरी में जगन्नाथ के प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण कराकर अमरख्याति प्राप्त की। गंगों ने सेन वंश के समय बंगाल पर आक्रमण किये। उसके पौत्र राज राज तृतीय ने बख्तियार के आक्रमणकारियों को पीछे ढकेल दिया। उसके पुत्र अनंग भीम तृतीय ने गयासुद्दीन खिलजी के आक्रमण को विफल कर दिया और कलचुरी तुम्माण को परास्त किया। लेकिन वह स्वयं कालतिय गणपति के हाथ पराजित हुआ। उसके पुत्र नरसिंह प्रथम ने लखनौती के मुसलमान शासक के विरुद्ध आक्रमण की नीति अपनायी और मुसलमानों के विरुद्ध कई युद्ध किये। कोणार्क के प्रसिद्ध सूर्य मन्दिर के निर्माता के रूप में वह भारतीय इतिहास में अमर है।

अनन्त वर्मा

चोर गंग :—

अनन्त वर्मा चोर गंग इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा था। उसका नाम चोर गंग इसलिए पड़ा कि वह राजगंग की चोर (चोल) पत्नी, राजेन्द्र चोर की कन्या राजसुन्दरी का पुत्र था। उसने ५० वर्ष से अधिक समय तक राज्य किया (१०७७–११४७ ई०)। वह विजयसेन का मित्र कहा जाता है। उसने गोदावरी तथा गंगा के बीच के प्रदेश से कर-ग्रहण किया। उसने पुरी का मन्दिर (विष्णु-मन्दिर) और नरसिंह ने कोणार्क का मन्दिर बनवाया। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से गंगों का शासन-काल बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा। पूर्वी गंगों का राज्य सोलहवीं शताब्दी तक रहा।

केशरी वंश

जिस समय गंगदेव की स्थापना हुई उसी समय ओड्र में केशरी वंश स्थापित हुआ। इसकी राजधानी भुवनेश्वर थीं। ये लोग भुवनेश्वर के केशरी कहलाते थे और इनका प्रतीक सिंह था। इस वंश पर असम और बंगाल के राजाओं के आक्रमण

होते रहे। इस वंश के राजाओं के सम्बन्ध में जानकारी कम है। धर्म और कला के क्षेत्र में इनकी विशेष देन है। ये लोग शैव धर्म के अनुयायी थे। इन्होंने भुवनेश्वर में बहुत से भव्य मन्दिर बनवाये, जो अपनी कारीगरी और सजावट के लिए प्रसिद्ध हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में इस वंश के राजा लिंगराज ने एक विशाल मन्दिर बनवाया, जो आज तक वर्त्तमान है और मूर्त्ति-अलंकरण के कारण संसार में अद्वितीय है। मन्दिर, मानव, पशु तथा वनस्पतियों के अंकन से अलंकृत है। इसके उच्च और नुकीले शिखर के द्वार भाग सीधे खड़े हैं, जो केवल चोटी पर पतले हो गये हैं और इसके ओसारे की कोणिय छत पूर्वकालीन मन्दिरों से अधिक ऊँची है, यद्यपि खम्भों का अभाव है। उड़ीसा की वास्तु कला की विशेषता यह है कि इसके मन्दिरों के तीन भाग होते हैं—विमान (ऊँचा शिखर), जगमोहन (दर्शकशाला), नटमण्डप (रंगमंच) और भोग-मण्डप।

दक्षिण कोशल

रायपुर, विलासपुर और सम्बलपुर जिलों के प्रदेश को दक्षिण कोशल कहते थे। कौशल्या (राम की माँ) इसी कोशल की रहने वाली थी। ह्वेनसांग के अनुसार नागार्जुन इसी कोशल के एक विहार में रहता था। कोशल के राजा महेन्द्र को समुद्रगुप्त ने परास्त किया था। ६०१ ई० के एक दानपत्र से वहाँ के राजा भीमसेन द्वितीय का पता चलता है। गुप्त साम्राज्य के पतन के वाद शूर नामक एक राजा ने नए राजवंश की स्थापना की। यह वंश मेकल, कोशल आदि का समकक्ष था। उसी समय परमपुत्रीय पाण्डु वंण का भी उल्लेख मिलता है।

शरभ पुत्रियों की राजधानी रायपुर जिले में सम्भलपुर अथवा श्रीपुर नामक नगरी मानी जाती है। राजा शरभ का सम्भवतः गोप राजा से सम्बन्ध था। शरभ शासक प्रसन्नमात्र, नाममात्र, दुर्गराज आदि को पाण्डु वंश के राजा तीवर ने निकाल बाहर किया। तीवर अपने को 'कोशलाधिपति' और 'परम वैष्णव' कहता है। वह विष्णु कुण्डिन्, माधव वर्मा और मोखरी सूर्य वर्मा का समकालीन था। उसका कोई पुरखा उदयन था। उसके उत्तराधिकारियों में एक हर्षगुप्त था, जिसने मौखरी ईशान् वर्मा के पुत्र राज्यपाल सूर्य वर्मा की पुत्री वासरा से विवाह किया था। उसके पुत्र वालार्जुन का राज्यकाल लम्बा रहा। उसने अपने ५७वें वर्ष में एक शिलालेख जारी किया। उसे पुलकेसिन् द्वितीय का आघात् सहना पड़ा। वालार्जुन के बाद नलों और बाद में सोमवंशियों ने इस वंश का अन्त किया।

पाण्डुवंशियों की एक शाखा मेकल (अमरकण्टक) में विद्यमान् थी। इस वंश में नागबल और भरतबल का उल्लेख मिलता है। इन लोगों की 'परमब्रह्मण्य', 'परममाहेश्वर', 'परमगुरु' और 'देवताधिदेव' उपाधि थी। शुरू में ये गुप्त सम्राटों

के अधीन थे, बाद में स्वतन्त्र हो गये। किन्तु ये वाकाटक राजा के अधीन हुए। पाँचवीं शताब्दी में नरेन्द्र सेन ने कोशल-मेकल और मालवा पर अपने प्रभुत्व की घोषणा की।

११. कामरूप (आसाम)

आसाम का प्राचीन नाम कामरूप था जिसकी राजधानी प्राग्-ज्योतिषपुर गौहाटी के आस पास थी। यहाँ भी हर्ष का समकालीन राजा भास्कर वर्मन् या कुमार राज था जो परम्परा के अनुसार उस वंश का था जिसकी स्थापना नरक ने बहुत प्राचीन काल में की थी और जिस वंश का राजा भगदत्त महाभारत युद्ध में कौरवों की तरफ से लड़ा था। भास्कर वर्मन् गौड़ राजा शशांक से आतंकित रहता था। इसलिए उसने कान्य-कुब्ज के सम्राट हर्ष का आधिपत्य और मैत्री स्वीकार की। चीनी यात्री ह्वेनसांग उसकी सभा में गया था। हर्ष-वर्धन के मरने पर उसके सिंहासन के अपहर्त्ता अरुणाश्व को परास्त करने में उसने चीनी राजदूत वांग-ह्वेन से भी सहायता ली थी। हर्ष वर्धन की मृत्यु के बाद उसने गौड़ (बंगाल) पर अधिकार कर लिया। नीधानपुर अभिलेखों के अनुसार वह सैकड़ों राजाओं का विजेता था तथा उसकी राजधानी कर्ण-सुवर्ण थी, जहाँ से उसने कई दान दिये थे। उसका शासन-काल सातवीं शताब्दी तक बना रहा।

भास्कर वर्मन् के बाद शाल स्तम्भ नामक एक व्यक्ति ने एक नया राजवंश स्थापित किया जो नवीं शताब्दी में समाप्त हो गया। आठवीं शताब्दी के मध्य में इस नये वंश के श्री हर्ष नामक राजा ने गौड़, ओड्र, कलिंग (दक्षिण) कोसल और दूसरे पड़ोस के राज्यों पर विजय प्राप्त किया।

नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक तीसरे राजवंश की स्थापना हुई। १०५० ई० के लगभग इस वंश के राजा ब्रह्मपाल का पुत्र रत्नपाल शक्तिमान् हुआ। उसका आतंक गुर्जर, गौड़, चालुक्य, वाहीक (पंजाब) और ताइफ (तुर्क) राजाओं पर छा गया। पड़ोसी बंगाल के पाल राजाओं से आसाम का संघर्ष चलता रहा। पाल राजा देवपाल (८१५-८५५ ई० में) आसाम पर आक्रमण किया। बारहवीं शताब्दी के मध्य में कुमार पाल ने फिर आसाम पर चढ़ाई की। उसने अपने मंत्री वैद्य देव को वहाँ का राजा बनाया और आसाम पर चढ़ाई की और आसाम ने कुमार पाल का आधिपत्य स्वीकार किया। इसके पश्चात् शतियों तक आसाम की शक्ति दृढ़ दिखाई पड़ती है। बंगाल के ऊपर तुर्कों का शासन स्थापित होने के बाद भी आसाम स्वतन्त्र बना रहा यद्यपि मुसलमानों ने कई बार उस पर आक्रमण किया। १२०५ ई० में मुहम्मद बिन-वख्तियार ने तिब्बत पर आक्रमण किया तो आसामियों ने उनपर पीछे से हमला कर दिया, जिससे उसकी प्रायः सारी सेना भगदड़ में नष्ट हो

गयी । तेरहवीं शताब्दी में १२२८ ई० के लगभग अहोम नामक शान-वंशी जाति का राज्य आसाम में स्थापित हुआ जो १८२५ ई० तक बना रहा । अहोम के ऊपर ही उस प्रान्त का नाम आसाम पड़ा ।

आसाम के धार्मिक इतिहास में एक बात की विशेषता है कि वहाँ पर ब्राह्मण या वैदिक धर्म का प्राधान्य रहा, इस काल में बौद्ध-धर्म न घुस सका, यद्यपि यह बंगाल तक आ चुका था । ह्वेन सांग ने एक भी विहार या संघाराम आसाम में नहीं देखा । यहाँ पर शैव अथवा शक्ति सम्प्रदाय का ज़ोर था और गौहाटी के पास कामाख्या का मन्दिर आज भी शक्ति धर्म का एक बड़ा तीर्थ है । शक्ति-धर्म के तान्त्रिक स्वरूप का यहाँ बहुत प्रचार हुआ, जिससे यहाँ की जनता के धार्मिक जीवन में तन्त्र, मन्त्र, जादू-टोना और गुह्य प्रथाओं का प्राबल्य था । आसाम में आने वाली सभी किरात या मंगोल जातियों ने भारतीय धर्म और संस्कृति अपनाया । उनके ऊपर पहले शक्ति और पीछे वैष्णव-धर्म का विशेश प्रभाव पड़ा ।



अध्याय ५

दक्षिण भारत सातवाहनों के बाद

राजनीतिक अवस्था

दक्षिण भारत में आन्ध्र या सातवाहन राज्य की स्थापना से कुछ समय के लिए काफी दूर तक राजनीतिक एकता स्थापित हो गयी। पर ईसा की तीसरी शताब्दी में इस साम्राज्य के भंग होने पर इसकी राजनीतिक एकता भी भंग हो गयी तथा इससे दक्षिण की एकता का लोप हो गया और दक्षिण भारत अनेक राज्यों में बँट गया। दक्षिण के विभिन्न भागों में कई राज्य उठ खड़े हुए जिन्हें मध्य, पश्चिमी और पूर्वी भागों में बाँटा जा सकता है। तृतीय शताब्दी ईस्वी के मध्य ईश्वर सेन नामक आभीर सरदार ने उत्तर महाराष्ट्र सातवाहनों से छीन लिया, दक्षिण में लुतुओं और आन्ध्रप्रदेश में इक्ष्वाकुओं का राज हो गया। मध्यप्रदेश में सातवाहनों के वंशज शासक रहे। वाकाटक और गुप्त वंश के पतन के बाद दक्षिण में पुनः विकेन्द्रीकरण की प्रवृति सशक्त हो गयी और अनेक राजवंशों की स्थापना हो गयी। दक्षिण-पूर्व में पल्लवों का उदय हुआ। मध्य में वाकाटक और नलों का राज्य था। पश्चिम में भोज, त्रैकुटक, कलचुरी और राष्ट्रकूटों का राज्य था। पूर्व में आन्ध्र, कलिंग एवं दक्षिण में कोशल और मेकल नामक राज्य थे। आन्ध्र में आनन्द, सालंकायत और विष्णुकुण्डी थे। कलिंग में जैसा कि पिछले पृष्ठों में उल्लेख है, पितृभक्त, माठर, वाशिष्ठ और पूर्वी गंग थे। कलिंग में पूर्वी गंग की स्थापना यों आठवीं शताब्दी में हुयी लेकिन इसका वास्तविक इतिहास ग्यारहवीं शताब्दी से प्रारंभ हुआ। वग्रहस्त पंचम (१०३८–६८) ने राजेन्द्र चोल की अधीनता से इसे मुक्त किया और स्वतंत्र रूप से शासन करना प्रारंभ किया। उसका पुत्र राजाराम ने चोल कुलोतुंग की बेटी से विवाह किया। उसका पुत्र अनन्तवर्मन चोड़गंग हुआ जो बड़ा ही शक्तिशाली शासक था। उसने ७० वर्षों तक राज्य किया और गोदावरी से लेकर गंगा तक के भूभाग पर अधिकार कर लिया तथा सेन, कलचुरी और चोलों से लड़ाई किया। वह संस्कृत तथा तेलुगु भाषाओं का समर्थक था। जैसा कि हम जानते हैं उसने जगन्नाथ मन्दिर का निर्माण कराया। इसी समय सतानन्द ने ज्योतिषभास्वति नामक ग्रन्थ की रचना की। कोणार्क का सूर्यमंदिर भी इसी वंश के समय बना। दक्षिण कोशल और मेकल में शरमपुरीय और पाण्डुवंशीय राज्य करते थे। वातापी के चालुक्यों ने भी काफी महत्त्व प्राप्त किया था। उन्होंने दक्षिण के बहुत बड़े भाग पर दो शताब्दियों तक शासन किया। उन्होंने अपनी सार्वभौम सत्ता के अधीन एकता स्थापित की।

राष्ट्रकूटों ने उन्हें हरा दिया पर उनकी शाखाएँ पिष्टपुर के पूर्वी चालुक्यों, वेभलवाड़ के चालुक्यों और बाद में कल्याण के पश्चिम चालुक्यों के रूप में राज्य करती रहीं जिन्होंने दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रकूटों को परास्त किया।

संगमयुग और तमिल संस्कृति का सर्वेक्षण

तमिल देश के इतिहास में संगम साहित्य सबसे प्राचीन उपलब्ध अंश है तथा तीसरी-चौथी शती के तमिल सांस्कृतिक अध्ययन के दृष्टिकोण से बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। संगम साहित्य विभिन्न आठ संग्रह ग्रन्थों में मिलता है जिसमें लगभग २२७९ कविताएं संग्रहीत हैं।[1] सम्पूर्ण संग्रह में १०२ अज्ञातनामा लेखों के अतिरिक्त ४७३ कवियों की कविताएँ हैं जिनकी संख्या ऊपर दी गयी है। इसमें लगभग १५० वर्षों की घटनाओं का उल्लेख मिलता है।

संगम साहित्य में सात सामन्तों का विस्तृत विवरण हमें मिलता है। संगम साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि तमिल भाषा प्रौढ़ावस्था को पार कर चुकी थी तथा संस्कृत के साथ इसका काफी सामंजस्य हो चुका था। वहाँ की सामाजिक अवस्था विशेष रूप से चर्चित है।

तमिल व्याकरण पर 'तौलकाप्पियम' नामक विस्तृत ग्रन्थ की रचना भी इसी काल में हुयी। संगम साहित्य में वर्णित अवस्था का साम्य हमें स्ट्रैबो, पेरिप्लस आँव द एरिथ्रियन सी, प्लिनी, टॉलेमी आदि की रचनाओं में मिलता है। तमिलों का व्यापारिक सम्बन्ध प्राचीन काल से यूनानियों तथा रोमनों के साथ था। इसका उल्लेख इनके काव्यों में हमें देखने को मिलता है। पुरातत्व से भी साहित्यिक प्रमाण की पुष्टि होती है। सारे दक्षिण भारत में पहली दो सदियों के रोमन सम्राटों के सोने और चाँदी के जो सिक्के मिले हैं, तथा हाल की खुदाई में पहली सदी में पाण्डिचेरी के आस-पास एक रोमन-कारखाना होने का जो प्रमाण मिलता है, उससे संगम युग के लिए निर्धारित काल की सचाई की बहुत हद तक पुष्टि होती है।

इस साहित्य में उदियंनीरल, नेदुंजीरल, आदन, शेनगुट्टु, आन्दिरन आदि का वर्णन मिलता है। इसमें मालावार-तट पर सामुद्रिक लड़ाई का विवरण भी मिलता है। सामन्तों की संख्या उस समय अधिक थी। ऐसे बहुत सारे सामन्तों में 'अत' नामक एक प्रसिद्ध सामन्त था जिसका वर्णन टॉलेमी ने 'एइओई' के रूप में किया है जिसका राज्य कन्याकुमारी अन्तरीप तथा बेटिगो पहाड़ तक फैला था। इन सामन्तों में पारी नामक एक बेल सामन्त था जो बड़ा ही

१. नट्रिणै, कुरदोंगे, ऐंगुरुनम पदिट्रुपत्तु, परिपाडल, कलितोगै, अहनानुरु और पुरनानुरु—इनके अतिरिक्त एक नवाँ भी है जिसका नाम पत्तपाद् है।

परोपकारी था। उसका प्रदेश पाण्ड्य देश में कोंडुगुनरम या पीरनभलाई पहाड़ी के आसपास पड़ता था। उसकी उदारता की ख्याति की प्रतिध्वनि हमें बाद वाले काल में एक शैव सन्त सुन्दरमूर्ति के शोकगीत में मिलती है—"दान देने के लिए कोई तैयार नहीं है, यद्यपि गीतों में एक कंजूस संरक्षक को भी ऊँचा उछालकर पारी के समकक्ष बना दिया जाता है।"[1]

चोल राजाओं में करिकाल का वर्णन आया है। चोलों के प्राचीन सामुद्रिक व्यवसाय पर भी इससे प्रकाश पड़ता है। करिकाल बड़ा ही शक्तिशाली शासक था। उसने समस्त क्षेत्र में अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। उसके समय में उद्योग तथा वाणिज्य की स्थिति काफी अच्छी हो गयी थी। उसके समकालीन शासक उसकी अधीनता स्वीकार करते थे और कावेरी की बाढ़ रोकने के लिए उसने तटबन्ध का निर्माण करवाया।

पाण्ड्य राजा तेडुनज्जेलियन प्रायः २१० ई० के आस-पास शासन कर रहा था। उसने भी अपने विरोधियों को दबाकर अपने को शक्तिशाली बनाया। चेर-चोल पाण्ड्यों के बीच बराबर संघर्ष चलता ही रहता था। चोल राजा शेनगणीन ने चेर राजा इरूम-पोड़ाई को पराजित किया।

संगम साहित्य आर्य और तमिल संस्कृतियों के सम्मिश्रण का प्रमाण है। महाभारत और रामायण की कहानियाँ तमिल कवियों को भलीभाँति ज्ञात थीं और उसमें से कुछ उपकथाओं की अक्सर चर्चा की गयी है। हिन्दू देवी-देवताओं और संस्कृत से ये लोग परिचित हो चुके थे। संस्कृत साहित्य के विचार ज्यों के त्यों संगम युग के साहित्य में ले लिये गये थे। आर्यसंगत धार्मिक संस्कार के अनुसार तमिल देश में विवाह पद्धति प्रारंभ हो चुकी थी। सांस्कृतिक सम्मिश्रण के कारण तमिल मुहावरों में उर्वरता आयी और साहित्य की श्री वृद्धि के साथ-साथ लोक साहित्य का भी विकास हुआ।

संगम युग में अन्न, मांस, मछली, गोलमिर्च, कटहल, हल्दी आदि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। भूमि उपजाऊ थी क्योंकि कावेरी से सिंचाई की व्यवस्था थी। संगम युग की कविताओं में गाँव के विविध कार्य-कलाप का स्पष्ट एवं यथार्थवादी रीति से वर्णन है, जैसे रागी और गन्ने की बोआई, गन्ने से चीनी का निर्माण तथा अन्न की फसलें काटना और सुखाना। लोग अधिकांशतः अपने-अपने धन्धों के वर्गों में संघटित थे और ये वर्ग अलग-अलग रहा करते थे, पर वे जिस गाँव या शहर में रहते थे वहाँ एक दूसरे के साथ काफी निकटता रखते थे। डकैती

१. शास्त्री, के० ए० एन०, दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९७२, पृ० १२०.

का भी उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण मांस खाते थे और ताड़ी पीते थे जिसके लिए उनकी निन्दा न होती थी। पुडाना नूड़ु की एक कविता में इस बात की पुष्टि की गयी है कि केवल चार जातियाँ (कुड़ि) हैं, अर्थात् तुड़ियन, पाणन, पड़ैयन और कड़म्बन और केवल एक देवता पूजनीय है जिसके आगे धान के दाने छिड़क कर पूजा की जाय। यह देवता और कोई नहीं, वीर की पाषाण प्रतिमा थी जो युद्ध में एक वीर योद्धा के मारे जाने पर याद के रूप में मनायी जाती थी। वीरों की पाषाण प्रतिमाएँ बनाने और उनके समक्ष नियमित पूजा करने का यह अभ्यास पूरे संगम युग और उसके बाद भी कई शताब्दियों तक जारी रहा। समुद्रतट पर बन्दरगाह होते थे जहाँ से विदेशी व्यापार चलता था। बन्दरगाहों पर विदेशियों की संख्या काफी थी। यद्यपि वे तमिल नहीं बोल सकते थे पर उन्हें मदुरा में महल के दरवानों के रूप में और सड़कों पर पुलिस-कार्य के लिए नियुक्त किया जाता था। यवन भारत में जो व्यापारिक सामान लाते थे उनमें प्रमुख थे, विचित्र तरह से बने दीपक और बोतलों में बन्द शराबें।

शासन में राजा वंशानुगत होता था। राजा सभी अर्थों में निरंकुश हुआ करता था। विद्वानों की उक्तियों और किसी मंत्री, कवि और राजा के किसी मित्र द्वारा समय-समय पर होने वाले हस्तक्षेप से उसकी निरंकुशता में कमी हो पाती थी। राजा पिता के समान अपनी प्रजा की देख-रेख करता था। राजा से धर्म, कलाओं और साहित्य की संरक्षकता में उदार बनने को भी कहा जाता था। साथ ही उससे अपनी प्रजा की देखरेख करने और विभिन्न वर्गों के बीच तटस्थ रहने के लिए भी अनुरोध किया जाता था। वह प्रतिदिन दरबार करता था और वहीं न्याय प्रदान करता था। ब्राह्मणों को राज्य में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका सौंपी गयी थी, ब्राह्मण उन लोगों में अग्रणी थे जिनकी सलाह पर राजा अपने दैनिक कार्य-कलाप में निर्भर किया करते थे, राजा के लिए सबसे ज्यादा प्रशंसा की बात यह समझी जाती थी कि उसने ऐसा कुछ नहीं किया जिससे ब्राह्मणों को दुःख पहुँचा हो। व्यवस्थित समाज का मुख्य आधार कृषि थी जिसके सहारे लड़ाई भी चलती थी और एक अच्छा राजा वह माना जाता था जो कृषि के लिए मौसमों का क्रम नियन्त्रण कर सकता था। विजयी राजा का आदर्श स्वीकृत किया जाता था और उसी पर सब लोग चलते थे। राजा की सभा सबसे बड़ा न्यायालय थी। सभा का उपयोग राजा सलाह लेने के लिए भी करता था।

उत्तर संगमकालीन साहित्य कुड़ाल में कहा गया है कि सभा सभी मामलों का निवटारा करती थी। भूमि एवं व्यापार राज्य के राजस्व के प्रमुख साधन थे। भूमि के नाप के रूप में 'मा' और वैलि प्रचलित थे पर यह बात कहीं भी ठीक-ठीक नहीं बतलाई गयी है कि खेती की उपज में राजा का कितना हिस्सा होता

था। सेना में रथ, हाथी, घोड़ा और पैदल सिपाही होते थे। तलवार, धनुष, तीर, व्याघ्रचर्म के कवच, वर्दी, ढाल और भाला का व्यवहार होता था। महत्त्वपूर्ण स्थानों में दुर्ग अथवा मीनारें रहती थीं। योद्धाओं की पाषाणमूर्त्तियाँ स्मारक स्वरूप बनती थीं। राजा स्वयं भी युद्ध में जाते थे। समाज नेता के साथ ही साथ राजा युद्ध नेता भी होता था तथा अपनी सफलताओं में सामान्य सैनिक के साथ-खुशियाँ मनाता था, दूसरी ओर अगर लड़ाई के बीच राजा मार डाला जाता था या घायल हो जाता था तो पराजय स्वीकार कर ली जाती थी।

विधवाओं का जीवन बड़ा ही दयनीय था। अतः वे सती होना पसन्द करती थीं। जब किसी स्त्री का पति मर जाता था तो वह हरी चीजें आदि खाना और ठंढे पानी में नहाना बन्द कर देती थी। उसे अपना बाल कटवा लेना पड़ता था तथा आभूषणों का त्याग करना पड़ता था। वह बहुत सादा भोजन करती थी। विधवाओं का सिर मुण्डन संस्कार विवाह के अवसर पर ताली-बन्धन की तरह, स्पष्टतः आर्यों से पूर्व की एक तमिल प्रथा थी जिसे ज्यों का त्यों अपना रखा गया था और जो बाद के समय में भी लागू रही।

गान और नृत्यों की कला पूर्ण विकसित थी। गायकों और नर्तकियों का घुमक्कड़ दल भी था। कविता पुरुष और महिलायें दोनों ही करते थे और वे लोग समाज के सभी वर्गों से आते थे। संगीत के हर सुर के लिए उचित समय और स्थान की परम्परायें बनी हुयी थीं। मनोरंजन के रूप में शिकार, कुश्ती और मुक्केबाजी का उल्लेख मिलता है।

मकान और किले शास्त्रविहित नियमों के अनुसार बनते थे। धनवान लोग अच्छे मकान में रहते थे। महल में शयनागार की साज-सज्जा, हाथी दाँत के पलंग और उत्तम प्रकार के गद्दों का वर्णन मिलता है। निर्धनों की स्थिति अच्छी नहीं थी। फलित ज्योतिष पर लोगों का विश्वास था। भाग्य बतलाने वालों का व्यवसाय खूब चलता था। अनिष्ट रोकने के लिए बच्चों को ताबीज पहनाई जाती थी और तरह-तरह का पूजा-पाठ भी होता था। बरगद का पेड़ पवित्र समझा जाता था। कौआ बोलने से किसी के आगमन की सूचना समझी जाती थी। दरिद्रनारायण को सामूहिक भोजन कराने की प्रथा थी।

मृत संस्कार की भी कई विधियाँ थीं। राजा यज्ञ पर काफी खर्च करते थे। वेद और वेदविरोधी लोगों में अकसर विवाद होता था। हिन्दूधर्म की प्रधानता हो चुकी थी। शिव, बलराम, विष्णु, कृष्ण और अर्द्धनारीश्वर की पूजा होती थी। तुलसी के पौधे का विशेष धार्मिक महत्त्व था। मंदिरों में लोग उपवास रखते थे। 'मणिमेखला' में सरस्वती के मंदिर का उल्लेख है और साथ ही शैव संन्यासियों-

कापालिकों का भी। कर्म और भाग्य दोनों को महत्त्व दिया जाता था। जैन और बौद्ध भी उस समय तक उधर प्रसिद्ध हो चुके थे।

संगम युग के बाद दक्षिण का इतिहास अंधकारमय हो जाता है। हम इस संगम युग के बाद की तीन शताब्दी से अधिक की अवधि के विषय में कुछ भी नहीं जानते। जब छठी शताब्दी के अन्त में पर्दा पुनः उठता है तो हम सभ्यता के एक रहस्यपूर्ण एवं व्यापक शत्रु को पाते हैं जो दुष्ट शासक था और उसका नाम कलभ्र था। उसने सुस्थापित राजनीतिक व्यवस्था उलट दी जिससे फिर से उस समय स्थापित किया जा सका जब पांड्य और पल्लवों और बादामी के चालुक्यों ने कलभ्रों को पराजित किया। कलभ्रों के विषय में हमें अधिक जानकारी नहीं है। तमिल में बाद की साहित्यिक कथाओं में दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि उसने तीन तमिल राजाओं चेर, चोल और पांड्य को बन्दी बना रखा था। कलभ्रों के कारण प्रचलित व्यवस्था के उखड़ जाने का प्रभाव चेर देश पर भी अवश्य पड़ा होगा यद्यपि इस अवधि में इस देश के सम्बन्ध में प्रमाण कम ही हैं केवल केरलोत्पत्ति और केरल माहात्म्य नाम के बाद के उपाख्यान भर हैं जिनको इस सम्बन्ध में साक्ष्यरूप माना जा सकता है। इनके अनुसार देश के राजा पड़ोसी देशों से मँगाये जाते थे और वे पेरुमाल की उपाधि ग्रहण करते थे।

इतिहास के इस अंधकारपूर्ण काल में बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनों ही बढ़े और तमिल में साहित्यिक गतिविधियाँ भी पर्याप्त रूप में हुयीं। प्रो० एम० एन० वेंकट रमनप्पा के अनुसार[1]—

"Regarding literature and learning no further proof is required than the existing literature which professes the magnanimity of the royal partners of the great poets of the age. The celebrated poet, Paranar was the contemporary of Senguttuan (the Righteous Kuttuva). Karikala Chola has been the hero of the poem Pattinapalai, on the Chola capital Kaveripattinam, in the Pattupattu. Nedunjelien pandyan, the hero of the battle of Talaiyalanganam patronised the celebrated poets Mangudi Marudan (Mangudi killer) and Nakkirar. The fine art like dance and music were also popular and they flourishd in the Tamil country. Many devotional songs came to be sung in praise of Gods"

---

१. Outlines of South Indian History, Delhi, 1975–p. 35.

दक्षिण भारत की प्राचीन संस्कृति

विन्ध्याचल के दक्षिण के भाग को दक्षिण भारत कहा जाता है। त्रिभुजाकार होने के साथ-साथ इसके पूरब और पश्चिम में समुद्र है। कृष्णा नदी के उत्तर के प्रदेश के पश्चिमी भाग को महाराष्ट्र और पूर्वी भाग को आन्ध्र कहते हैं तथा कृष्णा के दक्षिण प्रदेशों का पश्चिमी भाग कर्णाटक और पूर्वी भाग तमिलनाडु कहलाता है। सुदूर दक्षिण के पश्चिमी समुद्र तट पर केरल बसा है। दक्षिण भारत के पूरब और पश्चिम में समुद्र है, उत्तर में विन्ध्याचल और दक्षिण में लंका। मौर्य तथा गुप्त शासन के समय दक्षिण पर उत्तर का प्रभाव बढ़ा था तथा सातवाहन काल में दक्षिण का उत्तर पर। चोल, पाण्डय और केरल बहुत दिनों तक भारतीय इतिहास से पृथक् रहे। जैसा कि हम जानते हैं प्राचीन काल में इस क्षेत्र में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे। राजनीतिक दृष्टिकोण से दक्षिण भारत को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—कृष्णा नदी से उत्तर-दक्षिणापथ, और कृष्णा नदी से दक्षिण-सुदूर दक्षिण। दक्षिणापथ में चालुक्यों और राष्ट्रकूटों की प्रधानता रही और सुदूर दक्षिण में पल्लव, चोल, पाण्डय, केरल इत्यादि की। दक्षिण भारत ने भारतीय संस्कृति की प्रगति में पूर्ण योगदान किया है। भारतीय भाषाओं में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम मूलतः द्रविड़ भाषाएँ हैं। द्रविड़ों में तमिल की प्रधानता है तथा उन्हीं के तत्वावधान में प्राचीन दक्षिण भारतीय संस्कृति का विकास हुआ।

दक्षिण भारतीय संस्कृति का श्रेष्ठ एवं तमिल साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ कुरल है। इसके अतिरिक्त संगम साहित्य के पत्यपातु, एत्तुथोकई एवं पडिनेत्किलक नक्कु भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इस साहित्य के विकास के साथ-साथ आर्यों का दक्षिण के साथ सम्पर्क स्थापित हो चुका था। कृषि पूर्णरूपेण विकसित अवस्था में थी कृषक समाज में अधिक संख्या में थे। श्रमजीवी इनके नीचे आते थे। श्रमजीवी को 'कुडीस' कहा जाता था ये चार वर्णों में बँटे थे—पागान, तुड़ियन, परयन और कदम्बन। ब्राह्मण संस्कृति के प्रसार के बाद वहाँ सामाजिक विभाजन भी वर्णाश्रम पर आधारित हुआ।

प्रोफेसर राधाकृष्ण चौधरी ने आर्यों के प्रसार की परम्परागत कहानी इस प्रकार दी है—

"महर्षि अगस्त्य के द्वारा दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति का प्रसार हुआ। शिव के आदेशानुसार अगस्त्य अपनी पत्नी लोपामुद्रा के साथ दक्षिण भारत में गये और टिनेवेली के उद्गम स्थान को अपने निवास के लिए चुना। कहा जाता है कि उन्होंने १२००० सूत्रों में तमिल व्याकरण तैयार किया। रामायण की कथा तो प्रसिद्ध है ही। अशोक के समय आचार्य उपगुप्त ने अनेक बौद्धों को इस क्षेत्र में

प्रचार-प्रसार के लिए भेजा था और उसके पहले ही चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में जैन लोग दक्षिण भारत में आ चुके थे। जैनों और बौद्धों के बहुत पूर्व भी ब्राह्मण लोग दक्षिण पर अपना प्रभाव बढ़ा चुके थे।[1]"

दक्षिण में ब्राह्मी लिपि और संस्कृत भाषा का प्रचार हो चुका था तथा सातवाहन शासक भाषा और साहित्य के प्रेमी थे। सातवाहन के बाद इक्ष्वाकु वंश की प्रधानता हुयी। सुदूर दक्षिण के राज्य भी आर्यसंस्कृति से प्रभावित हुए। पल्लवों पर आर्यों का प्रभाव स्पष्टरूप से दिखलाई पड़ता है। इन लोगों ने अग्निष्टोम, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया। कांची आर्य-सभ्यता और संस्कृति का प्रधान केन्द्र था। पल्लवों के शिलालेख भी संस्कृत भाषा में हैं। कांची विद्या का भी प्रधान केन्द्र था। तमिल मूल की भाषाओं पर भी संस्कृत प्रभाव देखा जा सकता है। कला और संस्कृति पर भी आर्यों का प्रभाव पड़ा जहाँ एक ओर उत्तर ने दक्षिण को प्रभावित किया वहाँ दूसरी ओर दक्षिण ने भी भारतीय संस्कृति के विकास में पूरा योगदान दिया।

१. **नलवंश :**—शिलालेखों के अनुसार दो नल-राजाओं का वर्णन है—महाराज भवदत्तवर्मा (नल नृपवंश प्रसूत) और स्कन्द वर्मा। उसने शत्रु द्वारा ध्वस्त पुष्करी नामक राजधानी को पुनः आबाद किया।[2] इस शत्रु से चालुक्य राजा कीर्त्तिवर्मा का भान होता है: नल-राजाओं ने स्वर्ण मुद्राएँ जारी कीं। उनके लेखों और सिक्कों में ज्ञात होता है कि यह राज्य बस्तर-जेपुर-प्रदेश में था। चालुक्य शिलालेखों के अनुसार नल वेलारी और कर्नूल जिले तक था। वहाँ नल वाड़ी नामक बस्ती का पता चलता है।

२. **भोजवंश :**—भोजों अथवा भोजकों का राज्य बरार में था। अशोक और खारवेल के शिलालेखों में भोजों का उल्लेख है। कोंकण तथा गोआ में भी भोज जा बसे थे। भोजों की राजधानी चन्द्रपुरी या चन्दोर थी। गोआ से प्राप्त अभिलेखों में कुछ भोज राजाओं का नाम इस प्रकार है—देवराज, चन्द्रवर्मा, कापालिवर्मा और अशंकित। चन्द्रवर्मा ने गोआ में महाविहार की स्थापना की और उसके लिए भूमि का अनुदान दिया।

३. **त्रैकुटक :**—उत्तरी कोंकण के निकट रहने के कारण ये लोग त्रैकुटक कहलाते थे। इनके अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि कान्हेरी से सूरत तक इनका राज्य था। इनके सिक्के गुजरात, कोंकण और मराठा प्रदेश से मिले हैं। पश्चिमी क्षत्रप-मुद्रा के आधार पर इनकी मुद्राएँ बनीं हुई थीं। त्रैकुटक पहले आभीरों के

---

१. वही, पृ० ५६६

२. कोरापुट अभिलेख में इसका वर्णन है।

अधीन थे : परन्तु बाद में उन्हें हटाकर वे स्वयं राजा बन गये थे। चौथी शताब्दी में उन्होंने अपने शत्रु कदम्ब शासक मयूर शर्मा से युद्ध किया। दहर सेन ने अश्वमेधयज्ञ किया था। उसके पुत्र व्याघ्रसेन को अपरान्त का राजा कहा जाता है। उसने कृष्ण गिरि (४९३ ई०) में एक महाविहार बनवाया। कलचुरी और गुर्जरों के आक्रमण के फलस्वरूप त्रैकुटक राज्य का अन्त हो गया।

४. कलचुरि :—छठी शताब्दी में कलचुरि उत्तरी महाराष्ट्र, गुजरात और मालवा के भागों में राज्य करते थे। उन्होंने माहिष्मती के राजा सुबन्धु (५०९ ई०) मुलुण्ड (४२९ ई०) और रुद्रदास (४३९ ई०) को हराया। दक्षिण से वातापी के चालुक्य और भड़ौच के गुर्जरों का जोर पड़ने से मालवा की ओर बढ़े और मैत्रकों के दबाव के फलस्वरूप जबलपुर प्रदेश में बस गये। वहाँ उन्होंने नवीं शताब्दी में अपनी शक्ति का विस्तार किया। उनमें कृष्ण राज, उसका पुत्र शंकर गण और उसका पुत्र बुध राज महान् शासक हुए। वे शैव धर्म को मानने वाले थे। कृष्ण राज ने कृष्ण राज-रूपक चाँदी का सिक्का चलाया, जिस पर उसे 'परम माहेश्वर' कहा गया है और शिवनन्दी की आकृति अंकित है। शंकर गण बड़ा ही शक्तिशाली राजा था। उसने नासिक, मालवा, गुजरात और काठियावाड़ के भागों पर राज्य किया। उज्जैन से प्राप्त उसके लेख में भूमिदान की चर्चा है। बुद्ध राज ने विदिशा से दान पत्र जारी किया (५९५–६०९ ई०)। उसने भरुकच्छ से एक और दान पत्र जारी किया। चालुक्य राजा मंगलेश के साथ उसका युद्ध हुआ। शंकर गण के मंकरी (बड़ौदा) शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि महाराज नन्न (कलचुरी कुल वेशम प्रदीप) उसका सामन्त था। उसकी पत्नी का नाम दद्दा था और पुत्र तरल स्वामी था। कलचुरि को हैहय भी कहते हैं। चालुक्यविन्यादित्य (६८१–९६ ई०) ने इन्हें हराया। उसके पौत्र विक्रमादित्य द्वितीय ने (७३३–४६) हैहय राजकुमारी से विवाह किया था।

५. वातापीपुर का चालुक्य वंश

हमने देखा है कि आन्ध्र साम्राज्य के पतन के बाद दक्षिण भारत की राजनीतिक एकता भंग होकर वह कई छोटे-छोटे राज्यों के रूप में बंट गया। वाकाटकों ने मध्य-भारत एवं दक्षिणी भारत के अधिकांश क्षेत्रों पर अपना कब्जा जमाकर दक्षिण में एक प्रकार की एकता स्थापित की। गुप्त साम्राज्य और वाकाटकों के बाद दक्षिण भारत फिर कई भागों में बँट गया। छठी शताब्दी से लगभग ३०० वर्षों तक दक्षिण भारत का इतिहास मुख्यतः तीन बड़ी शक्तियों के संघर्ष का इतिहास है—

(क) वातापी के चालुक्य,

(ख) काँची के पल्लव और

(ग) मदुरा के पाण्डय।

आठवीं शताब्दी में चालुक्यों का स्थान राष्ट्रकूटों ने ले लिया। वातापी के राजवंश के अतिरिक्त चालुक्यों की और शाखाएँ थीं—लाटक चालुक्य और बंगाल के पूर्वी चालुक्य। ये लोग मुख्य शाखा से स्वतन्त्र थे। मैसूर के गंग राजाओं के साथ पूर्वी चालुक्यों ने भी तीन राजाओं के संघर्ष में भाग लिया था।

उत्पत्ति :—वातापी के चालुक्यों (पश्चिमी चालुक्य वंश) की उत्पत्ति के विषय में कई एक अनुश्रुतियाँ हैं। इनके अनुसार उनके पूर्व पुरुष का जन्म हारीति द्वारा अर्घदान के समय उनके जलपात्र से हुआ। 'विक्रमांक देव चरित' के लेखक विल्हण के अनुसार पृथ्वी के अधर्म को नष्ट करने के लिए इन्द्र की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने अपने चुलुक (चुल्लू) के जल से एक वीर पैदा किया जो बाद में इस वंश का संस्थापक हुआ। श्री विन्सेण्ट स्मिथ चालुक्य को गुर्जर जाति का मानते हैं जो सोण्डियाना से आये हुए विदेशी थे और राजस्थान से दक्षिण गये।[1] पर रामबली पाण्डेय इसे पूर्णतः निराधार और अप्रामाणिक मानते हैं।[2] षष्ठ विक्रमादित्य के समय हुण्डरि के लेख के अनुसार चालुक्य की उत्पत्ति हारीति पंचाशिखि नामक ऋषि के कमण्डलु से हुयी। कुछ लोग इसे अयोध्या का वंश मानते हैं जो किसी कारणवंश दक्षिण चला गया था। कुछ लोग इसे कन्नड़ी क्षत्रिय मानते हैं। पर वे लोग अपने लेखों में स्पष्टतः अपने को मानव्य-सगोत्र और हारीतिपुत्र कहते हैं तथा अपनी उत्पत्ति 'चन्द्र' से बताते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वे उत्तर के चन्द्र-वंशी क्षत्रिय थे। ह्वेनसांग के अनुसार पुलकेशिन क्षत्रिय था। इन सबों के देखने से यह मालूम होता है कि चालुक्यों के पूर्वज उत्तर-भारत के किसी क्षत्रिय-वंश में उत्पन्न हुए थे, जो पहले राजस्थान गये और फिर गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद वे राजस्थान से कर्णाटक पहुँचे और पाँचवीं शताब्दी में उन्होंने एक राजवंश की स्थापना की। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद जिन क्षत्रिय राज्यों का गठन हुआ, उनमें चालुक्यों की भी गणना की जाती है।

प्रारम्भिक इतिहास :—चालुक्य वंश का प्रथम नरेश जय सिंह था जिसने राष्ट्रकूटों और कदम्बों से युद्ध करके एक छोटा सा राज्य बनाया। उसने कई राजाओं को हराया और दक्षिण में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। जय सिंह का पुत्र और उत्तराधिकारी रणराग था जिसके समय में चालुक्यों की शक्ति का विशेष विकास न हो सका। किन्तु उसके प्रिय पुत्र पुलकेशिन प्रथम को चालुक्य वंश का वास्तविक संस्थापक कहा जाता है। वह अपने वंश का सबसे पहला स्वतन्त्र शासक (महाराज) था। पुलकेशिन प्रथम ने 'सत्याश्रय' और 'रणविक्रम'

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ४४०
२. प्राचीन भारत, पृ० ३८२.

की उपाधियाँ धारण की थी और उसे श्री 'पृथ्वीवल्लभ' नामक विरद से भी अनुराग था। चालुक्य वल्लभेश्वर के बदापी अभिलेख से ज्ञात होता है कि पुलकेशिन प्रथम ने अश्वमेध तथा अन्य श्रौत यज्ञों का अनुष्ठान किया था। उसके पुत्र मंगलेश के समय के लेख केवल उसे हिरण्य गर्भ और अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान कर्त्ता ही नहीं बतलाते अपितु उसे "अग्निष्ठान" "अग्नि-चयन" 'वाजपेय'; बहु सुर्वण और 'पौण्डरिक' यज्ञों के अनुष्ठान का भी श्रेय प्रदान किया गया है। कहीं-कहीं पर उसकी तुलना पौराणिक नरेशों ययाति और दिलीप से की गई है और उसके लिए यह भी कहा गया है कि उसने मानव धर्मशास्त्र, पुराणों, रामायण, महाभारत तथा अन्य इतिहासों का अध्ययन किया था। किन्तु उसने किसी विशिष्ट विजय द्वारा इस अनुष्ठान की चरितार्थता नहीं प्रमाणित की। उसका राज्य सम्भवतः आधुनिक बीजापुर जिले तक सीमित था और वातापी उसकी राजधानी थी।

कीर्त्तिवर्मन :—पुलकेशिन प्रथम ने अपने पड़ोसियों के ऊपर जो सफलता प्राप्त की थी उसमें उसे अपने पुत्र कीर्त्तिवर्मन से महत्त्वपूर्ण सहायता मिली थी। कीर्त्तिवर्मन के समय में वातापी के चालुक्यों की शक्ति का पर्याप्त विकास हुआ। मंगलेश के महाकूट स्तम्भ अभिलेख के अनुसार कीर्त्तिवर्मन ने वंग, अंग, कलिंग, वत्तुर, मगध, मद्रक, केरल, गंग मूष्क, पाण्डय द्रमिल, चोलिय, आलुक और वैजयन्ती के राजाओं को हराया। किन्तु यह निश्चित है कि इस अभिलेख की शैली नितान्त अतिशयोक्ति पूर्ण है; अतः इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। कीर्त्तिवर्मन के पुत्र को ऐहोल अभिलेख में (कीर्त्तिवर्मन को) नलों, मौर्यों और कदम्बों के लिए विनाश की निशा कहा गया है और यह भी वर्णित है कि उसने कदम्ब नरेशों के एक संघ को विध्वस्त किया था। कीर्त्तिवर्मन ने कोंकण के मौर्यों और बनवासी के कदम्बों को परास्त करके अपनी शक्ति का विकास किया था। चालुक्यों के अभिलेखों में नलों, कदम्बों और मौर्यों के ऊपर उसकी विजय की चर्चा है। कीर्त्तिवर्मन की सफलताओं के फलस्वरूप जिनमें से कुछ उसके पिता के शासन काल में प्राप्त की गई थी; चालुक्यों का राजनीतिक प्रभाव बम्बई राज्य तथा मैसूर और मद्रास से लगे हुए काफी विस्तृत भागों पर फैल गया। ऐसा प्रतीत होता है कि कीर्त्तिवर्मन का शासन काल ५६६–६७ से ५९७–९८ तक निश्चित किया गया है।

मंगलेश द्वितीय (५९७–६०८ ई०) :—कीर्त्तिवर्मन की मृत्यु के समय उसका पुत्र नाबालिग था अतएव राज सिंहासन पर उसके सौतेले भाई ने अपना अधिकार जमा लिया। रेवती द्वीप और कलचुरियों के ऊपर विजय प्राप्त कर लेना मंगलेश की सबसे बड़ी सफलताएँ थीं। मंगलेश भागवतधर्म का अनुयायी और

विष्णु का अनन्य भक्त था। उसके शासन काल में विष्णु का भव्य-गुहा मन्दिर निर्मित किया गया था जो कला का एक उत्कृष्ट नमूना माना जाता है। मंगलेश के शासन-काल के अन्त में उसके भतीजे पुलकेशिन द्वितीय और उसके बीच गृह-युद्ध छिड़ गया। पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोल अभिलेख में इस संघर्ष का यह कारण दिया गया है कि मंगलेश अपने ही पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था जिससे पुलकेशिन द्वितीय को अत्यन्त रोष हुआ और उसने अपने चाचा के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। इस युद्ध में मंगलेश को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा और वादापी का सिंहासन पुलकेशिन द्वितीय के अधिकार में चला गया।

पुलकेशिन द्वितीय

१. **विजय :**—पुलकेशिन द्वितीय (६१०–११ ई० से लेकर ६४२ तक) अपने वंश का सबसे प्रतापी नरेश था। उसके सिंहासनारोहण के समय में उसके राज्य की स्थिति वड़ी दयनीय हो गयी थी। अपने राज्य की स्थिति सुदृढ़ कर लेने के उपरान्त पुलकेशिन द्वितीय ने अपना विजय अभियान प्रारम्भ किया। सर्व प्रथम उसने आप्यायिक और गोविन्द के आक्रमणों को असफल किया और उन्हें भीमरथी (भामा) के पार भगा दिया। उसने कदम्बों की राजधानी बनवासी पर अधिकार किया और इस प्रकार उत्तर कन्नड़ पर अधिकार कायम कर उसने गंगवाड़ी के गंगों और मालावार के अलुपों को संत्रस्त किया। गंग राजा दुर्विनीत ने अपनी एक पुत्री का विवाह पुलकेशिन द्वितीय के साथ कर दिया और वही आगे चल कर विक्रमादित्य प्रथम की माता बनी। वह पश्चिमी सागर का गौरव कहलाता था। उत्तरी कोंकण की राजधानी (एलिफैण्टा) द्वीप (पुरी) पर उसने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था।

इसके बाद उत्तरापथ और दक्षिणापथ के दो शक्तिशाली राजाओं (हर्ष और पुलकेशिन) में विन्ध्य और रेवा के बीच युद्ध हुआ जिसमें हर्ष की हार हो गयी। हर्ष को अपने विजयी जीवन में केवल यहीं मुँह की खानी पड़ी। कुछ विद्वान मानते हैं कि इस संघर्ष का कारण पुलकेशिन की हर्ष के शत्रु-गुर-नरपति दद्द द्वितीय के साथ सन्धि था, जिसने वल्लभी राजा ध्रुवसेन द्वितीय पर आक्रमण के विरुद्ध अपनी सुरक्षा का उपाय सोचा। ६३४ ई० की ऐहोल-प्रशस्ति में इस युद्ध का वर्णन है, किन्तु ६३० ई० के लोहनेर के दान पत्र में इसका उल्लेख नहीं है। हर्ष वर्द्धन को उसने पराजित किया; इसका प्रमाण हैदराबाद-दानपत्र से भी मिलता है। इसके बाद उसने अपने अनुज विष्णुवर्द्धन को युवराज बनाया तथा उसके अधीन राजधानी छोड़कर पूर्व दक्कन की ओर विजय के हेतु चल पड़ा। ऐहोल प्रशस्ति के अनुसार १३६६ ग्राम वाले तीन महाराष्ट्रों का स्वामी हो गया है। ह्वेनसांग के अनुसार

पुलकेशिन के नेतृत्व में महाराष्ट्र के लोगों ने हर्ष के आक्रमण का निराकरण किया। उसने हर्ष को नर्मदा नहीं पार करने दिया। हर्ष की इस हार के बाद उसने परमेश्वर और दक्षिणापथेश्वर की उपाधियाँ धारण की। इसके बाद सम्पूर्ण भारत में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी और महाकोशल तथा कलिंग के शासकों ने उसके सामने घुटने टेक दिये। चालुक्य-साम्राज्य की उत्तरी सीमा एक स्थान पर महानदी को छूती थी।

उसके बाद उसने पूर्व-दक्षिण भारत की ओर ध्यान दिया और कोशल (पाण्डुवंशी), कलिंग (गंग) तथा पिष्ट पुर के नरपति और दक्षिण में विष्णु कुण्डी विक्रमेन्द्र वर्मा तृतीय और पल्लव राजा महेन्द्र वर्मा को हराया तथा उसके विरुद्ध चोल, पाण्डय और केरलों से मित्रता की। लोहनेर के दान पत्र में उसे पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों का स्वामी कहा गया है। उसने अपने भाई विष्णु वर्धन को पूर्वी दक्कन का राज्यपाल नियुक्त किया और उसके उत्तराधिकारियों ने ही बाद में वेंगी के पूर्वी चालुक्य वंश की स्थापना की। ऐहोल अभिलेख में पुलकेशिन की उपलब्धियों का वर्णन है। यह उसका इतिहास जानने का प्रमुख साधन है। इसे कवि रवि कीर्त्ति ने पद्य बद्ध किया था। उसने गंग शासक की कन्या से विवाह किया था, जिससे उसका पुत्र विक्रमादित्य प्रथम उत्पन्न हुआ था। सारे दक्षिण पर पुलकेशिन का स्वामित्व था। उसका सम्बन्ध फारस के राजा के साथ भी था। इस दौत्य सम्बन्ध के द्वारा उसने अपने अधिकार का प्रसार किया। तिबरी के अनुसार उसने ईरान या फारस के राजा खुसरू द्वितीय के साथ मित्रता स्थापित की और ६२५ ई० में पत्र और कुछ भेंट देकर अपने दूत भेजे। इसके उत्तर में ईरानी सम्राट् ने भी चालुक्य नरेश के पास अपने दूत भेजे। ह्वेनसांग भी उसके दरबार में गया था। वह भी उसकी शक्ति का वर्णन करता है। इस चीनी यात्री के अनुसार उसके उदार शासन का विस्तार बड़ा था और उसके सामन्त सर्वथा आज्ञाकारी थे। इसमें सन्देह नहीं की पुलकेशिन एक बहुत बड़े साम्राज्य का अधिपति था और उसके साम्राज्य में महाराष्ट्र, कोंकण और कर्णाटक के प्रदेश निश्चित रूप से शामिल था। पुलकेशिन द्वितीय वादापी वंश का सर्वशक्तिमान शासक था। प्राचीन भारत के सबसे महान् शासकों में भी उसका स्थान है। उसका प्रभाव और यश भारतीय सीमा का अतिक्रमण कर विदेश पहुँच गया।

साम्राज्य :—पुलकेशिन द्वितीय के सुविशाल साम्राज्य की सीमायें उत्तर में विन्ध्य पर्वत श्रेणी और महानदी तक दक्षिण में मैसूर के पार तक आसिन्धु-सिन्धु पर्यन्त फैली थी। इस साम्राज्य के केन्द्रीय मार्ग पर पुलकेशिन द्वितीय स्वयं शासन करता था और उत्तरी दक्षिणी सीमावर्त्ती प्रदेशों का शासन सामन्तों के अधिकार में

था। भड़ोच, मालवा, गंग, कदम्ब, पूर्वीय गंग और वन इत्यादि प्रान्तों के शासक चालुक्य सम्राट् के अधीनस्थ सामन्त थे। उन्हें अपने-अपने प्रदेशों के आन्तरिक शासन में काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी परन्तु वे पुलकेशिन द्वितीय की सेवा में वार्षिक कर भेजा करते थे। जिस भाग पर सम्राट् का प्रत्यक्ष शासन था, वहाँ भी पुश्तैनी सामन्त थे, जिन्होंने उसकी (पुलकेशिन द्वितीय) अधीनता स्वीकार कर ली थी। इन सामन्तों को कुछ प्रदेशों का शासक बना दिया गया था। वे सम्राट् की आज्ञा से शासन करते थे। युद्ध में वे उसकी सहायता करते थे। सम्पूर्ण साम्राज्य पाँच प्रान्तों में विभक्त था और प्रत्येक प्रान्त का शासन करने के लिए एक राजप्रतिनिधि (वाइसराय) नियुक्त किया जाता था। पूर्वीय समुद्र तटीय प्रान्त, जिसमें वर्त्तमान तेलगु प्रदेश सम्मिलित था, वेंगी कहलाता था। वेंगी का प्रान्तीय शासक विष्णु वर्द्धन था जिसने वहाँ पर एक स्वतंत्र राजवंश की स्थापना की थी। यह राजवंश ग्यारहवीं शताब्दी (१०७० ई०) तक बना रहा। कन्नड़ प्रदेश के दक्षिणी प्रान्त पर, जिसमें प्राचीन कदम्ब वंश का राज्य (वनवासी) तथा गंग वंश का राज्य सम्मिलित था, आदित्य वर्मन शासक था। तीसरा प्रान्त पश्चिमी समुद्र तट के निकट था, जिसमें कोंकण का प्राचीन राज्य सम्मिलित था। इस प्रान्त का शासक पुलकेशिन द्वितीय का ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रादित्य था। गुजरात तथा उत्तरी भागों को मिलाकर एक प्रान्त निर्मित किया गया था जिसकी राजधानी नासिक में थी। इन प्रान्त का शासन पुलकेशिन द्वितीय का दूसरा पुत्र जय सिंह करता था। महाराष्ट्र, बरार, हैदराबाद तथा बम्बई के कुछ भागों को मिलाकर एक प्रान्त बनाया गया था। यह साम्राज्य का पाँचवाँ प्रान्त था। इस प्रान्त पर सम्राट् का प्रत्यक्ष शासन था। कालान्तर में अन्य चार प्रान्त स्वतंत्र राज्यों में परिवर्तित हो गये। उत्तर भारत के गुर्जर प्रतिहार वंश की भाँति दक्कन में चालुक्यों का वंश अत्यन्त प्रमुख था और यह कई शाखाओं में विभक्त था। एक विद्वान की धारणा है कि तेलिंगाना, कर्णाटक, कोंकण महाराष्ट्र और गुजरात प्रान्त वास्तव में विभिन्न भाषा-भाषी प्रान्त थे और इस आधार पर पुलकेशिन द्वितीय ने अपने साम्राज्य का विभाजन करके, वर्तमान युग की भाषावार प्रान्त-रचना की नीति का पूर्व रूप प्रस्तुत किया।

ह्वेनसांग का वर्णन :—चीनी यात्री ह्वेनसांग ने (६४१–४२ ई०) में पुलकेशिन से नासिक में भेंट की थी और उसके राज्य का भ्रमण भी किया था। उसने पुलकेशिन द्वितीय के व्यक्तित्व तथा उसके राज्य और उसके प्रजा-जनों के सम्बन्ध में अपने वृतान्त लिखे हैं। पुलकेशिन के विषय में ह्वेनसांग लिखता है—"वह क्षत्रिय जाति का है, उसके विचार विशाल और गंभीर हैं और अपनी सहानुभूति तथा दान क्रियाओं का उसने काफी विस्तार कर रखा है। उसके प्रजाजन

पूर्ण भक्ति के साथ उसकी सेवा करते हैं।" पुलकेशिन द्वितीय और हर्ष के युद्ध के विषय में भी चीनी यात्री ने लिखा है—"इस समय महान् नृपति शीलादित्य पूर्व से लेकर पश्चिम तक अपनी विजय वाहिनी ले जा रहा है। वह सुदूरवर्ती जनों को दबाता है और पड़ोस के राज्यों को उसने भयत्रस्त कर दिया है किन्तु केवल इस राज्य के ही लोगों ने उसके सम्मुख आत्म समर्पण नहीं किया है यद्यपि पाँच द्वीपों के सैन्य समूहों में उसने शीर्ष स्थान को अधिकृत कर रखा है, यद्यपि उसने समस्त राज्यों के सबसे पराक्रमी योद्धाओं को बुला रखा और यद्यपि उनको दंडित करने के लिए उसने प्रयाण भी किया है तथापि उनके विरोध को दबाने में वह असमर्थ रहा है। इस बात से हम उनकी युद्ध प्रिय आदतों और आचारों का अनुमान कर सकते हैं।"

इसके बाद ह्वेनसांग ने पुलकेशिन के राज्य और उसके निवासियों के विषय में लिखा है—"मो-हो-ला-चो (महाराष्ट्र) लगभग ५००० ली (लगभग १७०० मील) घेरे में है। राजधानी के पश्चिम में एक विशाल नदी है। वह लगभग ३० लि गोल है। मिट्टी अच्छी और उपजाऊ है, यह नियमित रूप से जोती जाती है और इससे उपज भी बहुत अधिक होती है। जल-वायु उष्ण है, लोगों का स्वभाव सादा और ईमानदार है, वे कद में लम्बे और चरित्र में प्रतिशोध पूर्ण मनोवृत्ति के हैं। अपने प्रति उपकार करने वालों के प्रति वे कृतज्ञ रहते हैं, अपने शत्रुओं के प्रति दयाशून्य हैं। यदि उनका अपमान किया जाता है तो वे अपने प्राणों को खतरे में डालकर उनका बदला चुकाते हैं। यदि उनसे किसी विपत्ति ग्रस्त व्यक्ति की सहायता के लिए कहा जाता है तो वे सहायता प्रदान करने की त्वरा में आत्मविस्मृत हो जाते हैं। यदि वे बदला लेने वाले होते हैं, तो पहले वे अपने शत्रु को सावधान कर देते हैं, तब प्रत्येक शस्त्र युक्त होकर एक दूसरे के ऊपर भालों से आक्रमण करते हैं। जब एक भाग निकलता है तो दूसरा उसका पीछा करता है, किन्तु वे उस व्यक्ति को जान से नहीं मारते जो आत्मसमर्पण कर देता है। यदि कोई योद्धा युद्ध में पराजित हो जाता है तो उसे दण्डित नहीं करते; बल्कि उसे स्त्री-वेषभूषा दे देते हैं, इस प्रकार वह स्वयं मृत्यु की तलाश करता है। देश में कई सैकड़ों की संख्या तक योद्धाओं के समूह हैं। प्रत्येक बार जब संघर्ष करने के लिए उद्यत होते हैं, वे सुरा द्वारा अपने को मदमत्त कर लेते हैं और तब अकेला एक व्यक्ति हाथ में भाला लेकर दस हजार मनुष्यों का सामना कर सकता है और उन्हें युद्ध के लिए ललकार सकता है। यदि इन योद्धाओं में से कोई किसी मनुष्य से मिलने पर उसे मार डालता है तो देश के कानून उसे दण्डित नहीं करते। जब कभी वे प्रयाण करने लगते हैं; हर बार वे अपने सामने नगाड़े पीटते हैं। इसके अलावा वे सह हाथियों को मदमत्त कर देते हैं और उनको युद्ध के लिए

बाहर निकाल कर स्वयं वे पहले सुरापान करते हैं, तब ढेर के ढेर आगे दौड़ते हुए वे प्रत्येक वस्तु को कुचल डालते हैं, जिससे कोई भी शत्रु उनके आगे ठहर नहीं सकता। इन मनुष्यों और हाथियों के कारण राजा अपने पड़ोसियों को घृणा की दृष्टि से देखता है। वह क्षत्रिय जाति का है और उसका नाम पु-लो-कि-शे (पुलकेशिन) है। उसकी योजनायें और कार्य सुदूर-विस्तृत हैं और उनके दया पूर्ण कार्यों का अनुभव काफी दूरवर्त्ती भागों तक किया जाता है। उसके प्रजाजन पूर्ण भक्ति के साथ उसकी आज्ञा का पालन करते हैं।'

चालुक्य सत्ता का अस्थायी पतन :—पुलकेशिन द्वितीय के अन्तिम दिनों में चालुक्यों की शक्ति गिरने लगी और पल्लव नरेश नरसिंह वर्मन ने पुलकेशिन को युद्ध में मार डाला। चालुक्यों और पल्लवों के इस युद्ध में नरसिंह वर्मन ने अपनी बर्बरता का परिचय दिया। सामान्यतया युद्धों में ब्राह्मणों और असैनिकों को कोई हानि नहीं पहुँचाई जाती थी और मंदिरों को भी क्षति नहीं पहुँचती थी, किन्तु इस युद्ध में नरसिंह वर्मन ने एक बर्बर की भाँति व्यवहार किया। उसने वातापी को खूब लूटा-खसोटा, मंदिरों को ध्वस्त किया और बिना लिंग-वय का विचार किये हुए उसने सहस्रों मानव प्राणियों का वध किया।

चालुक्यों की शक्ति का पुनरुत्थान

पल्लवों ने तेरह वर्षों तक चालुक्यों की शक्ति को ग्रसित कर रखा था। चालुक्यों का राज्य अब तक विभिन्न भागों में बँट गया था किन्तु विक्रमादित्य प्रथम (६५५–८० ई०) ने पुलकेशिव द्वितीय का सुयोग और बहादुर पुत्र था, अपने वंश के गौरव को फिर से उत्थित किया तथा उसने अपने पैतृक राज्य को पल्लवों से छीन लिया। उसके शासन काल के बीसवें वर्ष में गड़वाल पत्रों से पता चलता है कि ६७४ ई० के आस-पास चालुक्य सेना कावेरी के दक्षिणी किनारे पर उरगपुर (त्रिचनापल्ली) डेरा डाले पड़ी हुयी थी अपने पिता के समान विक्रमादित्य प्रथम ने कई उपाधि धारण किया था किन्तु महमल्ल वंश (नरसिंह वर्मन प्रथम) का विनाश करने के कारण उसने "राजमल्ल" की उपाधि धारण की थी। उसे रणरसिक कहा जाता था तथा कांची का विजेता भी कहा जाता था। परन्तु पल्लव अभिलेखों में लिखा है कि पेरुवलनल्लुर (त्रिचनापल्ली) के निकट में चालुक्यों की हार हुई थी। उससे पता चलता है कि विक्रमादित्य प्रथम "अप्रति" "हतरथ" नहीं था परन्तु त्रिचनापल्ली तक उसका पहुँच जाना इस बात को सिद्ध करता है कि उसने कांची पर अधिकार कर लिया था और पल्लव द्वारा अपने पिता की पराजय की कुयश कालिमा को धो डाला। चालुक्य लेखों में विक्रमादित्य प्रथम की अन्य महत्त्वपूर्ण विजयों का श्रेय भी दिया गया है। अपने पहले सामरिक प्रयास में

ही उसने पल्लव राजधानी को लूटने के बाद सुदूर दक्षिण तक धावे किये और चोल, पाण्ड्य और केरल राज्यों की शक्तियों को परास्त किया।

इन लड़ाइयों में विक्रमादित्य प्रथम को अपने पुत्र विनयादित्य और पौत्र विजयादित्य से बड़ा सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। विनयादित्य ने ६८० ई० से लेकर ६९६ ई० तक और विजयादित्य ने लगभग ६९६ ई० से लेकर ७३३ ई० तक शासन किया। एक अभिलेख में वर्णित है कि विनयादित्य ने "सकलोतरा पथनाथ" को पराजित कर सार्वभौम पद प्राप्त किया। किन्तु यह वर्णन निस्संदेह अतिरंजनपूर्ण है क्योंकि उस समय उत्तर भारत में कोई साम्राज्य-सत्ता थी ही नहीं जिसे हरा कर वह सार्वभौम पद प्राप्त करता। विद्वानों का मत है कि इस तथाकथित "सकलोतरा पथनाथ" का समीकरण उत्तर-कालीन गुप्त नरेश आदित्यसेन के एक उत्तराधिकारी से करना चाहिये।[1] आदित्यसेन ने "परम भट्टारक महाराजाधिराज" की उपाधि धारण की थी और उसके वंशजों ने भी इसी उपाधि को धारण करना कायम रखा। किन्तु उसको "सकलोतरा पथनाथ" कहना अत्युक्तिपूर्ण है। आदित्यसेन के किसी उत्तराधिकारी की विनयादित्य द्वारा पराजय को एक निश्चित ऐतिहासिक तथ्य समझना उचित जान पड़ता है।

विक्रमादित्य द्वितीय :—

विक्रमादित्य द्वितीय चालुक्य वंश का एक प्रतापी राजा था। उसके उत्तराधिकारी कीर्त्तिवर्मन द्वितीय के ताम्रपत्रों में विक्रमादित्य द्वितीय की सैनिक सफलताओं का वर्णन है। इस प्रमाण के अनुसार उसने अपने प्रकृत्यमित्र को हराया और पल्लवों की राजधानी काँची में प्रविष्ट हो गया पर उसे नष्ट नहीं किया। उसने राजसिंहेश्वर और अन्य मंदिरों को उन सुवर्ण ढेरों से परिपूरित कर दिया जिन्हें कुछ दिनों पूर्व पल्लवों ने छीन लिया था। विक्रमादित्य द्वितीय के काँची अभिलेखों से कीर्त्तिवर्मन के ताम्रपत्रों के लेख की पुष्टि हो जाती है। उसने चोल, पाण्ड्य और केरल शक्तियों को भी आतंकित तथा भयत्रस्त कर दिया। उसके राज्य काल में अरबों ने जिन्होंने सन् ७१२ ई० में सिंध पर अधिकार कर लिया था, दक्षिण पर भी आक्रमण किया। विक्रमादित्य ने उनका सामना किया और उन्हें पराजित किया। उसका यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसके कारण दक्षिण अरबों के हाथ में जाने से बच गया पर वह पल्लवों की शक्ति पूर्णरूप से नष्ट न कर सका। पल्लव नरेश पल्लवमल्ल ने पराजित होने पर भी अपनी

१. रतिभानु सिंह नाहर—प्रा० भा० रा० सां० इ०, इलाहाबाद, १९६७; पृष्ठ ७०३

राजधानी काँची पर फिर से अपना अधिकार जमा लिया। चालुक्य विजय को "पल्लव प्रभुता के अन्त का प्रारम्भ" मानना तर्क सम्मत नहीं है—

चालुक्य सत्ता का अन्त :—

विक्रमादित्य द्वितीय का पुत्र कीर्त्तिवर्मन द्वितीय अपने पिता की मृत्यु के बाद राजा बना। वह वातापी के चालुक्य वंश का अन्तिम राजा था। ७५३ ई० में राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग ने उसको हरा दिया। कीर्त्तिवर्मन द्वितीय के राज्य के अधिकांश भागों पर दन्तिदुर्ग का एकाधिपत्य स्थापित हो गया। एक अभिलेख से यह पता चलता है कि कर्णाटक क्षेत्र में विक्रमादित्य की सत्ता ७५७ ई० तक बनी रही परन्तु राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम ने वातापी के चालुक्य राजवंश की मूल शाखा का उन्मूलन कर दिया। किन्तु अन्यत्र उनकी दूसरी शाखाओं ने अपना अधिकार बनाये रखा।

६. वेंगी के चालुक्य

पुलकेशिन द्वितीय ने ६१५ ई० के लगभग पूर्वी प्रान्तों का शासन अपने छोटे भाई कुंज विष्णु वर्धन विषम सिद्धि के सुपर्द कर दिया था। ६१७ ई० में वह सतारा एवं नासिक के बीच के प्रदेश में अपने भाई पुलकेशिन द्वितीय का राज्यपाल था। इसकी पुष्टि सतारा के दान पत्र और 'अवन्ति सुन्दरी कथा सार' नामक कृति से होती है। पुलकेशिन उसे विजयापट्टम और नेलोर के बीच के नवविजित तटवर्ती प्रदेश का ६३१ ई० में राज्यपाल नियुक्त किया। इसके बाद वह स्वतंत्र हो गया और उसने एक अलग राजवंश की स्थापना की। उसके दान पत्रों से ज्ञात होता है कि पिष्टपुर और विजगापट्टम के बीच उसका राज्य था। उसके उत्तराधिकारियों के शिला लेखों से स्पष्ट होता है कि उसने १८ वर्षों तक राज्य किया (६१५–६३३ ई०)। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी जय सिंह प्रथम ने पूर्ण रूपेण स्वतंत्र होकर शासन करना प्रारंभ किया। चालुक्यों की इसी शाखा को **वेंगी के पूर्वी चालुक्य** कहते हैं। अनेक अपकर्षों और उत्कर्षों के साथ इन्होंने पाँच सौ वर्षों तक आन्ध्र प्रदेश तथा कलिंग के एक भाग पर शासन किया। इस उर्वर और महत्त्वपूर्ण प्रदेश पर अधिकार मात्र इस कुल को दक्षिण की राजनीति में गरिमा प्रदान करने के लिए कार्यरत था।

विष्णु वर्धन के बाद जय सिंह प्रथम (६३३ से ६६३ ई०) राजा बना उसने तीस वर्षों तक शासन किया। उसके बाद बहुत से राजा हुए। विष्णु वर्धन द्वितीय के राज्य काल में पृथ्वी व्याघ्र नामक एक निषाद राजा ने नेलोर के निकटवर्त्ती दक्षिणी प्रदेश पर अधिकार कर लिया। काँची के नन्दि वर्मा द्वितीय पल्लव ने उसे वहाँ से निकाल दिया। इस वंश का अलग राज्य विजमादित्य प्रथम (७४६–६४ ई०) का था। उसके राज्य काल में इस वंश पर राष्ट्रकूट आक्रमण हुआ।

उसका उत्तराधिकारी विजयादित्य द्वितीय (७९९-८४३ ई०) नरेन्द्र मृगराज था जिसने अपने पड़ोसी शत्रुओं को हरा कर राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय की सहायता की याचना की। उसके उत्तराधिकारी विजयादित्य तृतीय (८४४-८८८ ई०) में राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय को हरा कर उसकी राजधानी मान्यखेट को लूट लिया। पर वह एक राजा से लड़ता हुआ मारा गया, जो चोल वंशीय माना जाता है। विजयादित्य तृतीय ने राष्ट्रकूट, गंग और अन्य सम सामयिक शक्तियों पर विजय प्राप्त की। राष्ट्रकूट अमोघ वर्ष (८१४-७७ ई०) ने उसे आत्म समर्पण करने पर विवश किया पर भीम प्रथम ने पुनः इस वंश की प्रतिष्ठा प्रतिस्थापित की।

भीम प्रथम का उत्तराधिकारी अम्भ विष्णु वर्धन षष्ठ था, जिसके सम्बन्धियों और सामन्तों ने राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय से मिलकर उसके विरुद्ध षडयंत्र किये और सिंहासन के लिए बनावटी दावेदार खड़े किये। एक ऐसे ही दावेदार युद्ध मल्ल ने गद्दी पर दावा किया। भीम तृतीय (९३४-४५ ई०) ने स्थिति सभाँली तथा गद्दी पर अधिकार करने वाले का वध किया और विद्रोही पड़ोसियों के साथ-साथ राष्ट्रकूट गोविन्द पंचम को भी परास्त किया। ९७३-१००३ ई० तक अशान्ति का काल रहा क्योंकि चोलों के आक्रमण से गड़बड़ी फैल गयी थी। शक्ति वर्मा (१००३-१०१५ ई०) ने इस राज्य की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की और उसने अपनी मुद्रायें भी जारी की। उसके समय स्थिति अच्छी रही। उसका उत्तराधिकारी विमलादित्य और अन्य शासक चोलों के राजनीतिक प्रभाव में रहे। यह प्रभाव दोनों राजकुलों में वैवाहिक सम्बन्ध हो जाने के कारण हुआ। विमलादित्य ने चोल राजकुमारी से विवाह किया और उसके पुत्र राज-राज विष्णु वर्धन ने राजेन्द्र प्रथम की कन्या व्याही। विष्णु वर्धन सप्तम चोल राजा का पौत्र था। उसके बाद उसका पुत्र गद्दी पर आया जो चालुक्य की अपेक्षा चोल अधिक था। तीन पीढ़ियों तक दोनों राज्यों के वैवाहिक सम्बन्ध बहुत घनिष्ट रहे। इस सम्बन्ध का परिणाम राजेन्द्र चोल द्वितीय हुआ, जो बाद में कुलोतुंग नाम से विख्यात हुआ (१०९३-१११८ ई०)। इसलिए विक्रमादेव चरित में पूर्वी चालुक्य राजाओं को चोल कहा गया है। १०७० ई० में उसे दोनों राज्य प्राप्त हुए और अपने चाचा विजयादित्य सप्तम को वेंगी से भगाकर उसके पुत्रों—राज-राज गुम्माड़चोड़ और वीरचोड़—को उस प्रदेश का शासक बनाया। इस प्रकार, पूर्वी चालुक्य और चोलों के राज्य मिलकर एक हो गये और इस वंश ने प्रायः दो सदियों तक समृद्ध शासन किया।

पश्चिमी चालुक्य और चोलों के बीच युद्ध की स्थिति बनी रही। पश्चिमी चालुक्य राज विक्रमादित्य षष्ठ ने चोल राजधानी पर आक्रमण किया, जिसका अन्त परम्परागत पद्धति के अनुसार विक्रमादित्य और वीर राजेन्द्र चोल की पुत्री के

विवाह द्वारा हुआ। विक्रमादित्य ने अपने साले पर केसरी अधि राजेन्द्र को चोल राजा सिंहासन पर बैठा कर अपनी स्थिति दृढ़ बनानी चाही। इससे चोल चालुक्य सम्बन्ध के इतिहास में एक घटना घटी। पूर्वी चालुक्य राजेन्द्र चोल कुलोतुंग ने विक्रमादित्य के भाई सोमेश्वर द्वितीय के साथ षडयंत्र कर पर केसरी को चोल सिंहासन से उतार दिया। विक्रमादित्य षष्ठ को फिर हस्तक्षेप करना पड़ा और फिर पूर्वी-पश्चिमी चालुक्यों से संघर्ष हुआ। चोल-चालुक्यों का मिला-जुला शासन लगभग दो सौ वर्षों तक चला। अन्त में वारगल के कामतिय, होयसलों और अन्य शक्तिशाली पड़ोसियों के उत्कर्ष के कारण यह राजकुल नष्ट हो गया।

७. कल्याण के पश्चिमी चालुक्य

तैलप द्वितीय :—

कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट ने चालुक्य तैलप द्वितीय को तारवाड़ी का महत्त्वपूर्ण प्रदेश पुरस्कार में दे दिया था। एक सिद्धान्त यह है कि तैलप कीर्त्तिवर्मन द्वितीय उस व्यक्ति का वंशज था जिसे राष्ट्रकूटों ने दक्षिन से निकाल दिया था। इसमें संदेह नहीं कि तैलप के रक्त में वातापी के चालुक्यों का रक्त था। कारवन्दी से प्राप्त एक अभिलेख (९९३ ई०) में लिखा है कि तैलप ने मान्यखेट से शासन किया था। कल्याण की राजधानी के रूप में इसका (मान्यखेटका) उल्लेख १०३३–३४ ई० में होता है। डॉ० अल्तेकर के अनुसार तैलप हैदराबाद रियासत के उत्तरी भाग में कहीं सामन्त की हैसियत से रहता था। एक अभिलेख से यह पता चलता है कि तैलप कृष्ण तृतीय का एक कर्मचारी था। ९५७ ई० में वह तारवाड़ी का शासक था। इन सब साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह प्राचीन चालुक्य वंश का था और अवसर पाकर उसने चालुक्य शक्ति का पुनरुद्धार किया। उसके वंशजों ने कल्याणी को अपनी राजधानी बनाया, इसलिए वे लोग कल्याणी के चालुक्य कहलाये।

अपने उत्कर्ष के पूर्व तैलप संभवतः राष्ट्रकूटों का सामन्त था। वह उत्तर में गुजरात को छोड़ कर प्रायः सम्पूर्ण चालुक्य राज्य का स्वामी था। मालवा के परमार मुञ्ज से उसकी कई बार लड़ाई हुई। पहले तो मुंज विजयी होता रहा किन्तु अपने सातवें आक्रमण में वह तैलप द्वारा बन्दी बना लिया गया और भागने के षडयंत्र में मारा गया। तैलप ने २४ वर्षों तक शासन किया उस समय कल्याणी के चालुक्यों और चोलों में बराबर संघर्ष चलता रहता था। कल्याणी के चालुक्य और तञ्जोर के चोलों की राज्य सीमा तुंग भद्रा नदी के इस पार और उस पार सरतीग्म रही थी। तैलप ने ९८० ई० में चोल राजा उत्तम चोल को हराया। उसने कुन्तल और कन्नड़ प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित किया। ९९७ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

सत्याश्रय (९९७–१००८ ई०) :—

अपने पिता तैलप के बाद सत्याश्रय गद्दी पर आसीन हुआ। उसके समय राज-राज प्रथम ने चालुक्य राज्य पर धावा किया, किन्तु इसके बावजूद उसने अपने को मजबूत किया और चोलों से दक्षिण में कुछ प्रदेश भी जीते। उसने अपने पिता की प्रसारवादी नीति को अक्षुण्ण रखा। उसके बाद विक्रमादित्य (१००८ से १०१५ ई०) शासक हुआ। फिर जय सिंह राजा हुआ। मुंज की हत्या का बदला लेने के लिए परमार भोज ने चालुक्यों पर आक्रमण कर दिया। जय सिंह ने अपने विश्वासी सामन्तों की मदद से अपने प्रदेशों को पुनः जीत लिया। चोल सम्राट् राजेन्द्र प्रथम उसका प्रमुख शत्रु था। वेंगी के गृह युद्ध में चोलों और चालुक्यों ने विरोधी पक्ष का समर्थन किया। जय सिंह परास्त हुआ और तुंग भद्रा दोनों राज्यों की सीमा निश्चित हुई, किन्तु राजेन्द्र चोल के अन्तिम दिनों में फिर चोल-चालुक्य-संघर्ष प्रारम्भ हुआ। उसने परमार भोग को परास्त कर मालव संघ को नष्ट कर दिया।

सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल (१०४२–१०६८ ई०) :—

जय सिंह द्वितीय जगदक मल्ल की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम नृपति हुआ। उसके विरुद्ध आहवमल्ल और त्रैलोक्यमल्ल थे। उसने अपने शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों से ही चोलों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। १०५२ ई० में वर्तमान कोल्हापुर के निकट कृष्णा नदी के तट पर कोपम्म नामक स्थानों में सोमेश्वर प्रथम की चोलों से मुठभेड़ हुई। इस युद्ध में चोल नृपति राजाधिकारी प्रथम को वीरगति प्राप्त हुई परन्तु विजय श्री चोलों के ही हाथ रही और उन्होंने कोल्हापुर में अपना एक विजयस्तम्भ खड़ा किया। डॉ० रमा शंकर त्रिपाठी चोल-अभिलेखों के उपर्युक्त कथन को स्वीकार नहीं करते। 'विक्रमांकदेव चरित' का प्रख्यात रचयिता 'विल्हण' तो यहाँ तक कहता है कि सोमेश्वर प्रथम ने चोल शक्ति के महत्त्वपूर्ण केन्द्र कांची पर आक्रमण कर दिया था। इसमें उसे अपने पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ से काफी सहायता मिली थी। १०७१ ई० में सोमेश्वर प्रथम ने इस बात का प्रयत्न किया कि कोप्पम के युद्ध में उसे जो क्षति उठानी पड़ी है उसकी वह पूर्ति करे। परन्तु १०६२ ई० में उसे पुनः चोलों से पराजय खानी पड़ी। यह युद्ध कृष्णा और तुंगभद्रा नामक नदियों के संगम पर कुचल संगमम् नामक स्थान पर हुआ था।

चोलों के विरुद्ध सोमेश्वर प्रथम को सफलता न प्राप्त हो सकी परन्तु उसने मालवा के राजा भोग परमार के विरुद्ध राजाओं के संघ में भाग लिया और उसकी शक्ति को तहस-नहस कर दिया। बाद में भोग को पराजय के बाद अन्हिलवाड़ के भीम प्रथम लक्ष्मी कर्ण कलचुरी और सोमेश्वर प्रथम के बीच लूट की

वस्तुओं के सम्बन्ध में झगड़ा उत्पन्न हो गया। सोमेश्वर प्रथम ने लक्ष्मी कर्ण को परास्त किया। उसकी शक्ति का लोहा कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारों को भी मानना पड़ा। सोमेश्वर प्रथम एक भयंकर व्याधि से प्रपीड़ित था। जब चिकित्सक रोग नष्ट करने में असमर्थ हो गये तो उसने अपनी व्याधि की असाध्यता का विचार करके तुंगभद्रा नदी में डूब जाना उचित समझा। इस प्रकार उसने 'परम भोग' व्रत के अनुष्ठान द्वारा अपना प्राण त्याग दिया।

सोमेश्वर द्वितीय :—

उसके बाद उसका पुत्र सोमेश्वर द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसका छोटा भाई विक्रमादित्य अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी था। सोमेश्वर द्वितीय और विक्रमादित्य में लड़ाई छिड़ गयी। विक्रमादित्य का राजेन्द्र की एक पुत्री से विवाह हुआ। वस्तुतः चालुक्य राज्य अब दो भागों में बँट गया। उत्तर का स्वामी सोमेश्वर द्वितीय और दक्षिण का विक्रमादित्य था। परिस्थिति से बाध्य होकर सोमेश्वर द्वितीय को गद्दी छोड़नी पड़ी। उसने ८ वर्षों तक राज्य किया। १०७० ई० में वीर राजेन्द्र की मृत्यु के बाद विक्रमादित्य षष्ठ ने शीघ्र काँची आकर अपने साले अधिराजेन्द्र को राजा बना दिया। पूर्वी चालुक्य राजा कुलोतुंग प्रथम ने सोमेश्वर द्वितीय की सहायता से शीघ्र ही अधिराजेन्द्र को गद्दी से हटा दिया। इससे सोमेश्वर द्वितीय और विक्रमादित्य षष्ठ में एक भ्रातृघातक गृह युद्ध छिड़ गया। विक्रमादित्य की ओर से यादव, कदम्ब और होयसल थे। विक्रमादित्य ने सोमेश्वर द्वितीय को पराजित कर बन्दी बनाया और १०७६ ई० में अपने आपको शासक घोषित किया। सोमेश्वर द्वितीय शैव मतानुयायी था और उसके समय में दक्षिणापथ में शैव मत का बहुत अधिक प्रचार हुआ।

विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल (१०७६–११२६ ई०)

विक्रमादित्य षष्ठ अपने कुल का सबसे प्रसिद्ध शासक था। उसने अपने राज्य में शक-संवत् को समाप्त कराके अपने राज्यारोहण के वर्ष से प्रारम्भ होने वाला एक नया संवत् चलाया। उसने 'विक्रमांक' और त्रिभुवनमल्ल की उपाधि धारण की। उसने जयकेशिन नामक कोंकण-राजा तथा अन्य दक्षिणी राजाओं पर विजय प्राप्त की। ११११ ई० में विहिज विष्णु वर्धन् के नेतृत्व में होयसलों ने विद्रोह किया किन्तु उन्हें हार खाकर उनकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। उसने वेंगी और गंगबाड़ी को जीत कर आक्रमण नीति का श्री गणेश किया। उसके होयसल सामन्तों ने १११७ ई० के लगभग चोलों से तलकाड़ का प्रदेश छीन लिया पर होयसल लोग काफी शक्तिशाली हो गये थे और वे विक्रमादित्य षष्ठ की अधीनता नाम मात्र को ही स्वीकार करते थे। उसके शासन के अन्त काल में चोल राजा कुलोतुंग पर

प्रथम ने उसके उपर चढ़ाई किया पर विक्रमादित्य षष्ठ ने उसको हरा दिया। इसी प्रकार होयसल विष्णु वर्धन के विरुद्ध भी विक्रमादित्य को सफलता प्राप्त हुई। अपने विस्तृत साम्राज्य पर बुद्धिमता पूर्ण तरीकों से शासन किया। वह प्रारम्भ में कदाचित् जैन था बाद में वह शैव मत का अनुयायी हो गया। वह इस वंश का सबसे महान शासक था। वह कला और संस्कृति का संरक्षक था। दूर-दूर के विद्वान उसके दरबार में रहते थे। वह कश्मीरी पण्डित विल्हण का संरक्षक था। कुछ लोग विज्ञानेश्वर (मिताक्षरा का लेखक) को भी उसका सभासद मानते हैं। उसे अन्हिलवाड़ के चालुक्यों के विद्रोह का सामना करना पड़ा। उसके छोटे भाई जय सिंह ने भी विद्रोह किया। उसने जय सिंह को वनवासी प्रान्त का शासक नियुक्त किया। चोल होयसल-आक्रमण को विफल कर उसने अपनी युद्ध कुशलता का परिचय दिया। ११२६ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

विक्रमादित्य षष्ठ के बाद सोमेश्वर तृतीय भूलोक मल्ल उसका उत्तराधिकारी हुआ जिसका शासन काल ११२६ ई० से ११३८ ई० तक था। इसके समय में केन्द्रीय सरकार की शक्ति छिन्न-भिन्न होने लगी। सोमेश्वर तृतीय का शासन केवल नाम मात्र का था क्योंकि वह शासन के कार्यों से अलग रहकर विद्याप्रेमी था। वह मानसोल्लास जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थ का प्रणता था।

सोमेश्वर तृतीय का पुत्र जगदेवमल्लक द्वितीय ११३८ से ११५१ ई० तक गद्दी का अधिकारी रहा जिसने होयसलों के प्रसार को रोका। उसने जय वर्मन परमार पर आक्रमण किया और मालवा का एक भाग छीन लिया। कुमारपाल जो अन्हिलवाड़ का शासक था मालवा में चालुक्य-हस्तक्षेप को सहन नहीं कर सका जिस कारण दोनों में मतभेद हो गया। सोमेश्वर तृतीय की मृत्यु के बाद विक्रम चोल ने वेंगी पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। तैलप तृतीय तक निर्बल राजाओं के कारण राज्य काल में चालुक्य राज का अधिक विघटन आरम्भ हुआ। चालुक्यों के सामन्त जैसे विष्णु वर्धन के नेतृत्व में होयसल, वरंगल के काकतिय, तारबाड़ी थे; ये कलचुरियों और देवगिरि के यादवों के विद्रोह भड़क उठे। ११५७ ई० में कलचुरि राजा विज्जल ने होयसलों को खदेड़ कर अपने आप को राजा घोषित कर कल्याणी पर अधिकार कर लिया। ११८३ ई० में तैलप तृतीय के पुत्र सोमेश्वर चतुर्थ ने कलचुरियों को पीछे हटा दिया पर फिल्लन (११८७–९०) के राज्य काल में चालुक्य राज्य के उत्तरी भाग तथा कल्याणी को यादवों के हवाले करके वहाँ से दक्षिण में वनवासी की ओर प्रस्थान किया। उसी समय वल्लाल द्वितीय के नेतृत्व में होयसलों ने अनेक युद्धों में चालुक्यों को परास्त किया और भिल्लन को मार डाला। काकतियों ने भी कुछ प्रदेश जीत कर चालुक्यों के विघटन की प्रक्रिया में योगदान किया। फिल्लन के पुत्र जयतुंगी ने ११९६ ई० में कांकतिय राजा रुद्र का

वध किया और उसके पुत्र सिंहण ने होयसल राजा बल्लाल द्वितीय से वे सब प्रदेश फिर से जीत लिये जो उसने सोमेश्वर चतुर्थ और फिल्लन को हराकर प्राप्त किये थे।

पश्चिमी चालुक्यों की शक्ति का पुनरुत्थान और पतन :—

जैसा कि हमने देखा है कि ११५७ ई० में कलचुरि राजा विज्जल ने होयसलों को पीछे खदेड़ कर अपने आपको राजा घोषित कर दिया था वह सात वर्षों तक शासन करने के बाद ११६३ ई० में सिंहासन त्याग दिया पर उसके उत्तराधिकारियों का अधिकार ११८३ तक रहा। कलचुरि अन्तराधिपत्य के समय में वीर-शैवमत अथवा लिंगायत सम्प्रदाय का दक्षिणा पथ में काफी प्रचार बढ़ा। विज्जल कामंची कसप लिंगायत सम्प्रदाय का संस्थापक था। कन्नड़ तथा मैसूर के आस-पास आज भी लिंगायतों की संख्या काफी अधिक है। "ये लोग वेदों की अपौरुषेयता तथा धर्म मान्यता नहीं मानते तथा शिव के लिंग रूप और उनके वाहन नन्दी के परम उपासक होते हैं। उनके अपने प्रतीक ग्रन्थ हैं जिनमें वासव-पुराण प्रख्यात हैं। ये वर्ण व्यवस्था को नहीं मानते और परम्परागत हिन्दूत्व की सामाजिक तथा सैद्धान्तिक व्यवस्था से भी इनका विरोध है।" ब्राह्मणों की जातीय श्रेष्ठता को वे स्वीकार नहीं करते। लिंगायत लोग विधवा विवाह का समर्थन करते हैं।

विज्जल के बाद उसके उत्तराधिकारियों का शासन दुर्बलतापूर्ण प्रमाणित हुआ। उनके विषय में हमें प्रायः कुछ भी मालूम नहीं। सोमेश्वर चतुर्थ ने अन्तिम कलचुरि नरेश को सिंहासनच्युत करके अपने वंश की शक्ति को पुनः प्रतिष्ठापित किया। परन्तु पश्चिमी चालुक्यों की शक्ति अब और अधिक दिनों तक टिक नहीं सकी।

हम इस बात को जान चुके हैं कि विक्रमादित्य जैसे प्रतापी राजा के समय भी सामन्तों की शक्ति निरन्तर बढ़ती ही गयी। सोमेश्वर चतुर्थ के समय में यादव और होयसल लोग स्वतंत्र हो गये। इन शक्तियों के उदय का यह परिणाम हुआ कि कल्याण के चालुक्य वंश का पतन हो गया।

८. आन्ध्र का राजवंश

आनन्द वंश :—

शिलालेखों से आनन्द ऋषि से उत्पन्न तीन आनन्दवंशी राजाओं का जिनका शासन-काल ३७५ ई० से ५०० ई० तक का है पता चलता है। वे हैं—कन्दर, अतिवर्मा और दामोदर वर्मा। इन लोगों ने पल्लव राज्य से गुण्टूर प्रदेश को स्वतन्त्र किया। अभिलेखों में कन्दर को 'पृथ्वी युवराट्' कहा गया है और धान्य कटक (अमरावती)' का विजेता भी। अति (हस्ति) वर्मा ने हिरण्यगर्भ नामक

महायान यज्ञ किया। दामोदर वर्मा ने संस्कृत और प्राकृत में दानपत्र लिखवाया। पल्लवों से संघर्ष के फलस्वरूप उनका पतन हो गया।

विष्णुकुण्डिन राज्य और पल्लव राज्य के मध्य एक छोटा-सा राज्य था जिसके शासक आनन्द गोत्र के थे। इस राजवंश का प्रथम राजा कंदरा था जिसकी लड़की का विवाह पल्लव राजवंश के राजकुमार के साथ हुआ। विष्णुकुण्डिन के साथ भी इस वंश का संघर्ष हुआ था। इनका राज्य बहुत ही छोटा था। प्रमुख राजाओं में दामोदर वर्मा, अतिवर्मा और कंदरा का पौत्र चेर्जला के नाम मिलते हैं। इसकी राजधानी कन्दरपुर में थी। ये लोग शैव थे। दामोदर वर्मा बौद्ध धर्म का समर्थक था।

सालंकायन :—

टॉलेमी में सालंकायन का उल्लेख हमें मिलता है जिसने उन्हें 'सलकेनोई' कहा है और वेंगीपुर को उनकी राजधानी बताया है। यह स्थान कृष्णा और गोदावरी के बीच स्थित था। उन लोगों ने वेंगी से शासन पत्र निकाले। प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त ने वेंगी के राजा हस्तिवर्मा को परास्त किया था। एक शिलालेख में देववर्मा नामक राजा का उल्लेख मिलता है जिसने समुद्रगुप्त से पूर्व अश्वमेध यज्ञ किया था। उसने पल्लवों से संघर्ष कर अपनी शक्ति बढ़ायी। अन्त में पल्लवों ने ही उसे कमजोर कर दिया। इस कुल में हस्तिवर्मा प्रथम, नन्दिवर्मा प्रथम, हस्तिवर्मा द्वितीय और स्कन्दवर्मा राजा हुये।

समुद्रगुप्त के आक्रमण के समय पूर्वी दक्कन छोटे-छोटे राज्यों में बंटा था—कोसल में विलासपुर, रायपुर, संबलपुर और गंजाम का भाग था, कुराल में कोलेयर झील का क्षेत्र था। गंजाम जिले में निम्न दो छोटे-राज्य थे—कोतुर और एरण्डपाल। गोदावरी जिले में पिष्टपुर और अवमुक्त दो राज्यों की राजधानियाँ थीं। विशाखापतनम् में दक्षिणी भू-भाग जीत लिये और वेंगी राष्ट्र उसका नया नामकरण हुआ। स्कन्दवर्मा के बाद इस राज्य का पता नहीं चलता है। सालंकायन राजाओं के मुकुट से साँड़ का चिह्न था। इनके यहाँ गाँव का मुखिया मुतुद कहलाता था। यह उपाधि अन्यत्र नहीं मिलती। ये लोग सूर्य, शिव और विष्णु के पूजक थे। विदेशों में सांस्कृतिक उपनिवेश-स्थापन में भी इन लोगों का योगदान रहा है। कलिंग में समुद्रगुप्त के बाद माथर कुल का शासन प्रारंभ हुआ। इनकी वंशावली अनिश्चित है। इनके शासक अपने को कलिंगाधिपति तथा परममाहेश्वर कहते थे। इनके लेखों की भाषा संस्कृत है। इनका शासन-काल ३७५ से ५०० ई० है। इसके बाद उत्तर कलिंग में गंग राजाओं का उदय हुआ। दक्षिण कलिंग वेंगी राज्य का अंग बन गया।

विष्णुकुण्डिन वंश :—

विष्णुकुण्डिन वंश का संस्थापक विक्रमेन्द्र वर्मा प्रथम था। इस वंश की महानता का निर्माता माधववर्मा प्रथम जनाश्रय जिसका शासन-काल ५३५ ई० से ५८५ तक था जिसके विषय में ऐसा कहा जाता है कि उसने ११ अश्वमेध, १००० अग्निष्टोम और हिरण्यगर्भ महादान नामक यज्ञ किया। वह एक विद्वान राजा था और उसने छन्दोविचिति नामक छन्द ग्रन्थ की रचना की। उसके और मौखरी राजा ईशानवर्मा के बीच एक संघर्ष हुआ जिसमें ५५३ ई०,में आन्ध्र राजा हार गया। उसने वाकाटक राजकुमारी से विवाह किया। उसका उत्तराधिकारी इन्द्रवर्मा (५९०–६२० ई०) था। उसने विजगापट्टम तक के प्रदेश जीत लिये और वहाँ एक गाँव दान में दिया। दान, विद्या-विस्तार और विद्यालयों की स्थापना के लिये वह प्रसिद्ध था। इन्दाधिराज के नेतृत्व में बने पूर्वी राजाओं के एक संघ ने उसे हरा दिया और उसकी विजय की प्रगति रोक दी। उसके उत्तराधिकारी विक्रमेन्द्र वर्मा तृतीय ने उसकी आक्रामक विदेश नीति जारी रखी। पुलकेशिन द्वितीय ने उसपर आक्रमण किया और कुनाल झील के पास के उसके दुर्ग को जीत लिया। इस बात की पुष्टि ऐहोल अभिलेख से मिलती है। इसके बाद विष्णुकुण्डिन का इतिहास समाप्त होता है। सातवाहन और चालुक्य वंश के बीच विष्णुकुण्डिन वंश एक कड़ी का काम करता है।

९. राष्ट्र कूट वंश

उत्पत्ति और मूल

राष्ट्रकूटों के बारे पाटन, सांगली, नौसारी और वर्धा लेखों से ज्ञात होता है कि वे प्राचीन यदुवंश की सन्यकि शाखा के थे और उनका पूर्वज रट्ठ था, जिसका पुत्र राष्ट्रकूट हुआ जो इस वंश का संस्थापक था। डॉ० रा० गो० भण्डारकर तथा सी० वी० वैद्य ने इसे नहीं स्वीकार किया तथा वे इन नामों को काल्पनिक मानते हैं। वैद्य के अनुसार राष्ट्रकूट राजकीय पदवी थी। उनको फ्लीट उत्तर के राठौरों के वंशज मानते हैं तथा बरनेल आन्ध्र के रेड्डियों से उनका सम्बन्ध जोड़ते हैं, किन्तु ये मत निराधार हैं। भण्डारकर और वैद्य उनको मूलतः महाराष्ट्र के निवासी मानते हैं तथा दूसरी ओर अल्तेकर उनके द्वारा कन्नड़ी भाषा और लिपि के प्रयोग के आधार पर उनको मूलतः कर्णाटक के निवासी मानते हैं। किन्तु सभी विवादों का सार यह प्रतीत होता है कि राष्ट्रकूट प्राचीन यादवों के वंशज थे जो उत्तर भारत से आकर दक्षिण में बसे थे और अशोक के समय में रष्टिक अथवा रठिक और आन्ध्रों के समय में महाराठी कहलाते थे। वे पहले महाराष्ट्र में रहते थे, यद्यपि

महाराष्ट्र का थोड़ा दक्षिण भाग भी उनके अधीन था।[1] वातापी के चालुक्यों के समय में वे उनके अधीन थे। किन्तु चालुक्य राजा द्वितीय कीर्त्तिवर्मा के समय वे अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफल हुए। उन्होंने पहले नासिक जिले में मयूर खेड़ और पीछे मान्य खेड़ (हैदराबाद में मान्य खेड़) को अपनी राजधानी बनाया।

प्रारम्भिक इतिहास

राष्ट्रकूटों के समरगढ़ लेख से प्रथम गोविन्द, प्रथम कर्क तथा द्वितीय इन्द्र तक उनके पूर्वजों का पता था। किन्तु एलोरा के दशावतारों के एक मन्दिर में प्राप्त एक लेख के अनुसार उससे भी पहले दन्तिवर्मन् और प्रथम इन्द्र राज नामक पूर्वजों के नाम प्राप्त हुए। इतिहासकारों का मत है कि प्रथम इन्द्रराज प्रथम गोविन्द का पिता था और दन्तिवर्मन इन्द्रराज का पिता।[2] अल्तेकर का मत है कि सातवीं शताब्दी के मध्य में बरार के एलिचपुर में राज्य कर रहे मन्नराज युवासुर के किसी न किसी रूप में सम्बन्धी थे। वे भी बरार में ही राज्य करते थे और वे वहीं से दूसरे स्थानों पर गये।[3] प्रारम्भिक राजाओं के बारे में विशेष कुछ ज्ञात नहीं। प्रथम गोविन्द इस वंश का प्रथम प्रभावशाली शासक प्रतीत होता है, जिसकी समता भण्डारकर ने ऐहोल प्रशस्ति में उल्लिखित गोविन्द से की है, जिसने पुलकेशिन के विरुद्ध विद्रोह किया था। इस विषय में कुछ निश्चित कहना सम्भव नहीं। उसका पुत्र प्रथम कर्क वैदिक धर्म का संरक्षक था और उसने कई यज्ञ किये। उसका पुत्र द्वितीय इन्द्र था। समनगढ़ पत्र लेख के अनुसार उसने चालुक्य राजकुमारी भवनामा से विवाह किया, जिसे वह जबरदस्ती लेकर भाग गया था। उसका पुत्र दन्तिदुर्ग हुआ, जो अपने वंश का प्रथम शक्तिशाली राजा था।

आठवीं शताब्दी के मध्य दन्तिदुर्ग ने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। उसने विजयिनी चालुक्य सेना को पराजित कर द्वितीय कीर्त्तिवर्मन से वातापी छीन ली। उसने दक्षिण के राज्यों और राजाओं को जीतकर दक्षिणा पथ के ऊपर अपना अधिकार स्थापित किया तथा मालवा के गुर्जर-प्रतिहार राज्य पर भी चढ़ाई की और मालवा, लाट, काञ्ची, कलिंग, कोसल श्री शैल तक के राजाओं को

---

१. विशेष विवरण के लिए देखें :—
भण्डारकर—अ० हि० दे० पृ० १०६
वैद्य—हि० इ० १ पृ० १४४
अल्तेकर—राष्ट्रकूटाज ऐण्ड देयर टाइम्स, पृ० १९—२२

१. भण्डारकर—अर्ली हिस्ट्री आफ दि डेक्कन पृ० १९६

२. अल्तेकर—राष्ट्रकूटाज ऐण्ड देयर टाइम्स, पृ० ११—१२

भी परास्त किया। उसके साम्राज्य का विस्तार उत्तर में नर्मदा और दक्षिण में तुङ्गभद्रा नदियों के बीच हो गया तथा उस समय वह दक्षिण का सबसे शक्तिशाली राजा था। उसने 'राजाधिराज परमेश्वर' की उपाधि धारण की। दन्तिदुर्ग को कोई पुत्र न था, इसलिए उसके बाद उसका चाचा प्रथम कृष्ण राजा हुआ। उसने चालुक्यों की बची शक्ति को भी नष्ट किया और राष्ट्रकूटों के एक भीषण-शत्रु राहप्प को हराया। यह राहप्प कौन था—कहा नहीं जा सकता। इसके बाद उसने कोंकण को जीता, गंगवाड़ी और वेंगी के चालुक्य राजा कुब्ज विष्णु वर्धन पर भी विजय किया। तदन्तर उसने 'राजाधिराज परमेश्वर' की उपाधि धारण की। उसके दूसरे नाम शुभतुंग और अकालवर्ष थे। कृष्ण प्रसिद्ध भवन-निर्माता था। उसने एलोरा का प्रतिद्ध कैलास मन्दिर बनवाया। यह पर्वत काटकर बनाया गया है और भारतीय स्थापत्य का अद्भुत उदाहरण है।

गोविन्द द्वितीय

कृष्ण प्रथम के बाद उसका पुत्र गोविन्द द्वितीय गद्दी पर बैठा (७७२ ई०)। युवराज के रूप में उसने अपने पिता के समय वेंगी-विजय में हाथ बटाया था। उसने नन्दिवर्मा, पल्लव मल्ल और उसके मित्र गंगराजा शिवभार द्वितीय की, उसके भाई को गंगवंश की राजगद्दी से उतारने में सहायता की और इस प्रकार दक्षिण की राजनीति में हाथ डाला। वह एक विजयी शासक था। वह बड़ा विलासी और असावधान था। इसलिए उसका भाई ध्रुव उसे गद्दी से हटाकर स्वयं राजा बन बैठा।

ध्रुव

ध्रुव बड़ा ही शक्तिशाली शासक था। उसका दूसरा नाम ध्रुव धारा वर्ष था। उसने गंगराज्य (मैसूर में) को अपने राज्य में मिला लिया और पल्लवों को अपने अधीन किया। उसने पल्लव, गंग, पूर्वी चालुक्य और मालवा के राजाओं के एक संघ को परास्त किया। उसने अपने सब प्रतिपक्षियों से इस प्रकार बदला लिया—गंग राजाओं को बन्दी किया, पल्लव राज से हाथियों का कर लिया; मालवा के राजा बासराज को मरुभूमि में ढकेल दिया, बंगाल के राजा धर्मपाल को हराकर अपना कार्य पूरा किया और पूर्वी चालुल्य राजा विष्णु वर्द्धन चतुर्थ को उसे अपने राज्य का कुछ भाग देने तथा उसके साथ अपनी पुत्री शीलमहादेवी का विवाह करने के लिए विवश किया। उसने उत्तर भारत की राजनीति में भी सक्रिय रूप से भाग लिया और इन्द्रायुध के समय गंगा के दो आब पर भी आक्रमण किया। उसने अपने झंडे पर गंगा-यमुना का चिह्न ग्रहण किया। इससे उत्तर-भारत में उसका साम्राज्य तो स्थापित नहीं हुआ, किन्तु उसका आतंक सारे देश में छा गया। वह कलि, श्री वल्लभ और निरूपम नाम से भी प्रसिद्ध है।

अल्तेकर के अनुसार—"ध्रुव सुयोग्यतम राष्ट्रकूट नरेशों में एक था जिसने न केवल दक्षिण में राष्ट्रकूट-प्रभुता की स्थापना की, वलिक राष्ट्रकूट को अखिल भारतीय शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया। उत्तरी भारत के भागों के आन्ध्रों द्वारा अपने साम्राज्य में मिलाये जाने के वाद, पहली बार सम्भवतः नौ शताब्दियों के उपरान्त, दक्षिणापथ की एक सेना ने विन्ध्यपर्वत श्रेणियों का अतिक्रमण करके मध्य देश के उर-प्रदेश में प्रवेश किया और उत्तर भारत के साम्राज्यवादी सत्ता को प्राप्त करने के उत्सुक दो प्रतिस्पर्धियों में प्रत्येक को पराजित किया"।[1]

गोविन्द तृतीय

ध्रुव ने अपने शासनकाल के अन्तिम दिनों में अपने तृतीय पुत्र गोविन्द को युवराज नियुक्त किया और कुछ दिनों के वाद उसके पक्ष में स्वयं राज्य त्याग दिया। गोविन्द तृतीय का अपने पिता द्वारा निर्वाचित किया जाना यह सिद्ध करता है कि वह योग्य और पराक्रमी था। वस्तुतः गोविन्द तृतीय ने अपने कार्यों द्वारा अपने को एक वीर विजेता प्रमाणित किया। यद्यपि ध्रुव उसे अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित करने के वाद मरा था किन्तु गोविन्द तृतीय के उत्तराधिकार का उसके बड़े भाई स्तम्भ ने विरोध किया। उसने बारह राजाओं का एक संघ बनाया और इस संघ का नेतृत्व स्वयं उसी ने ग्रहण किया। इस संघ में गंगराज शिवभार द्वितीय भी सम्मिलित था जिसको गोविन्द तृतीय ने कारावास से मुक्त कर दिया था। गोविन्द अपने विरुद्ध बारह राजाओं की सम्मिलित शक्ति से तनिक भी भयभीत न हुआ अपितु उसने धैर्य और साहस के साथ अकेले ही उसका सामना करने का निश्चय किया। उसने इस संघ पर विजय प्राप्त की और विद्रोह का दमन करने में वह पूर्ण रूप से सफल रहा, किन्तु विद्रोहियों के साथ उसने उदारता का व्यवहार किया। स्तम्भ को उसने गंगवादि का वाइसराय नियुक्त किया। परन्तु शिवभार की कृतघ्नता से सशंकित होकर गोविन्द ने उसको पुनः बन्दीगृह में डाल दिया। इन्द्र को जिसने गोविन्द तृतीय के प्रति अपनी स्वामिभक्ति प्रदर्शित की थी, उसने लाट प्रदेश का शासक मनोनीत किया। इस प्रकार आन्तरिक उपद्रवों से छुटकारा प्राप्त कर लेने के उपरान्त गोविन्द अपनी रण वाहिनी उत्तर भारत में ले गया और मालवा नरेश गुर्जर नागभट्ट द्वितीय और उसके सहयोगी चन्द्रगुप्त को हराया। कुछ दिनों तक मालवा लाट प्रदेश के शासक के अधीन रहा। अधिक उत्तर में पहुँचकर गोविन्द तृतीय ने कन्नौजाधिपति चक्रायुध को अपने आगे आत्मसमर्पण करने के लिए विवश किया और इस प्रकार चक्रायुध के संरक्षक धर्मपाल की भी अवहेलना की। यह स्पष्ट है कि तीन शक्तियों के वीच प्रभुता के

---

१. राष्ट्रकूटाज ऐण्ड देयर टाइम्स, पृ० ५९

इस संघर्ष में गोविन्द तृतीय ने राष्ट्रकूटों को सबसे अधिक शक्तिशाली प्रमाणित किया। गोविन्द ने ८०३ ई० के लगभग पल्लव राज्य पर आक्रमण करके दन्तिवर्मन को हरा दिया। उत्तर के रण-अभियाण से लौट आने के बाद पल्लवों के साथ उसने पुनः अपना युद्ध जारी कर दिया। दक्षिण की राजशक्तियों के विरूद्ध युद्ध में गोविन्द तृतीय को इतनी अधिक सफलता प्राप्त हुई कि उसकी चोलों, पाण्ड्यों, गंगवाड़ो और केरलों की सम्मिलित शक्ति के ऊपर विजय का यश लंका तक पहुँच गया और लंकाधिपति ने उसकी सेवा में अपनी एक मूर्ति भेजकर अपनी अधीनता प्रकट की। दक्षिण में अपने विद्रोहियों की शक्ति को कुचलने के बाद गोविन्द ने अपना जीवन राज्य के आन्तरिक शासन को सुव्यवस्थित करने में व्यतीत किया। अभिलेखों के अनुसार वह एक महान् सम्राट् था और उसके समय राष्ट्रकूट शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। उसने अपने आन्तरिक शासन को भी सुव्यवस्थित किया।

'गोविन्द तृतीय का मूल्यांकन'

रतिभानुसिंह नाहर के अनुसार राष्ट्रकूट राजकुल इस बात के लिए भारत के प्राचीन इतिहास में विख्यात है कि इसके राजाओं ने अपने वंश की प्रतिष्ठा स्थापित करने और उसके राजनीतिक गौरव को बढ़ाने का योग्यतापूर्ण प्रयास किया। इस राजकुल में कई सुयोग्य शासक और महान् विजेता हुए थे जिन्होंने अपने कार्यों द्वारा वास्तविक रूप में अपने वंश का गौरव बढ़ाया। राष्ट्रकूटों के इस विशिष्ट कुल में गोविन्द तृतीय एक विशिष्ट और उल्लेखनीय शासक था। अपनी कुशल राजनीतिज्ञता और प्रचण्ड रण-शक्ति के द्वारा उसने सम्पूर्ण भारत-उत्तरापथ और दक्षिणा पथ के शासकों में अपना आतंक और प्रभाव जमाया। अल्तेकर का विश्वास है कि उसकी विजयवाहिनी के प्रयाण के अन्तर्गत हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक का सम्पूर्ण प्रदेश आ गया था। उससे डट कर लंका के राजा ने भी उसके प्रति आत्म समर्पण कर दिया। उसने अपने वंश का सुयश और गौरव उस सीमा तक पहुँचा दिया जहाँ तक उसका न कोई पूर्ववर्ती और न परवर्ती शासक पहुँच सका था[1]। अपने राज्य की गृह शक्ति को सुदृढ़ करने में उसने सामन्तों के साथ समझौते की नीति का अवलम्बन किया। इन्द्र के साथ सद्व्यवहार करके उसने अपनी कूटनीति और भ्रातृ-स्नेह का परिचय दिया। गोविन्द तृतीय के राजकवि का कहना है कि उसके जन्म के बाद राष्ट्रकूट लोग उसी प्रकार अजेय हो गए जिस प्रकार श्री कृष्ण के जन्म के बाद यादव हो गये थे। उसके अभिलेख यह सूचित करते हैं कि विन्ध्य-शृंखला से लेकर उसका राज्य तुंगभद्रा तक फैला

१. वही पृ० ७०८

था। लाट प्रदेश में, जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, उसका अनुज इन्द्र उसके राज-प्रतिनिधि के रूप में शासन करता था। गोविन्द एक विजेता ही नहीं वरन् एक सफल शासक भी था। उसने शासन व्यवस्था को दृढ़ और सुव्यवस्थित बनाया। उसकी सफलता का कारण यह था कि उसके अन्दर वीरता, राजनीतिज्ञता और संगठन शक्ति के गुणों का समन्वय था। उसके भतीजे कर्क के बड़ौदा लेख में उसकी तुलना पार्थ से की गयी है। इसी शासक के नौसारी लेख में यह बतलाया गया है कि गोविन्द तृतीय रणभूमि में, अपने शत्रुओं से तनिक भी न डरते हुए, तुरन्त कूद पड़ता था। उत्तर और दक्षिण में उसका सफल रण-अभियान उसकी अपूर्व वीरता और संगठन-शक्ति का निदर्शन करता है। अपने शासनकाल की शुरुआत में उसने स्तम्भ के ऊपर जिस प्रकार विजय प्राप्त की और उसके साथ जो व्यवहार किया, उससे उसकी चतुर राजनीतिज्ञता का परिचय प्राप्त होता है। उसके समस्त गुणों को ध्यान में रखने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं कि गोविन्द तृतीय अपने युग के सबसे महान् शासकों में से है।

अमोघवर्ष प्रथम

गोविन्द तृतीय के बाद उसका पुत्र अमोघवर्ष प्रथम ८१४ ई० में राष्ट्रकूट की राजगद्दी पर बैठा। राज्याभिषेक के समय उसकी अवस्था केवल १२ वर्ष की थी। वह 'नृपतुंग' भी कहलाता था। अमोघवर्ष की अल्पावस्था से राष्ट्रकूट के विरोधियों ने लाभ उठाना चाहा। विद्रोही सामन्तों ने उसके विरुद्ध अपना सिर उठाया तथा पश्चिमी गंगों ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा करके बाल-नृपति को गद्दी से हटा दिया, जिससे राज्य में अशान्ति और अव्यवस्था फैल गयी। संजन लेख के अनुसार उसके विरुद्ध अन्तःपुर से ही विद्रोह प्रारम्भ हुआ था। कहा जाता है कि उसके मंत्री कृतघ्न और सामन्त विद्रोही हो गये। राजबली पाण्डेय का अनुमान है कि सम्भवतः अन्तःपुर की दूसरी रानियों ने अपने पुत्रों के लिए राज्य चाहा होगा।[1] लेकिन अमोघवर्ष प्रथम जब बड़ा हुआ तो उसने अपनी स्थिति कर्कराज की मदद से सुधार ली। ८१६ ई० से ८२१ ई० के बीच राष्ट्रकूट वंश की शक्ति ह्रासोन्मुख थी। वेंगी के चालुक्य राजा तृतीय विक्रमादित्य को उसने हराया और दूसरे पड़ोसी राजाओं को उसने अपने वश में किया। इसी के शासनकाल में राष्ट्रकूटों की राजधानी मयूखंड से मान्यखेट में आयी। फिर भी अमोघवर्ष आन्तरिक झगड़ों में ही इतना उलझा रहा कि न तो वह कोई नया प्रदेश जीत सका, न अपने साम्राज्य के बाहर कोई विजय यात्रा कर सका। उत्तर में प्रतिहार राजा भोज काफी प्रबल हो रहा था। उसने दक्षिण में प्रसार का प्रयत्न किया पर गुजरात शाखा के

---

१. वही, पृ० ३९०

द्वितीय ध्रुव ने उज्जयिनी और नर्मदा तक बढ़ आये भोज को रोक रखा। सीरपुर लेख के अनुसार उसने फिर सिंहासन पर आधिपत्य जमाया तथा अंग, बंग तथा मगध के राजाओं पर अपना प्रभाव स्थापित किया पर इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है।

उसने गंगवाड़ी के राजा भूतग से अपनी कन्या का विवाह कर उसे अपना मित्र बना लिया। अपने साठ वर्ष के लम्बे शासनकाल में अमोघवर्ष ने कोई भी महत्त्वपूर्ण सैनिक सफलता नहीं प्राप्त की। अल्तेकर के शब्दों में, वह अपने पिता या पितामह के समान सैन्य मनोवृति का नहीं था।

उसकी रुचि सैनिक कार्यों की ओर नहीं थी। वह शान्तिप्रिय था तथा धर्म एवं साहित्य के प्रति उसके हृदय में पर्याप्त अनुराग था। 'कविराजमार्ग' नामक ग्रन्थ का वह रचयिता था। यह काव्यशास्त्र पर कन्नड़ भाषा में लिखा हुआ पहला ग्रन्थ है। वह साहित्यानुरागी के साथ-साथ साहित्यकारों का संरक्षक भी था।

धर्म के क्षेत्र में उसकी रुचि जैनमत की ओर थी। उसके परम गुरु जिनसेन थे। अमोघवर्ष स्यादवाद (जैनमत) का मानने वाला था। यद्यपि अमोघवर्ष जैनमत के सिद्धान्तों से बहुत अधिक प्रभावित था तथापि उसकी आस्था अपने पूर्वजों के धर्म में बनी रही। उसने हिन्दू धर्म का परित्याग नहीं किया था पर उसके समय में जैन धर्म का दक्षिण में बड़ा प्रचार हुआ।

वह महालक्ष्मी का भी परम भक्त था। संजन लेख के अनुसार एक बार अपनी प्रजा के कष्ट निवारणार्थ उसने अपने बायें हाथ की उंगली काट कर महालक्ष्मी देवी के चरणों में चढ़ा दी थी। इसकी पुष्टि हमें अल्तेकर से भी होती है।[१] शासन के अन्तिम दिनों में उसने अपना कार्य भार युवराज कृष्ण तथा मंत्रिपरिषद् पर छोड़ दिया। उसने अपनी राजधानी मान्यखेट में बनायी। सुलेमान नामक अरब यात्री ने लिखा है कि दीर्घ जीवी बल्हर (बल्लभराज का अरबी रूपान्तर-अमोघवर्ष प्रथम) संसार के चार महान् सम्राटों में से एक है। उसने तीन अन्य महान् सम्राटों को इस प्रकार बतलाया है बगदाद का खलीफा, कुस्तुन्तुनिया का शासक और चीन का सम्राट।

कृष्ण द्वितीय (८८०–९१४ ई०)

अमोघवर्ष प्रथम के बाद उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय शासक हुआ। उसके अभिलेखों में उसे महान् विजेता कहा गया है। एक स्थान पर यह उल्लेख मिलता है कि उसकी आज्ञाओं का पालन अंग, कलिंग, गंग और कोशल के नरेश करते

१. The Rashtrakutas and their Times, p. 87–88.

थे। यह निश्चित है कि अभिलेख का यह दावा अतिरंजन मात्र है। यह अवश्य है कि कृष्ण द्वितीय को अपने पड़ोसी राज्यों से बराबर संघर्ष करते रहना पड़ा। दक्षिण में उसने गंगों और नीलम्बों से, पूर्व में वेंगी के चालुक्यों से और उत्तर में गुर्जर प्रतिहारों तथा गुजरात के राष्ट्रकूटों से युद्ध किया। मिहिर भोज से कृष्ण द्वितीय ने जो युद्ध किया उसमें वह कन्नौज के इस प्रतापी नरेश का कुछ भी बिगाड़ न सका। कृष्ण द्वितीय के समय में विजयादित्य तृतीय और भीम प्रथम ने पूर्वीय चालुक्यों की स्वतंत्रता प्रतिष्ठित की। अमोघवर्ष प्रथम ने वेंगी के पूर्वीय चालुक्य राजा को पराजित करके उसे अपने अधीन किया था, परन्तु कलुचुम्बर दानपत्र से विदित है कि चालुक्य राजा भीम ने कृष्ण वल्लभ की सेना को पराजित कर दिया। इस प्रकार कृष्ण द्वितीय के शासन काल में भीम प्रथम ने राष्ट्रकूटों की शक्ति का विरोध करते हुए अपने वंश की स्वतंत्रता घोषित की। कृष्ण द्वितीय गंगवाड़ी के राज्य को भी अपने राज्य में फिर से मिलाने में असफल रहा। कृष्ण द्वितीय अपने पिता की भाँति एक शान्तिप्रिय और धर्मानुरागी व्यक्ति था। राज्य सम्हालने में अपने पिता के समान एक शान्तिप्रिय और धर्मानुरागी व्यक्ति था। राज्य संभालने में उसे अपने श्वसुर त्रिपुरी के कलचुरी कोक्कल प्रथम से बहुत सहायता प्राप्त हुई। कृष्ण तृतीय भी अपने पिता की तरह जैन सिद्धान्तों से प्रभावित था। गुणभद्र नामक जैनाचार्य उसके गुरु थे। ९१४ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

इन्द्र तृतीय

९१४ ई० के लगभग कृष्ण द्वितीय का देहान्त हो जाने पर उसका पौत्र इन्द्र तृतीय नित्यवर्ष राष्ट्रकूट राजसिंहासन पर बैठा। सिंहासनारूढ़ होने पर इन्द्र तृतीय की आयु पैंतीस वर्ष की थी और उसने केवल पाँच वर्ष तक शासन किया। परन्तु अपने अतिसंक्षिप्त काल में ही इन्द्र तृतीय ने अपने को पराक्रमी योद्धा प्रमाणित किया। उसने जिस समय सिंहासन पर चरण रखा, गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य की आन्तरिक स्थिति शोचनीय थी। पारस्परिक कलहों के कारण राजवंश की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचा और सामन्तों की स्वामिभक्ति विभाजित हो जाने से उसकी शक्ति का भी बहुत ह्रास हुआ। प्रतिहार साम्राज्य की ऐसी स्थिति देखकर इन्द्र तृतीय ने उसपर आक्रमण करने का विचार किया। गोविन्द तृतीय ने जिस समय प्रतिहार नृपति नागभट्ट पर आक्रमण किया था, उसे एक सुदृढ़ संघ का मुकाबला करना पड़ा था। परन्तु इन्द्र तृतीय के आक्रमण का सामना करने के लिए किसी संघ का निर्माण न किया जा सका, क्योंकि जैसा कहा जा चुका है, इस समय प्रतिहार साम्राज्य राजवंश के पारस्परिक झगड़ों के कारण जर्जर हो रहा था।

हमें इन्द्र तृतीय के आक्रमण का कोई सविस्तार विवरण उपलब्ध नहीं है। खम्भात पत्र लेखों से यह ज्ञात होता है कि पहले उसने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। इसके बाद यमुना नदी को अवतीर्ण करके उसने कन्नौज जीत लिया। गुर्जर प्रतिहार सम्राट महिपाल भाग खड़ा हुआ और इन्द्र तृतीय के एक सेनापति नरसिंह चालुक्य ने उसका पीछा किया। इस प्रकार की गौरवमयी सैनिक सफलता गोविन्द तृतीय तथा ध्रुव धारावर्ष को भी न प्राप्त हो सकी थी। यदि इन्द्र तृतीय की असामयिक मृत्यु न हुई होती, तो सम्भव था कि, राष्ट्रकूटों की विजय पताका उत्तरी भारत के पर्याप्त भागों पर भी फहराई गई होती और वे भाग उनके साम्राज्य में सम्मिलित हो गये होते।

अमोघवर्ष तृतीय (९३५–९३९ ई०)

अमोघवर्ष तृतीय धार्मिक अभिरुचि का राजा था। उसने अपने पुत्र कृष्ण तृतीय के हाथ शासन-भार सौंप दिया। अपने यौवराज्य काल में कृष्ण तृतीय ने अपने बहनोई पश्चिमी गंग के राजा बुतुग द्वितीय को तलकड का सिंहासन फिर से प्राप्त करने में सहायता प्रदान की। यद्यपि अमोघवर्ष तृतीय ने त्रिपुरी के कलचुरि केयूरवर्ष युवराज प्रथम की कन्या से अपना विवाह किया तथापि ऐसा मालूम पड़ता है कि कलचुरियों और राष्ट्रकूटों में कुछ अनबन हो गई। कृष्ण तृतीय ने कलचुरियों को हराया और कलिंजर पर अपना अधिकार जमा लिया।

कृष्ण तृतीय

कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट सिंहासन पर सन् ९३९ ई० के दिसम्बर मास में बैठा। अपने पिता के समय में वह अपनी वीरता का परिचय दे चुका था परन्तु अपने राज्याभिषेक के पहले उसने रण-अभियान प्रारम्भ नहीं किया। उसकी वीरता और योग्यता का सिक्का लोगों के ऊपर अच्छी तरह जम चुका था; अतएव उसके राज्यारोहण के समय किसी प्रकार का उपद्रव नहीं हुआ। कृष्ण तृतीय ने एक भयंकर युद्ध के उपरान्त चोलों को गहरी पराजय दी। इस युद्ध में चोल युवराज राजादित्य को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। चोलों के विरुद्ध युद्ध करने में कृष्ण तृतीय को अपने बहनोई बुतुग द्वितीय से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई थी। इसलिए राष्ट्रकूट सम्राट ने बनवासी तथा अन्य प्रदेश गंगराज को दे दिया। कृष्ण तृतीय के कई अभिलेख दक्षिणी अरकाट, उत्तरी अरकाट और चिंगलपुर के जिलों में प्राप्त हुए हैं। इन अभिलेखों में तंजोर और काञ्ची का विजेता उसे कहा गया है। ये अभिलेख यह सिद्ध करते हैं कि कृष्ण तृतीय ने तोंडमण्डलम् (उत्तरी और दक्षिणी पेन्नर नदियों के बीच का प्रदेश) को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। वेंगी के सिंहासन पर कृष्ण तृतीय ने अपने समर्थक बाडप को प्रतिष्ठित किया

लेकिन परमारों की शक्ति के विकास को रोकने में उसे कोई स्थायी सफलता न प्राप्त हो सकी। दक्कन में कृष्ण तृतीय ने अपने पौरुष से राष्ट्रकूटों का आधिपत्य फिर से स्थापित किया लेकिन उत्तरी भारत में उसे विशेष सफलता न प्राप्त हुई। फिर भी ऐसा ज्ञात होता है कि उसने अपने राज्याभिषेक के बाद मध्य भारत के कुछ प्रदेश जीते थे। यशोवर्मन प्रथम और बंग के अधीन चन्देलों की शक्ति का उदय हो जाने के कारण कृष्ण तृतीय उत्तर भारत में अपनी विजय पताका न फहरा सका। सुदूर दक्षिण में उसने पाण्ड्य और केरल राज्यों के शासकों पर विजय प्राप्त की थी। लंका के राजा ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली जिसके उपलक्ष में कृष्ण तृतीय ने रामेश्वरम् में अपने विजय स्तम्भ खड़े किये।

अपनी गृहनीति को सुदृढ़ करने के लिए कृष्ण तृतीय ने सामन्तों का संगठन एक नये और स्थायी तरीके पर किया। ऐसा कहा जाता है कि सामन्त सरदारों ने उसके सम्मुख आत्म-समर्पण किया। उसने अपने कुछ अधीनस्थ सरदारों से उनकी भूमि छीन ली, और उनके स्थान पर अपने समर्थकों को भूमि प्रदान करके उन्हें अपना सामन्त बनाया। उसने इस प्रकार के नियम बनाये, जिससे उसके सामन्तों में विघटन और अनैक्य की प्रवृत्ति उत्पन्न हो। कृष्ण तृतीय ने एक चतुर राजनीतिज्ञ के समान यह अनुभव किया कि जबतक उसके सामन्तों की शक्ति कम न हो जायगी, राज्य की आन्तरिक स्थिति पूर्ण रूपेण निरापद और सुदृढ़ न हो पायेगी। दक्षिण में उसने जिन स्थानों को विजित किया वहाँ पर उसने अपने समर्थकों को शासक नियुक्त कर दिया और उन्हें आन्तरिक शासन के मामलों में काफी सुविधा भी प्रदान की। इस प्रकार दक्षिण में कृष्ण तृतीय ने जो उपनिवेश स्थापित किए उससे भी उसकी राजनीतिज्ञता का परिचय मिलता है।

कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट वंश का एक योग्य राजा था। उसके समान उसके किसी भी पूर्वाधिकारी ने प्रायद्वीप के भाग पर उतना सुदृढ़ अधिकार स्थापित नहीं किया था। कहा जाता है कि गोविन्द तृतीय जैसा पराक्रमी विजेता भी पल्लव राजाओं के अधीनस्थ भागों पर अपना प्रत्यक्ष शासन स्थापित नहीं कर पाया था। वेंगी के सिंहासन पर गोविन्द तृतीय अपने किसी समर्थक या मनोनीत व्यक्ति को अधिष्ठित नहीं कर सका था। इसमें सन्देह नहीं कि कृष्ण तृतीय एक योग्य शासक और सफल योद्धा था। पोन्ना नामक कवि को उसने अपनी राजसभा में सम्माननीय स्थान दिया। पम्पा नामक कन्नड़ कवि भी उसके किसी सामन्त की सभा को सुशोभित करता था।

राष्ट्रकूटों का पतन

कृष्ण तृतीय अपने वंश का अन्तिम महान् शासक था। उसकी मृत्यु (९६८ ई०) के बाद राष्ट्रकूटों का गौरव समाप्त होने लगा। खोट्टिग, जो कृष्ण तृतीय का

भ्राता और उत्तराधिकारी था, इतना शक्तिहीन प्रमाणित हुआ कि उसके शासन काल में मालवा के परमार नरेश सीपकहर्ष ने राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट तक पर अपना आधिपत्य जमा लिया। खोट्टिग का भतीजा और उत्तराधिकारी कर्क द्वितीय था, जिसके अधिकार से ९७३ ई० में तैल द्वितीय ने राजसिंहासन छीन लिया। तैल ने कल्याणी के चालुक्य राजवंश की नींव डाली। इस प्रकार राष्ट्रकूटों की शक्ति का पतन हो गया।

१०. देवगिरि के यादव

यादव लोग अपने को भगवान् कृष्ण के वंशज या यदुवंश का बताते हैं। पहले वे राष्ट्रकूटों के सामन्त थे, बाद में पश्चिमी चालुक्यों की शक्ति बढ़ने पर यादव लोग उनके सामन्त हो गये। उत्तरवर्ती चालुक्यों के काल में (विशेषतया विक्रमादित्य षष्ठ के शासन काल में) यादव वंश का प्रमुख सेन्नुचन्द्र चालुक्य राज्य के सम्पूर्ण उत्तरी प्रदेश का शासक नियुक्त किया गया। विक्रमादित्य षष्ठ ने यह अनुभव किया कि वह बिना स्थानीय सरदारों की सहायता तथा भक्ति प्राप्त करने के लिए उनको स्थानीय शासन की स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। सेन्नुचन्द्र का शासन गोदावरी के मैदानी भाग (खानदेश) पर था। विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद उसने अपनी शक्ति को बढ़ाया। बाद में सेन्नुचन्द्र के पुत्र ने अपने पिता के कार्य को जारी रखा। कल्याण में कलचुरी अन्तराधिपत्य के कारण यादव लोग कुछ काल तक अपनी शक्ति का अधिक विकास न कर सके। सोमेश्वर चतुर्थ के समय यादव लोग स्वतन्त्र हो गये। यादवों की स्वतन्त्रता का प्रतिष्ठापक भिल्लम पंचम था, जिसने सोमेश्वर चतुर्थ से कृष्णा नदी के उत्तरवर्ती प्रान्त छीन लिये। भिल्लम पंचम ने सम्राटों के विरुद धारण किये और अपनी राजधानी देवगिरि (दौलताबाद) में बसाई। उसी के समय से देवगिरि के स्वतन्त्र राज्य का प्रारम्भ मानना चाहिए।

भिल्लम बड़ा शक्तिशाली और विजयी राजा था। उसका सबसे पहला कार्य था अपने राज्य की स्थिति सुदृढ़ करना। उसने चालुक्य सम्राटों के केन्द्रीय प्रदेश पर अपना अधिकार कायम किया। धारवारों और कोंकणों को कुचलता हुआ वह कृष्णा नदी के किनारे पहुँच गया और होयसल नरेश वीर बल्लाल द्वितीय से वहाँ पर मुठभेड़ हुई।

होयसल नरेश और वीर बल्लाल के विरुद्ध संग्राम करने में भिल्लम पंचम को सफलता प्राप्त न हो सकी और इन दोनों में एक पारस्परिक समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप कृष्णा नदी उनके राज्यों के बीच एक सीमा रेखा मान ली गई। अपने विद्रोही सामन्तों को दबाने के प्रयत्न में भिल्लम को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। उसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की।

भिल्लम पंचम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जैत्रपाल प्रथम अथवा जैतुगी देवगिरि के सिंहासन पर बैठा। जैतुगी ने ११९१ ई० से लेकर १२१० ई० तक शासन किया। उसने ११९६ ई० में त्रिपुरी के कलचुरियों के ऊपर विजय प्राप्त की और ११९९ ई० में काकतीय राजा महादेव को हराया। यह कहा जाता है कि उसने गणपति काकतीय को, जो कारावास में था, मुक्त कर दिया और वारंगल के सिंहासन पर उसे बैठाया। जैतुगी प्रथम चारों वेदों और तर्क तथा मीमांसा शास्त्रों का पण्डित था। उसने प्रख्यात गणितज्ञ भास्कराचार्य के पुत्र लक्ष्मीधर को अपना राजकवि बनाया। १२१० ई० में जैतुगी की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सिंहण राजा हुआ।

सिंहण

सिंहण के शासन-काल में (१२१०–१२४७ ई०) देवगिरि के यादवों का राज्य अपने विस्तार और गौरव के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। देवगिरि के यादवों में सिंहण सबसे प्रसिद्ध राजा हुआ। १२३१–३२ ई० और १२३७–३८ ई० में सिंहण ने दो बार गुजरात पर आक्रमण किया और बल्लाल द्वितीय के विरुद्ध युद्ध छेड़ कर उसने उससे मालप्रभा तथा कृष्णा नदियों के दक्षिण में काफी विस्तृत भूमि छीन ली। बल्लाल के उत्तराधिकारी नरसिंह द्वितीय को भी सागर तुलुक तथा वेलारी के जिले सिंहण की सेवा में समर्पित कर देने पड़े। इसके बाद होयसल राजा सोमेश्वर ने इस बात का प्रयत्न किया कि वह अपने पिता तथा पितामह द्वारा खोये हुए प्रदेशों को पुनः अपने अधिकार में कर ले और इसी इरादे से वह पण्ढरपुर तक बढ़ आया परन्तु सिंहण के सेनापति बीचन ने होयसल सेनाओं को हरा दिया और उन्हें लौट जाने को विवश किया। बीचन ने यादव विजय वाहिनी के अरबों को कावेरी के जल का पान कराया। इसका परिणाम यह हुआ कि सोमेश्वर को अपने शासन के अन्तिम दिनों तक अपने राज्य के और अधिक भूभागों से हाथ धोना पड़ा। सिंहण ने काकतीय राजा गणपति और मालवा के शासक से निरर्थक ही युद्ध किये क्योंकि मालवराज अर्जुन वर्मन को पराजित कर देने के बावजूद वह उस दिशा में अपनी राज्य सीमा का अधिक विस्तार न कर सका। बघेल राजाओं के समय में उसने गुजरात पर भी कम से कम दो आक्रमण किये। अपने राज्यारोहण के समय सिंहण महाराष्ट्र और कृष्णा नदी के उत्तर में तथा समुद्र तटीय कन्नड़ प्रदेश के कुछ जिलों का स्वामी था परन्तु उसकी विजय नीति से यादव राज्य की सीमा उसी प्रकार विस्तृत हो गई जिस प्रकार कभी पश्चिमी चालुक्यों की हो गई थीं।

सिंहण ने भास्कराचार्य के वंशजों को उचित आदर दिया। उसका राज्य-ज्योतिषि छांगदेव था, जो भास्कराचार्य का पौत्र तथा लक्ष्मीधर का पुत्र था।

छांगदेव ने पातना में एक विद्यालय खोला था जहाँ पर भास्कराचार्य के 'सिद्धान्त शिरोमणि' तथा अन्य ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे। सिंहण की राजसभा को सारंगधर सुशोभित करता था जिसका 'संगीतरत्नाकर' तत्कालीन संगीत साहित्य में सचमुच एक उज्जवल रत्न है। इस ग्रन्थ के ऊपर एक टीका प्रस्तुत है और इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि वह टीका स्वयं सिंहण ने लिखी थी। सिंहण एक नीति कुशल शासक और महान् निर्माता था। उसने अपने राज्य में ८४ दुर्ग बनवाये और अपने सामन्तों को भी ऐसा करने की आज्ञा दी।

सिंहण ने 'पृथ्वी वल्लभ', 'विष्णु वंशोद्भव', 'श्री करणाधिप' आदि विरुद धारण किये। उसके जीवन काल में ही उसका पुत्र जयपाल मर गया।

सिंहण के बाद उसका पौत्र कृष्ण सिंहासन पर बैठा जिसने १२४७ ई० से लेकर १२६० ई० तक शासन किया। गणपति काकतीय ने दक्षिण-पश्चिम में आन्ध्र देश का कुछ भाग कृष्ण से छीन लिया। कृष्ण एक शान्तिप्रिय शासक था। उसने अपने तेरह वर्ष के शासन काल में एक भी लड़ाई नहीं किया। वह धर्म और विद्याप्रेम के लिए विख्यात था। इसके समय में काश्मीरी ब्राह्मण जल्हण ने सूक्ति मुक्तावली और अमलानन्द ने वाचस्पति मिश्र की भामती के ऊपर वेदान्त कल्पतरु नामक टीका ग्रन्थ लिखा। व्रतखंड के अनुसार कृष्ण या कन्हार ने गुजरात के राजा बीसल को पराजित किया तथा बहुत से शत्रुओं को भयानक युद्धों में परास्त किया। जल्हण की सूक्ति-मुक्तावली के अनुसार युद्धों में उसकी सहायता जनार्दन के पुत्र लक्ष्मीदेव ने की थी। कृष्ण ने अनेक यज्ञ करके वैदिक धर्म का उद्धार किया। कृष्ण का भाई महादेव विजेता हुआ। वह एक सामर्थ्यशाली शासक था। उसने काकतीय गणपति रुद्राम्बा के विरुद्ध युद्ध में सफलता प्राप्त की। इसके अतिरिक्त उसने उत्तरी कोंकण के शिलाहार वंशीय सोमेश्वर को हराया और उसका राज्य छीन लिया। महादेव का मंत्री हेमाद्रि था। वह स्वयं एक लेखक था। हेमाद्रि ने इतने अधिक मंदिरों का निर्माण कराया कि वास्तुकला की एक विशिष्ट शैली ही उसके नाम से चल निकली। इस कला शैली का नाम था—हेमदपन्थि।

रामचन्द्र

१२९४ ई० में रामचन्द्र के समय दक्षिण भारत पर सर्वप्रथम मुसलमानों का आक्रमण हुआ। अलाउद्दीन खिलजी ने रामचन्द्र पर दुर्ग के भीतर ही आक्रमण कर दिया। इस समय यादवों की सेना उसके पुत्र शंकरदेव के नेतृत्व में दक्षिण की ओर गयी हुई थी, अतः विवश होकर रामचन्द्र को सन्धि करनी पड़ी जिससे अलाउद्दीन को काफी धन और बहुमूल्य पदार्थ मिले। इसके अतिरिक्त रामचन्द्र ने वार्षिक कर देने का वचन देकर इलिचपुर का प्रदेश भी उसे दे दिया। अलाउद्दीन के

वहाँ से लौटने पर रामचन्द्र तथा उसका पुत्र शंकरदेव ने स्वतन्त्र होने का असफल प्रयास किया, पर अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर ने १३१२ ई० में शंकरदेव को जान से मार डाला और रामचन्द्र के दामाद हरयास ने फिर से स्वतन्त्र होने का प्रयास किया पर उसे भी मार डाला गया। अतः यादव राज्य का दुखद अंत हो गया और दक्षिण भारत एक मुसलमान प्रान्त हो गया।

११. वारंगल के काकतीय

दक्कन के चालुक्य साम्राज्य के ध्वँसावशेषों पर कई नये राजवंश उठ खड़े हुए जिनमें काकतीयों का राज्य भी एक था। काकतीयों के मूल के विषय में निश्चित रूप से हमें कोई जानकारी नहीं। कुछ अभिलेखों में काकतीयों को शूद्र बताया गया है परन्तु स्वयं काकतीयों की गल्पभरी वंश-तालिका से, जिसमें रघुकुल के अनेक नाम मिलते हैं, विदित होता है कि काकतीय सम्भवतः सूर्यवंशीय क्षत्रिय थे। इन्हें आन्ध्र प्रदेश के इक्ष्वाकुओं का वंशज भी माना जाता है।

काकतीय वंश का सर्वप्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति बेता था, जो कल्याणी के चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ का सामन्त था। प्रौल द्वितीय ने पश्चिमी चालुक्यों की राजसत्ता को विनाशोन्मुखी देखकर तथा कुलोतुंग प्रथम की मृत्यु के कारण वेंगी में उत्पन्न अराजकता से लाभ उठाकर कृष्णा तथा गोदावरी नदियों के मध्यवर्त्ती भूभाग पर अपना अधिकार जमा लिया और अन्मकोड़े में अपनी राजधानी बसाई। ऐसी किंवदन्ती है कि प्रौल द्वितीय ने कल्याणी के तैलप तृतीय को ११५५ ई० के लगभग पराजित किया और उसे बन्दी बना लिया, परन्तु बाद में उसे मुक्त भी कर दिया। प्रौल द्वितीय ने अपने राज्य में अनेक जलाशय खुदवाये और कृषि में सुधार करने की ओर ध्यान दिया।

प्रौल द्वितीय की मृत्यु के बाद रुद्र अथवा प्रताप रुद्र काकतीय वंश का राजा हुआ। अपने पिता के समान प्रताप रुद्र को भी सिंहासन प्राप्त करते समय विद्रोही सामन्तों को कुचलना था। प्रताप रुद्र ने डोम्म और मालिगिदेव नामक दो तेलगू सरदारों की जागीरें छीन लीं। भीम नामक एक शक्तिशाली सरदार ने अन्य सरदारों की जागीरें छीनकर अपने अधिकार में कर लिया और इस प्रकार अपनी शक्ति बढ़ा ली। उसने प्रताप रुद्र की राजधानी वारंगल की ओर प्रयाण किया और रास्ते में जितने भी छोटे-छोटे नगर पड़े उन सब को जीत लिया। परन्तु भीम को प्रताप रुद्र से हार खानी पड़ी और युद्ध-भूमि में ही उसके प्राण गये। इसी प्रकार गन्टूर के चोल सरदार को भी काकतीय नरेश प्रताप रुद्र प्रथम ने दबा दिया और उसकी राजधानी में आग लगवा दी। उसने अन्य सामन्तों के गढ़ों और नगरों को भी विध्वस्त कर दिया और अपनी राजधानी वारंगल की प्राचीरें

सुदृढ़ कराईं। उसने अपनी राजधानी में अनेक मन्दिरों का निर्माण भी कराया। प्रतापरुद्र प्रथम का राज्य दक्षिण में समुद्र तक, उत्तर में गोदावरी नदी तक और पश्चिम में वर्त्तमान हैदराबाद नगर तक फैला हुआ था। वह विद्वानों का आश्रयदाता था। उसकी शासन प्रणाली भी उदारता और प्रजावत्सलता के सिद्धान्तों पर आधारित थी। उसने स्वयं एक 'नीतिसार' का संस्कृत और तेलगू भाषाओं में प्रणयन किया। उसकी धार्मिक रुचि वीर शैव सम्प्रदाय की ओर थी जिससे प्रेरित होकर उसने सोमनाथ को राजाश्रय प्रदान किया। सोमनाथ संस्कृत, तेलगू और कन्नड़, इन तीन भाषाओं का पण्डित था और उसने वीर शैव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों पर कई ग्रन्थ लिखे। नन्ने छोटु ने, जो कल हस्ति का सरदार था 'कुमारसंभव' लिखा। यह काव्य ग्रन्थ तेलगू भाषा में लिखा गया है और इसपर महाकवि कालिदास के 'कुमारसम्भवम्' का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। प्रतापरुद्र प्रथम की मृत्यु के बाद उसका अनुज महादेव सिंहासनारूढ़ हुआ परन्तु उसे यादव राजा जैतुगी ने सिंहासनच्युत कर दिया। जैतुगी ने काकतीय गणपति को वारंगल के सिंहासन पर अधिष्ठित कर दिया।

गणपति

गणपति काकतीय वंश का एक शक्तिशाली और प्रसिद्ध शासक था। गणपति ने अपने सामन्तों के प्रति उदारता दिखलाई और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। उसने अपनी दो पुत्रियों का विवाह कोट और नटवादि नामक शक्तिशाली सरदारों के साथ किया। उसने जय नामक मंत्री की दो कन्याओं के साथ अपना विवाह किया। इन विवाह सम्बन्धों द्वारा गणपति ने अपनी आन्तरिक स्थिति सुदृढ़ कर ली और काकतीय वंश के सौभाग्य से आगे चलकर भी इन सम्बन्धों का कोई अहितकर या अवांछनीय परिणाम न निकला। अपने राज्य में शान्ति स्थापित कर लेने के बाद गणपति ने अपने पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। एक अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि उसने चोल, कलिंग, यादव, कर्णाट, लाट और वलनाडु के शासकों को हराया। आन्ध्र देश से ११८६ ई० के लगभग वेलनान्ति चोड़ों के निकल जाने के कारण वहाँ की राजनीतिक स्थिति अशान्तिमय हो गई। आन्ध्र की इस राजनीतिक अशान्ति से लाभ उठाकर गणपति ने (१२०० ई०) के लगभग वहाँ अपना अधिकार जमा लिया और वहाँ की उर्वरा भूमि, लोहे तथा हीरे की खानों एवं वहाँ के बन्दरगाहों से अधिकतम लाभ प्राप्त किया। नेल्लोर के तेलगू चोड़ों ने भी गणपति की अधीनता स्वीकार कर ली। गणपति ने छूदपट्ट तथा करनूल के कायस्थ शासकों-गांगेय साहिनि तथा उसके भतीजों, त्रिपुरान्तक तथा अम्बदेव को अपने अधीन कर लिया। इसके बाद गणपति ने अपनी एक मात्र पुत्री रुद्राम्बा को अपने राज्य की उत्तराधिकारिणी

नियुक्त किया और उसे 'रुद्रदेवमहाराज' के नाम से विभूषित किया। कादव कोपरनुंजिग ने भी गणपति की अधीनता स्वीकार कर ली थी।

गणपति के सुदीर्घ शासन काल में (११९१–१२६१ ई०) काकतीय वंश अपने राजनीतिक उत्कर्ष की सर्वोच्च सीमा पर पहुँच गया। काकतीय राज्य की सीमायें काफी दूर तक फैल गयीं। गणपति के मंत्री जय ने अनेक प्राचीन मन्दिरों को दान किया और कितने ही नवीन मन्दिरों का निर्माण कराया। पाण्डेश्वर, चिदेश्वर, गया पतेश्वर, पुष्पागि, भीमेश्वर, भेलमैकेश्वर आदि देवताओं के मन्दिरों का निर्माण अथवा पुर्ननिर्माण गणपति काकतीय के मंत्री जयदेव ने ही कराया था। चोल सम्राट् के समान गणपति ने वस्तुओं के आयात और निर्यात से अनेक कर उठा लिये और सामुद्रिक व्यापारियों को सुविधायें प्रदान कीं। उसने 'पाकल' नामक एक झील का भी निर्माण कराया। गणपति शैव मतानुयायी था और उसने अपने राज्य में शैवों के प्रति विशेष उदारता प्रदर्शित की। गणपति ने धार्मिक साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहन प्रदान किया। उसके समय में दक्षिणी भारत का विदेशी व्यापार काफी बढ़ गया और देश के धन तथा समृद्धि में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई।

गणपति के पश्चात् उसकी पुत्री रुद्राम्बा सिंहासन पर बैठी। उसके शासन काल में काकतीय राज्य में कोई गड़बड़ी उत्पन्न नहीं हुई। इने गिने दो-तीन सामन्त विद्रोह करने का प्रयत्न किये पर उनका विद्रोह कुचल दिया गया। मार्कोपोलो नामक वेनिस का एक यात्री इसके राज्य का परिभ्रमण किया था। उसने अपने यात्रा-वर्णन में रुद्राम्बा की काफी बड़ाई की है। उसके अनुसार शासन व्यवस्था श्रेष्ठ और न्यायपूर्ण थी तथा समानता के सिद्धान्तों पर आधारित थी। रुद्राम्बा को उसकी प्रजा बहुत चाहती थी। राज्य में व्यापार की समृद्धि थी। हीरे और भड़कीले वस्त्र बहुत बड़े पैमाने पर विदेशों को भेजे जाते थे। लोग गिद्धों की सहायता से गुफाओं से हीरे प्राप्त करते थे। रुद्राम्बा के नाती प्रताप रुद्रदेव ने यादवों के विरुद्ध युद्ध करके ख्याति अर्जित की और १२८० ई० में वह युवराज मनोनीत कर लिया गया। आठ वर्ष बाद रुद्राम्बा के मंत्री अम्बदेव ने विद्रोह कर दिया पर युवराज ने एक चाल चल कर उसके विद्रोह को समाप्त कर दिया। १२९५ ई० में रुद्राम्बा की मृत्यु के बाद प्रताप रुद्रदेव राजा बना। उसका शासन काल १३२६ ई० तक था। अपने राज्यकाल के प्रारम्भ में ही उसने अदोनी और रायचूर के दुर्ग यादवों से छीन लिये और इन दुर्गों के निकटवर्ती भूभागों पर भी उसने अपना अधिकार जमा लिया। उसने अपने राज्य को ७७ भागों में बाँटा और प्रत्येक भाग का शासन एक नायक के अधीन कर दिया। प्रताप रुद्र काकतीय वंश का अन्तिम प्रभावशाली नरेश था। अंत में उसका राज्य दक्कन के बहमनी सुल्तानों के

हाथ में चला गया। श्री गौरी शंकर ओझा के अनुसार वहाँ के काकतीय बस्तर चले गये तथा आधुनिक बस्तर का राज्य उन्हीं का स्थापित किया हुआ है।

१२. द्वार समुद्र का होयसल वंश

होयसल वंश भी यादवों की एक शाखा थी और इनके अभिलेखों में इन्हें 'यादव-कुल-तिलक' कहा गया है। ये अपने को चन्द्रवंशीय क्षत्रिय मानते हैं। किंवदन्तियों के अनुसार होयसल वंश का संस्थापक साल था। कहा जाता है कि साल ने जैन-धर्मावलम्बी किसी महात्मा को एक बाघ से बचाया था। इस घटना के परिणाम स्वरूप इस राजकुल को पोयलस अथवा होयसल संज्ञा मिली। राइस नामक विद्वान ने एक अनुश्रुति का उल्लेख किया है जिसमें एक नरभक्षी व्याघ्र का किसी सरदार द्वारा हनन का जिक्र मिलता है। व्याघ्र-बध के वीरतापूर्ण कार्य के बदले में प्रत्येक ग्रामवासी ने उस सरदार को वेतन के रूप में एक पण देना प्रारम्भ किया। ग्रामीणों ने उस सरदार को अपने लिए एक दुर्ग बनाने में भी सहायता प्रदान की। इस प्रकार साल ने होयसल राजवंश की नींव डाली परन्तु बहुत दिनों तक इसका आधिपत्य और प्रभाव अत्यन्त क्षीण था। होयसल वंश के एक व्यक्ति भांजिग को चोल सेना नायक अप्रे भेय्या ने १००४ ई० के लगभग मार डाला था। कुछ दिनों तक साल का वंश बिलकुल लुप्त-सा रहा परन्तु १०२२ ई० नृपकाम इस वंश का प्रमुख हुआ जिसने चोल सम्राटों के प्रान्तीय गवर्नरों से युद्ध किया। नृपकाम ने अपने वंश के भावी गौरव की नींव डाली। सरदारों के विरुद्ध उसने जो युद्ध किए उनमें उसे सफलता प्राप्त हुई। नृपकाम का उत्तराधिकारी विनयादित्य द्वितीय (१०४७–११०० ई०) था, जिसने होयसल वंश की मान-प्रतिष्ठा में बहुत वृद्धि की। उसकी नीति-कुशलता और वीरता से प्रभावित होकर कल्याणी के चालुक्य सम्राट् ने उसे अपना अधीनस्थ सामन्त बना लिया और उसे प्रान्तीय शासक के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। चोलों और चालुक्यों के बीच निरन्तर जो युद्ध होते रहे उनके कारण होयसलों को बड़ा लाभ हुआ। विनयादित्य ११०० ई० में मर गया और उसका पौत्र बल्लाल प्रथम उसका उत्तराधिकारी हुआ। ११०८ ई० में बल्लाल प्रथम का भाई बिहिगदेव होयसल वंश का राजा हुआ।

बिहिगदेव (११०८–११४१ ई०)

बिहिगदेव को ही वास्तविक अर्थ में होयसल वंश की राजसत्ता का प्रतिष्ठापक कहा जा सकता है। उसने गंगवाड़ी प्रदेश को, जो होयसलों के अधिकार से चला गया था, फिर अपने अधिकार में कर लिया। इसी प्रकार नीलम्बवाड़ी तथा पड़ोस के अन्य भागों को भी जीतकर उसने एक में मिलाया और वर्तमान मैसूर की नींव डाली। बिहिगदेव के अभिलेखों में उसकी विजयों और सैन्य सफलताओं

का विवरण कुछ विस्तार के साथ मिलता है। उसने चोलों, मदुरा के पाण्डचों, मलाबार के निवासियों, दक्षिण कन्नड़ के तुलुवों तथा गोआ के कदम्बों को परास्त किया और कृष्णा एवं काञ्ची तक धावे किये। तामिल देश पर आक्रमण करके वह परमेश्वरम् तक पहुँच गया। इस प्रकार बिह्गिदेव ने एक विस्तृत भू-भाग पर; जिसमें प्रायः सारा मैसूर और निकटवर्ती प्रदेश शामिल थे, अपना प्रभुत्व स्थापित किया। उसके बहुत से सुवर्ण-सिक्के प्राप्त हुए हैं जिनपर कन्नड़ भाषा में तालकद युगोन्द विरुद उत्कीर्ण है। बिह्गि की राजधानी द्वार समुद्र थी। यद्यपि वह चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य षष्ठ के अधीन होते हुए भी व्यावहारिक रूप से स्वतन्त्र हो चुका था फिर भी उसने सम्राटों के विरुद धारण नहीं किये और न उसने अपनी स्वतन्त्रता घोषित की। पहले बिह्गि जैन मतानुयायी था परन्तु बाद में रामानुजाचार्य के प्रभाव में आकर वह वैष्णव हो गया। वैष्णव मत में दीक्षित हो जाने पर उसने अपना नाम विष्णु वर्द्धन रख लिया था। जैन मत के प्रति बिह्गि विष्णु वर्द्धन का दृष्टिकोण उदार और प्रशंसनीय था। उसने श्री पाल नामक एक जैन आचार्य को भूमि दान दिया था। शैव मत को भी बिह्गि विष्णु वर्द्धन ने राजाश्रय प्रदान किया। उसने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया जिसमें बेलुर का मन्दिर प्रसिद्ध है। मदपुर और श्री रंग पदम के विष्णु मन्दिर भी विष्णु वर्द्धन के समय में ही बनवाये गये थे।

बिह्गिदेव विष्णु वर्द्धन की मृत्यु के बाद सन् ११४१ ई० में नरसिंह प्रथम होयसलों का राजा हुआ। अपने सिंहासनारोहण के समय नरसिंह प्रथम केवल आठ वर्ष का लड़का था। उसके समय में वनवासी तथा नोलम्बबाड़ी के प्रदेशों का शासन करने के लिए जो प्रान्तीय गवर्नर नियुक्त किये गये थे, उनको चालुक्य सम्राट् ने नियुक्त किया था, यद्यपि बिह्गिदेव के समय में उपर्युक्त प्रान्तों पर होयसल वंश का प्रभुत्व चालुक्य सम्राट् ने स्वीकार कर लिया था। इसी बीच में कल्याणी में कलचुरि अन्तराधिपत्य के कारण चालुक्यों की शक्ति ह्रासोन्मुखी हो गयी और राज्य में कलह मच गयी। इसलिए नरसिंह प्रथम के सेनानायक बोकन ने राज्यापहर्त्ता कलचुरि विज्जल को हरा दिया तथा वनवासी एवं नोलम्बवाड़ी के प्रदेश छीन लिये। बड़े होने पर नरसिंह प्रथम विलासी एवं कामुक हो गया। उसके रहने का कमरा काफी सुसज्जित था तथा ३८४ स्त्रियाँ रहती थीं। नरसिंह प्रथम में राजा का कोई भी गुण नहीं था। उसके राज्यकाल में बोकन की सैनिक सफलता के अतिरिक्त और कोई विजय कार्य सम्पन्न नहीं किया गया पर नरसिंह प्रथम का पुत्र बल्लाल प्रथम (११७२ ई०–१२१५ ई०) ने अपने को योग्य और शक्तिशाली शासक साबित किया। उसने अपने ४३ वर्ष के शासनकाल में होयसल कुल की राजशक्ति को खूब बढ़ाया तथा 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। उसने

वनवासी एवं नोलम्बवाड़ी के विजय कार्य को पूर्ण रूपेण सम्पन्न किया तथा पाण्डवों का सफलता पूर्वक दमन किया। इस समय यादवों की शक्ति क्षीण हो गयी। वीर बल्लाल ने चालुक्य राजा चतुर्थ सोमेश्वर को हराया एवं अपने प्रतिद्वन्दी यादव राजा पंचम भिल्लम से भी लड़ाई की। उसके शासनकाल में होयसल वंश की गणना दक्षिण की प्रबल शक्तियों में होने लगी। ११९० ई० में लोक्कुन्दी के दुर्ग पर होयसलों का कब्जा हो गया। ११९१–९२ में ही बल्लाल ने कई सम्राटोचित उपाधियाँ धारण की और इसी वर्ष से उसने एक नया संवत् चलाया। १२१५ ई० में उसकी मृत्यु के समय होयसलों का राज्य अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। उसने वैष्णवों को राजाश्रय प्रदान करने की नीति कायम रखी।

पर उसके पुत्र और उत्तराधिकारी द्वितीय नरसिंह के समय में यादव राजा सिंहण के आक्रमण से होयसल शक्ति को धक्का लगा। नरसिंह के पीछे आने वाले राजा दुर्बल थे और उनके सम्बन्ध में कुछ विशेष मालूम नहीं। उनके पड़ोसी राज्यों चोल और पाण्ड्यों से बराबर युद्ध होता रहा। इस वंश का अन्तिम राजा तृतीय वीर बल्लाल था। उसी के समय में अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर ने द्वार समुद्र पर आक्रमण किया। वीर बल्लाल बन्दी बनाकर दिल्ली लाया गया तथा वहाँ से छूटने पर उसने पुनः स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया पर वह दबा दिया गया और होयसलों के स्वतन्त्र राज्य का १३२७ ई० में अन्त हो गया। इसके बाद उसके वंशज स्थानीय सामन्तों के रूप में बने रहे।

१३. वनवासी का कदम्ब-वंश

कदम्ब-राज्य उन प्राचीन राज्यों में से था, जो आन्ध्र-साम्राज्य के पतन के बाद दक्षिण में उत्पन्न हुए थे। कदम्ब-वंशी मानलगोत्र के ब्राह्मण थे। पहले ये काञ्ची के पल्लवों के अधीन थे। कहा जाता है कि कदम्ब राजा मयूर शर्मन का एक बार काञ्ची में अपमान हुआ। इससे अप्रसन्न होकर ३५० ई० के लगभग उसने वनवासी (धारवाड़ जिले में) को अपनी राजधानी बनाकर एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की।

पहले मयूर शर्मन ने राज्य की उत्तरी सीमा पर पल्लव शासक के उच्च पदाधिकारियों को भय संत्रस्त कर दिया और वृहदवान लोगों तथा पल्लवों के अन्य सामन्तों से कर वसूल करने के बाद श्री शैलम के निकट अरण्य में अपनी शक्ति जमा ली। उसकी योग्यता और शक्ति से प्रभावित होकर पल्लवों ने उससे सन्धि कर ली और वनवासी के निकट की भूमि उसे दे दी। यह घटना ३४५ ई० के लगभग हुई। मयूर शर्मन के पुत्र कंगवर्मन ने विक्रम शक्ति के समय में वाकाटक आक्रमण का सामना किया। यद्यपि युद्ध के परिणामस्वरूप कंकन वर्मन के अधिकार

से थोड़ा सा भू-भाग निकल गया तथापि उसका प्रतिरोध वैसे अपर्याप्त रूप में सफल था। कदम्बों के वाद में पालाशिका (हल्सी) को अपनी दूसरी राजधानी बनाया। ककुस्थ वर्मन कुल का एक शक्तिशाली शासक था। ककुस्थ वर्मन ने अपने प्रसिद्ध समकालीन राजवंशों-गुप्तों, वाकाटकों तथा पश्चिमी गंगों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित किया। उसके पुत्र शान्ति वर्मन् (४५०–७५ ई०) ने काञ्ची के पल्लवों से मिल एक दूसरी पल्लव शाखा के आक्रमण का सफलता पूर्वक प्रतिरोध किया। इस कार्य के लिए उसने अपने राज्य के दक्षिणी भाग को अपने भाई कृष्ण वर्मन् प्रथम के सुपुर्द कर दिया। कृष्ण वर्मन् प्रथम ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। परन्तु पल्लवों के विरुद्ध युद्ध करते समय उसे वीरगति प्राप्त हुई। शान्ति वर्मन् के पुत्र मृगेश्वर वर्मन् ने पल्लवों और गंगों से सफलता पूर्वक युद्ध किया। मृगेश्वर वर्मन् विद्वान था और उसे हाथियों तथा घोड़ों की नस्ल पहचानने की अद्‌भुत योग्यता प्राप्त थी। उसने अपने दिवंगत पिता की पुण्य स्मृति में पालाशिका (हल्सी) में एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था। मृगेश्वर वर्मन् के पुत्र रवि वर्मन् ने विष्णु वर्मन् को, जो शान्ति वर्मन् के भाई कृष्ण वर्मन् प्रथम का पुत्र था, युद्ध में पराजित करके कदम्ब राजकुल को संयुक्त किया। उसने चन्द्रदाउ नामक पल्लव आक्रमणकारी को पीछे ढकेल दिया। रवि वर्मन् ने गंगों को भी युद्ध में हराया। उसके पुत्र हरि वर्मन् को ५३८ ई० में राजसिंहासन प्राप्त हुआ। हरि वर्मन् शान्ति प्रिय व्यक्ति था परन्तु उसे चालुक्य शासक पुलकेशिन प्रथम के आक्रमण का सामना करना पड़ा। वातापी के चालुक्यों के उत्थान ने कदम्वों की महत्त्वाकांक्षा पूर्ण कर दी। उनका उत्तरी प्रदेश पुलकेशिन प्रथम ने छीन लिया और पुलकेशिन द्वितीय ने उनको सर्वथा नगण्य बना दिया। कदम्ब राज्य के दक्षिणी प्रदेशों पर गंगों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया। फिर भी कदम्ब-राजकुल सर्वथा विलुप्त न हुआ और उसके राजा राष्ट्रकूटों के पतन के बाद दसवीं शताब्दी ई० के अन्तिम चरण में एक बार फिर बलवान सिद्ध हुए। इन कदम्ब शाखाओं ने दक्कन और कोंकण के विविध भागों पर तेरहवीं शताब्दी ई० के प्रायः अन्त तक शासन किया किन्तु उनकी सक्रियता स्थानीय सीमाओं तक ही परिमित रही।[1]

१४. तलकाड का गंग-वंश

यह वंश इक्ष्वाकु-वंश से उत्पन्न हुआ था और प्राचीनकाल में गंगा के किनारे से आने के कारण गंग-वंश कहलाया। चौथी शताब्दी में डिडिग कोंगनि वर्मन् ने

१. विस्तृत विवरण के लिए देखें—जी० एम० मोरेस; "दि कदम्ब कुल"

आधुनिक मैसूर-राज्य के दक्षिण भाग में गंग-राज्य की स्थापना की। इस वंश के राजा हरिवर्मा ने पुरानी राजधानी कुलुवल (कोलार) को छोड़कर तबलपुर (तलकाड) को राजधानी बनाया। इस वंश का एक प्रसिद्ध राजा दुर्विनीत हुआ, जिसने पल्लवों से युद्ध करके प्रसिद्धि प्राप्त की। वह संस्कृत का विद्वान था तथा उसने गुणाढ्य की पैशाची प्राकृत में लिखित "बृहत्कथा" को संस्कृत में रूपान्तरित किया। इस वंश का दूसरा प्रसिद्ध राजा श्री पुरुष (७२६–७६ ई०) था जिसने राष्ट्रकूटों और पल्लवों का सफल विरोध किया। इसके बाद चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के आक्रमणों से गंग-वंश की स्वाधीनता समाप्त हो गयी और गंग राज शिखमार को राष्ट्रकूटों का बन्दी रहना पड़ा। किन्तु राजमल्ल गंग के समय में इस वंश की शक्ति का पुनरुत्थान हुआ। १००४ ई० में चोलों ने उनकी राजधानी तलकाड को जीत लिया और गंगों का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो गया। इसके बाद कुछ समय तक गंगों के वंशज चोलों और होयसलों के अधीन सामन्त बने रहे। गंग-वंश के कई राजा जैन-धर्म के आश्रय दाता थे। अविनीत नामक राजा जैन आचार्य विजयकीर्ति के संरक्षण में पला था और उसके पुत्र दुर्विनीत ने प्रसिद्ध जैनाचार्य पूज्यपाद को आश्रय दिया। राजमल्ल के मंत्री चामुण्ड राय ने श्रवण-बेलगोला में (९८३ ई०) गोमतेश्वर की विशाल मूर्ति का निर्माण कराया।[1]

१५. कोंकण का शिलाहार-वंश

शिलाहार क्षत्रिय वंश के थे और किंवदन्तियों के अनुसार उनकी उत्पत्ति विद्याधरों के राजा जीमूतवाहन से हुई थी। उनका मूल स्थान तगर था। वे कोंकण में राष्ट्रकूट चालुक्य और यादव राजाओं के अधीन सामन्त होकर शासन करते थे। कोंकण में उनकी दो शाखाएँ थी। सबसे प्राचीन दक्षिणी शाखा की राजधानी गोआ थी, उत्तरी शाखा की राजधानियाँ थामा और पूरी (एलिफैंटा में) थी। इनकी तीसरी शाखा महाराष्ट्र के कोल्हापुर, सितारा और बेलगाँव प्रदेश में स्थापित हुई और इसका अधिकार दक्षिण में कोंकण पर भी रहा। वह शाखा काफी शक्तिशाली थी और इसके प्रसिद्ध राजा विजपाक (विजयादित्य) ने चालुक्य वंश का दमन करने में कलचुरि बिज्जल की मदद की थी। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा भोज हुआ। यादव राज सिंहण ने इस वंश का अंत किया।[2]



१. देखिये—"दि गंगाज आफ तलकाड"—कृष्ण राव।

२. अल्तेकर—'शिलाहाराज आफ वेस्टर्न इण्डिया' इण्डियन कल्चर भाग—२ पृ०—३९३—४३४

अध्याय ६

सुदूर दक्षिण का राज्य

सुदूर दक्षिणी भारत के इतिहास का पता हमें ई० पू० तीसरी शताब्दी से लगता है। अशोक के अभिलेखों में चोल, पाण्डच, केरलपुत्र, सत्यपुत्र आदि शब्द हैं। इसके अतिरिक्त ताम्रपर्णी-लंका भी वर्णित है। व्यापारिक दृष्टिकोण से भारत के इस सुदूर दक्षिण का सम्बन्ध विदेशों से था जिनमें दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ-साथ रोमन साम्राज्य का नाम उल्लेखनीय है। टॉलेमी, प्लिनी और पेरिप्लस की पुस्तकों में मदुरा, अरिकमेडू, ब्रह्मगिरि इत्यादि स्थानों में रोमन सिक्के भी मिले हैं। दक्षिण भारत की वस्तुओं की माँग रोमनों के यहाँ काफी थी। कहा जाता है कि ई० पू० पहली शताब्दी में व्यापार के लिये रोमन सम्राट् ऑगस्टस की सभा में पाण्डच राजा ने एक दूत-मंडल भेजा था।

द्रविड़ देश :—

सुदूर दक्षिण भारत द्रविड़ प्रदेश कहा जाता था। यह भाग कृष्णा और तुंगभद्रा के दक्षिण में पड़ता है, लंका भी इसमें आ जाता है। इसी प्रदेश के निवासी द्रविड़ और आग्नेय जाति के हैं। आर्यों तथा द्रविड़ों की संस्कृतियों का यहाँ संगम हुआ। ऐसा कहा जाता है कि यहाँ सबसे पहले आर्य ऋषि अगस्त्य आये थे। राम इसी प्रदेश को पार कर लंका गये थे। द्रविड़ राजाओं ने भी महाभारत युद्ध में भाग लिया था। सुदूर दक्षिण के राज्यों में काञ्ची का पल्लव वंश, चोल, मदुरा का पाण्डच, चेर राज्य (केरल) और लंका या सिंहल का राजवंश प्रमुख हैं जिनका वर्णन अब किया जायेगा।

१. काञ्ची का पल्लव वंश

उत्पत्ति

पल्लवों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों के मतानुसार पल्लव लोग विदेशी पह्लवों (पार्थियन) के वंशज थे क्योंकि इनकी गणना चेर, पाण्डच और चोलों के साथ नहीं होती किन्तु यह मत केवल ध्वनि-साम्य पर आधारित है। राजशेखर ने अपने 'भुवनकोष' में पल्लवों और पह्लवों का अलग-अलग स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। भारतीय इतिहास से यह भी मालूम होता है कि पह्लव जाति पश्चिमोत्तर भारत में केवल थोड़े दिनों तक रही और दक्षिण नहीं पहुँच पाई। कुछ इतिहासकार प्राचीन तमिल साहित्य के आधार पर पल्लवों को

द्रविड़ प्रदेश की जंगली जातियों से उत्पन्न मानते हैं। संभवतः पल्लव (नये पत्ते) नाम से उनका जंगल से सम्बन्ध जोड़ दिया गया हो। कुछ विद्वान उनको नागवंशी और कुछ चोल-नाग मिश्रण से उत्पन्न समझते हैं। काशीप्रसाद जायसवाल उनको उत्तरी ब्राह्मणों के कुल के मानते हैं जिसकी पुष्टि पल्लवों के संस्कृत प्रेम से होती है।[1] उनके मतानुसार वे वाकाटकों की एक शाखा थे। कदम्बों ने पल्लवों को क्षत्रिय कहा है।[2] किन्तु, ब्राह्मण से क्षत्रिय कहे जाने की प्रक्रिया स्वयं कदम्बों में दिखाई पड़ती है। प्रारंभ के कदम्ब शर्मन् और बाद के कदम्ब वर्मन् कहे जाते थे। संभवतः पल्लव वंश उत्तरी शस्त्र-जीवी ब्राह्मणों से उत्पन्न था और पीछे क्षत्रिय माना जाने लगा।

ह्वेनसांग ने भी जिसने ६३९ ई० में काञ्ची की यात्रा की, लिखा है कि पल्लव मध्य देश के लोगों की भाषा के समान भाषा बोलते थे। उसने तत्कालीन राजा नरसिंह वर्मन् को क्षत्रिय लिखा है। संभवतः मराठा उन्हीं पल्लवों से सम्बन्धित थे क्योंकि दोनों का गोत्र भरद्वाज है। हो सकता है कि पल्लव मध्यदेश से महाराष्ट्र होकर ही दक्षिण गये हों।[3]

पल्लव शक्ति की स्थापना और राजनीतिक इतिहास :—

पल्लव वंश का सबसे प्राचीन ज्ञात शासक सिंह वर्मन् था जिसका एक पाषाण अभिलेख गुन्टूर जिले के पालनार तलूक से प्राप्त हुआ है। इस अभिलेख की भाषा प्राकृत है और इसकी लिपि प्राकृत अभिलेखों की लिपि से काफी मिलती जुलती है। सिंह वर्मन् भारद्वाज गोत्र का था तथा उसके सभी उत्तराधिकारी भी इसी गोत्र के थे।

सिंह वर्मन् के बाद स्कन्द वर्मन् का नाम हमें मिलता है। वह पहले युवराज था और बाद में उसने धर्म महाधिराज की उपाधि धारण कर ली। उसने अग्निष्टोम, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया। उसकी राजधानी काञ्ची थी। उसका राज्य उत्तर में कृष्णा नदी और पश्चिम में अरब सागर तक विस्तृत था। स्कन्द वर्मन् का पुत्र बुद्ध वर्मन् अपने पिता के समय में युवराज था। अपने पिता को उसने अपने युवराजत्व काल में शासन-कार्य में सहायता प्रदान की थी। स्कन्द वर्मन् के समय राजकीय कार्यों के लिये प्राकृत भाषा का ही प्रयोग किया जाता था।

---

१. ज० वि० उ० रि० सो०, १९३३, पृ० १८०–१८३
२. एपि० इ०, ८, पृ० ३२
३. गोपालन, हिस्ट्री ऑव द पल्लवाज ऑव काञ्ची, पृ० २१–२२

स्कन्द वर्मन् के बाद पल्लव राजवंश के राजाओं में विष्णुगोप का नाम हमें मिलता है। विष्णुगोप ने अपने सामन्त पालक उग्रसेन के साथ समुद्रगुप्त के आक्रमण का सामना किया था। विष्णुगोप का एक निकट सम्बन्धी कुमार विष्णु था जो उसका ही समकालीन था। कुमार विष्णु (३२५–५० ई०) ने जिस वंश को चलाया वह ५०० ई० या उसके बाद तक कायम रहा। इन राजाओं के सभी लेख संस्कृत भाषा में ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण हैं। इन अभिलेखों का उद्देश्य पुनीत ब्राह्मणों और मन्दिरों को भूमिदान देना है किन्तु साथ ही तात्कालिक घटनाओं पर भी वे प्रकाश डालते हैं।

"पल्लव इतिहास के इस युग का काल क्रम गंग राजाओं के लेखों से निश्चित किया जा सकता है क्योंकि गंग राजाओं ने अपने समकालीन पल्लव नरेशों का भी उल्लेख किया है।" 'लाकावभाग' नामक सृष्टि विज्ञान विषयक ग्रन्थ की पाण्डुलिपि से भी पल्लव इतिहास का काल क्रम निर्धारित करने में पर्याप्त मदद होती है। इस ग्रन्थ की समाप्ति जिस दिन हुयी, उस दिन सन् ईस्वी के अनुसार २५ अगस्त ४५८ ई० तारीख थी। सन् ईस्वी का ४५८ वर्ष सिंह वर्मन् के शासन का २२वाँ वर्ष है। इस काल के पल्लव शासकों की वंशावली भी असन्दिग्ध नहीं है। इस युग में लेखों के सम्बन्ध में एक विशिष्ट बात यह है कि वे काञ्ची की राजधानी से नहीं बल्कि अन्य स्थानों से घोषित किये गये थे। इस कारण कुछ विद्वानों की धारणा है कि पल्लवों का अधिकार कुछ दिनों के लिए काञ्ची से जाता रहा था परन्तु कुछ अन्य विद्वानों का विश्वास है कि पल्लवों के राजवंश भिन्न-भिन्न थे जो विभिन्न स्थानों से शासन कर रहे थे।

चरमोत्कर्ष

सिंह विष्णु का वंश एवं सांस्कृतिक उपलब्धि :—

सिंह विष्णु के गद्दी पर बैठने से काँची के इतिहास का एक नवीन अध्याय प्रारंभ होता है। उसने एक नये राजवंश की स्थापना की। इस राजवंश के शासकों ने पल्लव राज्य की राजनीतिक शक्ति का खूब विकास किया। इस समय से लेकर पल्लव शक्ति का प्रवेश तमिल देश में पहले की अपेक्षा अधिक दूर तक होने लगा। इस काल में शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों के सबसे प्रसिद्ध सन्तों का प्रादुर्भाव हुआ। इन नान्यकार और आलवार सन्तों ने अपने सरस और भावपूर्ण पदों द्वारा दक्षिणी भारत के धार्मिक जीवन तथा दृष्टिकोण में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित कर दिया। एक अन्य दृष्टि से भी दक्षिण भारत के इतिहास में पल्लव इतिहास का यह काल विशेष महत्त्व का है। इसी काल में तमिल देश के निवासियों ने मन्दिर तथा अन्य इमारतों के निर्माणार्थ लकड़ी तथा ईंट के स्थान पर पत्थर का प्रयोग करना

प्रारंभ किया। निर्माण-सामग्री के इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन से आगे आनेवाली कुछ ही शताब्दियों के दौरान दक्षिण भारत में शिव, विष्णु और ब्रह्मा के मन्दिरों का जाल सा बिछ गया। इस युग के पल्लव राजाओं ने तमिल देश में संस्कृत विद्या और संस्कृति के फैलाने का सक्रिय प्रयत्न किया। आधुनिक खोजों से यह सिद्ध होता है कि कुछ सर्व महान् कवि और काव्य-शास्त्रविद् जैसे 'किरातार्जुनीय' तथा 'काव्यादर्श' के प्रणेता क्रमशः भारवि तथा दण्डिन इस काल में काँचीपुरम् की राजसभा को समलंकृत करते थे।

सिंह विष्णु ने अपने राज्य की सीमा चोलों के अधिकार के भीतर कावेरी तक फैला ली और पाण्डचों, कलभ्रों तथा मालवों (मालनाडु के निवासी) को अपने दक्षिणी आक्रमण के समय हराया। 'मत्त विलास प्रहसन' के लेखक महेन्द्रवर्मन ने अपने पिता सिंह विष्णु की प्रशंसा में ये शब्द कहे हैं :—"पल्लव-कुल धरणि-मण्डल कुल पर्वतस्य सर्वनम विजित समस्त सामन्तमण्डलस्य आखण्डलसमपराक्रमश्रियः श्री महिमा गुरुपदान विभूतिपरिभूत राज राजस्य।"

सिंह विष्णु वैष्णव मत का अनुयायी था जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है। उसने ५७५ ई० से लेकर ६०० ई० तक शासन किया और अवनि सिंह की उपाधि धारण की थी।

महेन्द्रवर्मन प्रथम :—

सिंह विष्णु की मृत्यु के उपरान्त सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में महेन्द्रवर्मन पल्लव वंश का राजा ६०० से ६३० ई० तक रहा। उसका शासनकाल कई बातों के लिए स्मरणीय है। प्रथम बात यह है कि दक्षिण में वही ऐसा प्रथम शासक था जिसने कठोर पाषाण खण्ड को काटकर मन्दिर खुदवाने की कला का वहाँ प्रचार किया। दूसरी बात यह है कि उसी के शासन काल में अप्पर नामक सन्त ने अपने धर्म प्रचार का कार्य प्रारंभ किया और संस्कृत के महाकवि भारवि ने अपना प्रसिद्ध महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' लिखा। शासन प्रबन्ध के दृष्टिकोण से उसके राजत्व काल में दक्षिण की जनता के लिए निरुपद्रवित वातावरण प्रदान किया गया जिससे वह उद्योग व्यवसाय के शान्तिपूर्ण कार्यों में प्रवृत हो सकी। सैनिक दृष्टिकोण से भी उसका शासन-काल महत्त्वपूर्ण था क्योंकि इसी समय में पल्लव-चालुक्य और पल्लव-पाण्डच संघर्षों का प्रारंभ हुआ, जिन संघर्षों को उसके उत्तराधिकारियों ने डेढ़ शताब्दियों तक जारी रखा। महेन्द्रवर्मन ने नाटक, संगीत, चित्रकला आदि विभिन्न ललित कलाओं की उन्नति को खूब प्रोत्साहित किया। दक्षिण में पुलकेशिन द्वितीय की शासन-व्यवस्था भी आर्य धर्म के उन्नत आदर्शों पर आधारित थी और सुदूर दक्षिण में महेन्द्रवर्मन प्रथम अपने उदार शासन द्वारा संस्कृति तथा कलाओं

की उन्नति के लिए अनुकूल वातावरण की सृष्टि किया। यह भारत का सौभाग्य था कि उसने इस समय तीन महान् शासकों को जन्म दिया जिन्होंने अपने-अपने राज्यों में शान्ति स्थापित कर रखी थी। ये तीनों शासक देश की संस्कृति में बल संचार करने के लिए प्रयत्नशील थे। इन्होंने अपनी विजयों द्वारा भारत के विभिन्न विशाल भूभागों में राजनीतिक एकता स्थापित की। कन्नौज के हर्षवर्द्धन ने उत्तरापथ में अपना विशाल साम्राज्य स्थापित करके उसे राजनीतिक एकता प्रदान की।

चालुक्य सम्राट् पुलकेशिन द्वितीय की धाक सम्पूर्ण दक्षिणापथ पर जमी हुयी थी और पल्लव महेन्द्रवर्मन ने कृष्णा नदी के दक्षिण में समस्त छोटे-छोटे राज्यों को विजित करके वहाँ के राजनीतिक अनैक्य को समाप्त कर दिया था। छोटे-छोटे राजाओं को इन तीन सम्राटों हर्षवर्द्धन, पुलकेशिन द्वितीय तथा महेन्द्रवर्मन की सेवा में कर देना पड़ता था। दक्कन में कदम्ब, कोंकण गंग, बन तथा केसरी वंश के नरेश पुलकेशिन द्वितीय के करद थे। सुदूर दक्षिण में चोल, पाण्डय तथा चेर वंशों के नरेश महेन्द्रवर्मन प्रथम की अधीनता स्वीकार करते थे और उत्तरापथ में कान्यकुब्ज सम्राट् हर्षवर्द्धन के अधीन कई शासक थे जिनमें वल्लभी के मैत्रक वंशीय तथा मालवा के उत्तर गुप्तकालीन नरेश प्रमुख थे।

महेन्द्रवर्मन प्रथम को अपने महान् समकालीन चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय से युद्ध करना पड़ा था जिसके फलस्वरूप उसके अधिकार से पल्लव राज्य का कुछ भाग निकल गया। किन्तु महेन्द्रवर्मन के त्रिचनापल्ली दरी अभिलेख से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उसका साम्राज्य दक्षिण में काफी दूर तक विस्तृत था। पश्चिमी चालुक्यों के विरुद्ध उसे अपने रण-अभियानों में सफलता प्राप्त हुयी परन्तु अन्य क्षेत्रों में उसने विपुल यश अर्जित किया।

अपने जीवन और शासन के प्रारंभिक दिनों में महेन्द्रवर्मन प्रथम जैन मतानुयायी था परन्तु कालान्तर में अप्पर नामक सन्त के प्रभाव से उसने शैवमत ग्रहण कर लिया। त्रिचनापल्ली लेख के अनुसार उसके हृदय में भगवान शंकर के प्रति महती श्रद्धा थी और उसने एक दरी मन्दिर का निर्माण कराया था। भण्डगप्पतु अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि महेन्द्रवर्मन प्रथम ने ब्रह्मा, ईश्वर और विष्णु के लिए भी एक मन्दिर बिना ईंट, चूने, लोहे और लकड़ी के बनवाया। वास्तव में उसके अनेक विरुदों में से चेचकारि अथवा चैत्यकारि अर्थात् चैत्यों अथवा मन्दिरों का निर्माता है। इन मन्दिरों की विशेषता उनके त्रिमुखी स्तम्भों में थी। ये दरी मन्दिर दलनपुर (दक्षिण अर्काट जिला) पल्लवरम्, सिव्वमंगलम् वल्लभ (चिंगलिपुत्त जिला) आदि स्थानों में मिले हैं।[1]

१. रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३३१

महेन्द्रवर्मन प्रथम सर्वतोमुखी प्रति सम्पन्न व्यक्ति के साथ-साथ एक प्रसिद्ध लेखक था और उसने 'मत्तविलास प्रहसन' नामक ग्रन्थ लिखा। सित्तन वासल (दुदडुकोट रियासत) की जैन चित्रकारी में नृत्य विषयक चित्र मिलते हैं जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि महेन्द्रवर्मन प्रथम ने नृत्य कला को प्रोत्साहन दिया। प्रसिद्ध विद्वान डुब्रोआ का मत है कि महेन्द्रवर्मन ने नृत्य कला पर एक पुस्तक भी लिखी थी। इस राजा के मामन्दूर अभिलेख में 'दक्षिण-चित्र' नामक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है जिसमें सम्भवतः चित्र-कला तथा संगीत के सिद्धान्तों की व्याख्या की गयी है। यह ग्रन्थ भी महेन्द्रवर्मन द्वारा रचित बताया जाता है। कुडमियमलै का संगीत सम्बन्धी अभिलेख उसी का खुदवाया हुआ कहा जाता है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि वह संगीत में बड़ा निपुण था। चित्रकला में उसकी निपुणता का संकेत उसके एक विरुद 'चित्रकार प्सुली' से प्राप्त होता है। महेन्द्रवर्मन प्रथम का एक अन्य विरुद 'विचित्र चित्त' उसकी सर्वतोन्मुखता चरितार्थ कर देता है। 'मत्तविलास प्रहसन' के प्रारंभ में महेन्द्रवर्मन प्रथम के विभिन्न गुणों का वर्णन किया गया है। उसे विभिन्न प्रकार के विरुदों से बड़ा अनुराग था। उसने 'मत्तविलास', 'अवनिभाजन', 'शत्रुमल्ल'; 'गुणाभार', 'सत्यसन्ध', 'परम माहेश्वर', महेन्द्र विक्रम, चेत्तकारि आदि उपाधियाँ धारण कीं। इन विरुदों का उल्लेख उसके विभिन्न अभिलेखों में किया गया है।

नरसिंह वर्मन प्रथम :—

महेन्द्रवर्मन प्रथम के बाद उसका पुत्र नरसिंहवर्मन प्रथम राजा हुआ। उसने सम्भवतः ६३० ई० से ६६८ ई० तक राज्य किया। वह नरसिंहवर्मन प्रथम महामात्य के नाम से भी जाना जाता है। उसने चालुक्य राज्य की राजधानी वातापी पर आक्रमण किया जहाँ पुलकेशिन लड़ता हुआ मारा गया। उसने सिरुतोण्ड (परंजोति) के नेतृत्व में एक सबल सेना वातापी भेजी थी। नरसिंह-वर्मन ने इस विजय के फलस्वरूप वातापी कोण्ड उपाधि धारण की। उसके बाद उसने अपने नियुक्त किये गये मानवर्मा को लंका की गद्दी पर बैठाने के लिए वहाँ दो नाविक अभियान किया। इस अभियान का प्रभाव लंका में बहुत दिनों तक बना रहा। मानवर्मा की शक्ति वहाँ प्रतिष्ठित हो गयी। यद्यपि उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी को मारकर अनुराधापुर पर अधिकार कायम कर लिया था फिर भी उसे एक बार निर्वासित होना पड़ा तथा पल्लव में शरण लेने को विवश होना पड़ा। उसने महामल्ल की उपाधि भी धारण की। सम्पूर्ण दक्षिण भारत पर उसका प्रभाव छा गया। कहा जाता है कि नरसिंहवर्मन ने चेर, चोल, कलभ्र तथा पाण्डय सभी को युद्ध में पराजित किया।

नरसिंहवर्मन के समय में पल्लव शक्ति सर्वोच्च शिखर पर थी। उसने महामल्लपुरम् नामक नगर बसाया और उसे बहुत से शिला मन्दिरों से सुशोभित किया। उसके समय महाबलीपुरम् बन्दरगाह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। उसी के समय चीनी यात्री ह्वेनसांग कांची गया था। उसके अनुसार यह देश द्रविड़ कहलाता था और इसकी राजधानी कांचीपुरम् थी। उसने लिखा है कि यहाँ की भूमि उर्वर थी और नियमपूर्वक जोती जाती थी। वहाँ अनेक प्रकार के फल और फूल होते थे। बहुमूल्य रत्न और वस्तुयें वहाँ उत्पन्न होती थीं। वहाँ की जलवायु उष्ण थी। प्रजा साहसी थी। लोग सत्य प्रिय और ईमानदार थे। विद्या का बड़ा आदर था। भाषा और लिपि मध्यदेश से विशेष भिन्न नहीं थी। एक सौ संघारामों में दस हजार भिक्षु रहते थे। वे लोग महायानी थे। वहाँ प्रायः ८० देव मन्दिर थे और अनेक निर्ग्रन्थ भी। अशोक ने उन स्थानों पर स्तूपों का निर्माण करवाया था। प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य धर्मपाल कांची के निवासी थे।

परमेश्वरवर्मन प्रथम :—

नरसिंहवर्मन के बाद उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन था जिसका चालुक्य विक्रमादित्य प्रथम के साथ संघर्ष हुआ और फिर परमेश्वर वर्मन प्रथम शासक हुआ। उसके समय चालुक्य पाण्ड्य और गंगों में एकता हो जाने से संघर्ष बढ़ गया पर उसने वातापी पर आक्रमण कर उस संघर्ष को विफल कर दिया। विक्रमादित्य प्रथम चालुक्य ने कांची पर अधिकार कर लिया पर उसने विक्रमादित्य की सेना को पराजित किया। माम्मलपुरम् का गणेश मन्दिर संभवतः परमेश्वर वर्मन ने ही बनवाया था और काँची के निकट करम नामक स्थान में उसने एक शिव मंदिर का निर्माण कराया। परमेश्वर वर्मन प्रथम ने 'चित्रमाया', 'गुणभाजन', 'श्रीभार' और रणंजय विरुद धारण किया था। विद्याविनीत पल्लव भी उसकी एक अन्य उपाधि थी। वह ६७० ई० से ६८० ई० तक गद्दी पर रहा।

नरसिंहवर्मन द्वितीय राजसिंह :—

नरसिंहवर्मन द्वितीय सातवीं शताब्दी के प्रायः अन्त में अपने पिता की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठा। उसका शासन-काल ६८० ई० से ७२० ई० तक रहा। श्री गोपालन की धारणा है कि नरसिंहवर्मन द्वितीय का शासन-काल शान्तिपूर्ण तथा बाह्य आक्रमणों से विमुक्त था।[1] यही कारण है कि उसने अपने राज्य में अनेक मन्दिर बनवाये जिनमें काँची का कैलास मन्दिर, महाबलीपुरम् का तथाकथित 'शोर' मन्दिर, काँची का ऐरावतेश्वर मन्दिर और पनामलई के मन्दिर अधिक उल्लेखनीय हैं। इन सभी नन्दिरों में नरसिंहवर्मन के अभिलेख उत्कीर्ण हैं।

१. History of Pallavas of Kanchi, p. 110.

नरसिंहवर्मन को अपने पिता-पितामहों के समान विरुदों से अति प्रेम था। केवल कैलासनाथ मन्दिर की दीवारों पर ही उसकी २५० से अधिक उपाधियाँ खुदी हुयी हैं। उसके कुछ विरुद हैं—'श्री शंकरभक्त', 'श्री वाद्यविद्याधर', 'श्रीआगम प्रिय' 'शिव चूडामणि' और 'राजसिंह'। नरसिंहवर्मन द्वितीय की उपाधियों से उसकी व्यक्तिगत अभिरुचियों, उसके गुणों तथा उसकी धार्मिक मनोवृति का परिचय प्राप्त होता है।

गोपालन का मत है कि नरसिंहवर्मन द्वितीय का शासन-काल एक उत्कट साहित्यिक क्रियाशीलता का युग था। वेलर पालयम पत्र लेखों के अनुसार राजसिंह ने द्विजों की घटिका को पुनरुज्जीवित किया। ब्राह्मणों को घटिका में जिस विद्या का उपार्जन किया जाता था उसके स्वरूप का वर्णन कसकुड्डी पत्र लेखों में किया गया है। संभवतः काव्य-दर्शन का प्रणेता दण्डिन राजसिंह (नरसिंहवर्मन द्वितीय) की राजसभा में कुछ समय तक रह चुका था। नीलकण्ठशास्त्री की धारणा है कि पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन द्वितीय ने चीन के सम्राट् की राजसभा में अपना राजदूत भेजा था।[1]

नन्दिवर्मन पल्लवमल :—

नरसिंहवर्मन द्वितीय राजसिंह की मृत्यु के बाद परमेश्वरवर्मन द्वितीय राजा हुआ परन्तु उसका शासन-काल अत्यन्त संक्षिप्त था। वेरूपालयम पत्रों में उसके लिये लिखा है कि उसने मनुस्मृति के आदेशानुसार शासन किया। परमेश्वरवर्मन द्वितीय के बाद नन्दिवर्मन द्वितीय पल्लवमल को राजसिंहासन प्राप्त हुआ। नन्दिवर्मन का जन्म सिंहविष्णु के भाई भीमवर्मन के कुल में हुआ था।

नन्दिवर्मन द्वितीय के समय में चालुक्य पल्लव संघर्ष पुनः प्रारंभ हुआ। नरसिंहवर्मन प्रथम महामल्ल के समय में चालुक्यों और पल्लवों का संघर्ष शान्त पड़ गया था पर ऐसा प्रतीत होता है कि परमेश्वरवर्मन की मृत्यु के बाद गृह-कलह उत्पन्न हो जाने पर चालुक्यों ने पुनः पल्लव राज्य पर आक्रमण करने का निश्चय किया। ७४० ई० में चालुक्य नरेश विक्रमादित्य द्वितीय ने, नन्दिवर्मन द्वितीय के ऊपर आक्रमण करके उसे भयसंत्रस्त कर दिया। यह कहा जाता है कि विक्रमादित्य द्वितीय ने कांची को कुछ दिनों तक अपने कब्जे में रखा। किन्तु शीघ्र ही नन्दिवर्मन ने अपनी परिस्थिति संभाल ली और शत्रु को मार भगाया। पल्लव संघर्ष के अतिरिक्त नन्दिवर्मन ने अन्य रण-अभियान किये। पाण्ड्य नरेश राजसिंह प्रथम के ऊपर उसने चढ़ाई की। किन्तु नन्दिपुर नामक स्थान में, जहाँ पर वह ठहरा

१. Foreign Notices of South India, pp. 166-177.

हुआ था, शत्रुओं ने उसे घेर लिया। नन्दिवर्मन के वीर सेनापति उदयचन्द्र की सैन्य सफलताओं के विषय में हम जानते हैं। पत्र लेखों से यह पता चलता है कि उसने वेंगी के पूर्वी चालुक्यों से उनके राज्य का कुछ भाग छीन लिया था। पल्लव-पाण्ड्य संघर्ष के संबंध में आधुनिक तंजौर के निकट अनेक युद्ध हुये। नन्दिवर्मन ने गंगराज श्री पुरुष से भी युद्ध किया। काँची पर राष्ट्रकूटों ने भी आक्रमण किया किन्तु इस आक्रमण के बाद दोनों शक्तियों में सुलह हो गयी। राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग ने अपनी कन्या रेवा का विवाह नन्दिवर्मन के साथ कर दिया।

नन्दिवर्मन द्वितीय का शासन-काल सैन्य-कार्यों, चढ़ाइयों, आक्रमणों तथा प्रत्याक्रमणों से परिपूर्ण था। फिर भी उसने निर्माण-कार्यों के प्रति अपनी उदारता दिखलाई। वह वैष्णव था और उसने अपनी राजधानी काँची में मुक्तेश्वर मन्दिर बनवाया। काँची का बैकुण्ठ पेरूमल मन्दिर भी उसी के द्वारा निर्मित बताया जाता है। उसे इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसके शासन-काल में ही प्रसिद्ध वैष्णव संत तथा विद्वान तिरूमंगई आलवार हुये थे जिनकी रचनायें 'नला चिह प्रबंधम्' में संगृहीत हैं। नन्दिवर्मन स्वयं भी महान विद्वान था। उसके तण्डोत्तम पत्रलेखों में उसकी कलानुरागिता तथा काव्यकला-निपुणता का उल्लेख किया गया है। काव्य शक्ति में उसकी तुलना आदि कवि वाल्मीकि से की गयी है। नन्दिवर्मन द्वितीय ने पैंसठ वर्षों तक शासन किया।

दन्तिवर्मन और उसके उत्तराधिकारी :—

नन्दिवर्मन द्वितीय की राष्ट्रकूट वंशीय पत्नी रेवा से एक पुत्र उत्पन्न हुआ था जिसका नाम दन्तिवर्मन था। दन्तिवर्मन को नन्दिवर्मन द्वितीय के बाद पल्लव राज्य का स्वामित्व प्राप्त हुआ। दन्तिदुर्ग के काल में पल्लवों और राष्ट्रकूटों के बीच विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे फिर भी ध्रुव निरूपम तथा गोविन्द तृतीय नामक राष्ट्रकूट राजाओं ने काँची पर आक्रमण किया। वारगुण पाण्ड्य ने कुछ समय तक कावेरी प्रदेश पर अधिकार रखा परन्तु नन्दिवर्मन तृतीय (८२६–८४९ ई०) के समय में पल्लवों ने पाण्ड्यों पर विजय प्राप्त की। तल्लरु नामक स्थान पर नन्दिवर्मन तृतीय ने श्रीमार पाण्ड्य को हराया। अतएव उसका एक उपनाम 'तेलरुरेन्द्र नन्दिवर्मन' पड़ा। कहा जाता है कि नन्दिवर्मन दक्षिण में काफी दूर तक पहुँच गया था। 'नान्दिक कलम्बकम्' नामक समकालीन तामिल ग्रन्थ में उसकी विजयों का उल्लेख किया गया है। नन्दिवर्मन तृतीय ने राष्ट्रकूट वंश की एक राजकुमारी के साथ विवाह किया। वह शैव मत का था और उसने तामिल साहित्य को राजसंरक्षण प्रदान किया। 'भारत वेन्वा' नामक तामिल पुस्तक का प्रणेता पेरुन्देवनर नन्दिवर्मन तृतीय का समकालीन था। नन्दिवर्मन तृतीय का पुत्र और उत्तराधिकारी नृपतुंगवर्मन था जिसे ८४९ ई० में राजसिंहासन प्राप्त हुआ।

नृपतुंगवर्मन ने भी पाण्डच-नरेश श्रीमार को हराया। उसके वाकुर पत्रलेखों से विदित होता है कि उससे मंत्री ने वेद शास्त्रों के अध्ययनार्थ स्थापित एक संस्था को तीन ग्राम दान में दिये थे। अपराजित वर्मन इस वंश का अन्तिम शासक था। उसने पाण्डच राजा वारगुण द्वितीय को हराया। पाण्डचों से लड़ने में अपराजित वर्मन पल्लव को गंग नरेश पृथ्वी पति प्रथम से सहायता प्राप्त हुयी। नवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में चोल नरेश आदित्य प्रथम ने अपराजितवर्मन को बुरी तरह से हरा दिया। इस प्रकार से पल्लव वंश की स्वतन्त्र राज सत्ता का अन्त हो गया। निःसन्देह कुछ छोटे-मोटे पल्लव राजा जहाँ-तहाँ वाद तक राज करते रहे पर पल्लव वंश सूची में उनका स्थान स्पष्ट नहीं है।

२. चोलवंश

चोलराष्ट्र या चोल मण्डलम् पेन्नार और वेल्लारु नदियों के बीच समुद्रतट पर स्थित था। चोल राजाओं के बलाबल के अनुसार इसकी सीमाएँ भी बदलती रहती थीं। इस राज्य की सबसे प्राचीन राजधानी उरगपुर थी फिर क्रमशः कावेरी पदनम्, तंजवुर और गंग कोडं चोलापुर में राजधानी रही। द्रविड़ प्रदेश के प्राचीन राजाओं में चोल शिरोमणि थे, इसलिये वे लोग चोल कहलाये। उत्तर भारत से ब्राह्मणों और क्षत्रियों को बुलाने तथा बसाने और संस्कृत साहित्य को विशेष प्रश्रम देने से यह मालूम होता है कि चोल वंश भी उत्तर भारत से ही द्रविड़ प्रदेश में गया था। साहित्य और उत्कीर्ण लेखों में उनको सूर्यवंशी कहा गया है।

चोल राज्य वहुत प्राचीन राज्यों में से एक है। प्रसिद्ध वैयाकरण कात्यायन ने चोल और पाण्डच का साथ-साथ वर्णन किया है। अशोक के समय में मौर्य-साम्राज्य के दक्षिण में चोल राज्य का सबसे पहले नाम आता है। महावंश नामक ग्रन्थ में चोल रत्व और सिंहल के सम्बन्धों का वर्णन है और चोल राजा एलार द्वारा सिंहल पर विजय करके दीर्घ काल तक राज्य करने का उल्लेख है। उसकी व्यापारिक ख्याति का पता इस वात से चलता है कि पेरिप्लस और टॉलमी की ज्योग्रफी में उस देश (चोल देश) और उसके पत्तनों (बन्दरगाहों) का वर्णन है। इसके वाद के संगम साहित्य में वहुत से राजाओं का वर्णन है। इनमें करिकाल प्रसिद्ध था। उसने चेर और पाण्डच राजाओं पर अपना आतंक जमाया। उसके समय में चोलों की राजधानी उरगपुर से उठकर कावेरी पट्टनम् में आई। करिकाल के कुछ समय बाद पेरुनरकिल्लि नामक प्रसिद्ध राजा हुआ जिसने अपनी विजयों के उपलक्ष में राजसूय भी किया था। इसके बाद चोलों की शक्ति का ह्रास होने लगा। पहले चोल राज्य के ऊपर अन्ध्रों का अधिकार रहा और इसके पीछे नवीं शताब्दी के मध्य तक पल्लवों का। ह्वेनसांग सातवीं शताब्दी में भारत-भ्रमण

करता हुआ चोल देश में भी गया था। उसने लिखा है—"चु-लि-ये देश २४०० या २५०० ली में फैला हुआ है और उसकी राजधानी का घेरा लगभग १० ली है। देश उजाड़ है और अधिकांश दल-दल और वन है। जनसंख्या बहुत कम है और डाकू लूट-मार बहुत करते हैं।" ध्यान देने की यह बात है कि वह इस देश में किसी राजा का नाम नहीं लिखता। लगता है इस समय चोल राज प्रसिद्ध राजा न था और पल्लवों के अधीन था। पल्लव शक्ति के नष्ट होने पर चोल राज्य की फिर से उन्नति प्रारंभ हुयी।

नवीं शताब्दी में चोल वंश का पहला राजा विजयादित्य (विजयालय) हुआ जिसने अपने बल का परिचय दिया। वह पहले पल्लवों का सामन्त था। उसने दक्षिण की ओर बढ़कर तंजौर पर कब्जा किया और उसको अपनी राजधानी बनाया। उसके बाद उसका पुत्र आदित्य प्रथम राजा हुआ। उसके समय चोल वंश पल्लवों के अधिकार से बिल्कुल स्वतन्त्र हो गया। उसने गंगों की राजधानी तलकाड को भी जीता। आदित्य शैव मत का माननेवाला था तथा कई एक शैव-मन्दिरों का निर्माता भी था।

द्रविड़ देश में चोल आधिपत्य की स्थापना वास्तव में प्रथम परान्तक (९०७–४६ ई०) के समय में हुयी। उसने मदुरा के पाण्डय राजा को हराया और मदुरैकोण्ड उपाधि धारण किया। कहा जाता है कि मदुरा का राजा लंका भाग गया। इस कारण उसने लंका पर भी आक्रमण किया पर इस आक्रमण में वह सफल न हो सका। फिर भी वह हतोत्साहित न हुआ और लौटकर पल्लवों से पूर्ण स्वतन्त्रता घोषित करते हुये उत्तर में वेल्लौर तक का प्रदेश अधिकृत कर लिया किन्तु इसके बाद राष्ट्रकूटों के आक्रमण चोल राज्य पर आरंभ हुये। उसे तृतीय कृष्ण राष्ट्रकूट से हारना पड़ा और उसके साथ युद्ध में परान्तक का पुत्र राजादित्य मारा गया। परान्तक के पुत्रों के समय में चोलों की शक्ति कुछ समय के लिए मन्द पड़ गयी। उसके समय में चोल राज्य गृह-कलह से ही निर्बल बना रहा। परान्तक के पौत्र सुन्दर चोल का पुत्र राजराज एक महान् राजा हुआ।

राजराज प्रथम (९८५–१०१४ ई०)

राजराज प्रथम के सिंहासनारूढ़ होने के समय से चोलों के विस्तृत विजय और समृद्धि का इतिहास प्रारंभ हुआ। सबसे पहले उसने चेरों की नौसेना को कण्डलूर में हराया। पुनः वेंगी के चालुक्य, मदुरा के पाण्डय और दक्षिण मैसूर के गंग राजाओं को हराकर अपने अधीन किया। उसकी विजयिनी सेना ने दक्षिण में लंका और उत्तर में कलिंग को जीता। उसके पास एक शक्तिशाली नौसेना थी।

उसकी सहायता से उसने लकदिव और मालदिव को जीता और पूर्वी द्वीप पर आक्रमण करना आरंभ किया। उसने लंका के उत्तरी भाग को अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार राजराज ने सम्पूर्ण द्रविड़ प्रदेश, लंका, कर्णाटक और आन्ध्र तथा कलिंग पर अपना अधिकार स्थापित किया और जलमार्ग से बाहर के द्वीपों तक अपना साम्राज्य फैलाया। उसने अपने शत्रु कल्याणी के चालुक्यों पर भयानक आक्रमण किया तथा सत्याश्रय को हराकर बड़ी क्रूरतापूर्वक चालुक्य राज्य को रौंदा। उसने वेंगी के शक्तिवर्मन को हराकर अपना सामन्त बना लिया और उसके उत्तराधिकारी विक्रमादित्य से अपनी पुत्री का विवाह कर उसे अपने अधीन मित्र बना लिया। उसकी गणना भारत के प्रसिद्ध विजेताओं में होती है। वह योग्य और सफल शासक भी था। उसका नाम कला को प्रश्रय देने के लिए भी विख्यात है। तंजोर में शिव का राजराजेश्वर नामक मन्दिर उसी का बनवाया हुआ है जो अपनी विशालता, सुन्दर आकार, मनोहर मूर्ति कला और सजावट के लिए प्रसिद्ध है। इस मन्दिर की दीवारों पर राजराज की दिग्विजयों का वर्णन अंकित है। वह नाटच, नृत्य और संगीत को प्रोत्साहन देता था। वह वैष्णव और बौद्ध धर्म के प्रति सहिष्णु था और उनको सहायता देता था। कृषि और व्यवसाय की वृद्धि कर उसने प्रजा को सुखी और सम्पन्न बनाया। राजराज के विरुद थे मुम्मुडिचोलदेव, जयगोंड, चोड़मारतंड आदि।

राजेन्द्र प्रथम (१०१४-४२ ई०)

राजराज के बाद उसका पुत्र राजेन्द्र चोल शासक हुआ। वह अपने पिता से भी अधिक महत्वाकांक्षी था। उसने अपने पिता के साम्राज्य को केवल संगठित ही नहीं किया बल्कि उसे बढ़ाया भी। उसने कल्याणी के चालुक्यों, वनवासी के कदम्बों और मध्यप्रदेश के गोंडवाना को भी अपने अधीन किया तथा लंका की विजय पूरी की और वहाँ के राजा पंचम महीन्द्र को चोल राज्य में मँगवाया जहाँ उसकी मृत्यु हुयी। उसके पुत्र कनक-विक्रम बाहु ने फिर से लंका का दक्षिणी भाग प्राप्त कर लिया। वह उत्तर भारत की ओर भी बढ़ा। उसकी सेनाएँ कलिंग को पार कर ओड्र, बंगाल और मगध होती हुयी गंगा तक पहुँची। उसके शिलालेखों में उसके द्वारा विजित प्रदेशों में निम्नलिखित नामों का उल्लेख मिलता है :—

१. शक्कर कोटम् (चक्रकोट)
२. मदुरा मंडलम्,
३. नाम नैकोन्ताई,
४. पंचपल्ली,

५. माशुनीदेशम्
६. इन्द्ररथ
७. ओड़्डविषयम्
८. कोश लाइनाडु
९. तण्डवुटी, (दण्डभुक्ति),
१०. टक्कण लाडम (दक्षिण लाट),
११. उत्तर लाट : वंगाल देशम् और गंगा ।

इनके अतिरिक्त करोडम्, श्री विषयम्, पन्नाय, मलापुर, लंकाशोक, पप्पालम्, मेविलिवंगम्, माचिरूडिगम् वलेपन्नडरू, तल्लल कोल्लम्, मतमागंलम्, इलामुरिदेशम्, अक्कपारम (निकोवार) आदि स्थानों को भी उसने अपने अधीन किया। उसके समय में श्री विजय एक सामुद्रिक राज्य था जो मलाया द्वीप, सुमात्रा, जावा तथा पड़ोस के द्वीपों पर शासन करता था और भारत से चीन तक के समुद्री रास्ते पर नियंत्रण रखता था। राजेन्द्र चोल ने उसके विरुद्ध सामुद्रिक अभियान किया। चीन में उसके द्वारा भेजे गये दूत अंशतः कूटनीतिक और अंशतः व्यापारिक थे। १०१६, १०३३ और १०७७ ई० में उसके दूत चीन पहुँचे थे। राजेन्द्र चोल का सामुद्रिक अभियान सफल रहा और श्री विजय पर उसका कब्जा हो गया। वहाँ के राजा ने चोलों का आधिपत्य स्वीकार किया। सुमात्रा से प्राप्त १०८८ ई० के एक अभिलेख से यह पता चलता है कि चोल राज्य और श्री विजय के बीच सक्रिय सम्पर्क जारी रहा। गंग तट के विजय के उपलक्ष में उसने गंगईकोण्ड की उपाधि धारण की और गंगईकोण्ड चोलापुरम् नामक एक नगर बसाया। ज्ञातव्य है कि उसके पिता ने अपनी उपाधि के रूप में दुम्मुडिचोलदेव, जयगोंड, चोड़मार्तंड आदि धारण किया था। वह भी शैव था और राजेन्द्र प्रथम भी शैव था। उसकी जलसेना ने अंडमन निकोबार तथा बर्मा के समुद्र तट के अराकान, पेगु आदि प्रदेशों को जीता। मलाया, सुमात्रा, जावा और पूर्वी द्वीप समूह के दूसरे द्वीपों तक उसका जहाजी बेड़ा गया। इन विजयों के फलस्वरूप भारतीय व्यापार, उपनिवेश और संस्कृति का प्रसार हिन्द चीन और पूर्वी द्वीपसमूह में हुआ। उसने श्रीविजय की विजय की। वहाँ का राजा संग्राम विजयोतुंग वर्मन पकड़ लिया गया और उसके नगर श्री विजय तथा मलाया के पश्चिमी तट पर स्थित केदारम् पर चोल राजा का कब्जा हो गया। उसने वहाँ का राज्य वहाँ के राजा को वापस कर दिया। उसके शासन के अन्तिम समय में केरल और पाण्ड्य देशों में विद्रोह हुये किन्तु राजाधिराज ने उन्हें दबा दिया तथा उसने सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल के साथ भी सफलतापूर्वक युद्ध किया। राजेन्द्र चोल ने एक विशाल राज प्रासाद और प्रस्तर मूर्तियों से अलंकृत एक मन्दिर भी बनवाया तथा एक झील भी खुदवायी।

वह शैव था तथा उसकी उपाधियों में से कदानंकोण्ड, मुण्डिकोण्ड, गंगईकोण्ड और पंडित प्रसिद्ध थीं[1]।

राजाधिराज प्रथम (१०४२–५२ ई०)

चोलों की वंश-परम्परा के अनुसार राजाधिराज प्रथम अपने पिता के शासन-काल में युवराज बनाया गया था। अपने यौवराजत्व काल में उसने अपनी योग्यता का पर्याप्त परिचय दिया। गद्दी पर बैठते ही उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ा पर उसने वीरता तथा धैर्यपूर्वक उन कठिनाइयों का सामना किया। सिंहल की राजमाता के साथ राजाधिराज ने अपमानजनक व्यवहार किया और उसकी नाक कटवा दी। पश्चिमी चालुक्यों के साथ संघर्ष जारी रहा और इसकी परिणति कोप्पम के भयानक युद्ध में हुयी। इस युद्ध में चोल नरेश राजाधिराज प्रथम को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा पर विजय श्री चोलों के हाथ रही। अपनी कई पराजयों और राज्य क्षति के बावजूद चालुक्यों ने चोलों के सम्मुख आत्मसमर्पण नहीं किया। चोलों को चालुक्य राज्य के किसी भी भाग पर स्थायी रूप से अधिकार करने में सफलता न प्राप्त हो सकी। राजाधिराज का शासन-काल अधिकतर युद्धादि कार्यों में ही व्यतीत हुआ। उसने सिंहल राज के विरुद्ध युद्ध में सफलता प्राप्त करने पर अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था।

राजेन्द्र देव द्वितीय (१०५२–६३ ई०)

राजेन्द्र द्वितीय राजाधिराज प्रथम का भाई था। उसको कोप्पम के रण क्षेत्र में ही राजा घोषित कर दिया गया। चालुक्यों के विरुद्ध लड़ते हुए राजेन्द्र द्वितीय ने अपनी वीरता तथा साहसिकता का परिचय दिया था। चोल अभिलेखों से पता चलता है कि राजेन्द्र द्वितीय कोल्हापुर (कोल्लापुरम) तक जा पहुँचा और वहाँ उसने जयस्तम्भ स्थापित किया। इस कथन के विरुद्ध 'विक्रमांकदेव चरित' का रचयिता विल्हण लिखता है कि सोमेश्वर प्रथम ने चोड़ शक्ति के तत्कालीन मुख्य केन्द्र कांची पर आक्रमण किया। इन परस्पर विरोधी वृतान्तों से यह प्रतीत होता है कि दोनों पक्षों में वस्तुतः कोई पूर्णतः सफल न हुआ था। कुछ विद्वानों का मत है कि चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम को राजेन्द्र द्वितीय ने कुदूगल संगमम् नामक स्थान पर १०६२ ई० में हराया था। राजेन्द्र द्वितीय के समय में चोल साम्राज्य की सीमाएं संकुचित नहीं होने पायीं।

---

१. देखिये—Rangacharya, Inscriptions of Madras Presidency, cf also Sewell, South India Inscriptions

वीर राजेन्द्र प्रथम (१०६३-७० ई०)

राजेन्द्र द्वितीय का भाई वीर राजेन्द्र उसका उत्तराधिकारी हुआ। चालुक्यों से उसने संघर्ष जारी रखा। कहा जाता है कि सोमेश्वर प्रथम की चुनौती स्वीकार करके वीर राजेन्द्र ने पश्चिमी चालुक्य साम्राज्य पर आक्रमण किया। किन्तु सोमेश्वर प्रथम कुद्गल संगमम् के मैदान में युद्ध करने के लिए नहीं आया। संभवतः सोमेश्वर प्रथम बीमार था। इसीलिये वह रणभूमि में उपस्थित न हो सका। अतएव कुद्गल संगमम् में अपना जयस्तम्भ प्रतिष्ठापित कर और सोमेश्वर प्रथम की एक कापर मूर्त्ति बना उसे अपमानित कर वीर राजेन्द्र प्रथम आगे बढ़ा। इसके आगे चोल सम्राट् वेंगी तक पहुँच गया और वेजवादा के निकट पश्चिमी चालुक्यों को हराया। वेंगी पर अच्छी तरह से अपना अधिकार जमा लेने के बाद वीर राजेन्द्र अपनी राजधानी गंगकोण्ड चोलपुरम् लौट आया। उसने लंका में अपनी एक सेना भेजकर वहाँ के विद्रोह को शान्त किया। उसने पाण्ड्य और केरल राजाओं के स्वतन्त्रता प्रयास को बिल्कुल व्यर्थ कर दिया। सोमेश्वर द्वितीय के साथ भी अधिराजेन्द्र का युद्ध हुआ। सोमेश्वर द्वितीय और उसके भाई विक्रमादित्य षष्ठ में पारस्परिक कलह हो गयी। विक्रमादित्य षष्ठ की प्रार्थना पर जिसका विवाह एक चोल राजकुमारी से हुआ था वीर राजेन्द्र प्रथम ने सोमेश्वर द्वितीय के ऊपर आक्रमण किया और उसे इस बात के लिए विवश किया कि वह अपने राज्य का कुछ भाग अपने भाई विक्रमादित्य षष्ठ को दे। वीर राजेन्द्र ने अपनी राजधानी में एक सुविशाल प्रासाद तथा अपने लिए एक राजसिंहासन बनवाया।

वीर राजेन्द्र ने 'सकल भुवनाश्रय' मेदिनी वल्लभ तथा महाराजाधिराज की उपाधियाँ धारण की थीं। उसने चालुक्यों के विरुद्ध सफलता प्राप्त करने के उपलक्ष में आहवमल्ल कुल काल का विरुद धारण किया था। वीर राजेन्द्र ने त्रैलोकसार नामक लालमणि चिदम्बरम् और भगवान नटराज की सेवा में भेजा था। उसने भूमिदान द्वारा चालीस हजार विद्वान तथा वेदशास्त्रपारंगत ब्राह्मणों को संतुष्ट किया। वीर राजेन्द्र के समय बुद्धमित्र ने 'वीर सोलियम' नामक ग्रन्थ तमिल व्याकरण पर लिखा। इस ग्रन्थ से यह स्पष्ट सूचित होता है कि इस समय भी तामिल देश में बौद्ध धर्म जीवित था और तामिल साहित्य पर बौद्ध पाण्डित्य का प्रभाव पड़ चुका था।

अधि राजेन्द्र :—

अधि राजेन्द्र ने अपने पिता वीर राजेन्द्र के साथ मिलकर दस वर्षों तक शासन किया। वीर राजेन्द्र की मृत्यु के बाद अधि राजेन्द्र चोल वंश का राजा बना परन्तु केवल कुछ ही महीनों तक वह एक स्वतन्त्र नरेश की हैसियत से शासन कर सका।

उसकी मृत्यु अल्पावस्था में ही हुयी। अधि राजेन्द्र के समय में चोल राज सत्ता का प्रभाव और आतंक कम हो गया। उसकी मृत्यु के बाद चोल साम्राज्य का स्वामी कुलोत्तुंग हुआ जिसकी माँ चोल वंश की एक राजकुमारी थी और जो स्वयं चालुक्य वंश का था। कुलोत्तुंग प्रथम के सिंहासनारोहण से विजयालय के वंश का अन्त हो गया।

कुलोत्तुंग प्रथम (१०७०–१११२ ई०)

अधि राजेन्द्र के बाद कुलोत्तुंग प्रथम राजा हुआ। उसका वास्तविक नाम राजेन्द्र था। उसके समय में वेंगी के पूर्वी चालुक्य और चोल राज वंशों का सम्मिलित राज्य हुआ। पश्चिमी चालुक्य नरेश विक्रमादित्य इस सम्मिलित शासन को तोड़ना चाहता था पर वह इसमें सफल न हो सका। कुलोत्तुंग ने अपने पुत्र को वेंगी का शासक नियुक्त किया। उसने पाण्डय और केरल के राजाओं तथा दक्षिण के अन्य सामन्तों का दमन किया। मालवा के परमार और कलिंग के राजाओं से भी उसका संघर्ष हुआ। चालुक्यों और गंगों के विरुद्ध भी उसने अभियान किया। राजकुमार के साथ उसने विजेता के रूप में भी ख्याति प्राप्त की थी। शासक के रूप में उसने पश्चिमी चालुक्य शासक विक्रमादित्य षष्ठ को पराजित किया था और गंगमण्डलम् तथा सिंगनम (कोंकनम्) को भी जीता था। उसने पाण्डय देश पर भी विजय प्राप्त की और उस वन को भी नष्ट किया जहाँ पाँच पाण्डवों ने कभी शरण ली थी। कन्याकुमारी, पश्चिमी घाट, मालावार आदि स्थानों पर भी उसका अधिकार था। कलिंग मण्डल पर भी उसके अधिकार का उल्लेख मिलता है। उसके समय राज्य की सारी भूमि नापी गयी थी। वह स्वयं शैव था पर उसने नेगापट्टम के बौद्ध चैत्यों को अनेक दान दिये। वैष्णव आचार्य रामानुज को श्री रंगम छोड़कर मैसूर में शरण लेनी पड़ी। उसके समय जैगोदन ने कलिंग तुप्परणीकी और अदियक्कुं मल्पर ने शिल्पाधिकारम् की टीका लिखी। उसके दरबार में श्री विजय का एक दूत मण्डल भी आया था। उसने कन्नौज, कम्बुज, और बर्मा के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया। वह चोल वंश का एक सुयोग्य शासक था। उसने शासन व्यवस्था को सुसंगठित किया। भूमि माप कराने के बाद उसने ग्राम सभा के संगठन को सुदृढ़ किया और खेत नगरपालिका, संन्यासी, ब्राह्मण आदि की देखभाल के लिए कर्मचारी नियुक्त किया। उसने परियापुराणम के रचयिता सोविक सार को अपनी राजसभा में स्थान दिया। उसने अनेक स्थानों पर कृषि उपनिवेश स्थापित किया था जिससे यह सूचित होता है कि वह अपनी ग्रामीण प्रजा की आर्थिक समृद्धि का ध्यान रखता था। सैन्य उपनिवेश स्थापित करके उसने राज्य सीमाओं की सुरक्षा पर ध्यान दिया। उसने सभी चोल शासकों की भाँति शैवमत को राज्याश्रय प्रदान किया।

विक्रमचोल :—

कुलोत्तुंग प्रथम का उत्तराधिकारी विक्रम चोल ११२० ई० में चोल साम्राज्य का अधिपति हुआ। उसका वास्तविक नाम राजेन्द्र था। ११२७ ई० में कल्याणी के चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ की मृत्यु हो जाने पर विक्रम चोल ने वेंगी पर चोल सत्ता पुनः जमा ली। उसने गंगवाड़ी का कुछ प्रदेश भी विजित किया। ११२८ ई० में विक्रम चोल ने अपने कुल देवता नटराज की सेवा में राज्य के एक वर्ष के कर का अधिकांश भाग समर्पित कर दिया। विक्रम चोल के अभिलेखों से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि वह अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों का दौरा किया करता था। नीलकण्ठ शास्त्री का कथन है कि राजा द्वारा इस प्रकार के कुशल शासन के निमित्त राज्य का दौरा करने की नीति मध्यकाल के निरंकुश राजतन्त्रात्मक राज्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी और इस कार्य के द्वारा वह निस्सन्देह इस युग के चोल शासकों की नियमित नीति का अनुगमन कर रहा था। विक्रम चोल ने त्याग-समुद्र और अकलंक की उपाधि धारण की थी।

कुलोत्तुंग द्वितीय :—

कुलोत्तुंग द्वितीय ने ११३५ ई० में अपने पिता विक्रम चोल की मृत्यु के बाद शासन-सूत्र अपने हाथों में ग्रहण किया। चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर की सेवा में उसने भी उपहार भेंट किये। तामिल साहित्य के इतिहास में कुलोत्तुंग द्वितीय का शासन-काल उल्लेखनीय है क्योंकि उसने और उसके सामन्तों ने ओटटकुत्तम, सेविकलर तथा कम्बन आदि कवियों को राज्याश्रय प्रदान किया था।

कुलोत्तुंग द्वितीय के बाद राजराज द्वितीय ११५० ई० से ११७३ ई० तक राजा हुआ। राजराज द्वितीय एवं राजाधिराज द्वितीय दुर्बल शासक थे जिनके काल में चोल शक्ति का दिनोंदिन ह्रास होता गया। उत्तर में काकतीय वंश के शासकों ने चोलों पर आक्रमण करना प्रारंभ किया। गणपति और रुद्राम्बा के समय में काकतीय वंश की शक्ति प्रबल हो उठी और उन्होंने चोल साम्राज्य की उत्तरी सीमा के कुछ भूभाग पर अपना आधिपत्य जमा लिया। दक्षिण में पाण्ड्यों ने मारवर्मन सुन्दर एवं जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य के अधीन अपनी शक्ति का विकास करके चोल साम्राज्य के अधीनस्थ भागों को अपने अधीन कर लिया। पश्चिम में यही कार्य होयसलों ने किया। लंका नरेश पराक्रम बाहु ने चोलों से युद्ध किया। कुलोत्तुंग तृतीय इस समय में चोल वंश का एक महान् शासक हुआ और उसने कुछ अंश तक अपने शत्रुओं का सफलतापूर्वक सामना किया। उसने अपने सैन्य गुणों के द्वारा चोल साम्राज्य की रक्षा की और उसे नष्ट होने से बचाया पर कुलोत्तुंग

तृतीय के उत्तराधिकारी राजराज तृतीय ने अपने को दुर्बल प्रमाणित किया। राजराज तृतीय अपने सामन्तों को भी वश में न रख सका। उसके समय में पल्लव जाति के सरदार कोप्पेरु जिंग ने विद्रोह करके उसे कैद कर लिया। ऐसी संकटापन्न स्थिति में चोल नरेश राजराज तृतीय की रक्षा और उसके श्वसुर नरसिंह (होयसल नरेश) ने अपनी एक सेना भेजकर की। इस सेना ने राजराज तृतीय को मुक्त किया। इसके पहले १२१६ ई० में होयसल नरेश नरसिंह ने राजराज तृतीय को मारवर्मन सुन्दर पाण्डय के आक्रमण से बचाया था और तंजौर तक बढ़ आया था। पेरुन्चिगन ने चोल साम्राज्य के कुछ भागों, जैसे सेन्दमंगलम् (दक्षिणी अरकाट जिला) में अपनी स्वतन्त्र शक्ति प्रतिष्ठित कर ली। अगले होयसल राजा सोमेश्वर को भी जटावर्मन सुन्दर पाण्डय के विरुद्ध चोल नरेश की रक्षा करनी पड़ी पर चोल साम्राज्य के उत्थान के दिन अब समाप्त हो रहे थे। पाण्डयों की शक्ति अबतक काफी बढ़ चुकी थी। राजेन्द्र तृतीय को जटावर्मन सुन्दर पाण्डय ने हरा दिया और कांची पर, जहाँ चोल शक्ति का प्रमुख केन्द्र था, अधिकार जमा लिया। जटावर्मन सुन्दर पाण्डय के उत्तराधिकारी मारवर्मन कुलशेखर ने चोल राज्य को कुचल डाला। चोल साम्राज्य के उत्तरी भाग जिले तेलगू सरदारों के नेतृत्व में स्वतन्त्र हो गये। ये लोग तेलगू सरदार अपने को करिकाल चोल के वंश का बताते थे। कावेरी नदी के मैदान में रहनेवाले चोलों का अस्तित्व स्थानीय सरदारों के रूप में कुछ और समय तक बना रहा। चौदहवीं शताब्दी में विजयनगर के राजाओं ने चोलों के अवशेष को भी पूर्णरूपेण नष्ट कर दिया।

३. मदुरा का पाण्डय-वंश

प्रारम्भिक इतिहास

पाण्डयों का प्राचीन राज्य द्रविड़ प्रदेश के दक्षिण-पूर्व छोर का हिस्सा था। इसकी राजधानी मदुरा थी जो उत्तर भारत के मथुरा के समान बसायी गयी थी। पाण्डय-वंश कुरु वंशी पाण्डवों से उत्पन्न हुआ था।[1]

पाण्डय वंश का प्राचीन इतिहास अंधकारमय है, किन्तु चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से इसका साहित्य-उल्लेख मिलने लगता है। अष्टाध्यायी पर कात्यायन के भाष्य और बाल्मीकि रामायण में पाण्डयों की चर्चा है। महावंश के अनुसार लंका के राजकुमार विजय ने बुद्ध के परिनिर्वाण के कुछ ही दिनों बाद एक पाण्डय-राजकुमारी से विवाह किया था। अर्थशास्त्र, मेगास्थनीज के भारत वर्णन तथा अशोक के उत्कीर्ण लेखों में स्वतन्त्र पाण्डय-राज्य के उल्लेख पाये जाते हैं। कलिंग-

१. Sastri, K. A. N., The Pandyan Kingdom.

राज खारवेल के हाथी गुम्फा लेख से यह मालूम होता है कि खारवेल ने पाण्ड्य राजा को हराया था और उससे उपहार में हाथी, घोड़े, रत्न, मणि और मोती के ढेर लिये। यूनानी लेखक स्ट्रैबो के अनुसार पाण्ड्य राजा ने २० ई० पू० में रोमन सम्राट् आगस्टस सीजर के पास अपना दूत भेजा था। पेरिप्लस और टालेमी की ज्योग्राफी में पिडनोई, और उनकी राजधानी 'मदौरा' (मदुरा) के वर्णन है। ईसवी संवत् के बाद पाण्ड्य राज्य का इतिहास कुछ अधिक प्रकाश में आने लगता है। दूसरी शताब्दी में पाण्ड्य राजा नेडुम-चेलियन ने अपने शत्रुओं को तलैया-नगानाम् (तंजोर जिले में) नामक स्थान पर हराकर अपने राज्य का विस्तार किया। इसके बाद फिर आन्ध्र-साम्राज्य के प्रसार और पल्लवों के उदय के कारण पाण्ड्यों की शक्ति शिथिल हो गयी। ह्वेनसांग के अनुसार पाण्ड्य-राज्य पल्लव-राज्य का करद था।

पाण्ड्य कुल के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान असंदिग्ध नहीं है। इस कुल के राजा अपने को चन्द्रमा के वंशज मानते हैं। 'शिलपट्टिकारम' नामक तामिल महाकाव्य में एक पाण्ड्य राजा नेन्दू छेलियन का वर्णन है। इसी नाम का दूसरा पाण्ड्य राजा जिसका काल ईसा की दूसरी शताब्दी निर्धारित किया जाता है, अपने वंश का एक शक्तिशाली राजा था। उसने काफी लम्बी अवधि तक शासन किया था तथा अपने सभी पड़ोसी राजाओं को परास्त किया। उसने तलैयालंगानम के प्रसिद्ध युद्ध में चोल एवं चेर राजाओं की सम्मिलित शक्ति पर विजय प्राप्त की। नेन्दू-छेलियन द्वितीय ने अपनी सामरिक सफलताओं के उपलक्ष्य में अश्वमेघ यज्ञ किया था। संगम-युग की अनेक तमिल कविताओं में उसकी प्रशंसा वैदिक यज्ञ के उत्साही अनुष्ठानकर्ता के रूप में की गयी है। नक्किरार एवं अन्य कवियों को उसने राजाश्रय प्रदान किया। संगम परिषद् का एक प्रमुख केन्द्र मदुरा में भी था जिससे यह पता चलता है कि पाण्ड्य राजा तमिल साहित्य की उन्नति में अपना महत्त्वपूर्ण योग दे रहा था।

नेन्दूछेलियन की मृत्यु के बाद पाण्ड्यों की शक्ति का पतन होने लगा। ऐसा लगता है कि पल्लवों के उदय ने पाण्ड्य शक्ति को धक्का पहुँचाया। पर पल्लव प्रभुता के युग में भी पाण्ड्य राजा अपने राज्य की सीमा में स्वतन्त्र रूप से शासन करते रहे। ह्वेनसांग ने पाण्ड्य राज्य के निवासियों के विषय में लिखा है कि वे मोतियों की तिजारत तथा अन्य व्यापारिक कार्यों में लगे रहते हैं और तनिक भी विद्यानुरागी नहीं हैं। पाण्ड्य राज्य में बौद्ध धर्म बिलकुल ह्रास पूर्ण स्थिति में था। ब्राह्मण धर्म समुन्नत दशा में था और जैनियों की संख्या भी अधिक थी।

चौथी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक पाण्ड्यों की शक्ति दबे रूप में विद्यमान रही। इस काल में चोल शक्ति का भी ह्रास हो गया था। दक्षिण में इन दो प्रसिद्ध और प्राचीन राज्यों की राजनीतिक शक्ति के ह्रास का कारण केवल पल्लवों का उदय ही नहीं था बल्कि कलभ्रों का संक्रमण भी था जिन्होंने मदुरा पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। कलभ्र लोग उत्तरी तोण्डमण्डलम् में निवास करते थे। जब पल्लवों ने तोण्डमण्डलम् में अपनी सत्ता प्रतिष्ठित कर ली तो विवश होकर कलभ्रों को और दक्षिण में चला जाना पड़ा। छठी शताब्दी के अन्त तक सुदूर दक्षिण भारत के कुछ भागों में कलभ्रों ने अपनी सत्ता कायम रखी।

कन्दुग्गोन

सातवीं शताब्दी के लगभग कन्दुग्गोन के अधीन पाण्ड्यवंश की शक्ति दक्षिण में पुनः सज्जीवित हो उठी। कन्दुग्गोन सम्भवतः पल्लव नरेश सिंह विष्णु का समकालीन था। इस पाण्ड्य नरेश ने पाण्ड्य राज्य की सीमा से कलभ्रों को निर्वासित कर दिया।

अरिकेशरी

कन्दुग्गोन के बाद पाण्ड्य वंश में अरिकेशरी मारवर्मन एक शक्तिशाली राजा हुआ। अरिकेशरी मारवर्मन सातवीं शताब्दी के मध्य में शासन करता था। उसने चेर राजा को हराया। अरिकेशरी मारवर्मन का समीकरण अनुश्रुति में उल्लिखित कुन पाण्ड्य के साथ किया जाता है जिसको सम्बन्दार नामक शैव सन्त ने अपने मत में दीक्षित किया था। ह्वेनसांग ने सम्भवतः उसी के समय में दक्षिण भारत का पर्यटन किया था। राजसिंह ने पल्लव-पाण्ड्य संघर्ष में प्रमुख भाग लिया। राजसिंह के अभिलेख के अनुसार उसने नन्दि वर्मन पल्लवमल्ल को पराजित किया किन्तु नन्दि वर्मन भी अपने अभिलेखों में घोषित करता है कि उसने राजसिंह को हराया।

राजसिंह के बाद वरगुण (७६५–८१५ ई०) राजा हुआ, जो अपने वंश के सबसे महान् शासकों में एक था। अपने सुदीर्घ शासन काल में वरगुण ने दक्षिणी त्रावणकोर सलेम, कोयम्बटूर, तन्जोर और त्रिचनापल्ली के जिलों को पाण्ड्य राज्य में सम्मिलित कर लिया। सम्भवतः उसने अपने समकालीन पल्लव राजा दन्ति वर्मन को पराजित किया। वरगुण पाण्ड्य ने अपने राज्य में शिव तथा विष्णु के अनेक मन्दिर बनवाये जिनमें कोयम्बटूर जिले के पेरूर स्थान में स्थित विष्णु मन्दिर सबसे अधिक उल्लेखनीय है। परन्तु पाण्ड्य राज्य को आन्तरिक विद्रोह के कारण गहरी क्षति उठानी पड़ी। वरगुण के बाद श्रीमार पाण्ड्य राज्य

का स्वामी हुआ जिसने बौद्ध ग्रन्थ महावंश के अनुसार लंका के ऊपर आक्रमण किया और वहाँ के राजा को परास्त कर दिया। श्रीभार ने पल्लवों और गंगों की सम्मिलित शक्ति को नीचा दिखाया परन्तु बाद में पल्लवनरेश नन्दि वर्मन तृतीय ने तेल्लारू नामक स्थान में पाण्ड्य-नरेश को हराया। श्रीभार का पुत्र वरगुण द्वितीय था जिसने श्री पुरम्बियन के युद्ध में पल्लव राजा अपराजित वर्मन को परास्त किया किन्तु बाद में गंगों की सहायता से पल्लव नरेश ने उसके ऊपर विजय प्राप्त कर ली।

पल्लव-पाण्ड्य संघर्ष में तो प्रायः सफलता पाण्ड्यों को ही मिली परन्तु चोलों के साथ उनका संघर्ष उनके लिए अच्छा नहीं साबित हुआ। पाण्ड्य नरेश राजसिंह द्वितीय को परान्तक चोल ने परास्त कर दिया और उसे भाग कर लंका जाने को विवश किया। इस समय से पाण्ड्यों को चोलों की अधीनता स्वीकार कर लेनी पड़ी। चोल-शक्ति के अभ्युदय के कारण तीन शताब्दियों तक पाण्ड्यों को अपना सर उठाने का मौका न मिल सका। फिर भी पाण्ड्य वंश निर्मूल न किया जा सका और इस वंश के शासकों ने चोल सम्राटों को अपने विद्रोहों द्वारा परेशान रखा। पाण्ड्य वंश के राजकुमारों ने चोल सम्राटों के विरुद्ध बार-बार विद्रोह किया किन्तु उनका विद्रोह दबा दिया गया। चोल नृपति कुलोत्तुंग प्रथम के समय से पाण्ड्यों की राजनीतिक शक्ति एक बार फिर जीवित हो उठी। कुलोत्तुंग प्रथम के बाद चोल राजसिंहासन पर पूर्ववर्ती चोल सम्राटों की तरह कोई शक्तिशाली शासक न बैठा। इन परवर्ती चोल शासकों की दुर्बलता से लाभ उठा कर बारहवीं शताब्दी के मध्य में पाण्ड्यों ने अपनी शक्ति पुनः संगठित कर ली। मारवर्मन सुन्दर पाण्ड्य प्रथम ने चोल राजा राज-राज तृतीय पर आक्रमण किया किन्तु वह स्थायी रूप से चोल साम्राज्य पर अधिकार न कर सका। १२५१ ई० में पाण्ड्य सिंहासन पर जय वर्मन सुन्दर पाण्ड्य बैठा। इस समय तक चोलों की शक्ति का भी काफी ह्रास हो चुका था, अतएव सुन्दर पाण्ड्य को अपनी राज्य सीमा का विस्तार करने में किसी प्रबल प्रतिरोध का सामना न करना पड़ा। सुन्दर पाण्ड्य ने सोमेश्वर को हरा दिया और काँची तक पहुँच गया। उसने पाण्ड्यों को उनके राजनीतिक उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँचा दिया।

सुन्दर पाण्ड्य ने काकतीय नरेश गणपति को हरा करके नेल्लोर तक सम्पूर्ण दक्षिणी भारत को अपने अधिकार में रखा। चेर राजा के साथ-साथ लंका के राजा को भी उसने अपना अधीनस्थ सामन्त बनाया। लंका के राजा पराक्रम बाहु द्वितीय को उसने पराजित किया था। सुन्दर पाण्ड्य ने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की।

मार वर्मन (१२७२–१६११ ई०)

सुन्दर पाण्डय के बाद मार वर्मन कुल शेखर ने पाण्डय राज्य के राजनीतिक गौरव को नष्ट न होने दिया। अपने पिता के शासन-काल में उसके साथ शासन करने के कारण मार वर्मन कुल शेखर ने इस विषय में पर्याप्त अनुभव हासिल कर लिया था। उसने होयसलों को चोल राज्य से बिल्कुल निकाल बाहर कर दिया। इस समय पाण्डयों के पास एक शक्तिशाली अश्व-सेना तथा नौ-सेना थी। मार वर्मन कुलशेखर ने अरब व्यापारियों के प्रति उदारता की नीति अपनायी। उसने उनको अपने राज्य में व्यापार करने की सुविधा प्रदान की। अरब लेखक वस्साफ ने पाण्डय राज्य के अतुल वैभव का उल्लेख किया है। मार्कोपोलो ने भी १२९३ में दक्षिण भारत का पर्यटन किया था। उसने भी पाण्डय राज्य की आर्थिक समृद्धि और वहाँ के व्यापार का वर्णन किया है।

मारवर्मन कुलशेखर के बाद उसके दो पुत्रों के बीच उत्तराधिकार के प्रश्न पर झगड़ा हुआ। इस पारस्परिक झगड़े से लाभ उठाया था अलाउद्दीन खिल्जी के सेना नायक मलिक काफ़ूर ने, जिसने पाण्डय राज्य पर आक्रमण करके वहाँ अशान्ति फैला दी। पाण्डय राज्य चारो ओर से विश्रृंखलित होने लगा। काकतीयों ने तामिलनाड के उत्तरी जिलों पर अधिकार जमा लिया। सामन्तों ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी। मलिक काफ़ूर ने मदुरा में अपना एक दुर्ग खड़ा करवा दिया। इसके बाद पाण्डय राजकुमार मदुरा पर फिर से अधिकार न जमा सके और उनका स्तर केवल अधीनस्थ सामन्तों का ही रह गया।

४. चेर राज्य

चेर राज्य चोल और पाण्डय राज्यों की अपेक्षा अधिक विस्तृत था। भूमि पर्वतीय होने के कारण यहाँ के निवासी कष्ट सहिष्णु और युद्धप्रिय थे। 'केरल' चेर का ही एक दूसरा नाम है। पहले केरल अथवा चेर राज्य तमिल देश का ही एक भाग था। बाद में चलकर तमिल देश से मलयालम या केरल प्रदेश पृथक् हो गया। केरल के निवासी पश्चिमी देशों के साथ व्यापार किया करते थे जिससे उनका देश समृद्धिशाली हो गया था। चेर में मुजिरिस, बकारा और तोन्दी इत्यादि प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। इस राज्य की राजधानी काँची थी जिसका समीकरण कुछ विद्वान् त्रिचनापल्ली के निकटवर्ती एक स्थान से करते हैं किन्तु अन्य विद्वानों की सम्मति से यह कोचीन के निकट अवस्थित थी। अशोक के अभिलेख में केरल पुत्र राज्य का जो वर्णन है वह चेर राज्य ही था। पेरिप्लस और टॉलेमी के ज्योग्रफी में चेर राज्य तथा इसके बन्दरगाह का उल्लेख अधिक मिलता है। प्राचीन चेर राज्य में आधुनिक मलावार का जिला तथा ट्रावनकोर कोचीन के भूखण्ड सम्मिलित थे।

कभी-कभी इसकी सीमा कोन्नू जिला (आधुनिक कोयम्बटूर का जिला तथा दक्षिणी सलेम) तक पहुँच जाती थी।

अथन प्रथम

चोल और पाण्डच राज्यों के समान चेर राज्य का इतिहास भी सुस्पष्ट नहीं है। संगम युग में अथन प्रथम को करिकाल चोल ने हराया था। अथन द्वितीय चेर राज्य का प्रथम महान् और शक्तिशाली शासक था। अथन द्वितीय का शासन काल गौरवशाली था। वह करिकाल चोल का दामाद था। उसने भपिलार नामक कवि को राजाश्रय प्रदान किया था। अथन द्वितीय का उत्तराधिकारी सेगुँत्तवन चेर राज्य के सर्व महान् शासकों में था। सेगुँत्तवन का शासन-काल ईसा की दूसरी शताब्दी में निर्धारित किया जाता है। उसने चोल और पाण्डच राज्यों की आन्तरिक गड़बड़ी से लाभ उठाकर अपनी शक्ति संगठित कर ली। सेगुँत्तवन की सफलताओं का वर्णन 'शिलपद्दिकारम्' नामक तमिल महाकाव्य में विस्तार के साथ किया गया है। इस महाकाव्य के अनुसार सेगुँत्तुन ने उत्तरी भारत पर भी आक्रमण किया था परन्तु स्पष्ट है कि यह कथन अतिरञ्जन मात्र है।

कहा जाता है कि इस प्रतापी शासक ने कुछ सामुद्रिक विजयें भी की थीं। वह साहित्यानुरागी था और साहित्यकारों को राजाश्रय प्रदान करता था। उसके उत्तराधिकारी दुर्बल निकले। एक परवर्ती चेर राजा यनिक्कन छेय मन्त्रस छेसाल को पाण्डच नरेश नेन्दू छेलियन द्वितीय ने तलैथालंगारम के प्रसिद्ध युद्ध में हराया था। इसके बाद चेर राज्य की राजनीतिक प्रभुता कुछ शताब्दियों के लिए समाप्त हो गई। फिर भी इस राज्य ने अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता को दसवीं शताब्दी तक बनाये रखा। बाद में चोलों की शक्ति के उदय से इसकी स्वतन्त्रता छिन गई परन्तु चोल शासकों के साथ यहाँ के राजाओं का मैत्री सम्बन्ध स्थापित था। आठवीं शताब्दी में एक चेर राजा को पल्लव राजा परमेश्वर वर्मन के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा और बाद में उसने पाण्डच राजा वरगुण प्रथम से युद्ध किया जिसने कोन्गु देश और दक्षिणी ट्रावनकोर को जीत लिया। स्थागुरवि ने पाण्डचों के विरुद्ध आदित्य चोल की सहायता की थीं। परान्तक चोल ने एक चेर राजकुमारी के साथ विवाह किया था। दसवीं शताब्दी में चेर शासकों और चोलों का पारस्परिक मैत्री-सम्बन्ध विनष्ट हो गया। इस शताब्दीं के अन्त में राज राज चोल ने चेर राजा भास्कर रविवर्मन को परास्त किया। बारहवीं शताब्दी तक चोलों ने चेर राज्य पर अपना अधिकार कायम रखा। बारहवीं शताब्दी में वीर केरल के नेतृत्व में चेर राज्य स्वतन्त्र हो गया। परन्तु तेरहवीं शताब्दी में एक बार फिर पाण्डचों के उदय से चेर शक्ति को धक्का लगा। मलिक काफूर के आक्रमण से पाण्डच

राज्य में जो आन्तरिक गड़बड़ी फैली उससे लाभ उठाकर रविवर्मन कुलशेखर ने चेर राज्य की शक्ति को पुनः संगठित कर लिया। चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में केरल अथवा चेर राज्य की शक्ति सम्पूर्ण दक्षिणी भारत में सबसे अधिक थी। कुलशेखर ने कांची पर अपना अधिकार जमा लिया।

कुलशेखर के बाद चेर राज्य की शक्ति नष्ट हो गयी और यह अनेक छोटे-छोटे भागों में विभक्त हो गया।

चेर शासकों का धार्मिक दृष्टिकोण उदार और सहिष्णुतापूर्ण था। स्काणुरवि ने सीरिया के ईसाई मतावलम्बियों और भास्कर रविवर्मन ने यहूदियों को अपने राज्य में कुछ सुविधायें प्रदान की थीं।

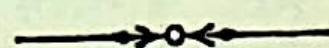
५. लंका या सिंघल

भारतीय प्रायद्वीप के दक्षिण में एक द्वीप है जो लंका अथवा सिंहल कहलाता है। यह भारत की मुख्य भूमि से एक संकरे और उथले समुद्र से; जिसमें बीच-बीच में पहाड़ियाँ पानी के ऊपर निकल आयी हैं, अलग होता है। भूगोल, जाति, राजनीति, धर्म, भाषा और अर्थनीति सभी दृष्टि से लंका भारत का ही प्राकृतिक भाग है। सारे भारत से उसका सम्बन्ध था, किन्तु द्रविड़-प्रदेश से इसका बहुत घना सम्बन्ध रहा है।

लंका के मूल निवासी बड्डा जाति के थे किन्तु द्रविड़ और आर्य रक्त का काफी मिश्रण यहाँ की जनता में हुआ है। लंका की किंवदन्तियों के अनुसार उसके उत्तरी भाग को नाग द्वीप कहते थे। नाग जाति भारत से ही लंका में आयी थी। रामायण के समय में लंका और भारत के सम्बन्ध का वर्णन उस नाम के ग्रन्थ में पाया जाता है। बौद्ध काल में भारत और लंका का सम्वन्ध और भी बढ़ गया। 'महावंश' के अनुसार वेग के राजा की कन्या को सिंह नामक एक (गुजरात प्रदेशीय) क्षत्रिय उठाकर ले गया। उन दोनों से सिंहबाहु नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। अपने पिता को मारकर सिंहबाहु ल्लाट (दक्षिण गुजरात) का राजा हुआ। उसने सिंहपुर को अपनी राजधानी बनाया। उसका पुत्र विजय था। वह अपने पिता द्वारा निर्वासित कर दिया गया और सोपारा नामक बन्दरगाह के रास्ते लंका पहुँचा। उसने ताम्रपर्णी नाम का नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया और वहाँ ३८ वर्षों तक राज्य किया। लंका में उसने यक्षों को जीतकर कुवर्णा नामक यक्ष कन्या से विवाह किया। विजय के बाद लंका का नाम सिंहल पड़ा। विजय के वंशज बहुत दिनों तक वहाँ शासन करते रहे। अशोक के लेखों में ताम्रपर्णी (लंका) की भी गणना है। लंका अशोक के प्रभाव क्षेत्र में थी। उस समय लंका का राजा तिष्य अशोक का मित्र था। बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए

अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और संघमित्र को लंका भेजा था। तिष्य बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार सिंहल भारतीय प्रभाव क्षेत्र में था।

समुद्र गुप्त के समय लंका के राजा मेघवर्मन ने भी अपना दूत-मण्डल भेजा था। पल्लवों के बाद द्रविड़ प्रदेश के राज्यों का सिंहल से राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध था। पल्लवों, चोलों और पाण्ड्यों का तो सिंहल के ऊपर आधिपत्य रहा। किन्तु जब इस्लामी सत्ता द्रविड़-प्रदेश में पहुँची तो धीरे-धीरे सिंहल का भारत से राजनीतिक विच्छेद प्रारम्भ हुआ। पहले वहाँ अरबों का प्रभाव बढ़ा और पीछे पुर्तगीजों ने उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।



अध्याय ७

सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का भारत

सांस्कृतिक अवस्था

१. उत्तर एवं पश्चिमोत्तर प्रदेश

राजबली पाण्डेय के अनुसार भारत के इतिहास में इस काल की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। "राजनीतिक और सामाजिक जीवन का विस्तृत विभाजन और विघटन, राजवंशों की स्थानीयता और जातीयता, धार्मिक साम्प्रदायिकता, अन्ध-विश्वास, आचार-विचार की कृच्छ्रता और संकीर्णता, रूढ़िवादिता और परम्परा-वाद, अतीत का अत्यन्त आग्रह, संग्रह और संरक्षण, आत्मविश्वास का अभाव और ग्रहणशक्ति की दुर्बलता आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। सम्पूर्ण देश प्रादेशिक और वंशानुगत राज्यों में विभक्त होता गया। समाज में वर्णों के अतिरिक्त असंख्य वर्णसंकर जातियों और उपजातियों की वृद्धि हुयी, जो परस्पर वर्णनशील और सामाजिक व्यवहार के अनुसार थीं। मुख्य धर्म भी सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों में विभक्त होते गये। जो धर्म एक समय जीवन की समष्टि का आधार था अब विभाजन का माध्यम बन गया। अपने-अपने सम्प्रदाय में अत्यधिक आस्था और विश्वास के साथ बहुत-सी युक्तिहीन प्रथाएँ और अन्धविश्वास जुट गये। साहित्य में नवीनता, सरलता और प्रेरणा की कमी होती गयी। शास्त्रों में नवीन विकास और अनुसन्धान के स्थान पर केवल भाष्य, टीका, संकलन और संग्रह की प्रधानता होती गयी। जीवन के प्रवाह और प्रसार के बदले उसमें अवरोध, संकीर्णता और वर्णन-शीलता ने घर कर लिया। यह एक प्रकार से असावधानता, प्रमाद और ह्रास का युग था।"[1]

पिछले अध्यायों में प्रान्तीयता और वंशगत राज्यों का इतिहास पूर्णरूपेण दिया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। कुछ राज्यों ने जिनमें प्रतिहार और पाल प्रमुख थे साम्राज्य बनाकर देश में राजनीतिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया पर उनकी शक्ति और सफलता सीमित थी। अतः उनके प्रयत्न चिरस्थायी न हो सके और देश एक नए राजनीतिक सूत्र में न बँध सका। इससे भारत की समष्टि और एकता की भावना कमजोर पड़ गयी।

---

१. वही, पृ० ४२२

हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद लगभग चार सौ वर्षों तक देश की बागडोर राजपूतों के हाथ रही। इस काल को भारतीय इतिहास में राजपूत काल भी कहा जाता है। जैसा कि विदित है इस समय तक भारत की एकता खण्डित हो चुकी थी और देश छोटे-छोटे राजपूत राज्यों में विभक्त था। इनके युग का भारतीय इतिहास में बड़ा महत्त्व है।[1]

इस काल में भारतीय राजतन्त्र प्रायः निरंकुश हो गये। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के पहले भारत में गणतन्त्र और राजतन्त्र दोनों प्रकार के राज्य थे जो एक दूसरे को प्रभावित करते और जागरूक रखते थे। विशेषकर गणतन्त्रों के कारण जनता में राजनीतिक चेतना बनी रहती थी और राज्य के कामों में सामान्य प्रजा दिलचस्पी लेती थी। राजतन्त्रों के विनाश के कारण धीरे-धीरे सातवीं; आठवीं शताब्दी तक यह चेतना मर गयी। ग्राम 'पंचायतें' अब भी थीं पर उनका सम्बन्ध स्थानीय प्रबन्ध से था, देश की राजनीति से नहीं। क्रमशः राज्य का सारा अधिकार राजा के हाथ में चला गया तथा राजा का पद इस काल में पैतृक होता था। शासन में प्रजा का कोई हाथ न रहा। इसका मानसिक परिणाम यह हुआ कि जनता में स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता, देशभक्ति आदि की भावनाएँ जो किसी देश की रक्षा और समृद्धि के लिए आवश्यक हैं, शिथिल पड़ गयीं और उनके स्थान पर परावलम्बन, राज्य के प्रति उदासीनता, राजभक्ति, चाटुकारिता, दब्बूपन आदि की भावनाओं का उद्भव हुआ जो किसी भी देश के राजनीतिक जीवन को भीतर से खोखला बना देती हैं।

तीसरी बात भी इस समय दिखाई पड़ती है वह है विभिन्न राज्यों में परस्पर फूट, युद्ध, किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था या संघ का अभाव, सीमान्त नीति तथा विदेशी राजनीति के प्रति उदासीनता। इसका सबसे बड़ा कुफल उस समय दिखाई पड़ा जब इस काल के अन्त में तुर्कों का, भारत पर आक्रमण हुआ और प्रायः सभी भारतीय राज्य क्रमशः उनके सामने धराशायी होते गये।

एक और बात का, जिसने भारत के राजनीतिक जीवन को प्रभावित किया, उल्लेख करना आवश्यक है। लगभग ५०० ई० में हूणों के आक्रमण से लेकर १००० ई० में महमूद गजनी के आक्रमण तक—पाँच सौ वर्ष के लम्बे काल में—अरबों के सीमित आक्रमण को छोड़कर विदेशी आक्रमण से भारत सुरक्षित रहा। यवन, शक, कुषाण और हूणों के आक्रमण को लोग भूल गये थे। इन सभी आक्रमणों ने अपने धक्के से देश को जागृत किया और उनकी प्रतिक्रिया में मौर्य, शुंग, आन्ध्र, गुप्त और पुष्यभूति साम्राज्यों की स्थापना हुयी थी।

---

१. राधाकृष्ण चौधरी, वही, पृ० ५४

गत पांच सौ वर्षों की सुरक्षा ने सतत जागरण को जो किसी दश की स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा मूल्य है शिथिल कर दिया। इससे देश में आवश्यक आत्मविश्वास, अहंकार तथा यह विश्वास उत्पन्न हो गया कि भारत अजेय है और कोई विदेशी जीत नहीं सकता। जब विदेशियों के आक्रमण का भय न रहा तो राजाओं को जनता के सहयोग की आवश्यकता न रही। विदेशी आतंक से जो जागरूकता, संगठन, कठोर और संयत जीवन, विजय, देश के लिए आत्मबलिदान की भावना बनी रहती है, वह जाती रही। इसके कारण पाँच सौ वर्षों के बाद जब तुर्क आक्रमण हुआ तो देश दुर्बल सिद्ध हुआ।

राज्य के स्वरूप और शासन-पद्धति में कोई नया प्रयोग नहीं हुआ, प्राचीन राजतान्त्रिक शासन-प्रणाली का आंशिक और शिथिल अनुकरण होता रहा। केवल एक ही प्रकार के राज्य-राजतन्त्र रह गये थे। राजा के देवत्व में लोग विश्वास करते थे और उसकी शक्ति निरंकुश और उसके कार्य अनियन्त्रित हो गये थे। केवल प्राचीन धर्म-शास्त्र और परम्परा का थोड़ा नियन्त्रण उनके ऊपर था परन्तु वह पर्याप्त नहीं था। राजा का अभिषेक अच्छे मुहूर्त में किया जाता। बुरे प्रभाव को दूर करने के लिए इन्द्र, ग्रह और विनायक शान्ति नामक क्रियाएँ की जातीं। राज्याभिषेक के समय, अब शपथ लेने की प्रथा न थी। प्रतिहार शासकों को उनके सामन्त 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' आदि पदवियों से विभूषित करते थे पर स्वयं इन शासकों ने प्रायः अपने को 'महाराज' या 'महाराजाधिराज' ही कहा है।

प्राचीन मन्त्रि-परिषद् राजा की सामूहिक शक्ति और दायित्व थी, वह इस समय शिथिल और विघटित हो गयी थी। राजा के कुछ मन्त्री होते थे जो व्यक्तिगत रूप से उसको अलग-अलग परामर्श देते थे। मन्त्री लोग राजा को मनमानी करने से रोकते थे। केन्द्रिय शासन मौर्य और गुप्त शासन की तरह संघटित नहीं था। प्रान्तीय शासन और उसकी दूसरी छोटी इकाइयों के नाम देशभक्ति विषय आदि प्रायः वे ही थे जो गुप्त काल में पाये जाते हैं। परन्तु प्रान्तीय शासन अब अधिकांश केन्द्र से नियुक्त शासकों के हाथ में न होकर स्थानीय सामन्तों के हाथ में होता था जो बराबर स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करते थे और राज्य को दुर्बल बना देते थे। नगर और गाँव के स्थानीय शासन उत्तर भारत में पहले बड़े-बड़े साम्राज्यों के निर्माण और पीछे लगातार युद्ध के वातावरण के कारण छिन्न-भिन्न हो गये थे, यद्यपि छोटे-मोटे कामों के लिए गाँव पञ्चायतें गैर-सरकारी रूप में चल रही थीं।

शासन के मुख्य विभागों का ढांचा अभी तक गुप्तकालीन था पर व्यवहार में उनमें भी विशृंखलता आ गयी थी। उदाहरण के लिए राजस्व विभाग के बहुत से

अधिकारियों और अध्यक्षों के नाम इस समय नहीं पाये जाते हैं। एक नया कर युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए और निरंकुश राजाओं की विलासिता को संभालने के लिए लगाये गये थे। लोकोपकारी संस्थाओं और व्यक्तियों, ब्राह्मणों, शिक्षकों आदि को केन्द्रीय कोष से वृत्ति न देकर भूमिदान की प्रथा चल पड़ी थी। न्याय का शासन धर्मशास्त्र के आधार पर होता था, परन्तु न्यायालयों का संगठन प्राचीन धर्मशास्त्र या अर्थशास्त्र के अनुसार न था। सेना का प्रबन्ध कई कारणों से शिथिल हो गया था। राज्य की सेना में सामन्त-सेना का बहुत बड़ा अंश होता था जिसका विजय और अभ्यास नियमित नहीं था और कई सामन्तों की टुकड़ियाँ इकट्ठी होकर एक केन्द्रीय सेनापति के नेतृत्व में लड़ नहीं सकती थी। सेना के अंगों में रथ तो छूट चुका था पर हाथियों की अब भी प्रधानता थी जो कभी-कभी बड़े घातक सिद्ध होते थे। अश्वारोही सेना किसी-किसी राजा की अच्छी थी परन्तु इस समय यह भारत की विशेषता नहीं रह गयी थी। इसलिये सबल और द्रुतगामी तुर्कों की अश्वारोही सेना के सामने बहुसंख्यक होते हुये भी भारतीय सेना हार जाती थी। नये शस्त्रों का निर्माण भी बन्द था। रक्षक (पुलिस) विभाग में भी जागरूकता नहीं मालूम पड़ती थी। चोरी, डकैतियों की संख्या बढ़ गयी थी। कार्यकालीन गुप्तचर, जो आन्तरिक अपराधों और षड्यन्त्रों पर दृष्टि रखते थे और विदेशियों की गतिविधि का निरीक्षण करते थे, इस समय सुने नहीं जाते। इसका लाभ विदेशी लोग उठा रहे थे। जिनकी आँखें भारत पर गड़ी थीं।

गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद इस काल में भारत में सामन्त पद्धति का विकास हो गया था।[1] देश-भक्ति की सीमा सम्पूर्ण भारत के प्रति होने के बदले सभी सामन्तों की राज्य-सीमा तक ही सीमित हो गयी थी। सम्राट् अथवा महाराजाधिराज के अधीन रहते हुये भी ये सामन्तशाही राज्य स्वाधीन होने की ताक में अवसर की प्रतीक्षा किया करते थे। राजपूत सेनाओं में अनेक सामन्तों की सेनाएँ सम्मिलित होती थीं। राजपूत शासक अपने अधिकारियों और सम्बन्धियों को कुछ भूमि-भाग दे देते थे। उन्हें नकद वेतन नहीं दिया जाता था। यह भूमि 'सामन्तों' को जीवन भर के लिए दी जाती थी किन्तु सामन्तों के उत्तराधिकारी भी इसका उपभोग करते थे।

देश की राजनीतिक एकता को स्थिर रखने की दिशा में राजा का अपना कोई दायित्व न था। महाराजाधिराज को जरा से भी निर्बल अथवा संकटों में फँसा हुआ देखकर ही अवसर का लाभ उठाकर ये सामन्तवादी-राज्य स्वतन्त्र हो जाते थे

---

१. Thapar, Romila, A History of India, Vol. I. ch. 11.

और स्वयं विजय करने के उद्देश्य से निकल पड़ते थे। यह प्रवृत्ति समय के राजनीतिक खोखलेपन का स्पष्ट प्रमाण है। इसके फलस्वरूप सारा देश छोटे-छोटे स्वतन्त्र इकाइयों में बँटकर पारस्परिक शत्रुता का शिकार हो गया था और इसी का मुख्य रूप से लाभ उठाकर विदेशियों ने भारत पर अपना अधिकार जमाने में सफलता प्राप्त की।

१००० ई० से १२०० ई० के बीच राजा को ईश्वर का अवतार माना जाता था तथा वह वंशानुगत होता था। कल्हण ने कश्मीर राजा के चुनाव की तत्कालीन पद्धति को हास्यास्पद बतलाया है। राजा स्वयं युवराज का चुनाव करता था। वह प्रशासन में प्रमुख रूप से सहयोगी होता था। गहड़वाल वंश के गोविन्द चन्द्र का चुनाव उसके पिता ने किया था। इस समय तक रानियों को शासन में भाग लेने का अधिकार न था पर कश्मीर की रानी सूर्यमती ने अपने पति की सहायता राज कार्य में की थी। मंत्री भी इस काल में वंशानुगत होने लगे थे।

राजा की ओर से ब्राह्मणों तथा बौद्धों को काफी भूमि, धन, भोजन, वस्त्र आदि दिया जाता था। बाढ़ तथा अकाल के समय राजकोष से प्रजा की सहायता की जाती थी। राजा की ओर से सिंचाई, विद्या और विद्वानों का आदर किया जाता था। इसके साथ ही अत्याचारी और व्यसनी राजा मन्दिरों और विहारों को लूटते थे। राज्य की गड़बड़ी से तंग आकर ब्राह्मण वर्ण के लोग कभी-कभी अनशन कर देते थे जिनका राजाओं पर बहुत प्रभाव पड़ता था। अत्याचारी राजाओं के विरोध में प्रजा विद्रोह कर उनकी हत्या तक कर देती थी।

इस काल में सामन्ती प्रथा का उत्तरोत्तर विकास हुआ। राजाओं को सदा ही अपने सामन्तों को भूमि, धन आदि उपहार देकर संतुष्ट करना पड़ता था। सामन्तों की संख्या में वृद्धि होने का कारण यह भी था कि अधिकतर शासक युद्ध प्रिय थे। वे सामन्तों पर शासन-भार सौंपकर युद्ध में चले जाते थे। ऐसा हम जानते हैं कि देश में ६०० ई० से १००० ई० तक के काल में सामन्तवाद की बहुत उन्नति हुयी। १००० ई० से १२०० ई० तक के काल को हम उत्तर भारत में सामन्तीय अराजकता का काल कह सकते हैं। जो राजा किसी अन्य राजा को पराजित कर देता था वह पराजित राजा के किसी वंशज को सामन्त के रूप में उसी प्रदेश का शासक नियुक्त कर देता था जिससे सामन्तों की संख्या में वृद्धि होती रही। एक दूसरा कारण यह भी था कि राजा अपने भाइयों और सम्बन्धियों को कुछ भूमि दे देते थे और तीसरा कारण यह था कि राजा जिन पदाधिकारियों की सेवा से प्रसन्न होता था उन्हें भी कुछ भूमिखण्ड दे देता था। परमार, चालुक्य और चौहानवंशीय नरेशों ने अपने सम्बन्धियों और अधिकारियों को भूमि और गाँव देकर इस प्रथा को प्रोत्साहन दिया। उत्तर भारत में ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी में सामन्तों की

संख्या में इतनी वृद्धि हो गयी थी कि यह पता लगाना बड़ा ही कठिन काम था कि कौन उच्च राजकीय अधिकारी है और कौन सामन्त। सामन्तों की संख्या बढ़ जाने से केन्द्रीय शक्ति में ह्रास होने लगा। इनके अपने न्यायालय तथा सेना हुआ करती थी जो विपत्ति के समय राजा की सहायता करती थी।

राजनीतिक पराभव, सुदृढ़ एवं सुनिश्चित शासन के अभाव तथा प्रशासनिक अव्यवस्था और अराजकता के इस काल में सर्वसाधारण जनता के हितों की एवं जीवन की रक्षा की दिशा में तत्कालीन युग की ग्राम संस्थाओं ने बड़ा ही महत्त्वपूर्ण योग दिया था। गाँव रूपी छोटे से देश के लिए इन ग्राम संस्थाओं द्वारा अधिक सफल ढंग से शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था गाँवों में सम्भव थी। अनेक ताम्र-पत्रों एवं शिला लेखों से तत्कालीन युग की इन महत्त्वपूर्ण संस्थाओं पर विशेष रूप से प्रकाश पड़ता है।

सामाजिक अवस्था

जिस प्रकार भारतीय राजनीति बाहर के प्रभाव से अछूती रहकर संकीर्ण बन गयी थी उसी प्रकार भारतीय समाज भी। इस काल में वर्ण-परिवर्तन सम्भव था। उसके दृष्टान्त वाकाटक-गुप्त, पुष्यभूति और सिन्ध के शूद्र राजवंश थे। पर इस समय सभी वर्णों और जातियों में जड़ता आ रही थी। अपने वर्ण, जाति, उपजाति के छोटे-छोटे दायरे में सभी अपने को सुरक्षित समझते थे और प्रवृत्ति छोटी से छोटी इकाई में रहने की थी। इन सभी इकाइयों के सामाजिक नियम, उपनियम बनते जाते थे जो सब इकाइयों को एक दूसरे से अलग करते थे। जिस तरह राजनीति में भारत की समष्टि और एकता की भावना दुर्बल हो गयी थी उसी प्रकार भारतीय समाज की एकता भी विभाजन की प्रवृत्ति से कमजोर पड़ गयी। विशाल भारतीय समाज में सभी वर्णों और जातियों को स्थान था परन्तु उसमें केन्द्रीय एकता नहीं थी। यह भारतीय समाज के संगठन की सबसे बड़ी दुर्बलता थी। एक तो इस प्रकार का समाज किसी अच्छी तरह संगठित समाज का सामना नहीं कर सकता था दूसरे विभाजन और संकीर्णता के कारण वर्जनशीलता बढ़ती जा रही थी और कोई बाहरी जाति या तत्त्व भारतीय समाज में खप नहीं सकता था। सातवीं शताब्दी के पहले आनेवाली अनेक विदेशी जातियाँ उस समय के भारतीय समाज में मिल गयी थीं परन्तु इस काल में और इसके अन्त में आनेवाली जातियाँ नहीं पच सकीं। विदेशियों को अपने में मिलाने की शक्ति अब नहीं रह गयी थी।

जातिवाद के सम्बन्ध में भारतवासियों की इस संकीर्ण मनोवृत्ति की ओर दसवीं शताब्दी में अलबेरुनी ने संकेत करते हुये लिखा है—

"हिन्दुओं की जाति परायण कट्टरता का शिकार विदेशी जातियाँ होती हैं। वे उन्हें म्लेच्छ और अपवित्र समझते हैं। वे उनके साथ परस्पर खान-पान का सम्बन्ध नहीं रखते। उनका विचार है कि इस तरह का व्यवहार करने से हम भ्रष्ट हो जायेंगे।"

इसका मतलब यह कि भारत का समाज विदेशियों को अपने में आत्म-सात् नहीं कर सका। इसके लिए और भी कारण उत्तरदायी हो सकते हैं परन्तु भारतीयों की वर्जनशीलता इसके लिए विशेषरूप से उत्तरदायी थी। जातिभेद के अन्य अनेक कुपरिणामों का शिकार भारतीय ज्ञान, शिल्प और कला को भी होना पड़ा। समाज के श्रेष्ठ वर्ण जैसे ब्राह्मण आदि समाज के दूसरे वर्ग (निम्न वर्णों) के सम्पर्क में आना अनुचित एवं अपमानजनक समझने लगे तथा उनसे घृणा करने लगे क्योंकि उनका समाज में सबसे अधिक सम्मान था। शिक्षा और विद्या में ये ही सबसे बढ़े चढ़े थे। इसीलिये मन्त्री आदि के पदों पर उनकी नियुक्ति होती थी। कभी-कभी वे सेनापति भी होते थे। बौद्धिक विकास में तन्मय ब्राह्मणों के पास ही ज्ञान एवं विद्या का कोष सीमित हो गया क्योंकि ब्राह्मणों की इस भावना के फलस्वरूप समाज का दूसरा वर्ग कर्मशील होते हुये भी ज्ञान और विद्या को रचनात्मक स्वरूप न दे सका। समाज का दूसरा वर्ग रूढ़िग्रस्त होकर अपनी पुरानी दशा से आगे न बढ़ सका। ब्राह्मणों से ज्ञान का शिल्पियों द्वारा शिल्पीकरण न हो सकने के कारण उसे कोई रचनात्मक रूप न मिल सका और समाज उस ज्ञान से कोई भौतिक वा सांसारिक लाभ न उठा सका। अतएव ब्राह्मणों का ज्ञान अक्रियात्मक होकर आध्यात्मिक एवं बौद्धिक तर्क जाल में उलझ गया। सर्वसाधारण के लिए ज्ञान और विद्या का उपार्जन करना अनावश्यक सा हो गया जिससे समाज की बड़ी अधोगति हुई। समाज के दूसरे वर्ग सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक विकास की दौड़ में बहुत पीछे छूट गये। पर ब्राह्मण अब क्षत्रियों और वैश्यों का भी काम करने लगे। 'पराशरस्मृति' से यह स्पष्ट होता है कि सब वर्णों को कृषि करने की अनुमति की गयी है। प्राणरक्षा के लिये ब्राह्मणों को शस्त्र ग्रहण जरने का भी अधिकार दिया गया। कुछ ब्राह्मण शिल्प, व्यापार और दूकानदारी भी करते। राजनियमों में शास्त्रनिष्ठ ब्राह्मणों को बहुत रियायत दी जाती थी।

इस प्रकार समाज में जड़ता और संकीर्णता प्रारम्भ हो गयी थी। फिर भी समाज में अभी कुछ लचीलापन था। सवर्ण विवाह-अच्छा माना जाता था यद्यपि अन्तर्जातीय विवाह की भी प्रथा थी। अनुलोम विवाह के कई उदाहरण पाये जाते हैं। ब्राह्मण कवि राजशेखर ने चाहमान (क्षत्रिय) राजकुमारी से विवाह किया था। गहड़वाल राजा गोविन्द चन्द का विवाह बौद्ध राजकुमारी से हुआ था।

इस काल के धर्मशास्त्रों में आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन है। क्षत्रियों में राक्षस विवाह प्रचलित था। राज कन्याओं के लिए स्वयंवर की प्रथा भी थी। सयानी लड़कियों का विवाह होता था। विवाह के अवसर पर धार्मिक संस्कार बड़ी धूमधाम से किया जाता था।

समाज में अभी भी स्त्रियों का काफी ऊँचा स्थान था। कन्या के रूप में उनका पालन-पोषण तथा शिक्षण होता था। मण्डन मिश्र की पत्नी भारती विदुषी थी। मण्डन मिश्र और शंकराचार्य के शास्त्रार्थ में उसने मध्यस्थता की थी। राजशेखर की स्त्री अवन्तिसुन्दरी उच्च कोटि की कविता करती थी। भास्कराचार्य की कन्या लीलावती गणित में प्रवीण थी। पत्नी और माता के रूप में भी स्त्रियों का आदर और सम्मान होता था। राजघराने की स्त्रियाँ राजनीति और शासन में भाग लेती थीं। कश्मीर, उड़ीसा और आन्ध्र देश में कई रानियों ने राजकुमारों की संरक्षिका का काम और राजशासन का निर्वाह किया था। कर्णाटक के कई लेखों में स्त्रियों का प्रान्तीय शासकों और गाँव के मुखियों के रूप में उल्लेख है। कश्मीर में दिद्दा और वारंगल के काकतीय वंश में रुद्राम्बा नामक रानियों ने सिंहासनारूढ़ होकर योग्यतापूर्वक शासन किया। अभीतक स्त्रियों में पर्दा की प्रथा नहीं थी। राजवंश और धनी मानी घरानों में बहु विवाह की चलन थी। छोटी जातियों में विधवा विवाह होता था परन्तु ऊपर की जातियों में इसका निषेध था। उच्च वर्गों में सती की प्रथा अब प्रारम्भ हो रही थी। समाज में कुछ स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति भी करती थीं। देवदासी प्रथा का भी उदय इसी काल में हुआ। दक्षिण में बहुत-सी कन्याएँ देवताओं के मन्दिरों में समर्पित कर दी जाती थीं। वे मन्दिरों में गुप्त रूप से वेश्यावृत्ति करती थीं।

पर राजपूत काल में स्त्रियों की काफी प्रतिष्ठा थी। वे स्त्रियों का आदर करते और उनकी रक्षा करने के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते। राजपूत स्त्रियाँ पूर्णरूपेण पतिव्रता थीं। अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिए हँसते-हँसते वे जौहर करती थीं। उन्हें स्वयंवर में अपना पति चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। अधिकतर कन्याओं का विवाह वयस्क होने पर किया जाता था। ब्राह्मणों को क्षत्रिय लोग आदर की दृष्टि से देखते थे। वे मन्दिरों में पुजारी होते या राजकीय नौकरी करते थे। अनेक ब्राह्मण धनी थे। जो ब्राह्मण क्षत्रिय का व्यवसाय करते, ब्रह्मक्षत्र कहलाते थे। क्षत्रिय भी कृषि करते थे। समाज में ब्राह्मणों के बाद उन्हीं का स्थान था। वैश्यों की अपनी-अपनी श्रेणियाँ थीं। इनके अतिरिक्त शिल्पियों, व्यापारियों, साहूकारों, गाड़ी चलाने वालों, जुलाहों, चमारों और पनवाड़ियों की अपनी-अपनी श्रेणियाँ थीं। इन्हें अपने सदस्यों के लिए कानून बनाने का अधिकार था। महत्त्वपूर्ण श्रेणियों के अध्यक्षों का समाज में बहुत सम्मान था। राजा इन्हें अपनी ओर से

'राणक' उपाधियों से विभूषित करते थे। इस काल में भी दास-प्रथा विद्यमान थी तथा बेगार भी चलता था।

दसवीं शताब्दी तक उत्तर भारत में हिन्दू-समाज मुख्य रूप से चार वर्णों में विभक्त था पर दसवीं सदी के बाद इस अवस्था में परिवर्तन आने लगा। शूद्रों को वेद पढ़ने और यज्ञ करने का अधिकार नहीं था। उनमें भी अनेक उपजातियाँ बन गयीं।

धार्मिक अवस्था

गुप्त-काल में जो धार्मिक परिवर्तन हुये थे उनके फलस्वरूप भारत में वैदिक अथवा ब्राह्मण धर्म सर्वमान्य और प्रधान हो गया और क्रमशः बौद्ध और जैन धर्म का ह्रास होने लगा था। पाँचवीं शताब्दी ई० के अन्त में हूणों के आक्रमण ने उत्तर-पश्चिमी भारत में बौद्ध धर्म को बहुत हानि पहुँचायी। हूणों ने बौद्ध मन्दिरों और मठों को नष्ट किया और बौद्ध भिक्षुओं का वध किया। ब्राह्मणों ने केवल धर्म यज्ञादि का पुनरुत्थान किया परन्तु उसको पौराणिक और भक्तिमार्गी रूप देकर लोकप्रिय और व्यापक बना दिया। पूर्वमध्य काल के प्रारम्भ में भी कुमारिल और शंकराचार्य जैसे सुधारक ब्राह्मण धर्म में हुये। कुमारिल ने तो वैदिक कर्मकाण्ड पर जोर दिया पर उनका आन्दोलन समय के प्रवाह के प्रतिकूल होने से कुछ जागृत होकर भी बहुत व्यापक नहीं हुआ। शंकराचार्य ने उस समय के जन-साधारण में प्रचलित एक बहुत ऊंचा तत्त्वज्ञान 'वेदान्त' का विकास और प्रचार किया। भारतीय जीवन पर इसकी छाप अभी तक बनी हुयी है। इसमें प्राचीन उपनिषदों और गीता का दर्शन तो था ही उनके पीछे की सबसे प्रबल धार्मिक धारा बौद्ध धर्म और दर्शन का उत्तमांश भी आ गया। ऐसा कहा जाता है कि शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म का लोप किया। परन्तु यह लोप युद्ध और वैमनस्य के द्वारा नहीं हुआ। अत्यन्त मैत्री भाव से शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के उच्च सिद्धान्तों का अपने धर्म और दर्शन में समावेश किया और उस समय के पौराणिक धर्म में बुद्ध को अपने दस प्रधान अवतारों में मान लिया। इसके बाद ब्राह्मण और बौद्ध धर्म में कोई विशेष अन्तर न रहा और बौद्ध धर्म क्रमशः नवजागृत ब्राह्मण या वैदिक धर्म में विलीन हो गया।

पहले यह कहा गया है कि वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के समय उसमें पौराणिक धर्म और भक्ति मार्ग की धारायें भी चल निकलीं। भक्ति मार्गी सम्प्रदायों में वैष्णव, शैव और शाक्त प्रधान थे। ब्राह्मण, सौर, गाणपत्य आदि सम्प्रदाय भी भक्ति मार्ग में छोटी-छोटी धाराओं के रूप में प्रचलित थे। इन सम्प्रदायों में मूर्त्तिपूजा और मन्दिरों की प्रधानता थी। भक्तिमार्ग ने गुप्तकालीन जनता में एक नयी प्रेरणा

उत्पन्न कर दी थी पर नवीं शताब्दी से उसमें बाह्याडम्बर और भ्रष्टाचार आने लगे। वैष्णव सम्प्रदाय में गोपी-लीला और अन्तरंग समान शैव सम्प्रदाय में पाशुपत, कापालिक और अघोरपन्थ, शाक्त सम्प्रदाय में आनन्द, भैरवी अथवा भैरवीचक्र, योगियों में सिद्धि-मार्ग आदि कई अशोभन, अश्लील और अनैतिक पन्थ उत्पन्न हो गये। इस काल में धर्म का स्वरूप बहुत से स्थानों में, विशेषकर विहार, कश्मीर, उड़ीसा, बंगाल और आसाम में तान्त्रिक हो गया और उसके कई सम्प्रदाय—भक्ति मार्ग अथवा वाम मार्ग—चल पड़े जिनमें पंच मकारों—मदिरा, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—का सेवन धर्म के नाम पर होता था। आचार मार्गी शुद्ध वैष्णव और शैव धर्मों ने इनके ऊपर नियन्त्रण रखने की चेष्टा की। शंकराचार्य के दर्शन और धर्म का प्रचार करने के लिये भारत के चार कोनों में चार मठ स्थापित किये थे—उत्तर हिमालय में बदरिकाश्रम, दक्षिण मैसूर में श्रृंगेरी, पूर्व उड़ीसा में पुरी और पश्चिम सौराष्ट्र में द्वारका। कुछ समय तक इन मठों और इनकी शाखाओं और प्रशाखाओं के शंकराचार्य और दूसरे संन्यासी धर्म का प्रचार करते रहे किन्तु आगे चलकर उनमें भी आलस्य, प्रमाद, विलासिता और भ्रष्टाचार आ गये।

धर्म में ह्रास एवं भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए कई एक सन्त महात्मा बीच-बीच में हुये। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में श्रीरंगम (त्रिचनापल्ली) में वैष्णव सन्त और दार्शनिक रामानुज का जन्म हुआ। उन्होंने दर्शन में विशिष्टाद्वैत और धर्म में भक्ति मार्ग का प्रचार किया। कर्णाटक में मध्व ने द्वैतवाद का प्रचार किया। द्रविड प्रदेश में तो वैष्णव और शैव महात्माओं की एक धारा-सी चलती रही। वैष्णव-भक्त (आन्यवार) और शैव-भक्त (नायन्मार) के तमिल ग्रन्थों का वहाँ बड़ा आदर है। कश्मीर में नव्य शैव धर्म का दर्शन तथा कर्णाटक और महाराष्ट्र में लिंगायत या वीर शैव आदि सुधारक मार्ग चले। इससे वैदिक या ब्राह्मण धर्म का ह्रास तो नहीं रुका पर उसमें इतनी शक्ति आ गयी कि वह आक्रमण के समय कठोर प्रचारक और असहिष्णु इस्लाम धर्म का सफलता के साथ सामना कर सका।

गुप्त काल में बौद्ध धर्म में महायान सम्प्रदाय की पर्याप्त उन्नति हो गयी थी। पीछे हिन्दू धर्म और महायान बौद्ध धर्म में बहुत भिन्नता न रही क्योंकि यह हम जानते हैं कि हिन्दुओं ने बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया। हिन्दू धर्म में व्यक्तियों को बौद्ध धर्म की अपेक्षा विचारों की अधिक स्वतन्त्रता थी, अतः बहुत से बौद्ध भी हिन्दू धर्म की ओर आकर्षित होने लगे।

हर्षवर्द्धन के समय बौद्ध धर्म के काफी अनुयायी थे और उसका स्वरूप उच्च और पवित्र था। किन्तु आगे चलकर जिस प्रकार वैदिक या ब्राह्मण धर्म में

'राणक' उपाधियों से विभूषित करते थे। इस काल में भी दास-प्रथा विद्यमान थी तथा बेगार भी चलता था।

दसवीं शताब्दी तक उत्तर भारत में हिन्दू-समाज मुख्य रूप से चार वर्णों में विभक्त था पर दसवीं सदी के बाद इस अवस्था में परिवर्तन आने लगा। शूद्रों को वेद पढ़ने और यज्ञ करने का अधिकार नहीं था। उनमें भी अनेक उपजातियाँ बन गयीं।

धार्मिक अवस्था

गुप्त-काल में जो धार्मिक परिवर्तन हुये थे उनके फलस्वरूप भारत में वैदिक अथवा ब्राह्मण धर्म सर्वमान्य और प्रधान हो गया और क्रमशः बौद्ध और जैन धर्म का ह्रास होने लगा था। पाँचवीं शताब्दी ई० के अन्त में हूणों के आक्रमण ने उत्तर-पश्चिमी भारत में बौद्ध धर्म को बहुत हानि पहुँचायी। हूणों ने बौद्ध मन्दिरों और मठों को नष्ट किया और बौद्ध भिक्षुओं का वध किया। ब्राह्मणों ने केवल धर्म यज्ञादि का पुनरुत्थान किया परन्तु उसको पौराणिक और भक्तिमार्गी रूप देकर लोकप्रिय और व्यापक बना दिया। पूर्वमध्य काल के प्रारम्भ में भी कुमारिल और शंकराचार्य जैसे सुधारक ब्राह्मण धर्म में हुये। कुमारिल ने तो वैदिक कर्मकाण्ड पर जोर दिया पर उनका आन्दोलन समय के प्रवाह के प्रतिकूल होने से कुछ जागृत होकर भी बहुत व्यापक नहीं हुआ। शंकराचार्य ने उस समय के जन-साधारण में प्रचलित एक बहुत ऊंचा तत्त्वज्ञान 'वेदान्त' का विकास और प्रचार किया। भारतीय जीवन पर इसकी छाप अभी तक बनी हुयी है। इसमें प्राचीन उपनिषदों और गीता का दर्शन तो था ही उनके पीछे की सबसे प्रबल धार्मिक धारा बौद्ध धर्म और दर्शन का उत्तमांश भी आ गया। ऐसा कहा जाता है कि शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म का लोप किया। परन्तु यह लोप युद्ध और वैमनस्य के द्वारा नहीं हुआ। अत्यन्त मैत्री भाव से शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के उच्च सिद्धान्तों का अपने धर्म और दर्शन में समावेश किया और उस समय के पौराणिक धर्म में बुद्ध को अपने दस प्रधान अवतारों में मान लिया। इसके बाद ब्राह्मण और बौद्ध धर्म में कोई विशेष अन्तर न रहा और बौद्ध धर्म क्रमशः नवजागृत ब्राह्मण या वैदिक धर्म में विलीन हो गया।

पहले यह कहा गया है कि वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के समय उसमें पौराणिक धर्म और भक्ति मार्ग की धारायें भी चल निकलीं। भक्ति मार्गी सम्प्रदायों में वैष्णव, शैव और शाक्त प्रधान थे। ब्राह्मण, सौर, गाणपत्य आदि सम्प्रदाय भी भक्ति मार्ग में छोटी-छोटी धाराओं के रूप में प्रचलित थे। इन सम्प्रदायों में मूर्त्तिपूजा और मन्दिरों की प्रधानता थी। भक्तिमार्ग ने गुप्तकालीन जनता में एक नयी प्रेरणा

उत्पन्न कर दी थी पर नवीं शताब्दी से उसमें बाह्याडम्बर और भ्रष्टाचार आने लगे। वैष्णव सम्प्रदाय में गोपी-लीला और अन्तरंग समान शैव सम्प्रदाय में पाशुपत, कापालिक और अघोरपन्थ, शाक्त सम्प्रदाय में आनन्द, भैरवी अथवा भैरवीचक्र, योगियों में सिद्धि-मार्ग आदि कई अशोभन, अश्लील और अनैतिक पन्थ उत्पन्न हो गये। इस काल में धर्म का स्वरूप बहुत से स्थानों में, विशेषकर बिहार, कश्मीर, उड़ीसा, बंगाल और आसाम में तान्त्रिक हो गया और उसके कई सम्प्रदाय—भक्ति मार्ग अथवा वाम मार्ग—चल पड़े जिनमें पंच मकारों—मदिरा, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—का सेवन धर्म के नाम पर होता था। आचार मार्गी शुद्ध वैष्णव और शैव धर्मों ने इनके ऊपर नियन्त्रण रखने की चेष्टा की। शंकराचार्य के दर्शन और धर्म का प्रचार करने के लिये भारत के चार कोनों में चार मठ स्थापित किये थे—उत्तर हिमालय में बदरिकाश्रम, दक्षिण मैसूर में श्रृंगेरी, पूर्व उड़ीसा में पुरी और पश्चिम सौराष्ट्र में द्वारका। कुछ समय तक इन मठों और इनकी शाखाओं और प्रशाखाओं के शंकराचार्य और दूसरे संन्यासी धर्म का प्रचार करते रहे किन्तु आगे चलकर उनमें भी आलस्य, प्रमाद, विलासिता और भ्रष्टाचार आ गये।

धर्म में ह्रास एवं भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए कई एक सन्त महात्मा बीच-बीच में हुये। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में श्रीरंगम (त्रिचनापल्ली) में वैष्णव सन्त और दार्शनिक रामानुज का जन्म हुआ। उन्होंने दर्शन में विशिष्टाद्वैत और धर्म में भक्ति मार्ग का प्रचार किया। कर्णाटक में मध्व ने द्वैतवाद का प्रचार किया। द्रविड प्रदेश में तो वैष्णव और शैव महात्माओं की एक धारा-सी चलती रही। वैष्णव-भक्त (आन्यवार) और शैव-भक्त (नायन्मार) के तमिल ग्रन्थों का वहाँ बड़ा आदर है। कश्मीर में नव्य शैव धर्म का दर्शन तथा कर्णाटक और महाराष्ट्र में लिंगायत या वीर शैव आदि सुधारक मार्ग चले। इससे वैदिक या ब्राह्मण धर्म का ह्रास तो नहीं रुका पर उसमें इतनी शक्ति आ गयी कि वह आक्रमण के समय कठोर प्रचारक और असहिष्णु इस्लाम धर्म का सफलता के साथ सामना कर सका।

गुप्त काल में बौद्ध धर्म में महायान सम्प्रदाय की पर्याप्त उन्नति हो गयी थी। पीछे हिन्दू धर्म और महायान बौद्ध धर्म में बहुत भिन्नता न रही क्योंकि यह हम जानते हैं कि हिन्दुओं ने बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया। हिन्दू धर्म में व्यक्तियों को बौद्ध धर्म की अपेक्षा विचारों की अधिक स्वतन्त्रता थी, अतः बहुत से बौद्ध भी हिन्दू धर्म की ओर आकर्षित होने लगे।

हर्षवर्द्धन के समय बौद्ध धर्म के काफी अनुयायी थे और उसका स्वरूप उच्च और पवित्र था। किन्तु आगे चलकर जिस प्रकार वैदिक या ब्राह्मण धर्म में

विलासिता और भ्रष्टाचार आ गये वैसे ही बौद्ध धर्म में भी। इसका भी तान्त्रिक और वाम मार्गी स्वरूप हो गया। वज्रयान आदि सम्प्रदायों का इसमें उदय हुआ जिससे बौद्ध संघाराम और विहार गुह्य-समाजों और भ्रष्टाचार के केन्द्र हो गये। बौद्ध धर्म के ह्रास का यह सबसे बड़ा कारण था। बौद्ध धर्म का ह्रास ह्वेनसांग नामक चीनी यात्री के अनुसार सातवीं शताब्दी में प्रारम्भ हो गया था। उसने सिन्ध प्रान्त में विलासी और धर्म-विमुख भिक्षु और भिक्षुणियों को देखा था।

आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब अरब-आक्रमण सिन्ध पर हुआ तब इस विकृत बौद्ध धर्म का निकम्मापन सिद्ध हो गया। ह्वेनसांग ने इस प्रदेश में हजारों बौद्ध मन्दिरों और मठों के खंडहर देखा। वज्रयान का उदय सबसे पहले आन्ध्र प्रदेश के श्रीपर्वत पर हुआ। वहाँ से वह उड़ीसा, बंगाल और बिहार में पहुँचा। पहले महायान ने भगवान बुद्ध को संसार के त्राता के रूप में ग्रहण किया। नये वज्रयानी सम्प्रदाय ने उनको वज्र गुरु का बाना दिया जिनको अति मानुष सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उन्हीं सिद्धियों को पाने के लिए वज्रयानी गुह्य साधनायें करते थे। तान्त्रिक बौद्ध धर्म के विकास को वज्रयान कहते हैं जिसमें मन्त्र के साथ मुद्रा को भी अपनाया गया। तान्त्रिक बौद्ध धर्म और हिन्दू तन्त्र में कोई विशेष अन्तर न था। जैसा कि हम जानते हैं वे मांस, मदिरा, मछली, मुद्रा और मैथुन पाँच मकारों का प्रयोग करते थे। नवीं तथा दसवीं शताब्दी में ८४ सिद्धों ने वज्रयान का बहुत प्रचार किया। बौद्ध धर्म में पद्मसम्भव, दीपंकर श्रीज्ञान उपनाम अतिश आदि प्रसिद्ध आचार्य हुये। मुस्लिम आक्रमण के पहले बौद्ध धर्म का यही मुख्य रूप था। एक तरफ आन्तरिक ह्रास, दूसरी ओर वैदिक अथवा ब्राह्मण धर्म की दूसरों धर्मों को आत्मसात् करने की क्षमता और तीसरी ओर बौद्ध धर्म के प्रति इस्लाम की कट्टर शत्रुता ने उनके मठों को नष्ट किया तो बौद्ध धर्म का भारत में अन्त हो गया।

जैसा कि हम जानते हैं कि हर्षवर्द्धन के बाद राजाओं का प्रोत्साहन भी बौद्ध धर्म को कम मिला। राजपूत राजाओं पर बौद्ध धर्म का कोई विशेष प्रभाव नहीं था। बौद्ध धर्म की उन्नति केवल मगध और बंगाल में पाल राजाओं द्वारा होती रही। पर जब बारहवीं शताब्दी के मध्य में सेन राजाओं ने बंगाल पर आधिपत्य कर लिया तो उन्होंने हिन्दू धर्म की स्थापना की। अब बौद्धों का प्रभाव बिहार तक ही सीमित रह गया। पर ११९८ ई० में मुसलमानों का आधिपत्य बिहार पर हो गया तो वहाँ भी बौद्ध धर्म की समाप्ति हो गयी। इसके पूर्व नालन्दा, बोधगया, ओदन्तपुरी और विक्रमशिला विश्वविद्यालय में बौद्ध धर्म की परम्परायें चलती रहीं। यहाँ से बौद्ध भिक्षु बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए तिब्बत जाते रहे।

बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म में आडम्बर बहुत आ गया। यद्यपि जैन धर्म में भी मूर्तिपूजा और मन्दिर आदि का काफी विस्तार हो गया था और उसके मूल ज्ञान और तपस्या के मार्ग ने अन्धविश्वास और एक प्रकार के कर्मकाण्ड का रूप धारण कर लिया था फिर भी उसमें गुह्य समानी विचार और भ्रष्टाचार नहीं फैले, जो ब्राह्मण और बौद्ध धर्म में घुस गये थे। फिर भी इसके कठोर आचार और उदासीन वृत्ति से लोगों में इसके लिए आकर्षण बहुत कम हो गया था। उत्तर भारत में इसके मानने वालों की संख्या बहुत कम थी। इस समय इसके केन्द्र दक्षिण-पश्चिम राजस्थान, मालवा, सुराष्ट्र, महाराष्ट्र, कर्णाटक और द्रविड़ प्रदेश के कुछ भागों में थे।

सभी धर्मों में सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों की संख्या बढ़ती गयी। इसका फल यह हुआ कि भारतीय समाज भी छोटे-छोटे धार्मिक टुकड़ों में बँट गया। कुछ अपवादों को छोड़कर सभी सम्प्रदायों में एक दूसरे के प्रति उदारता और सहनशीलता अवश्य थी किन्तु जनता इसके कारण भीतर से बिखरती जा रही थी तथा उसका एकीकरण कठिन हो गया। सम्भवतः इन सम्प्रदायों में तन्त्र और भक्ति मार्ग की प्रधानता रही। तन्त्र तो अपने भ्रष्टाचार से नष्ट हो गया पर भक्ति मार्ग स्थायी रहा और इसका प्रभाव जनता पर अधिक था। भक्ति के शुद्ध रूप के बिगड़ जाने पर इसके भी कई अवांछनीय परिणाम हुये, जैसे ईश्वर पर जनता का परावलम्बन, इस लोक से कल्पित परलोक को अधिक महत्त्व देना, संसार से पलायन, अहिंसा का केवल शारीरिक अर्थ और उसपर अनुचित जोर देना, मनुष्य के कोमल भावों—मैत्री, करुणा, दया, प्रेम आदि का अत्यधिक उद्रेक एवं मानव अस्तित्व और देश रक्षा के लिए आवश्यक कठोर भावों, क्रोध, शौर्य, वीरता, धीरज, अन्याय का घोर विरोध आदि का दमन। जनता में कई एक अन्धविश्वास भी घर कर गये। कलियुग की हीनता में विश्वास और अपने भविष्य में अनावस्था ने तथा दैवपाद अथवा भाग्यवाद के सिद्धान्तों ने मानव-व्यक्तित्व और मानव-पुरुषार्थ को दबा दिया। फलित ज्योतिष में अनुचित विश्वास ने भी मनुष्य की क्रिया शक्ति को शिथिल किया। किसी भी परिस्थिति में मन्दिर-मूर्ति, ब्राह्मण और गाय की अवध्यता और पवित्रता में विश्वास ने भी भारतीयों को विवेकहीन और दुर्बल कर दिया। साधारण जनता में भूत-प्रेत और उसके धार्मिक और नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता था।

आर्थिक अवस्था

गाँवों और नगरों की व्यवस्था के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यहाँ के लोग सुखी थे। उनकी सुरक्षा का यथोचित प्रबन्ध था जिससे भरण-पोषण के अतिरिक्त

अर्थार्जन में विशेष रुचि रखते थे। यद्यपि इस काल का आर्थिक इतिहास विशेष स्पष्ट नहीं है तथापि कुछ ग्रन्थों, लेखों तथा विदेशी यात्रियों के विवरणों से आर्थिक अवस्था का कुछ ज्ञान हो जाता है। मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा भारत से लूट में अपार सम्पत्ति ले जाना इस बात का प्रमाण है कि सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के भारत की आर्थिक अवस्था बहुत ही अच्छी थी। व्यापार की प्रगति के लिए संघों की रचना हुयी थी जो भारतीय व्यापार को समृद्ध बनाने में दत्तचित्त थे। विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। इसी काल में भारतीय उपनिवेश की स्थापना हुयी। एशिया के भिन्न-भिन्न भागों में भारतीय बस गये और वहाँ भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार करने लगे। इन्हीं नये बसे भू-भागों को बृहत्तर भारत के नाम से पुकारा जाता था। बृहत्तर भारत की सृष्टि से भी यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन भारत की दशा ऐसी थी कि वह विदेश में भी अपना प्रभुत्व जमाने में सफल हो सका।

ग्राम

उस समय गाँवों में देश की अधिकांश जनता रहती थी जिनका प्रमुख उद्यम कृषि कार्य था। कृषि ही उनकी जीविका थी जिसपर उनका जीवन आधारित था। ये ग्रामीण उर्वरा भूमि पर अपनी फसल उगाते थे और वृक्ष तथा वाटिका लगा दिया करते थे। वृक्षों और वाटिकाओं में उनके पालित पशुओं के लिए घास भी प्राप्त हो जाती थी। कुछ भूमि ऊसर और वंजर होती थी जो उनके किसी प्रयोजन में नहीं आती थी। गाँव वालों को .विशेषकर भूमि दान में प्राप्त होती थी जिसके साथ-साथ आम, महुवा, इमली आदि वृक्ष अग्रहार के रूप में मिल जाते थे। गाँव के अधिवासियों का जीवन सादा था। बंगाल के देवपारा लेख से कृषकों के सादे जीवन का स्पष्टीकरण भलीभाँति होता है। अपनी आवश्यक सामग्रियों को खरीदने और बेचने के लिए गाँवों को राज्य की ओर से बाजार का प्रबन्ध होता था। इसका प्रबन्ध एक कर्मचारी करता था जिसे हट्टपति कहा जाता था।

भूमि-स्वामित्व

इस काल में कृषि योग्य भूमि के स्वामी निजी व्यक्ति या परिवार होते थे। पर आंशिक रूप से भूमि पर भी राजा का स्वामित्व समझा जाता था। इस काल के भूमि-सम्बन्धी अधिकार पत्रों तथा साहित्यिक साक्ष्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि कृषि योग्य भूमि के स्वामी निजी व्यक्ति या परिवार थे। जब किसी गाँव को राजा दान में देता था तो वह भूमि का स्वामित्व दान प्राप्त करने वाले व्यक्ति को नहीं दे देता था। वह उस गाँव से भूमि कर आदि करों को वसूल करने का अधिकार उस व्यक्ति को दे देता था। इस काल के भूमि सम्बन्धी अधिकार

पत्रों से यह स्पष्ट होता है कि भूमि पर जो अधिकार राजा के होते थे, वह उनका हस्तान्तरण इन अधिकार पत्रों से करता था। पर कुछ राजा भी इस काल में हो गये हैं जो भूमि पर सम्पूर्ण अधिकार अपना मानते थे और सारी उपज ले लेते थे। इसमें कश्मीर का राजा जयापीड़ उल्लेखनीय है। इन दोनों के अतिरिक्त (राजा और प्रजा) सामन्त भी अपना अधिकार भूमि पर समझते थे। पर नवीं शताब्दी के एक ग्वालियर अभिलेख से यह पता चलता है कि गाँवों में कुछ भूमि पर सामूहिक स्वामित्व होता था।

राजस्व

राजा की ओर से गाँवों से वसूल किया गया कर 'भाग भोग' कहा जाता था। भाग से अर्थ उपज का छठा भाग माना जाता था जो राजा किसानों से लेता था पर भोग का अर्थ उन वस्तुओं से है जैसे फल, फूल इत्यादि जो गाँव वाले समय-समय पर राजा को दिया करते थे। कर एक सामान्य शब्द था। इससे उस भूमि कर का अभिप्राय हो सकता है जो राजा समय-समय पर साधारण भूमि कर के अतिरिक्त किसानों से वसूल करते थे। हिरण्य का भी उल्लेख मिलता है। यह सम्भव है, ऐसा कर था, जो धन राशि के रूप में पूरे गाँव से लिया जाता था। पश्चिमी भारत में 'उद्रंग' और उपरिकर नाम के कर भी लगाये गये थे। 'उद्रंग' सम्भवतः निश्चित कर था। 'उपरिकर' का मतलब अतिरिक्त कर होता था। 'दशापराध' नाम का एक और कर था। इसका मतलब होता था दस निर्दिष्ट अपराधों के लिये गाँव वालों से जुर्माना वसूल करने का अधिकार था। पाल राजाओं के अभिलेखों में उपरिकर, दशापराध, चोरोद्धरण आदि कर के रूप में आया है। चन्देल राज्य के अभिलेख में 'भाग-भोग कर' हिरण्य, शुल्क एवं पशुकर के रूप में आये हैं। राजकीय अधिकारी 'आमात्य' लेते थे। 'कल्याण धन' भी उनमें एक था। प्रतिहारों के अभिलेखों में उद्रंग, भोग, भाग, दशापराध और दान के अतिरिक्त खलभिक्षा, प्रस्थक, अपुत्रिका धन, स्कन्धक, मार्गणक, चोल्लक, उत्पादमानविष्टि आदि करों का भी उल्लेख है।

परमार राजाओं के अभिलेखों में भी दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच 'हिरण्य', 'भागभोग', 'उपरिकर' और 'दण्ड' नाम के करों का वर्णन है। चौहान राजाओं के यहाँ 'तलाराभाव्य', 'सेलहथा भाव्य', 'बलाधिपाभाव्य' नाम के करों का उल्लेख है। 'दान' इनके यहाँ चुंगी के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'लाग' सम्भवतः उपकर था। 'पाइला' जागीरदार का भाग था। 'हलसदि' हलों पर कर था। गहड़वालों के राज्य में कुछ अन्य कर लिये जाते थे जैसे कि 'प्रवणि कर'। तुरुष्क दण्ड ऐसा कर था जो गहड़वाल राजा उन तुर्क आक्रमणकारियों से वसूल करते थे जो उनके राज्य में आकर बस गये थे।

कृषि की व्यवस्था के लिए राजाओं ने सिंचाई आदि का अधिक प्रबन्ध किया था। कश्मीर में बाढ़ आने पर राजा अवन्तिवर्मा ने सूर्य नामक अपने इंजीनियर मन्त्री से इसके रोकने के लिये कहा जिसने झेलम से कई नहरें निकालकर इसका निराकरण किया। तत्कालीन राजाओं ने सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध किया। नहरें भी निकाली जाती थीं जिससे सिंचाई सरल हो गयी। कुएँ तथा तालाबों का निर्माण कराया गया। परमार नरेश भोज ने एक विशाल जलाशय का, जो संसार की कृत्रिम झीलों में सबसे बड़ा था, निर्माण कराया था। कल्हण के अनुसार सूर्य ने नदियों को इस तरह नचाया जैसे सँपेरा साँपों को नचाता है। चन्देल राजाओं के झील निर्माण का ज्ञान लेखों से प्राप्त होता है। कृषकों को सिंचाई कर अलग से देना पड़ता था। भूमि की नाप के लिये आठ प्रकार की नाप प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न समय में प्रचलित थीं जो इस प्रकार हैं :—

१. कुल्यावाप,
२. द्रोणवाप,
३. पाठक,
४. हल,
५. हस्त,
६. पादावर्त,
७. नल और
८. नालु

'कुल्यावाप' गुप्तकाल में भी प्रचलित थी। कुल्य एक अनाज नापने वाली टोकरी को कहा जाता था। इस एक कुल्य का अनाज जितनी भूमि में बोया जा जा सकता था उतनी भूमि एक कुल्यावाप कहलाती थी। 'द्रोण' का भी अनाज नापने के लिये प्रयोग किया जाता था। 'कुल्यावाप' की भाँति इसे भी 'द्रोणवाप' कहा जाने लगा। 'द्रोणवाप' 'कुल्यावाप' का पहाड़पुर ताम्रपत्र द्वारा आठ गुना था। तीसरी माप 'पाठक' कुल्यावाप का पाँच गुना समझा जाता था। यह एक बड़ा माप है। एक 'हल' से जितनी भूमि बोई जा सकती थी उतनी भूमि हल कहलाती थी। एक हल से लगभग दस बीघा भूमि का अनुमान लगाया जाता है। 'हस्त' का प्रयोग भी भूमि माप में किया जाता था। 'हस्त' सम्भवतः राजा का हाथ ही माना जाता था। 'पादावर्त' एक वर्ग फुट के समतुल्य अनुमान किया गया। इस माप का उल्लेख वल्लभी लेख में प्राप्त होता है। बंगाल के सेन लेख में नल पौधे के नाम पर 'नल' नाप का विवेचन है। गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र के लेखों में 'नालु' शब्द माप के लिये प्रयुक्त हुआ जो सम्भवतः इसी 'नल' शब्द से बना है।

दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच किसानों की दो श्रेणियाँ थीं—स्वतन्त्र किसान, जो खेत के मालिक होते थे तथा दूसरों से कृषि कराते थे। दूसरे प्रकार के किसान वे थे जो खेती के मालिक नहीं थे—वे जमींदारों से भूमि लेकर खेती

करते थे। इस वर्ग के किसान अधिकतर शूद्र थे। इसके अतिरिक्त कुछ भूमिहीन मजदूर थे जो खेतों पर काम करते थे। भूमि तीन प्रकार की थी। वास्तु से मकान वाली भूमि का अर्थ होता था, क्षेत्र खेती वाली और खिल परती भूमि कहलाती थी। गेहूँ, जौ, चना, सन, गन्ना आदि फसलें उगायी जाती थीं। कृषकों को जैसा कि हम जानते हैं मालगुजारी देनी पड़ती थी जो पहले उपज के अनुसार चुकानी पड़ती थी पर बारहवीं शताब्दी में सिक्कों के द्वारा नकद माजगुजारी दी जाती थी। तत्कालीन राजाओं ने कृषि की ओर विशेष ध्यान दिया।

कृषि के अतिरिक्त उद्योगों की इस काल में वहुत उन्नति हुयी। सबसे अधिक विकसित वस्त्र उद्योग था। महीन से महीन कपड़ा बनाया जाता था। बाण ने नौ प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख किया है। बंगाल, गुजरात और पैठन के वस्त्र दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। पर इस काल में चार प्रकार के वस्त्र प्रमुख थे—सौम, दुकूल, पत्रोर्ण और कार्पासिक। अनेक प्रकार के कपड़ों की रँगाई एवं छपायी की जाती थी। अरब यात्री सुलैमान ने लिखा है कि नवीं शताब्दी में बंगाल में ऐसा बारीक कपड़ा बनता था जैसा अन्यत्र कहीं तैयार नहीं हो सकता था। कपड़े रँगने की कला भी वहुत विकसित थी। नील की खेती रंग के लिए की जाती थी। लोहे का व्यवसाय भी काफी विकसित था। उड़ीसा में लोहे के शहतीर बनाये जाते थे। बनारस, मगध, नेपाल सौराष्ट्र और कलिंग की तलवारें बहुत प्रसिद्ध थीं। ताँबा, चाँदी, टीन, सीसा और काँसा भी प्रयोग में आता था। हाथी दाँत की चूड़ियाँ बनाई जाती थीं। व्यवसायों की अलग-अलग श्रेणियाँ थीं जो व्यावसायियों की रक्षा करती तथा ये अपने व्यवसाय की उन्नति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते पर इस काल में श्रेणियों का महत्त्व पहले की अपेक्षा कम हो गया। श्रेणियों का स्थान इस काल में व्यावसायिक उपजातियों ने ले लिया। श्रेणियों को अब हीन जातियों के समान सामाजिक प्रतिष्ठा मिली।

धनी लोग सोने, चाँदी और मणियों के आभूषण पहनते थे। आभूषणों में हार, कर्णफूल, पाजेब, दस्तबन्द, बाजूबन्द, अंगूठियों और टीके का उल्लेख है। चमड़े के जूते बनाये जाते थे। चमड़े से पानी ढोने के लिए मशकें और तेल रखने के लिए पीपे भी बनाये जाते थे। पहाड़पुर की खुदाई से इस काल की मिट्टी की प्रतिमाएँ और घरेलू वस्तुओं का ज्ञान होता है। घड़ा, लोहा, हँड़िया, तश्तरी, लालटेन, दावात आदि अधिक परिमाण में मिले हैं। तत्कालीन संगतराश प्रस्तर पर अपनी कला का प्रदर्शन करते थे जिन्हें देखने से उस काल की कला का वैभव स्पष्ट हो जाता है। कांस्य की मूर्त्तियाँ ढालने और बहुमूल्य प्रस्तरों से विभिन्न प्रकार के आभूषण बनाने का काम होता था। सोने-चाँदी के पात्र बनाये

जाते थे। अरब-यात्री ने लक्ष्मण सेन के महल के सोने-चाँदी के बने बर्तनों का वर्णन किया है।

अन्तर्देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों व्यापार उन्नतावस्था में थे। देश में नदियों और राजमार्गों से नावों तथा बैलगाड़ियों पर सामान आया-जाया करता था। उज्जैन और कन्नौज उत्तरी भारत के प्रसिद्ध नगर थे। इसके अतिरिक्त पाटलिपुत्र, अयोध्या, मथुरा, कांची भी व्यापारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। भारत से एशिया के अन्य देशों से भारतवासियों ने बहुत पहले से ही व्यापार करना प्रारम्भ कर दिया था। भारतीय व्यापारी सबसे अधिक संख्या में मलाया प्रायद्वीप, जावा और सुमात्रा जाते थे। बारहवीं शताब्दी तक पूर्वी भारत का व्यापार दक्षिण-पूर्व एशिया से बहुत उन्नत दशा में था। ताम्रलिप्ति भारत का प्रसिद्ध बन्दरगाह था। व्यापार थल और जल दोनों मार्गों से होता था। ह्वेनसांग के अनुसार ताम्रलिप्ति में सुन्दर वस्तुएं एक जगह एकत्रित रहती थीं। यहाँ से लंका और चीन आदि को जहाज जाते थे। दक्षिण में कोरकोई, कावेरीपट्टनम् और पश्चिम में भड़ोंच प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। थलमार्गों से भारतीय व्यापारी अरब पार कर यूरोप तक पहुँच जाया करते थे। अरब तथा इराक भेजी जाने वाली वस्तुओं का उल्लेख इब्नखुर्दाज़बा ने किया है। उनमें चन्दन, लौंग, कपूर, जायफल, नारियल, कबाबचीनी, कपड़ा, मखमल, हाथी दाँत, मोती, बहुमूल्य पत्थर आदि आते हैं। इसके अतिरिक्त नारियल, आम, पान आदि बाहर भेजे जाते थे। बाहर से भारत में पन्ने की अँगूठी, मूँगा, शराब, रेशमी कपड़े, गुलाब जल, खजूर तथा घोड़े मंगाये जाते थे।

विनिमय के साधन अब सिक्के हो गये। हूणों के देशव्यापी सर्वनाश के कारण सुवर्ण सिक्कों का प्रचलन गुप्तोत्तर काल में बहुत कम हो गया था। त्रिपुरी के कलचुरि राजा गांगेयदेव ने लगभग ५०० वर्ष बाद सुवर्ण के सिक्के चलाये। कश्मीर के राजा हर्ष ने ग्यारहवीं शताब्दी में सोने और चाँदी के सिक्के चलाये। इसी काल में चालुक्य परमार और गहड़वाल राजाओं ने भी सुवर्ण के कुछ सिक्के चलाये। चाँदी का सिक्का पुराण या कार्षापण कहलाता था। इसके साथ ही ताँबे के भी सिक्के प्रचलित थे। बंगाल में गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद कौडी ही विनिमय का साधन बनी परन्तु कालान्तर में पाल नरेशों ने द्रम अर्थात् धातु के सिक्के चलाये। मुसलमान यात्रियों ने भी बंगाल में कौड़ियों का प्रचलन पाया था।

शिक्षा

शिक्षा का आम प्रबन्ध किया गया था। बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा ६ वर्ष की अवस्था से प्रारम्भ होती थी। इन्हें अक्षर, गिनती तथा पाणिनि का व्याकरण पढ़ाया जाता था। कुछ इतिहासकारों के अनुसार इस काल में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय

वैश्य ही शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। गौड़, श्रीवास्तव और वल्लभ कायस्थ, वैद्य और मछेरे भी संस्कृत भाषा के पण्डित थे तथा अन्य विद्याओं को जानते थे। इस युग में अनेक विद्यार्थी अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, वास्तुविद्या, व्याकरण और तर्कशास्त्र भी पढ़ते थे। परमार नरेश भोज ने बहुत सी पाठशालायें खोलीं। शैव तथा वैष्णव मठों में उच्च शिक्षा दी जाती थी। उच्च शिक्षा में राजशेखर ने दर्शन, वेद, कृषि विज्ञान, पशुपालन, व्यापार शास्त्र और राजनीति शास्त्र के अतिरिक्त साहित्य शास्त्र की भी गणना की है। बौद्धों को त्रिपिटक के अलावे सम्प्रदाय विशेष के सभी धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ता था। अधिकतर बौद्ध विद्यार्थी अश्वघोष कृत बुद्धचरित भी पढ़ते थे।

ब्राह्मण विद्यार्थी ब्राह्मण विद्वानों के परिवारों में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। इन विद्वानों को राज्य से काफी आर्थिक मदद की जाती थी। तपोवनों में भी कुछ विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। राजा लोग विद्वानों के सम्मेलनों का आयोजन करते थे जिनमें अनेक विद्वान शास्त्रार्थ करते थे। प्रारंभिक पाठशालाओं में हिन्दी को स्थान मिल गया परन्तु संस्कृत की प्रधानता पूर्ववत् बनी रही। साहित्य में संस्कृत को स्थान मिल ही चुका था। नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों की प्रधानता इसी युग में हुयी थी। इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी थी जहाँ ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, दर्शन आदि विषय पढ़ाये जाते थे। इन विश्व-विद्यालयों में चीन, पूर्वी द्वीप समूह, लंका, तिब्बत आदि दूर-दूर के देशों से विद्यार्थी अध्ययन के हेतु आते थे। इन विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों के रहने, भोजन, कपड़े आदि की व्यवस्था होती थी जिसका खर्च राजाओं और धनिकों के द्वारा विद्यालयों को दिये दानों से चलता था। इन विश्वविद्यालयों से निकलने पर विद्यार्थियों की सर्वसाधारण में बड़ी प्रतिष्ठा की जाती थी। नालन्दा एवं विक्रमशिला विश्वविद्यालय के विद्यार्थी धन-सम्पत्ति, यश, अपयश किसी की परवाह न करके ज्ञान प्राप्त में लगे रहते थे। यहाँ के विद्यार्थी अपने पाण्डित्य के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। इन दोनों विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त ओदन्तपुरी का विश्वविद्यालय भी इस युग का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था। इसकी स्थापना पालवंश के राजा गोपाल ने की थी। इसमें हजारों आचार्य और विद्यार्थी निवास करते थे।

भाषा और साहित्य

ललित साहित्य

इस युग के अधिकांश राजा साहित्य प्रेमी थे जिनके द्वारा साहित्य की काफी उन्नति हुयी। राजाओं ने विद्वानों को आश्रय दिया। इस युग में साहित्यकारों की बाढ़ सी आ गयी थी। साहित्य के विभिन्न अंग पर जितनी रचनाएँ इस काल में

हुयीं वह संस्कृत साहित्य के कोष में अपना अधिक महत्त्व तो रखती ही हैं साथ ही वे संख्या में भी अधिक हैं। ललित साहित्य की ओर भी साहित्यकारों की रुचि अधिक थी और इसलिये उपयोगी साहित्य की रचना अपेक्षित रह गयी। दर्शन साहित्य की ओर भी कुछ साहित्यकारों ने ध्यान दिया।

राजाओं ने कवियों और लेखकों को संरक्षण देकर संस्कृत साहित्य और विज्ञान की उन्नति में बहुत योग दिया। कश्मीर में ललितादित्य मुक्तापीड ने विद्वानों को संरक्षण देकर संस्कृत साहित्य की उन्नति की। यही कारण था कि इस काल में अनेक काव्यों की रचना हुयी। वल्लभी के राजा श्रीधर सेन के दरबार में महाकवि भट्टि सभा पंडित थे जिन्होंने 'रावण-वध' अथवा 'भट्टिकाव्य' की रचना की। संस्कृत साहित्य में महारथी गुजरात निवासी माघ का आविर्भाव भी इसी युग में हुआ था। इनका सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'शिशुपाल वध' संस्कृत साहित्य की उत्कृष्ट रचना है। यदि कालिदास अपनी उपमाओं, भारवि अर्थ गौरव तथा दण्डी पद लालित्य के लिए विख्यात हैं तो माघ में ये तीनों गुण विद्यमान हैं। यह उक्ति भले ही किसी सहृदय के तीव्रतम भावातिरेक का प्रतिफल हो, पर इतना तो स्वीकार ही करना होगा कि माघ का 'शिशुपाल वध' उनके मस्तिष्क एवं हृदय दोनों पक्षों की उत्कृष्टता का सजीव उदाहरण है। माघ के बाद काश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका जन्म ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था। इन्होंने अनेक वृहत् ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें 'बृहत्कथा मंजरी', 'दशावतार चरित', 'कला विलास' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

काश्मीर में ही बारहवीं शताब्दी में एक दूसरे सुप्रसिद्ध साहित्यकार हुये जिनका नाम मंखक था। ये काश्मीर नरेश जयसिंह के सभा-पण्डित थे। मंखक का श्रीकण्ठ चरित सुप्रसिद्ध महाकाव्य है। संस्कृत साहित्य के जगमगाते रत्न श्री हर्ष का उदय बारहवीं शताब्दी में हुआ था। ये न केवल सफल कवि ही थे बल्कि साथ ही साथ ये दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान भी थे। इनका सर्वश्रेष्ठ तथा संस्कृत साहित्य का उच्च कोटि का महाकाव्य नैषध चरित है। इसके अतिरिक्त श्री हर्ष ने अन्य कई ग्रन्थों की रचना की है। ये कन्नौज नरेश जयचन्द्र के सभा पंडित थे।

कविराज ने ८०० ई० में 'राघव पाण्डवीय' नामक ग्रन्थ रचा जिसमें राम और पाण्डवों की कथा साथ-साथ है। नवीं शताब्दी की समाप्ति से पूर्व अवन्तिवर्मा के शासन काल में काश्मीर में शिवस्वामी ने 'कप्फणाभ्युदय' नाम का रोचक बौद्ध महाकाव्य लिखा। जैन विद्वानों में कविषेण ने ६७८ ई० में पद्मपुराण की रचना की तथा जिनसेन पार्श्वाभ्युदय एवं आदि पुराण की रचना की। असंग ने वर्धमान चरित या महावीर चरित महाकाव्य रचा। इसी समय रत्नाकर नामक कश्मीरी महाकवि ने 'हर विजय' नाम का काव्य लिखा। नवीं शताब्दी के अन्त में काश्मीर

में ही अभिनन्द ने 'कादम्बरी कथा सार' लिखा। अभिनन्द नामक एक दूसरे लेखक ने राम चरित नामक महाकाव्य लिखा। वासुदेव ने युधिष्ठिर विजय, शौरिकथोदय और त्रिपुरदहन नाम के तीन महाकाव्यों की रचना की। गद्य-पद्यात्मक ग्रन्थों में 'नलचम्पू' एक उत्कृष्ट रचना है जिसे ९१५ ई० के लगभग त्रिविक्रमभट्ट ने रचा। ९९३ ई० के लगभग अमितगति ने सुभाषित रत्न सन्दोह नामक ग्रन्थ की रचना की।

पद्मगुप्त का नाम भी संस्कृत साहित्य में गर्व के साथ लिया जा सकता है। इनका 'नवसाहसांक चरित' ग्यारहवीं शताब्दी की उत्कृष्ट रचनाओं में गिना जाता है जो इस काल का सबसे प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य है। काश्मीर में दो और प्रमुख महाकवि हुये विल्हण और कल्हण। विल्हण ने 'विक्रमांकदेव चरित' लिखकर न केवल संस्कृत साहित्य के कोष में अभिवृद्धि की प्रत्युत् इन्होंने इतिहास के विद्यार्थियों के लिए भी कुछ सामग्री प्रस्तुत की है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' के लिये भी यही कहा जा सकता है। सुप्रसिद्ध कवि हेमचन्द्र ने तो 'कुमार पाल चरित' लिखकर दो भाषाओं पर अपना पूर्ण अधिकार रखने का परिचय दिया।

इस युग में कुछ सुप्रसिद्ध नाटककार भी हुये। इन नाटककारों ने संस्कृत साहित्य की बहुत बड़ी सेवाएँ कीं। कालिदास के बाद भवभूति को ही सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है। इनका 'उत्तर रामचरित्' संस्कृत साहित्य का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इन्होंने दो अन्य नाटक 'महावीर चरित' तथा 'मालती माधव' लिखे। ये विदर्भ निवासी और कन्नौज-नरेश यशोवर्मा के सभा पण्डित थे। दूसरे प्रसिद्ध नाटककार भट्ट नारायण थे। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'वेणीसंहार' है। अन्य नाटककारों में मुरारि, जयदेव और राजशेखर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मुरारि का एकमात्र ग्रन्थ 'अनर्घ राघव' है। जयदेव ने 'प्रसन्न राघव' की रचना की। राजशेखर ने छः ग्रन्थों की रचना की जिनमें 'बाल रामायण', 'बाल भारत', 'विद्धशालभञ्जिका' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने प्राकृत में कर्पूरमञ्जरी की रचना की। भीम के 'प्रतिमा चाणक्य' और 'दशानन स्वप्न' नामक नाटक नवीं शताब्दी में लिखे गये। शक्ति भद्र ने इसी काल में आश्चर्य चूडामणि नामक नाटक लिखा। हस्तिमल्ल नामक जैन लेखक ने भी इस काल में कई नाटक लिखे। क्षेमीश्वर ने इसी काल में चण्डकौशिक नामक नाटक लिखा।

महाकाव्य एवं नाटक के अतिरिक्त कथा साहित्य की भी इस युग में विशेष प्रगति हुयी। कथा-साहित्य की परम्परा तो बहुत पहले से ही चली आ रही थी। उपदेशात्मक कहानियाँ ही लिखी जाती रही। 'पञ्चतन्त्र' की कहानियाँ समाज में काफी प्रचलित थीं। 'पञ्चतन्त्र' के आधार पर ही 'हितोपदेश' की रचना हुयी। नारायणपंडित ने इसकी रचना की थी। संस्कृत-कथा-साहित्य में बृहत्कथा का

काफी ऊँचा स्थान है। गुणाढ्य इसका रचयिता था। यह ग्रन्थ पैशाची में लिखा गया था परन्तु मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसके तीन संस्कृतानुवाद प्राप्य हैं। पहला बुद्ध स्वामी का बृहत्कथा श्लोक संग्रह, दूसरा क्षेमेन्द्र की बृहत्कथा मञ्जरी तथा तीसरा सोमदेव का कथासरित्सागर।

इस युग में साहित्य के क्षेत्र में जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ वह काव्यशास्त्र के क्षेत्र में। इसी युग में काव्य शास्त्र को पूर्णता प्राप्त हुयी। काव्य शास्त्र के प्रथम आचार्य भामह हैं जो कश्मीर के निवासी थे। इनका समय सातवीं शताब्दी के मध्य में माना जाता है। इन्होंने 'काव्यालंकार' लिखकर अलंकार सम्प्रदाय का प्रतिष्ठापन किया। अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायियों में उद्भट तथा रुद्रट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उद्भट का समय आठवीं शताब्दी माना जाता है। ये काश्मीर निवासी और काश्मीर नरेश के सभापण्डित थे। इनके ग्रन्थ का नाम 'भामह विवरण' है। रुद्रट भी काश्मीर के निवासी थे। काव्यमीमांसा लिखकर इन्होंने अलंकार शास्त्र को प्रौढ़ किया। पर धीरे-धीरे अलंकार सम्प्रदाय का लोप होने लगा और काव्य की आत्मा अलंकार को न मान कर रीति को माना जाने लगा। परन्तु रीति सम्प्रदाय के वास्तविक संस्थापक आचार्य वामन हैं जिन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की कि रीति ही काव्य की आत्मा है। पुनः रीति की व्याख्या करते हुए इन्होंने बतलाया है कि विशिष्ट पद रचना ही रीति है। ये काश्मीर नरेश जयापीड के मन्त्री थे। परन्तु रीति सम्प्रदाय भी अधिक दिनों तक नहीं चल सका और काव्य की आत्मा के अन्वेषकों ने एक नवीन सम्प्रदाय का प्रतिष्ठापन किया, वह है रस सम्प्रदाय। वास्तव में रस-सिद्धान्त कोई नवीन सिद्धान्त न था और इसका प्रतिपादन बहुत पहले ही भरत-मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में कर दिया था। इसी से प्रभावित होकर इस काल में कुछ ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने रस को ही काव्य की आत्मा घोषित करके रससिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इन आचार्यों में भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। किन्तु इन विचारों को भी कुछ आचार्यों ने स्थायित्व नहीं प्राप्त करने दिया और उन्होंने काव्य शास्त्र में एक सर्वथा नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। ये आचार्य ध्वनि को काव्य की आत्मा बताते हैं। 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ से इस मत का श्रीगणेश होता है। उक्त ग्रन्थ के रचयिता का नाम अज्ञात होने के कारण विद्वान् उसे वार्तिक कहते हैं।

काव्य शास्त्र के इतिहास का यह रचनात्मक काल भामह से आनन्दवर्द्धन तक अर्थात् सातवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी के अन्त तक चलता है। इस समय अभिनवगुप्त, कुन्तल या कुन्तक, रुद्रभट, धनंजय तथा मम्मट आदि आचार्यों का आविर्भाव होता है। यहाँ हमें सर्व प्रथम कुन्तक पर विचार कर लेना चाहिए

क्योंकि इन्होंने काव्यशास्त्र में एक नवीन सम्प्रदाय वक्रोक्ति सम्प्रदाय का प्रचार किया। वास्तव में इन्होंने भामह के वक्रोक्ति अलंकार के आधार पर ही वक्रोक्ति सिद्धान्त को पल्लवित किया। यही अपने सिद्धान्त के प्रणेता एवं अन्तिम आचार्य भी थे। इनके ग्रंथ का नाम 'वक्रोक्ति जीवित' है। ये भी काश्मीर के रहनेवाले थे। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में काश्मीर में अभिनव गुप्त नामक आचार्य हुए जिनका ग्रन्थ 'लोचन' (ध्वन्यालोक लोचन) के नाम से प्रसिद्ध है। ये ध्वनि सम्प्रदाय के समर्थक थे। इस युग के अन्तिम सुप्रसिद्ध आचार्य मम्मट हैं। ये भी काश्मीरनिवासी थे। इन्होंने ध्वनि सम्प्रदाय का समर्थन अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' में इस विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया कि इस सिद्धान्त के विरुद्ध फिर किसी को कुछ बोलने का साहस नहीं हुआ। इसीलिए इन्हें 'ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य' की उपाधि प्रदान की गयी। मम्मट से ही काव्य शास्त्र के इतिहास का अन्तिम काव्य शास्त्रीय स्थिति का प्रारम्भ होता है।

उपर्युक्त विवरण से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग काव्यशास्त्र पर जितना कार्य हुआ उतना इसके पूर्व या बाद में निश्चय ही नहीं हुआ। काव्यशास्त्र के साथ-साथ छन्द शास्त्र के क्षेत्र में भी कार्य होते रहे। छन्द शास्त्र के प्रणेता पिंगल माने जाते हैं। 'पिंगल-सूत्र' इस विषय का प्रामाणिक ग्रन्थ है। कालिदास ने 'श्रुतबोध' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। हेमचन्द्र का छन्दानुशासन, दामोदर मिश्र का वाणीभूषण, केदार भट्ट का वृत्त रत्नाकर आदि अन्य सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

दर्शन साहित्य

केवल ललित साहित्य के क्षेत्र तक ही इस युग की साहित्यिक प्रगति सीमित नहीं रही, दार्शनिक साहित्य की भी इस समय काफी उन्नति हुयी। दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य हुआ। यद्यपि इस युग के अधिकांश दर्शन ग्रन्थ टीकाएं हैं तथापि उनके रचयिताओं की मौलिक प्रतिभा पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन तीनों धर्म के दार्शनिकों ने अपने-अपने ज्ञान का प्रकाशन विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया। ब्राह्मण दर्शन की विभिन्न शाखाओं के दार्शनिकों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी देना यहाँ सम्भव नहीं है। अतः केवल उनका एवं उनके ग्रन्थों का नामांकन करके ही हमें आगे बढ़ जाना पड़ेगा।

इस काल के प्रमुख नैयायिक हैं 'न्यायवार्तिक' के रचयिता, उद्योतकर 'न्याय-वार्तिक' के सुप्रसिद्ध टीकाकार "तात्पर्यटीका" के तथा 'न्यायसूचीनिबन्ध' के प्रणेता विभिन्न दार्शनिक विचार धाराओं के महापण्डित वाचस्पति मिश्र, चार्वाक, बौद्ध, मीमांसा तथा वेदान्त मतों के सुप्रसिद्ध खण्डनकर्त्ता एवं न्यायमञ्जरी के रचयिता

जयन्त भट्ट, नैयायिक नरेश महापण्डित उदयनाचार्य जिन्हें यह दावा था कि जिस प्रकार जिस दिशा में सूर्य उदय होता है वही पूर्व दिशा कहलाती है। उसी प्रकार उदयनाचार्य ने जो कुछ कहा, वही सत्य है। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिसमें 'तात्पर्य परिशुद्धि', 'लक्षणावली', बौद्ध धिक्कार', 'न्यायकुसुमांजलि' आदि प्रसिद्ध हैं। न्याय शाखा के दो अन्य आचार्यों का उल्लेख भी आवश्यक है। वे हैं 'न्यायसार' के प्रणेता भासर्वज्ञ तथा बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में होनेवाले सुप्रसिद्ध दर्शन ग्रन्थ 'तत्त्व चिन्तामणि' के रचयिता गंगेश उपाध्याय।

कणाद द्वारा प्रतिपादित वैशेषिक दर्शन को आगे बढ़ाने के लिए इस युग में अनेक विद्वानों एवं दर्शन महारथियों ने एड़ी-चोटी का जोर लगाया। इनमें 'व्योमवती' के रचयिता व्योम-शिवाचार्य, पूर्व उल्लिखित उदयनाचार्य जिन्होंने वैशेषिक दर्शन के प्रसिद्ध टीका-ग्रन्थ किरणावली की रचना की। श्रीधराचार्य का 'न्यायकन्दली' सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। वैशेषिक सिद्धान्तों का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ न्याय लीलावती के रचयिता वल्लभाचार्य तथा सप्तपदार्थी के प्रणेता शिवादित्य मिश्र आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन की भाँति सांख्य एवं योग के क्षेत्र में भी पर्याप्त उन्नति हुयी। वाचस्पति मिश्र ने भी सांख्यशास्त्र पर 'सांख्यत्त्वकौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना की। दूसरे विद्वान् दार्शनिक थे गौड़पाद जिन्होंने सांख्यकारिका पर एक महत्त्वपूर्ण भाष्य 'गौड़पाद भाष्य' की रचना की। योगदर्शन के क्षेत्र में भी कुछ आचार्यों ने कार्य किया। बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न महापण्डित वाचस्पति मिश्र ने इस क्षेत्र में भी कार्य किया है और उनका ग्रन्थ 'तत्त्ववैशारद' था। प्राचीनतम योगसूत्र ग्रन्थ 'व्यासभाष्य' की सुन्दर टीका है। अन्य आचार्यों में योगवार्तिक तथा योगसारसंग्रह के रचयिता विज्ञानभिक्षु, पातञ्जल रहस्य के रचयिता राघवानन्द सरस्वती, राजमार्तण्ड के रचयिता भोज, वृत्ति के रचयिता भावागणे, 'मणिप्रभा' के प्रणेता रामानन्द पति, योगचन्द्रिका के लेखक अनन्त पण्डित, त्यागसुधाकर के रचयिता सदाशिव सरस्वती नागोज भट्ट आदि का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि इस युग में टीकाओं का ही बाहुल्य रहा। दर्शन साहित्य के इतिहास में इसे टीकाकाल कहें तो अनुचित न होगा।

इस युग में मीमांसा दर्शन के क्षेत्र में भी पर्याप्त कार्य हुआ। कुमारिल भट्ट को ही इस युग का स्तम्भ मानना चाहिए। ये शंकराचार्य जी के पूर्ववर्ती थे। इन्होंने बौद्धधर्म को दबाकर हिन्दूधर्म के पुनरुत्थान में बड़ा योग दिया। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक; टुप्टिका आदि। इनके शिष्यों में मण्डन मिश्र

विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने 'विधि-विवेक, भावना-विवेक, विभ्रम-विवेक' आदि की रचना की। द्रम्बेक दूसरे महत्त्वपूर्ण शिष्य थे। इन्होंने कई सुप्रसिद्ध ग्रन्थों की टीकाएँ की जिनमें 'श्लोक वार्तिक', 'तात्पर्य टीका' अधिक प्रसिद्ध हैं। सिद्धान्त के पोषकों एवं उनके टीकाकारों में पार्थसारथि मिश्र, माधवाचार्य तथा खण्डदेव अधिक विख्यात हैं। मीमांसा दर्शन में नव प्राण फूँकने वालों में श्रीप्रभाकर मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि ये कुमारिल भट्ट को अपना गुरु मानते थे। इनकी अद्वितीय प्रतिभा से प्रभावित होकर ही कुमारिल भट्ट ने इन्हें गुरु की उपाधि प्रदान की थी और तब से इनका मत गुरुमत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु कुछ लोग इन्हें कुमारिल का पूर्ववर्ती मानते हैं। पूर्ववर्ती शताब्दी इनका समय माना जाता है। गुरुमत के आचार्यों में शालिकनाथ, भवनाथ, मुरारि मिश्र, नन्दीश्वर आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

भारतीय दर्शन को विश्व में गौरव प्रदान का श्रेय वेदान्त दर्शन को ही दिया जा सकता है। वेदान्त दर्शन का सूत्रपात बहुत प्राचीन समय में ही हो चुका था और महर्षि बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्रों' की रचना करके इसकी प्रतिष्ठा की थी। इस काल में अनेक आचार्यों ने वेदान्त दर्शन के सम्बन्ध में अपने मत का प्रतिपादन किया। वासुदेव उपाध्याय के अनुसार इन आचार्यों, उनके भाष्य तथा मत का खाका इस प्रकार है[1] :—

नाम	भाष्य	मत
१. शंकराचार्य (७८८–८२० ई०)	शारीरक भाष्य	अद्वैत
२. भास्कर (१००० ई०)	भास्कर भाष्य	भेदाभेद
३. रामानुज (११४० ई०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४. आनन्दतीर्थ (१२३८ ई०)	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत
५. निम्बार्क (१२५० ई०)	वेदान्त पारिजात	द्वैताद्वैत

उपर्युक्त वादों के अनेक समर्थक आचार्य हुए और उन्होंने अपने मान्य मत को आगे बढ़ाया। फलतः बड़े-बड़े दर्शन ग्रन्थों की रचना हुयी जिससे इस काल की उन्नति हुयी।

उपयोगी साहित्य

ललित साहित्य के अतिरिक्त उपयोगी साहित्य के क्षेत्र में इस काल में पर्याप्त कार्य हुआ था। साहित्य सृजन के लिए कोष का बहुत बड़ा महत्त्व है, अतः पहले इसका भी उल्लेख आवश्यक है। संस्कृत साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखने

१. वासुदेव उपाध्याय, पूर्वमध्यकालीन भारत।

वाला लगभग आठवीं शताब्दी में विक्रम की सभा के नवरत्न अमरसिंह द्वारा रचित 'अमरकोश' सम्भवतः अपने ढंग का पहला ग्रन्थ है। तत्पश्चात् पुरुषोत्तम देव ने 'त्रिकाण्ड शेष' और 'हारावली' नामक शब्दकोषों की रचना की। इनके अतिरिक्त कोशकारों में 'अनेकार्थ समुच्चय' के रचयिता शाश्वत, अधिानरत्नमाला के प्रणेता हलायुध, वैजयन्ती के रचयिता यादव प्रकाश तथा अभिधानचिन्तामणि और देशीनाममाला के लेखक हेमचन्द्र अधिक विख्यात हैं। धारा के राजा भोज ने 'नाममालिका' नाम का संग्रह लिखा। माहेश्वर ने 'विश्व प्रकाश' और मंख ने अनेकार्थ-कोश की रचना की। हेमचन्द्र ने गुजरात में चार कोश लिखे जो निम्न हैं :—अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह, निघण्टुशेष एवं देशीनाममाला। श्री स्वामी ने इसी काल में अमरकोश पर अपनी टिप्पणी लिखी।

व्याकरण

व्याकरण ग्रन्थों की रचना भी इस काल में विशेष रूप से हुयी। पाणिनि की अष्टाध्यायी की प्रतिष्ठा प्राचीन समय से स्थापित हो चुकी थी और यही संस्कृत व्याकरण का प्राण बनकर आज तक प्रचलित है। परन्तु उक्त ग्रन्थ की रचना के बाद संस्कृत में अनेक नये शब्दों की उत्पत्ति हुयी जिनकी व्याख्या आवश्यक थी। अतः इस काल में कुछ वैयाकरणों ने मौलिक तथा टीका ग्रन्थों की रचना की। जयादित्य और वामन ने पाणिनि की अष्टाध्यायी की टीका काशिकावृत्ति लिखी और उक्त टीका की बौद्ध पण्डित जिनेन्द्र बुद्धि ने न्यास के नाम से टीका लिखी। एक अन्य बौद्ध विद्वान् शरणदेव ने ११७२ ई० में दुर्घट वृत्ति नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। परन्तु उक्त ग्रन्थों की उपयोगिता मौलिक विद्वानों तक ही सीमित थी; सर्वसाधारण उनसे लाभान्वित नहीं हो सकते थे। अतः कुछ विद्वानों ने अन्य ग्रन्थों की रचना कर इस अभाव को दूर करने का सफल प्रयास किया।

पाणिनीय व्याकरण के समय में पाणिनीय तथा अन्य सम्प्रदायों का उदय हो चुका था जिन्होंने नये व्याकरणों का प्रणयन कर नया मार्ग प्रशस्त किया। ६०० ई० के लगभग चन्द्रगोमिन ने चान्द्रव्याकरण की रचना की और इसकी स्वयं टीका भी लिखी। बौद्ध भिक्षु काश्यप ने 'बालावबोधन' नाम से १२०० ई० में एक ग्रन्थ लिखा। इस ओर बौद्धों के अतिरिक्त जैनियों ने भी उत्साह प्रदर्शित किया। जितेन्द्र ने जितेन्द्र व्याकरण, शाकराय ने शाकरायन व्याकरण ११५० ई० में क्रमधीश्वर ने संक्षिप्त सार और १२५० ई० में बोपदेव ने मुग्धबोध व्याकरण लिखा। संस्कृत व्याकरणों के अतिरिक्त प्राकृत भाषा के भी व्याकरण इस युग में लिखे गये जिनमें चण्ड का प्राकृत लक्षण, जैनाचार्य हेमचन्द्र ने उणादि सूत्रवृत्ति और लक्ष्मीधर का शम्भू रहस्य आदि उल्लेखनीय हैं।

आयुर्वेद

व्याकरण की भाँति आयुर्वेद का क्षेत्र भी उक्त काल में पुष्पित और पल्लवित हुआ। धन्वन्तरि इस विद्या के आदि आचार्य माने जाते हैं। आत्रेय, काश्यप, हारीत, अग्निवेश आदि प्राचीन ऋषि सभी इस विद्या के पारंगत स्वीकार किये जाते हैं। चरक की 'चरकसंहिता' इस विद्या का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसकी टीका लगभग ८०० ई० में अरबी भाषा में हुयी। सुश्रुत द्वारा विरचित सुश्रुत संहिता की प्रसिद्धि नवीं शताब्दी में कम्बोडिया से लेकर अरब तक फैली थी। चक्रपाणि दत्त ने उक्त ग्रन्थ की ग्यारहवीं शताब्दी में टीका लिखी। वृद्ध वाग्भट् ने 'अष्टांगहृदय' और 'अष्टांगहृदय संहिता' दो ग्रन्थों की रचना की। माधवकर ने 'रुग्विनिश्चय' का प्रणयन किया जो 'माधवनिदान' के नाम से विख्यात है। सिद्धियोग या वृन्दमाधव के प्रणेता वृन्द का भी उदय इसी काल में हुआ था जो निदान का सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ है। सन् १०६० ई० में चक्रपाणिदत्त ने चरक और सुश्रुत पर टीका लिखी और चिकित्सा संग्रह नामक एक मौलिक रचना भी की।

१२०० ई० के निकट शार्ङ्गधर ने 'शार्ङ्गधर संहिता' और १२२४ ई० में मिल्हण ने चिकित्सामृत की रचना की। बोपदेव ने इस ग्रन्थ की टीका लिखी। आठवीं शताब्दी में नागार्जुन ने रस रत्नाकर लिखा। इसी काल में लगभग १२०० ई० में रसार्णव रचा गया। नित्यानाथ ने 'रस रत्नाकर', रामचन्द्र ने रसेन्द्र चिन्तामणि १०७५ ई० में सुरेश्वर ने 'शब्द प्रतीप' की रचना की। मदनपाल ने मदन निघण्टु लिखा। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इन आचार्यों ने अनेक मौलिक सिद्धान्तों का अनुसंधान किया और विश्व को अद्भुत देन दी। त्रिदोष सिद्धान्त, नाड़ी-विज्ञान, शल्य-शिकित्सा और रसेश्वर के सिद्धान्त विशेषकर उल्लेखनीय हैं जिन्हें विश्व ने भारत से प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त पारा-भस्म बनाने की प्रक्रिया अर्थात् आलकेमी अनुसंधान भी हुआ था। परमार राजा भोज ने घोड़ों की चिकित्सा पर 'शालिहोत्र' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा।

विभिन्न शास्त्र

संगीत शास्त्र का प्रारंभ सामवेद से माना जाता है। भरत का नाट्यशास्त्र, संगीत शास्त्र का आदि ग्रन्थ माना जाता है। इस युग में इस क्षेत्र में कई ग्रन्थ लिखे गये। शार्ङ्गदेव ने संगीत रत्नाकर का प्रणयन किया। दामोदर गुप्त ने संगीत दर्पण लिखा। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त संगीत शास्त्र में अन्यान्य ग्रन्थों की रचना का उल्लेख मिलता है परन्तु अभाग्यवश वे रचनाएँ अबतक प्राप्त नहीं हो सकीं।

संगीत शास्त्र के बाद हम काम शास्त्र पर दृष्टिपात करते हैं। इसमें भी हमें अन्य क्षेत्रों के समान प्रगति मिलती है। वात्स्यायन इस विषय के प्रधान आचार्य

माने जाते हैं। ज्योतिरीश्वर ने पंचशामक नामक ग्रन्थ की रचना इसी युग में की। दामोदर गुप्त ने 'कुट्टनीमत्तम्', जयदेव ने रतिमञ्जरी तथा कल्याणमल ने अनंग रंग लिखा। नागार्जुन ने रतिशास्त्र नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया।

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में भी अधिक उन्नति हुयी। कामन्दक ने नीतिसार लिखा। दसवीं शताब्दी में 'नीति वाक्यामृत' की रचना सोमदेवसूरि ने की। हेमचन्द्र ने 'लघु अर्हन नीति' का प्रणयन राजनीति शास्त्र पर किया। भोज ने 'मुक्तिकल्प तरु' और चण्डेश्वर ने 'नीति रत्नाकर' की रचना की। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अर्थ और नीतिशास्त्र की बहुत सी बातें काव्यशास्त्र में बिखरी पड़ी हैं। 'माघ' किरातार्जुनीय 'दशकुमारचरित' तथा 'मुद्राराक्षस' इसके लिए उल्लेखनीय हैं।

परमार राजा भोज ने 'युक्तिकल्पतरु' नामक राजनीति विषयक ग्रन्थ लिखा। इसमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समान न्याय, शासन, सेना, जहाज, भवननिर्माण आदि की विवेचना विस्तार से की गयी है। सोमेश्वर के मानसोल्लास में भी इन विषयों का पर्याप्त विवेचन है। पशुशास्त्र में भी कई ग्रन्थ इस युग में रचे गये। हस्ति चिकित्सा के विषय में आचार्य पालकाव्य को ही माना जाता है जिन्होंने हस्त्यायुर्वेद या गजायुर्वेद ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त 'गजचिकित्सा', 'गजदर्पण' तथा 'गजपरीक्षा' की रचना इन्हीं की मानी जाती है। नारायण ने 'मातंग लीला' और बृहस्पति ने गजलक्षण तथा गोवैद्य शास्त्र लिखा। अश्वचिकित्सा में शालिहोत्र ने शालिहोत्र शास्त्र तथा अश्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा। गण ने अश्वायुर्वेद, जयदत्त ने अश्ववैद्यक, वर्धन ने योगमञ्जरी, नकुल ने अश्वचिकित्सा, भोज ने शालिहोत्र, भल्लिनाथ की हय लीलावती की रचना इसी काल की मानी जाती है। इस पशु चिकित्सा के साथ-साथ पशु ज्ञान और कृषि-शास्त्र का भी अध्ययन हमारे आचार्यों ने इस युग में किया और कई एक ग्रन्थ भी इन्हीं विषयों पर लिखे। जैन पंडित हंसदेव ने मृगपक्षि शास्त्र की रचना की। 'मृगयाशास्त्र' पर भी अन्यान्य रचनाएँ हुयीं जिनकी उपलब्धि दुर्भाग्यवश आज नहीं है।

इन शास्त्रों के अतिरिक्त रत्न शास्त्र, वीर्यशास्त्र, धातु विज्ञान, भवन निर्माण-शास्त्र, शिल्प शास्त्र आदि में भी ग्रन्थ इस काल में लिखे गये। विमान बनाने की कला पर राजा भोज का 'समरांगण सूत्रधार' नामक ग्रन्थ पाया जाता है। 'विमान-विद्या' और 'विमान-लक्षण' नामक दो अन्य ग्रन्थों की भी उपलब्धि होती है। मूर्ति निर्माण-कला में भी कई ग्रन्थ पाये गये हैं जिनमें तत्सम्बन्धी कला पर प्रकाश डाला गया है। 'नौ-शास्त्र' ग्रन्थ नौ-निर्माण कला को स्पष्ट करता है।

रीतिग्रन्थ

परमार राजा भोज ने श्रृंगार प्रकाश और सरस्वती कण्ठाभरण नाम के दो

रीति ग्रन्थ लिखे। अलंकार साहित्य में सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ रुय्यक की अलंकार सर्वस्व है। हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में अलंकार का पूर्ण विवेचन किया गया है। रामचन्द्र का नाट्य दर्पण, केदार ने वृत्तरत्नाकर और हेमचन्द्र की छन्दानुशासन प्रसिद्ध पुस्तक है। काव्य दर्पण भी इस काल का प्रसिद्ध रीति ग्रन्थ है पर इसके लेखक का नाम अज्ञात है।

प्राकृतग्रन्थ

जैन लेखकों ने इस युग में जैन महापुरुषों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनमें धनेश्वर का सुरसुन्दरी चरित, गुणचन्द्र का महावीर चरित और वर्धमान का महावीर चरित उल्लेखनीय हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में शान्तिसुरी, देवेन्द्रमणि और अभयदेव ने जैनधर्म ग्रन्थों पर भाष्य लिखे। इस युग का सबसे प्रसिद्ध जैन लेखक हेमचन्द्र था। भारतीय भाषाओं के विकास में प्राकृत का विशेष महत्त्व है क्योंकि प्राकृत से ही अपभ्रंश का विकास हुआ। अपभ्रंश की उत्पत्ति सम्भवतः उत्तर पश्चिमी भारत में हुयी तथा वहाँ से वह देश के अन्य भागों में विकसित हुयी।

गणित

गणित शास्त्र में भी भारत बड़ा समृद्ध था। अंकक्रम का विकास जिसे दशमलव-पद्धति कहते हैं हमारे आचार्यों के मस्तिष्क की वस्तु है। सर्वप्रथम यह पद्धति हमारे यहाँ से उत्पन्न हुयी। गणित-शास्त्र के अनेक विभागों—अंकगणित, रेखागणित, त्रिकोणमिति, चलनगणित, स्थिति-शास्त्र (Statics), तथा गतिशास्त्र (Dynamics) में हमारे विद्वान् पारंगत थे। वराहमिहिर, श्रीधराचार्य और भास्कराचार्य के ग्रन्थों से अंकगणित का ज्ञान प्राप्त होता है जिसका उल्लेख उन्होंने किया है। ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में गणिताध्याय तथा कुतुकाध्याय एवं सिद्धान्त शिरोमणि में लीलावती खण्ड में इस गणित का अनुशीलन किया गया है। बीजगणित का सूत्रपात हमारे यहाँ पहले से ही हो गया था और इस युग में हमारे आचार्य इस गणित से अभिज्ञ थे। इसे यूनानियों की देन कहना मिथ्या है। रेखागणित का प्रयोग वैदिक काल में ही यज्ञ की वेदी का निर्माण करने में किया जाता था। पाइथागोरस का सिद्धान्त यूरोप से पहले ही हमारे यहाँ प्रचलित था। त्रिकोणमिति में वाचस्पति ने चापीय धनक्षेत्र निकालने का साधन मौलिक रूप से प्रतिपादित किया है। भास्कराचार्य ने न्यूटन से बहुत पहले ही चलन गणित का प्रयोग ज्योतिष में किया था। ग्रहमण्डल तथा भूगोल सम्बन्धी गतिशास्त्र का भी परिचय भारतीयों को पहले से प्राप्त था।

ज्योतिषशास्त्र

प्राचीन काल में ज्योतिषशास्त्र में भी खूब प्रगति हुयी थी। आर्यभट्ट ने दो

ज्योतिष ग्रन्थों की रचना की थी। उसके बाद बराहमिहिर का नाम आता है जिसने 'पंचसिद्धान्तिका' वृहत्संहिता और बृहज्जातक तीन ग्रन्थों की रचना कर ज्योतिषशास्त्र में नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ब्रह्मगुप्त ने ६२८ ई० के लगभग 'ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त' तथा ६६५ ई० में 'खण्डखाद्यक' का प्रणयन किया। उसने पृथ्वी के घूमने का सिद्धान्त निकाला जिसे यूरोप के विद्वानों ने बहुत समय बाद मालूम किया। लगभग ६५० ई० में लल्ला ने लल्लसिद्धान्त तथा शिष्यधी वृद्धि तन्त्र की रचना की। भास्कराचार्य ने दूसरे ग्रन्थ की टीका लिखी। इसके अतिरिक्त ६०२ ई० के आस-पास चतुर्वेद पृथुच्छक स्वामी ने ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त की टीका लिखी। १०३८ ई० के लगभग सिद्धान्त शेखर और धी कोटिद की टीका श्रीपति ने तथा वरुण ने खण्ड खाद्यक की टीका की। १०५० ई० में भोज ने 'राजमृगांक', शतानन्द ने 'भास्वती और ब्रह्मदेव ने 'कारण प्रकाश' लिखा। भास्कराचार्य का उदय इस काल के अन्तिम दिनों में हुआ। उन्होंने 'सिद्धान्त शिरोमणि' नामक ग्रन्थ की रचना की जो ज्योतिष शास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त शिरोमणि, करण कुतूहल, 'करण केसरी' आदि कई ग्रन्थों का प्रणयन इन्होंने किया।

फलित ज्योतिष

ज्योतिष में फलित ज्योतिष में भी कई ग्रन्थों की रचना इस युग में हुयी। हम जानते हैं कि वराहमिहिर ने वृहत्संहिता और वृहज्जातक नामक दो ग्रन्थों की रचना की। पृथुयश्य ने ही रावट् पंचाशिका नामक ग्रन्थ लिखा जिसकी टीका दसवीं शताब्दी में भट्टोत्पल ने की। १०३६ ई० में श्रीपति ने रत्नमाला और जातक पद्धति नाम के दो ग्रन्थ लिखे। इसके बाद इस ज्योतिष की निरन्तर प्रगति होती रही।

धर्म साहित्य

धर्म साहित्य में हमारे प्राचीन आचार्यों ने इतनी रचना कर दी कि उसके बाद के आचार्यों के लिए लिखने योग्य कोई क्षेत्र छूट ही नहीं गया था। अतः इस युग में विद्वानों ने उन्हीं धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया और उन पर भाष्य लिखे। प्रसिद्ध भाष्यकार मेधातिथि तथा टीकाकार विज्ञानेश्वर ने मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका इसी काल में की। विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा तथा जीमूतवाहन के 'दायभाग' इसी युग की देन है। इनके अतिरिक्त असहाय विजरूप, धारेश्वर, भावदेव भट्ट आदि प्रकाण्ड विद्वानों का आविर्भाव इसी युग में हुआ जिन्होंने अपनी टीकाओं और भाष्यों द्वारा धर्मसाहित्य के कोष को बढ़ाया।

दसवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के बीच प्राचीन धर्मग्रन्थों पर अनेक भाष्य लिखे गये। इन भाष्यों में धर्मशास्त्र के नियमों की इस प्रकार व्याख्या की गयी कि उनके नियम तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल हो सके। इस काल के धर्मशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध लक्ष्मीधर भट्ट का 'कृत्यकल्पतरु' है। लक्ष्मीधर कन्नौज के राजा जयचन्द का मन्त्री था।

व्याख्याकार

इस काल के व्याख्याकारों में असहाय का नाम प्रमुख है। इन्होंने मनुस्मृति पर भाष्य लिखा था। सम्भवतः इन्होंने गौतम धर्मसूत्र की भी टीका की थी। भर्तृयज्ञ ने कात्यायनश्रौतसूत्र की टीका की। पारस्कर गृह्यसूत्र का सबसे प्राचीन टीकाकार इन्हीं को माना जाता है। विश्वरूप इस काल के मीमांसा शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। आपने याज्ञवल्क्यस्मृति पर 'बालक्रीड़ा' नामक टीका लिखी। मारुचि नामक टीकाकार का समय इसी काल में था जिन्होंने सम्भवतः विष्णुधर्मसूत्र' पर कई टीकाएँ लिखीं। मेधातिथि ने मनुस्मृति पर बहुत गम्भीर भाष्य लिखा है। इनकी अन्यतम रचना 'स्मृतिविवेक' मानी जाती है। भोज ने दो साहित्य ग्रन्थ 'श्रृंगार-प्रकाश' और 'सरस्वती कण्ठाभरण' के अतिरिक्त ज्योतिष में राजमृगांक और धर्म-शास्त्र में राजमार्तण्ड का प्रणयन किया।

कला

भवननिर्माण

इस युग में मठ, शिक्षालय, भवन आदि का निर्माण कला के दृष्टिकोण से बहुत उत्तम कोटि का था। मकान कई मंजिलों के बनते थे। तत्कालीन ऐलोरा का मठ आज भी उस काल की कला को प्रदर्शित कर रहा है। नालन्दा विश्वविद्यालय इसी काल का है। ये भवन कई मंजिल के होते थे और इनकी संख्या तथा आकार भी बहुत बड़ा था। यहाँ के विद्यार्थियों के पढ़ने, रहने तथा सोने के लिए सुन्दर भवन का निर्माण हुआ था।

शुद्ध नागर शैली के मन्दिर खजुराहो और उड़ीसा के हैं। मध्यप्रदेश में स्थित खजुराहो का मन्दिर समूह शिल्प सौन्दर्य का अद्भुत नमूना है। इन मन्दिरों में भूमितल पर गर्भगृह, अन्तराल, महामण्डप और अर्द्धमण्डप ये पाँच भाग हैं जो एक जगती पर निर्मित हैं। इनकी बनावट ऐसी है कि ये भाग अलग-अलग नहीं मालूम पड़ते बल्कि पूरा मन्दिर ही एक मूर्ति जैसा लगता है। इसकी दीवारों में क्रमिक ओला जलता और कपोत तथा मूर्ति सहित रचिकाएँ बनी हैं, शिखर तिरछी रेखाओं से बना है जिन पर छोटे-छोटे उपशिखर उसका सूनापन दूर करते हैं। बाहर से भीतर तक अर्द्धनग्न, अनेक नृत्य और भावमुद्राओं सहित अपरिमित

नारी मूर्तियों एवं रति चित्रों का अनुपम अलंकरण है। उड़ीसा के मन्दिरों में विकास के कई क्रम दिखाई पड़ते हैं और पूर्ण विकसित मन्दिर आर्य या नागर शैली के होते हुए भी कुछ ऐसी विशेषता रखते हैं कि उनकी एक अलग शैली—कलिंग शैली बन गई है। इन मन्दिरों में भी भव्यता और अलंकरण वैसा ही है जैसा खजुराहो के मन्दिरों में बल्कि और अधिक सूक्ष्म। इनका गर्भगृह भी चौकोर है तथा शिखर की रेखाएँ ऊपर की ओर सीधी चली गयी हैं तथा केवल शीर्ष के पास झुकती है। उपशिखरों के स्थान पर उनमें भूमि-आमलक बने हुये हैं। नारी, पशु, अर्द्धमानव, शार्दूल और नाग-मूर्तियों तथा अनेक प्रकार के रति चित्र और पत्रावली आदि के मनमोहक अलंकरण हैं। इनके भी भूमितल पर गर्भगृह, रंग-मण्डप, नाट्यमण्डप तथा भोगमण्डप चार भाग हैं जिनमें रंगमण्डप का शिखर गर्भ गृह के मुख्य शिखर से भिन्न पीढ़ा प्रकार है। मुख्य शिखर को रेखामण्डप कहते हैं। ये सब अलग-अलग मालूम पड़ते हैं और इनमें खजुराहो के मन्दिरों जैसी एकता नहीं है। इनके सुन्दरतम उदाहरण उड़ीसा का कोणार्क मन्दिर तथा पुरी का जगन्नाथ मन्दिर है।

तीसरी शैली पर्वतीय है जिसमें काश्मीर, नेपाल तथा अन्य पर्वतीय प्रदेशों एवं जोधपुर का एक मन्दिर है। इनमें से कुछ एक चट्टान को काटकर बनाये गये हैं और कुछ जोड़कर।

नागर शैली में दसवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक बने मन्दिर भुवनेश्वर (उड़ीसा), खजुराहो (मध्यप्रदेश), उदयपुर में उदयेश्वर का मन्दिर प्रमुख हैं। सोलंकी राजाओं ने दसवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी के बीच बहुत से मन्दिर बनवाये जिनमें सबसे प्राचीन चार मन्दिर अन्हिलवाड़ा के पास मिले हैं। आबू पर्वत पर विमलशाह का जैन मन्दिर १०३२ ई० में बनवाया गया। बारहवीं शताब्दी के मन्दिरों में सिद्धपुर का रुद्रमाल और कुमारपाल द्वारा निर्मित सोमनाथ का मन्दिर सुन्दर कृतियाँ हैं। ग्वालियर किले के अन्दर तेलीमन्दिर, सासबहू का मन्दिर देखने लायक है। बंगाल के सेन वंश के राजाओं द्वारा निर्मित मन्दिर काफी अच्छे थे पर अब सब अच्छी दशा में नहीं हैं।

तक्षण कला

तक्षण कला का प्रादुर्भाव काल बहुत प्राचीन है। गुप्त काल में यह कला अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गयी थी। इसी कला में थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर इस काल में इसका विकास हुआ। इस काल में तान्त्रिक मतों का काफी प्रचार हुआ जिससे उसका प्रभाव तत्कालीन कला पर पड़ा। बौद्ध तथा हिन्दू प्रतिमाओं पर भी इसका प्रभाव पड़ा।

इस कला में स्थान और समय के अनुसार कई शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। बिहार, बंगाल, राजपुताना, गुजरात, उड़ीसा आदि स्थानों पर भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न शैलियों का जन्म हुआ। पश्चिम भारत में पश्चिमी शैलियों का उद्भव हुआ जिसमें गुजराती और राजपूत दो स्कूल आते हैं। गुजराती स्कूल में प्रतिमाओं का स्वरूप नवीन हो गया। शरीर तथा अंग को धनुषाकार निर्मित करना इसी स्कूल की विशेषता है। राजपूत स्कूल में प्राचीनता लिये हुये प्रतिमाओं का सृजन हुआ जिनमें यौवन का प्रस्फुटन रहता था। इसके अतिरिक्त चन्देल तथा हैहय स्कूलों का समावेश होता है जिनमें मनोविज्ञान का प्राधान्य है। इसमें आवृतियों का स्वाभाविक गुण समाविष्ट होता है। मनुष्य की मूर्ति के साथ-साथ पशुओं की भी आकृतियाँ इस स्कूल में बनीं। उत्तरी भारत में सारनाथ शैली की प्रतिमाएँ आती हैं जिनमें चुनार प्रस्तर प्रयुक्त होते हैं। बिहार और बंगाल में राष्ट्रीय भावना की संकीर्णता ने एक नवीन शैली को जन्म दिया जिसे पूर्ण भारतीय शैली या पाल स्कूल कहते हैं। इस शैली की विशेषता यह थी कि इसमें चिकने काले प्रस्तरों का प्रयोग होता रहा। इस युग में बौद्ध, जैन और हिन्दू देवी-देवताओं का स्वरूप बिखरा हुआ न होकर निश्चित हो गया जिसमें परिवर्तन का कोई साधन ही नहीं रह गया था। इस शैली में मूर्तियों का निर्माण चिकने काले प्रस्तरों, पीतल अथवा अष्ट धातु से होता था तथा साधनमाला के नियमानुसार उनकी बनावट पर ध्यान दिया जाता था। इनमें हस्तकला की अच्छी कारीगरी की जाती थी जो इस काल में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इस शैली में खड़ी तथा बैठी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं जिन्हें कमलासन पर बिठाया जाता था। दसवीं शताब्दी में काले पत्थरों पर स्वतन्त्र प्रतिमाएँ बनने लगीं जिसमें बीच में प्रधान मूर्ति तथा चारों ओर देवता कमलासन पर आसीन रहते थे। पालशैली की अधिकांश प्रतिमाएँ त्रिभंगी मुद्रा में प्राप्त होती हैं। प्रारम्भ में इस शैली के अन्तर्गत निर्मित प्रतिमाओं के चेहरे से आध्यात्मिकता प्रदर्शित होती थी परन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त तक इन चेहरों पर लौकिकता का समावेश होता गया और अश्लीलता भी प्रकट होती गयी। मुसलमान आक्रामकों के बंगाल पर आक्रमण करने से इस कला का अवसान हो गया।

मूर्ति निर्माण

कला की प्रगति इस काल में काफी हुयी। इस काल में जितनी मूर्तियाँ बनाई गयी वे 'साधन माला' में कथित नियमों के अनुसार बनायी गयी। शाक्त मत के प्रचार से शक्तियों का रूप मूर्तियों में ले लिया गया और इस प्रकार मूर्तियों के निर्माण की एक नई शैली का प्रादुर्भाव हुआ। लोगों ने चित्त एकाग्रता का एकमात्र

साधन मूर्तियों को ही माना तथा इन शक्तियों जैसे सूर्य; विष्णु, शिव, बुद्ध आदि की विभिन्नावस्था की मुद्राएं अनेक मुख अथवा अनेक हाथों के साथ सुसज्जित किया। इस काल में मूर्तियों की कुछ अपनी विशेषताएँ थीं जिनसे विभूषित होना उनके लिए वांछनीय था। प्रथम तो उनकी मन्दिरों की दिवालों में निर्मित ताखों में नियमित रूप से रखा जाता था और दूसरे प्रतिमाओं के कई हाथ और मुँह बनाये जाते थे। कुछ प्रतिमाएँ ऐसी भी होती थीं जिनके कई हाथ न दिखलाकर कुछ विशेष चिह्नों (शंख, चक्र, गदा, आदि) की आकृतियाँ बनायी जाती थीं।

इस काल की अधिकतर मूर्तियाँ मन्दिरों में मिलती हैं जिनमें धार्मिक प्रभाव अधिक हैं। वे अधिकतर कला की दृष्टि से इतनी उत्कृष्ट नहीं हैं। इस काल में पूर्वी उत्तर भारत में पाल शैली का विकास हुआ। इसमें काले चिकने पत्थर का प्रयोग किया गया। इस कला में एक विशिष्ट सादगी है। पाल शैली की पत्थर की और काँसे की मूर्तियों में कोई अन्तर नहीं पाया जाता। नालन्दा की अष्टधातु की अवलोकितेश्वर और कुर्किहार की तारा की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं।

सूर्य की प्रतिमा यद्यपि गुप्त काल से ही बननी प्रारम्भ हो गयी थी पर इस युग में इसकी बनावट में परिवर्तन आ गया। इस मूर्ति में डण्डी तथा पिंगल दो मूर्तियों के साथ उषा तथा प्रत्यूषा नामक दो देवियाँ भी जोड़ दी गयी हैं। कोणार्क का विशाल सूर्य मन्दिर उड़ीसा में तैयार किया गया था। विष्णुप्रतिमाएँ इस काल में बहुत संख्या में प्राप्त होती है। विष्णु के चौबीस अवतारों की मूर्तियाँ मिलती हैं जो खड़ी तथा कमलासन पर बैठी दोनों अवस्थाओं में है। बलराम; वराह, वामन, मत्स्य, नरसिंह आदि की मूर्तियाँ अलग-अलग तथा एक साथ बनी मिलती है। ग्यारहवीं शताब्दी की हैहय शासनकाल की बनी एक स्तम्भ पर विष्णु के अनेक अवतारों की प्रतिमाएँ मिली हैं जिसमें मत्स्य, बुद्ध, वामन, कल्कि की प्रतिमाएँ एक के ऊपर दूसरी स्थित हैं। एक अन्य स्तम्भ पर कूर्म, वराह और नरसिंह की मूर्तियाँ हैं। बंगाल में विष्णु की मूर्ति ललितासन में गरुड़ के साथ निर्मित मिली है। विष्णु मूर्ति में आयुधों का भी अंकन पाया जाता है। विष्णु मूर्ति में चतुर्भुजी रूप ही प्रायः प्रदर्शित किया गया है। कहीं-कहीं विष्णु और ब्रह्मा की सम्मिलित प्रतिमाएँ उपलब्ध हुयी हैं।

विष्णु के साथ-साथ शाक्त-मतानुसार शिव की लिंग पूजा का भी इस युग में अधिक प्रचार रहा। एक मुख अथवा चतुर्मुख लिंग की मूर्तियाँ शिव के आकार को प्रकट करने के लिए निर्मित हुयीं। शिव की नृत्य-मूर्ति सदाशिव, उमा-महेश्वर, कल्याण सुन्दर तथा अघोर रुद्र की मूर्तियाँ उपलब्ध हुयी हैं। पाल शैली में अर्द्धनारीश्वर की शिव मूर्ति को सौन्दर्य में स्थान दिया गया है। इस कारण-शिव-पार्वती की सम्मिलित प्रतिमा का प्रचार इस युग में खूब रहा।

शिव के अतिरिक्त गणेश और कार्तिकेय की भी पूजा इस युग में होती थी। इस कारण इनकी भी मूर्तियाँ अधिक संख्या में निर्मित हुयीं।

इन शक्तियों के बाद अन्यान्य देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का इस युग में सृजन हुआ। देवी-प्रतिमा बहुभुजी आकृति में प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त चण्डी, गणेशानी, सप्त मातृका आदि देवियों की मूर्तियाँ भी निर्मित हुयीं। रोग की देवी हारिती (शीतला), सर्पदेवी (मनसा), शक्तिमूर्ति (षष्ठी), गंगा और यमुना की मूर्तियाँ भी इस काल में प्राप्त होती हैं। वैदिक काल के कुबेर, यम, वरुण, इन्द्र, अग्नि, आदि देवता भी इस युग में प्रतिमाओं में समाहित कर दिये गये थे। इन हिन्दू प्रतिमाओं के अतिरिक्त जैन और बौद्ध दोनों धर्मों की प्रतिमाएँ भी इस युग की देन हैं परन्तु इनका परिमाण हिन्दू प्रतिमाओं की अपेक्षा बहुत ही कम रहा। जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ मिली हैं जिनके साथ यक्ष तथा यक्षिणी समाविष्ट किये गये हैं। प्रधान मूर्ति को २३ मूर्तियों के बीच में बनाया गया है। चेदि राज्य में इस धर्म की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं जो उनकी आराध्य शक्तियाँ हैं। बौद्ध धर्म में महायान तथा वज्रयान शाखाओं में तारा, अवलोकितेश्वर, बोधिसत्व, लोकेश्वर, जम्मल, हेव्रज आदि शक्ति प्रतिमाएँ मिलती हैं। कारण यह था कि बौद्ध धर्म पर हिन्दू मूर्ति पूजा का इतना पर्याप्त प्रभाव पड़ा कि बौद्धों की शक्तियाँ देवी-देवताओं के नाम से पुकारी जाने लगीं और फिर उन्हें प्रतिमा के रूप में सृजित कर दिया गया। इन प्रतिमाओं का सृजन प्रस्तरों के अतिरिक्त काँस्य, ताम्र आदि धातुओं से भी हुआ जिसके प्रमाण में कई मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। मिट्टी की मूर्तियों का भी बाहुल्य है।

मूर्तिकला की दृष्टि से यह काल गुप्तों की समानता नहीं कर सका। पालवंश के राजाओं ने अनेक सुन्दर मूर्तियों का निर्माण करवाया। बंगाल में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिमा 'उमा-महेश्वर' के नाम से पुकारी जाती है। यहाँ भी दक्षिण भारत की काँस्य प्रतिमा चतुर्भुजी नटराज के समान दसभुजी काँस्य मूर्ति मिली है जिसे विद्वानों ने नर्तकेश्वर का नाम दिया है। उड़ीसा में भी मूर्तियाँ बनाई गयीं। मध्य भारत में हैहय वंश के राजाओं के समय में ग्यारहवीं शताब्दी में मेहर के पास एक स्तम्भ पर विष्णु के अवतारों की मूर्तियाँ खुदी हैं। खजुराहो की मूर्तियाँ श्रृंगार रस प्रधान है। ये मूर्तियाँ पूर्णतया सजीव प्रतीत होती हैं। दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक की कला में हम प्रादेशिक विभिन्नता पाते हैं। मध्यप्रदेश में ग्यारहवीं शताब्दी का एक मन्दिर मिला है जो चौंसठ योगिनियों का मन्दिर के नाम से जाना जाता है।

संगीत तथा चित्रकला

तत्कालीन प्रतिमाओं के दिग्दर्शन से उस काल की संगीत कला का स्पष्टीकरण

सफलतापूर्वक हो जाता है। पाल शैली में पाल युग की निर्मित शिव की धातु-प्रतिमा मिली है जिसमें शिव ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। पहाड़पुर की खुदाई में नाचती हुयी स्त्री की मिट्टी प्रतिमा मिली है जिससे नृत्य कला का भान होता है। मूर्तियों के साथ बने मृदंग, एकतारा, झाल, बाँसुरी आदि वादनों द्वारा वादन कला का ज्ञान होता है। सामाजिक उत्सवों पर संगीत का भी आयोजन होता था। इस प्रकार इस काल में वादन और गायन तीनों का प्रचार रहा।

चित्रकला का क्षेत्र भी इस युग में काफी उन्नतावस्था में था। गुप्तकालीन अजन्ता की चित्रकारी इस युग में चलती रही जिसके अनुसार मन्दिरों की दीवालों को चित्रों से सजाया जाता था। आठवीं शताब्दी में इन भित्ति चित्रों के स्थान पर छोटी आकृतियाँ निर्मित हुयीं जिसका प्रयोग हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रकाशन में होता था। इनका चलन पाल शैली में खूब हुआ। ताड़ के पत्तों पर भी इस युग में चित्र बने। इनमें प्रज्ञापारमिता मुख्य माना जाता है। तत्कालीन चित्रों का निर्माण देवताओं की आकृतियों पर हुआ। पहले काले रंग से इन चित्रों का आकार खींच लिया जाता था, बाद में लाल, नीले, पीले आदि रंगों से भर दिया जाता था। खाली स्थान को पत्र-पुष्पों से चित्रित कर दिया जाता था। चित्रों के मध्य में प्रधान देवता की रचना होती थी और चारों ओर अन्य आकृतियाँ बनाई जाती थीं। इस प्रकार इस युग में चित्रों की खूब अभिवृद्धि हुयी। हस्तलिखित पुस्तकों के बीच-बीच में कलाकार चित्रकला का भी निर्देशन कर अपनी कलात्मकता का परिचय दे देता था।

गुफा कला

गुफा-निर्माण की जो नई शैली इस काल में प्रचलित हुयी वह पहाड़ियों को काटकर मठ अथवा चैत्य का निर्माण था। इस ढंग की इमारतों में ही बड़ी-बड़ी मूर्तियों की स्थापना की जाती थी, अलग से इसका कोई प्रबन्ध नहीं होता था। यह कला इसी काल में उत्तरोत्तर प्रगति करती गयी जिसकी तीन श्रेणियाँ हो सकती हैं :—

(१) ऐलोरा विधि
(२) एलिफैंटा विधि
(३) पल्लव विधि

पहले में खोदकर एक कमरा निर्माण किया जाता था और उसमें ब्राह्मण तथा जैन मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। इस गुफा में एक बरामदा बना होता है जिसके अन्त में एक कोठरी निर्मित होती थी। एलिफैंटा गुफा में शिव की प्रतिमायें चट्टान को काटकर गुफा के साथ ही बनाई जाती है। यह ब्राह्मण गुफा है। यह एक

वास्तविक मन्दिर के रूप में होती है। यहाँ ढाँचा न होकर इसमें बारीकी की जाती है। एलिफैंटा के गुफा में सजीवता और स्वच्छन्दता का विशेष ध्यान दिया गया जिससे उसमें निर्मित प्रतिमाओं का सौन्दर्य निखर-सा गया है। यदि एलिफैंटा की गुफा प्रतिमा निर्माण के दृष्टिकोण से प्रसिद्ध है तो मन्दिर की विशालता के विचार से ऐलोरा का कैलास मन्दिर गुफा-निर्माण कला का आदर्श है। साधारणतया गुफाओं का निर्माण ऊँची पहाड़ियों पर होता था जिनमें तीन ओर से चट्टान काटकर गुफा बनाई जाती थी तथा उसका आकार मन्दिर का बनाया जाता था। परन्तु कैलास मन्दिर के निर्माण में इस शैली का प्रयोग न कर एक दूसरी शैली का आधार किया गया। इसमें कलाकारों ने पहाड़ को सिरे से काटना प्रारम्भ किया। ऊपरी भाग में चौकोर भाग काटकर मध्य के भाग से सतह तक मन्दिर बनाया गया। इस प्रकार गुफा-निर्माण की कई शैलियाँ बनती गयीं और इनका उन्नत रूप सामने आता गया। कालान्तर में इन गुफाओं का रूप इतना परिवर्तित हो गया कि इन्हें गुफा न कहकर मन्दिर कहा जाने लगा।

इन मन्दिरों के निर्माण में कई एक शैलियों का आविर्भाव हुआ जिनमें किसी अंश तक तादात्म्य होने पर भी भिन्नता थी। इस प्रकार दक्षिण भारत की वास्तु कला उत्तरी भारत की वास्तु कला से भिन्न है। इस भिन्नता के आधार पर दक्षिण की वास्तु कला को द्रविड़ शैली और उत्तरी भारत की शैली को आर्य शैली के नाम से पुकारा गया।

द्रविड़ शैली

इस शैली में बड़ी-बड़ी चट्टानों को काटकर एक ही पत्थर से गुफा तैयार की जाती थी। इसके उदाहरण अजन्ता, ऐलोरा और एलिफैंटा में देखने को मिलते हैं। इन गुफाओं के उन्नत रूप को मन्दिर कहा जाता है। यद्यपि मन्दिरों के परिवर्तन से तत्कालीन गुफा निर्माण का कोई तादात्म्य स्पष्ट रूप से नहीं दीख पड़ता परन्तु पल्लव शैली द्वारा यहाँ निष्कर्ष निकलता है और उक्त वास्तु की पुष्टि हो जाती है।

आर्य शैली

उत्तरी भारत में गुफाओं के प्रारम्भ से ही अभाव सा रहा। इसी कारण यहाँ की वास्तु कला की प्रगति में गुफा-निर्माण को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिल सका। यहाँ स्तूप और मठों तथा विहारों की ही प्रधानता रही। आर्य शैली के मन्दिरों की विशेषता यह थी कि यहाँ के मन्दिरों के शिखर विकसित रूप में होते थे। इस शैली का उद्भव स्तूपों में हुआ ये स्तूप एक ऊंचे चबूतरे पर अवस्थित किये जाते थे और उनका आकार गुम्बज की भाँति होता था। गुम्बज के सिरे पर एक

वर्गाकार प्रस्तर लगा होता था जिसे हरतिका कहते थे। उसका ऊपरी भाग छत्र कहलाता था। स्तूपों का यही रूप इस काल में मन्दिर के आकार में आ गया। ये मन्दिर दक्षिण भारत के समान प्रस्तरों से निर्मित नहीं होते थे अपितु ईंटों तथा प्रस्तर के टुकड़ों से बनते थे जिसके उदाहरण भितरगाँव तथा नालन्दा के मन्दिर हैं। तत्कालीन मन्दिरों को मुसलमान आक्रामकों ने विनष्ट कर उन्हीं ईंटों द्वारा मस्जिदों का निर्माण कर दिया जिससे वे अधिक संख्या में आज प्राप्त नहीं होते।

पहाड़पुर में दसवीं शताब्दी तक के ईंटों के बने स्तूप प्राप्त हुये हैं। इस काल में स्तूपों की रचना ईंटों के अतिरिक्त काँसे और पक्की मिट्टी द्वारा भी होती थी। मूत्तिपूजा का प्रचलन इस काल में अधिक था इसी कारण मन्दिरों का निर्माण खूब हुआ। मन्दिरों को नागर या आर्य शैली कहते हैं। इन मन्दिरों के गर्भ गृह के ऊपर शिखर होते थे जो ऊपर की ओर क्रमशः पतले होते थे। इसके उदाहरण खजुराहो का मन्दिर, उड़ीसा का मन्दिर, काँगड़ा का वैद्यनाथ मन्दिर, कुलू का विश्वेश्वर मन्दिर, राजपुताना का वैष्णव मन्दिर तथा बंगाल के अनेक मन्दिर हैं।

खजुराहो शैली

चन्देल राजाओं की राजधानी होने के कारण खजुराहो का महत्त्व कला के क्षेत्र में काफी बढ़ गया। उड़ीसा के बाद इसी शैली की प्रधानता रही। यहाँ पर शैव, वैष्णव एवं जैन लोगों ने मन्दिर-निर्माण में काफी उत्साह दिखलाया। कण्डरिया महादेव का हिन्दू मन्दिर गहरा खोदकर बनाया गया था। इसमें तीन स्तम्भ युक्त कमरे हैं। सभी कमरों पर वृत्ताकार गुम्बज निर्मित हैं जिनके भीतरी भाग में कमल बना है। शिखर सबसे ऊपरी भाग में है जो कलश के स्थान पर सुन्दर प्रस्तरों से विभूषित है। गर्भगृह के ऊपर चौकोर शिखर का निर्माण है जो आर्य शैली के आधार पर बना है। इसमें मध्य शिखर के नीचे शिखराकार गुम्बज प्रधान शिखर के चारों ओर बने हैं। ये शिखर पच्चीकारी द्वारा विशेष अलंकृत बना दिये गये हैं। इस शैली के उदाहरण चतुर्भुज वैष्णव तथा आदिनाथ के जैन मन्दिर हैं। ये मन्दिर बहुत ऊँचे नहीं हैं। इन मन्दिरों में हवा तथा रोशनी का समुचित प्रबन्ध किया गया है। दीवालों में ताखा निर्मित होते थे जिनमें मूर्तियाँ स्थिर की जाती थीं।

धर्म

अधिकांश पाल राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और अपने अन्तिम समय में बौद्ध धर्म उन्हीं के आश्रय में पलता रहा। बौद्ध धर्म का तान्त्रिक रूप बहुत कुछ उन्हीं के तत्त्वावधान में निखरा और उसे नवजीवन मिला। साहित्य तथा धर्म के प्रसार में पाल शासकों ने सक्रिय रूप से भाग लिया। उन्होंने ब्राह्मणों को खुलकर

दान दिया और हिन्दू देवताओं के अनेक मन्दिर बनवाये। वे हिन्दू धर्म के विरुद्ध कभी नहीं थे। बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा का विकास भी इसी युग में हुआ। बौद्ध पाल-शासक धार्मिक सहिष्णुता की नीति में विश्वास रखते थे। ये लोग ब्राह्मण मन्त्रियों को नियुक्त करते थे।

पाल-कालीन सांस्कृतिक जीवन

पाल राजाओं के तत्त्वावधान में बंगाल और बिहार में सांस्कृतिक जीवन का अभूतपूर्व विकास हुआ। समाज वर्णाश्रम धर्म पर ही आधृत था। पालों के मन्त्रियों ने धर्म शास्त्र पर ही विशेष बल दिया। शूद्र अधिकतर बौद्ध-धर्म ग्रहण करते जा रहे थे। स्वयं पालवंशीय शासक भी शूद्र ही थे किन्तु शासक होने पर वे क्षत्रियत्व का दावा करते थे। अबुलफजल ने पालों को **'कायस्थ'** कहा है। पाल युग में पहले ही नारी शिक्षा का ह्रास हो चुका था। औरतों की स्थिति पहले की तरह थी। उन्हें अपने मृत पति की सम्पत्ति पर अधिकार था, किन्तु वे सम्पत्ति बेच नहीं सकती थीं।

समाज में दो वर्ग थे—धनी और गरीब। एक का जीवन जहाँ विलासितापूर्ण था, वहीं दूसरे का कष्टप्रद। समाज में गरीबों की स्थिति सुधारने के लिए कोई प्रयत्न कभी नहीं किया गया। श्रीधर दास द्वारा संकलित 'सदुक्तिकर्णामृत' पढ़ने से साधारण लोगों के जीवन पर काफी प्रकाश पड़ता है उनकी दयनीय स्थिति पर भी।

यातायात के साधन के रूप में बैलगाड़ी, घोड़ा, हाथी, पालकी, नाव इत्यादि का व्यवहार होता था। मनोरंजन के कई साधन उपलब्ध थे, जैसे—वीणा, खँजड़ी, मृदंग। देवदासियों का भी उल्लेख मिलता है। उस समय विदेश से छात्र अध्ययन करने के लिए भारत आते थे।

पाल अभिलेखों में ग्रामों और नगरों का उल्लेख मिलता है। गाँवों का आर्थिक जीवन कृषि पर निर्भर था और गाँववाले, जो अतिरिक्त उत्पादन करते थे उसी पर शहरवाले अपना पेशागत काम चलाते थे। सिक्कों का अभाव था। कृषि राजकीय आय का प्रमुख साधन थी। दान की भूमि के लिए कुछ निर्धारित नियम बने हुए थे। मिट्टी और धातुओं के बर्तन तथा मूर्त्तियाँ बनायी जाती थीं। पत्थर की मूर्त्तियाँ सारे उत्तर भारत में भरी पड़ी हैं। देश-विदेशों के साथ व्यापार भी होता था और उसी क्रम में भारतीय संस्कृति का दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्रसार भी।

आर्थिक दृष्टिकोण से ब्राह्मण, बौद्ध और जैन बड़े प्रसिद्ध थे। वेद, वेदांग, मीमांसा, आयुर्वेद, दर्शन, तर्क, न्याय, धर्मशास्त्र आदि का सर्वांगीण अध्ययन होता था और विद्वानों में आपसी तर्क-वितर्क भी। वाराह, नरसिंह, वामन, परशुराम,

गरुडध्वज, शिव आदि का उल्लेख भी पालों के अभिलेख में मिलता है। बौद्ध होते हुए भी पाल लोग अन्य धर्मों को भी प्रश्रय देते थे।

पाल राजाओं के समय वास्तु और स्थापत्य कला का भी काफी विकास हुआ—नालन्दा, कुर्किहार आदि स्थान कला के प्रधान केन्द्र माने जा सकते हैं। हर तरह की मूर्त्ति बनती थी और इसके लिए कलाकारों का एक विशिष्ट परिवार ही रहा होगा, जो मूर्त्तियों की माँग पूर्ण करता होगा।

पालवंश का सांस्कृतिक दृष्टिकोण से पर्याप्त महत्त्व है। वे लोग अन्तिम हिन्दू सम्राट् थे, जिनका आदेश पत्र पाटलिपुत्र से जारी किया जाता था। उन्होंने केवल भारत में ही धर्म और संस्कृति की विकास में योगदान नहीं दिया प्रत्युत विदेशों में भी इनके प्रचार को प्रोत्साहित किया। वे लोग इतने उदार थे कि उन्होंने नारायण और महादेव के उपासकों के प्रति धार्मिक सहिष्णुता दिखलायी। उनके राज्य में हिन्दू देवी-देवताओं का वैसा ही महत्त्व था जैसे कि बौद्ध धर्म की महायान शाखा का।

पाल शासन का महत्त्व

साहित्य

पाल काल में साहित्य की काफी वृद्धि हुई। संस्कृत साहित्य में गौड़ीय रीति का विकास इसी काल में हुआ। सन्ध्याकर नन्दी ने अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य 'रामचरित' की रचना की। इसमें प्रत्येक पद के दो अर्थ हैं—एक भगवान् रामचन्द्र के लिए और दूसरा राजा रामपाल के लिए। चक्रपाणिदत्त ने वैद्यक ग्रन्थ की रचना की। प्रकाण्ड विद्वान् भवदेव भट्ट पालों के दरबार में रहते थे। हरिभद्र (कवि) भी उसी समय हुआ। हिन्दू कानून के दाय भाग-विभाग का जन्मदाता 'जिमूतवाहन' भी पाल शासकों के समय हुआ। बौद्ध विद्वानों में कमलशील, राहुलभद्र, कल्याण रक्षित, धर्मपाल और दीपंकर श्री ज्ञान आतिश प्रमुख हैं। विक्रमशिला विद्वानों का भण्डार ही था और तिब्बती लोग वहाँ के विद्वानों से प्रभावित थे। बौद्ध कवि वज्रदत्त ने 'लोकेश्वर शतक' नामक काव्य की रचना की।

इस काल में बंगला भाषा, साहित्य और संस्कृति का भी जन्म हुआ। बंगला लिपि के विकास का भी यही समय माना जाता है। इस समय जन भाषा में बौद्ध विचारकों ने चर्यापदों की रचना की—यह भाषा उस समय समस्त पूर्वी भारत की थी। ब्राह्मण और वैष्णव धर्मावलम्बियों ने अपने-अपने धर्मों के लिए भाषा में रचना शुरू की थी। नई-नई पाण्डुलिपियाँ भी तैयार हुई जिनमें कुछ अब भी उपलब्ध हैं।

पालों ने अपने लम्बे शासन काल में कई महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक कार्य किये। वे लोग सोमपुर-उदंतपुरी और विक्रमशिला जैसी शिक्षण संस्थाओं के संस्थापक थे। जगदल में भी उन लोगों ने एक विहार की स्थापना की थी। विक्रमशिला विश्वविद्यालय भागलपुर के समीप था। इसमें विदेशी विद्यार्थी भी पढ़ने के लिए आते थे। इसका महत्त्व नालन्दा विश्वविद्यालय से कम नहीं था। इसमें १०६ प्रसिद्ध पंडितों का उल्लेख मिलता है। यहाँ के सर्वश्रेष्ठ विद्वान अतिश दीपंकर श्री ज्ञान थे जिन्हें निमन्त्रण पर तिब्बत बुलाया गया था और वहाँ जाकर उन्होंने लगभग ७० ग्रन्थों की रचना की थी। वहीं उनकी मृत्यु हुई। दीपंकर जावा भी गये थे। देवपाल के समय नालन्दा में जावा के राजा बालपुत्र देव के आग्रह पर एक छात्रावास का निर्माण किया गया था।

कला

पाल कालीन प्रसिद्ध कलाकार धीमान् और वीर पाल अथवा वितपल थे जिन्होंने चित्र कला, मूर्ति कला, और धातुओं के ढालने में अपनी दक्षता के कारण प्रभूत यश प्राप्त कर लिया था। स्थापत्य और मूर्त्तिकला को भी उन्होंने प्रश्रय दिया और पूरे बंगाल तथा विहार में चैत्यों, विहारों और मूर्त्तियों का निर्माण कराया। कांस्य मूर्त्तिकला का प्रधान केन्द्र गया का कुर्किहार नामक स्थान था, जहाँ से तत्कालीन काँसे की मूर्त्तियाँ पर्याप्त मात्रा में मिली हैं।

इनके समय पत्थर की मूर्त्तियाँ भी बनती थीं। गया के पास के पत्थल कट्टी गाँव के काले पत्थर से ये मूर्त्तियाँ बनती थीं। पाल कला में केवल भारत ही नहीं बल्कि दक्षिण-पूर्वी एशिया की कला को भी प्रभावित किया था। उस समय की कोई इमारत उपलब्ध नहीं है किन्तु शरों और नहरों की एक बड़ी संख्या आज भी सुरक्षित है, जिससे उसकी निर्माण सक्रियता का पता चलता है। मिट्टी की मूर्त्तियाँ और खिलौने भी पर्याप्त मात्रा में बनते थे। कला में आध्यात्म तथा भौतिक तत्त्वों का अच्छा मिश्रण देखा जाता है। धार्मिक और वास्तविक वस्तुओं का अंकन कला के माध्यम से होता था। चित्रकला की भी प्रगति इस युग में हुई। पाल कालीन चित्रकला के अवशेष बंगाल की एशियाटिक सोसायटी, कैम्ब्रिज के पुस्तकालय और ब्रिटिश म्युजियम में सुरक्षित हैं। चित्रकला पर तन्त्र और वज्रयान का प्रभाव स्पष्ट है। यहाँ से चित्रकला का प्रसार तिब्बत और दूर-दूर देशों में हुआ। पाल कालीन महा श्री तारा का एक चित्र भी उपलब्ध है।

पाल शासन पद्धति

पाल शासन नृपतन्त्र पर आधारित था। राजा ही शासन का सर्वेसर्वा होता था। शासन की सारी शक्तियाँ राजा में ही निहित रहती थीं। राजा कार्य-पालिका

न्याय पालिका और व्यवस्थापिका का स्रोत माना जाता था। वह बड़ी-बड़ी पदवियों से विभूषित रहता था। पालवंश के शासक अर्थशास्त्र, और गुप्तों द्वारा चलाये गए राज्य सिद्धान्त के अनुसार ही अपना शासन चलाते थे।

राजा स्वयं इतने बड़े साम्राज्य को नहीं चला सकता था, अतः राजकुमारों और मन्त्रियों से भी शासन में सहायता ली जाती थी। शासन सामन्तवादी व्यवस्था पर आधारित था। 'रामचरित' में सामन्तों का उल्लेख भी है। पालों की कोई निश्चित राजधानी नहीं थी, वे घूम-घूम कर अपना जय स्कन्धावार कायम करते थे। वहीं से वे शासन भी करते थे तथा आदेश भी निकालते थे। मन्त्रियों का पद वंशानुगत मालूम पड़ता है। शासन कई भागों में बँटा हुआ था और सभी के अलग-अलग प्रधान हुआ करते थे।—सान्धिविग्रहिक, महाप्रतिहार, अक्षपटलिक, पुस्तपाल, खोल, गूल्म, दण्डनायक, दण्डनिक, चौरो हरणिक, सेनापति, दोसाधनिक इत्यादि। ये सभी सामन्तवादी व्यवस्था के प्रधान अंग माने जाते थे। राज्य चलाने के लिए कर की आवश्यकता होती थी और कर के रूप में भाग, भोग, हिरण्य, कर, उपरिकर आदि वसूल किये जाते थे। सेना पाँच भागों में विभक्त थी—पदाति, अश्व, गज, रथ और जल। सैनिक अनुशासित और संगठित थे।

पाल साम्राज्य कई प्रान्तों में बँटा था। प्रान्त को 'भुक्ति' कहते थे। बिहार में श्री नगर भुक्ति और तीर भुक्ति का उल्लेख मिलता है। प्रान्त जिलों में बँटा होता था और जिले को 'विषय' कहते थे—तीर भुक्ति में कक्ष और होद्रेय विषय का उल्लेख मिलता है और श्री नगर भुक्ति में किमिला, राजगृह, मगध और गया विषय का। विषय के अधिकारी विषयपति कहलाते थे। पाल-अभिलेखों में कई ग्रामों का भी उल्लेख मिलता है। ग्राम शासन ग्रामिक के अन्दर होता था। अधिकारियों के लिए जागीर की व्यवस्था की जाती थी। पाल-शासकों ने धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यों के विकास में भी काफी सहयोग दिया। स्वयं बौद्ध धर्मावलम्बी होते हुए भी वे लोग धार्मिक सहिष्णुता के पक्षधर थे और हर सम्प्रदाय की सहायता करते थे। ब्राह्मण उसके मन्त्री हुआ करते थे। धर्म के कारण राजनीतिक उथल-पुथल नहीं होती थी।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय

इस महाविहार की स्थापना धर्मपाल के प्रयास से आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई। विक्रमशिला महाविहार का महत्त्व किसी भी दृष्टिकोण से नालन्दा से कम नहीं था।

'श्रीमद् विक्रमशील देव महा विहार' नाम से ही यह प्रसिद्ध था और अपने शिक्षकों के पुनीत आदर्श के चलते ही यह 'विक्रमशिला' नाम से प्रसिद्ध हुआ था।

कुछ लोगों का विश्वास है कि धर्मपाल का नाम विक्रमशील भी था, अतः अपने इसी नाम पर विश्व-विद्यालय की स्थापना की। तिब्बती स्त्रोतों से ऐसा ज्ञात होता है कि यहाँ विक्रम नामक एक यक्ष को पराजित किया गया था, इसीलिए इसे 'विक्रमशिला' कहा जाता था। कोशी और गंगा के संगम पर अवस्थित होने के कारण इसे शिला संगम भी कहा गया है और इसका विस्तार लगभग १०–१२ मील में था। तारानाथ के अनुसार यहाँ एक महाबोधि मन्दिर और साथ ही १०७ छोटे-छोटे मन्दिर थे। यहाँ के प्रकाण्ड विद्वानों में ज्ञानपाद, वैरोचन, रक्षित, जेत्तारि, रत्नवज्र, रत्नकीर्ति, ज्ञान श्री मित्र, दीपंकर श्री ज्ञान आदि थे।

यह विश्व-विद्यालय लगभग ४०० वर्ष तक चलता रहा और राजा रामपाल के समय इसके अध्यक्ष 'अभया कर गुप्त' थे। यहाँ उस समय १६० प्राध्यापक तथा एक हजार भिक्षु थे। नालन्दा की तरह यह भी एक अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय था। विश्वविद्यालय में काफी अच्छा पुस्तकालय था। इस विश्वविद्यालय के अन्तर्गत ६ महा विद्यालय थे और प्रत्येक महा विद्यालय के लिए अलग-अलग द्वार पण्डित थे। द्वार-पण्डितों के सामने जो उत्तीर्ण होते थे वे ही विश्वविद्यालय में प्रवेश कर सकते थे। यहाँ से जो कुछ टूटे-फूटे लेख मिले हैं वे हैं—श्री धर्मक देवस्य। वीरब—(वीर वज्र) विः—(विक्रमशील) श्री वट पर्वतः इत्यादि। १९७३ ई० में यहाँ से एक मुद्रा मिली है जिस पर किसी पाल का नाम है। मुद्रा अप्रकाशित है। उत्खनन के फलस्वरूप विश्वविद्यालय का उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी द्वार भी स्पष्ट हो गया है और लामा तारकनाथ द्वारा वर्णित 'मोनास्टिक सेल' भी बाहर आये हैं। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्तीचक ग्राम और पत्थर घट्टा की बीच ही प्राचीन विक्रमशिला विश्वविद्यालय अवस्थित था। १९७३ और १९७६ ई० के बीच काफी महत्त्वपूर्ण बातें सामने आयी हैं। यहाँ से प्रतिहार उदय वर्ष का भी एक अभिलेख मिला है। उसके पूर्व माशमिकेष का भी एक अभिलेख प्राप्त हुआ था, जिसमें उसके पूर्वज शाहवर का पालों के साथ सम्बन्ध का विवरण है। उत्खनन से जो सामग्री उपलब्ध है उससे यह स्पष्ट है कि बौद्धों और हिन्दुओं के बीच भी वहाँ कई संघर्ष हुए थे और विक्रमशिला के पतन का वह एक महत्त्वपूर्ण कारण बना। बख्तियार खिलजी ने इसे ध्वस्त किया-किन्तु यह सिद्धान्त अब तर्क हीन मालूम पड़ता है। हो सकता है स्थानीय तुर्कों द्वारा लूट-पाट हुआ हो, किन्तु इसके पतन का मूल कारण आपसी वैमनस्य और विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच का आपसी संघर्ष ही था। तन्त्र साधना की गुफा भी प्रकाश में आई हैं और 'महाविहार' अंकित एक मुद्रा भी।

विक्रमशिला का तिब्बत और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक देशों के साथ घनिष्ट सम्पर्क था। इन देशों के बीच विद्वानों का आवागमन बना रहता था।

तिब्बती शासकों ने विक्रमशिला में लामाओं के निवास के लिए छात्रावास बनवाया था। फिर भी विश्वविद्यालय की ओर से भी अतिथियों के लिए रहने का प्रबन्ध था। सब प्रकार की विद्याएँ पढ़ने का यहाँ प्रबन्ध था और मूलतः बौद्ध केन्द्र होने के बावजूद यहाँ शैव, शक्ति, हिन्दू और अन्यान्य सम्प्रदायों को भी मान्यता दी जाती थी। चित्रकारी और कलात्मक काम भी यहाँ होते थे और यहाँ के विद्वान जगत्प्रसिद्ध थे। पढ़ाई समाप्त होने के बाद यहाँ दीक्षान्त समारोह का प्रबन्ध होता था। वेतारि और रत्नवज्र को राजा 'महिपाल' ने ऐसे अवसर पर सम्मानित किया था। दीपंकर श्री ज्ञान (अतिश) यहाँ के प्रसिद्ध आचार्य थे। यहाँ के विद्वान लंका, चीन, तिब्बत, नेपाल आदि स्थानों में जाया करते थे। दीपंकर ने राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप किया था और विग्रहपाल तृतीय तथा कलचूरी कर्ण के बीच पहले कपाल सन्धि और फिर बाद में वैवाहिक सम्बन्ध करवाया था। तिब्बती राजा के निमन्त्रण पर अतिश बौद्ध धर्म में सुधार लाने और तन्त्र के प्रचार के लिए तिब्बत गये थे, जहाँ इन्हें दूसरा बुद्ध ही माना जाता था। अनुमान लगाया जाता है कि इस विश्वविद्यालय का सूत्रपात वटेश्वर पहाड़ी से हुआ होगा। यह वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा धार्मिक वाद-विवाद और विचार विमर्श का प्रधान केन्द्र था। सामरिक-राजनीतिक प्रतिष्ठानों का भी इसे केन्द्र माना जाता है। कहा जाता है कि गोपाल का जयस्कन्धावार भी यहीं था। यहाँ तान्त्रिक बौद्ध धर्म का प्रधान केन्द्र था। शाक्य श्री भद्र के समय तक इस विश्वविद्यालय के अवशेष होने का प्रमाण मिलता है। १२०४ के बाद इसका इसका नामोनिशान खत्म हो गया।

२. दक्षिण भारत

दक्षिण भारत में यद्यपि आठवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक राजनीतिक संघर्ष जारी रहा पर इस संघर्ष के कारण सांस्कृतिक संघर्ष में किसी प्रकार की बाधा न आयी। हिन्दू धर्म में धार्मिक सुधार आन्दोलन के कारण जैन और बौद्ध धर्म का प्रचार अपेक्षाकृत कम हो गया। भक्ति साहित्य और दर्शन शास्त्र की बहुत उन्नति हुयी। इस धार्मिक प्रेरणा के फलस्वरूप वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला और संगीतकला की बहुत उन्नति हुयी। यह सांस्कृतिक पुनरुत्थान भारत तक सीमित न रहा। अनेक हिन्दू उपनिवेशों पर भी इसका व्यापक प्रभाव पड़ा।

चालुक्य राजा 'परमेश्वर', 'महाराज', 'महाराजाधिराज' और 'परमभट्टारक' आदि उपाधि धारण करते थे। उनके विदेश मन्त्री 'महासांधिविग्रहिक' कहलाते थे। जिले के पदाधिकारी को 'विषयपति' तथा गाँव के मुखिया को 'ग्रामकुट' कहा जाता था। ग्राम सभा के कार्यकारिणी को 'महतराजाधिकारिन' कहते थे। कुछ

ऐसे भी नगर थे जो सम्राट् से अपनी स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त करते थे। परिवारों पर उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार कर लगाये जाते थे। अन्य बातों में चालुक्यों का शासन-प्रबन्ध गुप्त-वाकाटकों के समान ही था।

दक्षिण-भारत के शासन-प्रबन्ध चित्र राष्ट्रकूट राजाओं के अभिलेखों के आधार पर हम भली प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं। राज्य के सभी अधिकार राजा के पास थे। राष्ट्रकूट राजा अपने को 'चक्रवर्ती', 'महाराजाधिराज', 'परमभट्टारक'; 'धारावर्ष', 'अकालवर्ष', 'सुवर्णवर्ष', 'विक्रमावलोक', और जगलुंग आदि उपाधियों से विभूषित करते थे। युवराज अपने पिता के शासन-कार्य में सहायता करता और वह युद्धों में भी अपने पिता के साथ जाता। दूसरे राजकुमार राजा के अनेक कार्यों में नियुक्त किये जाते थे। शासन कार्य में सहायता देने के लिए अनेक मन्त्री होते थे तथा ये मन्त्री सुयोग्य सेनानायक के गुणों से भी विभूषित थे। अतः सभी मन्त्री सैनिक अधिकारी भी होते थे।

राष्ट्रकूटराज्य में कुछ प्रदेश ऐसे थे जिन पर पुराने राजा राष्ट्रकूट राजाओं का अधिकार स्वीकार करके शासन चलाते। कुछ प्रदेश ऐसे थे जिन पर राष्ट्रकूट राजाओं के अपने अधिकारी शासन चलाते। ये प्रदेश शासन के लिए राष्ट्रों और विषयों में बँटे हुए थे। आजकल की कमिश्नरियाँ 'राष्ट्र' के नाम से जानी जाती थी तथा 'विषय' जिलों के बराबर था। विषय भुक्तियों में बँटा हुआ था। प्रत्येक भुक्ति में ५० से ७० तक गाँव होते थे तथा भुक्तियाँ भी २०—२० गाँवों की छोटी इकाइयों में बँटी थी। राष्ट्र का मुख्य अधिकारी राष्ट्रपति था। वह सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार के शासन कार्यों को चलाता। वह भूमि पर कर भी जमा करवाता था।

गाँवों में गाँवों का मुखिया और लेखा रखने वाला अधिकारी शासन चलाते थे। इनके पद पैतृक होते थे। प्रत्येक गाँव की सभा में प्रत्येक परिवार का नेता भाग लेता था। ये सभाएँ स्थानीय विद्यालयों, तालाबों, मन्दिरों और सड़कों का प्रबन्ध करने के लिए उपसमितियाँ नियुक्त करती थीं। वे दान की सम्पत्ति का भी दानियों की शर्तों के अनुसार प्रबन्ध करती थीं। गाँवों की सभाएँ दिवालियों के झगड़ों का भी निर्णय करती थीं। सरकार भी इनके निर्णयों को मान्यता देती थीं। नगरों में भी ऐसी सभाएँ थीं।

राष्ट्रकूट राजा शक्तिशाली सेना रखते थे। ये सेनाएँ राज्य की रक्षा करतीं और शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध करतीं। सुलैमान के अनुसार राष्ट्रकूट राजा नियमपूर्वक अपनी सेना को वेतन देते थे। उनकी सेना में बहुत से हाथी भी थे पर पैदल सेना की संख्या अधिक थी। सामन्त और प्रान्तीय राज्यपाल भी युद्ध के समय सेना की

कुछ टुकड़ियाँ भेजते थे। ऐसा कहा जाता है कि राष्ट्रकूट राजाओं ने जल सेना की ओर बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया।

आय के मुख्य साधन सामन्तों की भेंट, सरकारी जंगलों और खानों से आय और करों की आय थे। भूमिकर उपज का २५ प्रतिशत अन्न के रूप में ही लिया जाता।

दसवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के बीच दक्षिण के इन राज्यों में राजाओं की स्थिति उत्तर भारत के राजाओं से मिलती-जुलती थी। उनका अभिषेक बड़ी धूमधाम से किया जाता था और वे बड़ी शान से रहते थे। राजसभा में आने पर सभी कर्मचारी और राजदूत वहाँ उपस्थित होते थे तथा सामन्तों से राजा उसी समय भेंट लेता था। राजा अपने शत्रुओं को वश में करने के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद चारों नीति काम में लाते थे। कभी वे अन्य राजाओं से मित्रता करते, कभी तटस्थ रहते और कभी उनके विरुद्ध युद्ध करते थे। अमीरों, राजकर्मचारियों, चोरों और दुराचारियों के अत्याचार से प्रजा की सन्तान की भाँति रक्षा करना राजा का मुख्य कर्तव्य समझा जाता था।

आय का मुख्य साधन भूमिकर था। उपज के अनुसार अनाज का छठा; आठवाँ या बारहवाँ भाग कर के रूप में लिया जाता। घी और सुपारी का छठा; शाक, पुष्प और फलों का दसवाँ और पशुओं तथा सोने का पचासवाँ भाग कर के रूप में लिया जाता था। मणियों और मोतियों पर भी कर लिया जाता था। पर श्रोत्रिय ब्राह्मणों से कोई कर न लिया जाता था। प्रजा मनमाने करों का विरोध कर सकती थी।

राजाओं के सात या आठ मन्त्री होते थे। युद्ध मन्त्री का पद बड़े महत्त्व का था। पुरोहित का भी स्थान बड़े ही आदर का था। कोषाध्यक्ष या 'गणक' कोष का प्रबन्ध करता था। सामन्तों और विदेशों के राजाओं से पत्र-व्यवहार करने के लिए अनेक प्रदेशों की लिपियों का जानने वाला अलग मन्त्री होता था। प्रतीहार, सारथि, भोजनाध्यक्ष, राजवैद्य आदि प्रमुख अधिकारी थे। अन्तःपुर और कुमारों की शिक्षा आदि का प्रबन्ध करने के लिए अलग अधिकारी थे।

राज्य की शासन-व्यवस्था ठीक रखने के लिए राज्य को अनेक भागों में बाँटा जाता था। काकतीय राजा प्रताप रुद्र द्वितीय (१२९०–१३२२) ने अपने राज्य को ७७ भागों में बाँटा। उसके समय में प्रत्येक भाग का शासन एक वाचक चलाता था।

नगरों और गाँवों का प्रबन्ध नगर और ग्राम सभाओं के हाथ में था। ये सभाएँ गाँवों और नगरों में न्याय की भी व्यवस्था करती थीं। एक गाँव, दस गाँव, बीस

गांव, सौ गाँव और हजार गाँवों पर क्रम से एक के ऊपर एक राजकर्मचारी अपने से नीचे कर्मचारियों के कार्य का निरीक्षण करता था। चोल राजाओं के समय में स्थानीय शासन-व्यवस्था बहुत विकसित हो गयी। राजसेना में हाथी और घुड़सवार भी पर्याप्त संख्या में रखे जाते थे। अरब सौदागरों से भी बहुत से घोड़े सेना के लिए आते। इस काल में सेना में रथों का प्रयोग नहीं होता था। किलों के बनवाने और मरम्मत का पूरा ध्यान रखा जाता था। चुने हुए कुछ योद्धा राजा के अंगरक्षक होते थे। चालुक्यों के समय में ये 'सहवासी' कहलाते थे।

कल्याणी के चालुक्य राजाओं के अधीन अनेक सामन्त थे। इनको बहुत से अधिकार प्राप्त थे। कभी-कभी सामन्तों के नीचे उपसामन्त होते थे। इनको अपने प्रदेश में भूमि देने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

सामाजिक अवस्था

दक्षिण भारतीय समाज में सत्क्षत्रिय, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल और लहूड प्रमुख थे। अन्तर्राष्ट्रीय विवाह अच्छा नहीं माना जाता था। लड़कों का विवाह साधारणतया १६ वर्ष की अवस्था में और लड़कियों का १२ वर्ष की अवस्था में किया जाता था। ममेरी बहन से विवाह करना बुरा नहीं समझा जाता था। सती प्रथा और पर्दे की प्रथा दक्षिण भारत में न थी। शहरों और गाँवों में सभी जातियों के लोग अपने-अपने मुहल्लों में रहते थे। उनमें किसी प्रकार का वैमनस्य न था। चाण्डाल, जो अस्पृश्य समझे जाते थे, शहर से बाहर रहते थे।

ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण से यह पता चलता है कि महाराष्ट्र के निवासी बहुत अभिमानी थे और युद्ध-प्रिय थे। जो व्यक्ति उनके साथ सद्व्यवहार करते उनके प्रति वे कृतज्ञता प्रकट करते थे पर जो उन्हें हानि पहुँचाते, उनसे वे बदला लेते थे तथा जो व्यक्ति उनकी शरण में आ जाते उनके लिए वे अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए उद्यत हो जाते थे।

चालुक्य राजा शानदार महलों में रहते थे। उनके स्नान के लिए तीर्थों से जल लाया जाता था। उनकी पोशाक के लिए चीन और लंका तक से कपड़ा मँगाया जाता था। उनके भोजन में अनेक प्रकार के मांस और निरामिष पदार्थ सम्मिलित थे। पेय पदार्थ भी अनेक प्रकार के बनाये जाते थे। हाथियों के द्वन्द्व युद्ध और घोड़ों की दौड़ का उन्हें शौक था। कुश्तियाँ, भैंसों और मुर्गों तथा कबूतरों के युद्ध भी हुआ करते थे। राजा कवियों को आश्रय देते थे।

राजवंशों की स्त्रियों को साहित्य और ललित कलाओं की अच्छी शिक्षा दी जाती थी। चालुक्यनरेश जयसिंह द्वितीय की बड़ी बहन अक्का देवी तो एक प्रान्त का शासन स्वयं करती और युद्धों का भी संचालन करती थी। कलचुरि राजा

सोविदेव की रानी सोवलदेवी राजसभा के सदस्यों, विद्वानों और कलाकारों के सामने भी संगीत और नृत्य का प्रदर्शन करने में नहीं हिचकती थी।

पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, उपनयन, विवाह आदि सभी संस्कार प्रचलित थे। इन अवसरों पर पर्याप्त आमोद-प्रमोद और प्रीतिभोज होता था। ब्राह्मण लोगों का कार्य अधिकतर अध्ययन, अध्यापन, भजन-भाजन, देवपूजन, प्रतिग्रह आदि था। अन्य जातियों के लोग भी अपना-अपना कर्त्तव्य करते थे। शूद्र लोग जमीन जोतते और दूसरी जातियों की सेवा करते थे। कुलोत्तुंग प्रथम के समय में एक गाँव के मजदूरों ने यह निश्चय किया था कि रथकार कौन-कौन से व्यवसाय कर सकते हैं। ब्राह्मण, जैन और शैव अधिकतर निरामिषाहारी थे। अलग-अलग जातियों के लोग अलग-अलग बस्तियों में रहते थे।

आर्थिक अवस्था

गाँवों में कृषि ही मुख्य व्यवसाय था। खेती योग्य भूमि का बँटवारा कुछ समय पश्चात् हर गाँव में किया जाता। जमींदारों के साथ-साथ बहुत से भूमिहीन मजदूर भी गाँवों में रहते। इन्हें उपज का कुछ भाग दिया जाता। गाँव के कारीगरों को भी उपज का कुछ भाग दिया जाता था।

कताई बुनाई मुख्य उद्योग थे। जुलाहों की आर्थिक अवस्था अच्छी थी। बारीक कपड़ा विदेशों को निर्यात होता था। नमक बनाने में सरकार का एकाधिकार था। सब उद्योगों की अपनी-अपनी श्रेणियाँ थीं जो उनको ठीक-ठीक से चलाती थीं। श्रेणियों को सरकारी आज्ञा-पत्र लेने पड़ते थे। ये श्रेणियाँ बैंकों का भी काम करती थीं। ब्याज की दर १५ से २५ प्रतिशत तक थी। वस्तुओं के मूल्य कम थे। ३ माशे सोने में १५० सेर चावल, १२ सेर घी या १२ सेर तेल खरीदा जा सकता था।

सुलैमान ने लिखा है कि राष्ट्रकूट राजा व्यापार को प्रोत्साहन देते थे। इन राजाओं के शासनकाल में दक्षिण भारत में वाणिज्य और व्यापार की बहुत उन्नति हुयी। भड़ौच से धागा, कपड़ा, मलमल, चमड़ा, नील, सुगन्धित सामग्री, इत्र, सुपारी, नारियल, चन्दन, सागौन की लकड़ी, तिल का तेल और हाथी दाँत निर्यात किये जाते थे। विदेशों से सोना, दास, खजूर, इटली की मदिरा, ताँबा, टीन, जस्ता, मणियाँ, शीशा आदि भारत लाये जाते थे।

साधारणतया व्यापार में वस्तुओं का विनिमय होता था पर द्रम्म, सुवर्ण, गद्याणक, कलंजु और कसु नामक सिक्के भी काम में लाये जाते थे। द्रम्म सोने और चाँदी के सिक्के के लिए प्रयुक्त होता था।

दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच अधिकांश लोग गाँवों में रहते और खेती करते थे। कुछ प्रदेशों में खेती योग्य भूमि कुछ वर्षों के लिए किसानों में बाँटी जाती थी। गाँवों में बहुत से भूमि हीन मजदूर भी रहते थे। गांव के कारीगरों को भी उपज का कुछ भाग दिया जाता था। मजदूर को भी मजदूरी में दी जाती। सिंचाई के लिये नदियों पर बाँध बाँधे जाते तथा तालाब बनाये जाते। कातना-बुनना मुख्य व्यवसाय था। विदेशों को बहुत सा कपड़ा भेजा जाता था। अधिकतर व्यवसायों की श्रेणियाँ थीं। व्यापार की वस्तुएँ बैलगाड़ियों और पशुओं पर लादकर ले जायी जाती थीं। लंका और चीन से भी व्यापार होता था। चीन के जहाज भारतीय वस्तुएँ खरीदने के लिए भारत आते थे। काकतीय राजा गणपति ने तेरहवीं शताब्दी के मध्य में अभय शासन द्वारा व्यापारियों की सुरक्षा का प्रबन्ध किया।

शिक्षा एवं साहित्य

शिक्षा प्रसार के लिए राजा लोग काफी धन खर्च करते थे। मठों एवं मन्दिरों में उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था। कन्हेरी में एक बौद्ध मठ था। विशेष शिक्षा के लिए अलग-अलग संस्थाएँ थीं। इनका खर्च सरकारी सहायता तथा दानियों के दान से चलता था। श्रेणियाँ भी कुछ विद्यालयों को चलाती थीं।

अधिकांश विद्यार्थी वेद-वेदांग, इतिहास, पुराण, व्याकरण, मीमांसा, तर्कशास्त्र, निरुक्त और धर्मशास्त्र का अध्ययन करते थे। सबसे अधिक विद्यार्थी व्याकरण पढ़ते थे।

अमोघवर्ष संस्कृत साहित्य का प्रेमी था। उसने कन्नड़ काव्य की विवेचना पर 'कविराज मार्ग' नामक पुस्तक लिखी। राष्ट्रकूट राजाओं के अभिलेखों से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन राजाओं के शासन (आज्ञापत्र) के रचयिता सुबन्धु और बाण की काव्य शैली से भली प्रकार परिचित थे। इन्द्र तृतीय के राज्य काल में त्रिविक्रम भट्ट ने 'नलचम्पू' और सोमदेव ने यशस्तिलक और नीति-वाक्यामृत ग्रन्थों की रचना की। इसी काल में हलायुध ने 'कविरहस्य' नामक ग्रन्थ लिखा। राष्ट्रकूटों के समय में ही जिनसेन ने 'हरिवंश' और 'पार्श्व की जीवन कथा' लिखी। शाकटायन ने 'अमोघकृति' नामक व्याकरण, वीराचार्य ने 'गणितसार सग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा। परन्तु इस काल का सबसे प्रसिद्ध संस्कृत का कवि भारवि था जिसने किरातार्जुनीय नामक ग्रन्थ की रचना की। भारवि की कविता अर्थ गौरव के लिए प्रसिद्ध है।

दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच संस्कृत की उच्च शिक्षा के लिए राजा और धनी पुरुष काफी दान देते थे। गाँव के विद्यालयों में प्रारम्भिक शिक्षा का

प्रवन्ध था। शिक्षकों को गाँव की जमीन में कुछ भाग दिया जाता। मन्दिरों में रामायण, महाभारत और पुराणों की कथा होती जिससे जनसाधारण को नैतिक शिक्षा प्राप्त हो सके। मन्दिरों में भजन भी गाये जाते थे। विद्वान ब्राह्मण, अनेक स्थानों पर वेद-दर्शन, अर्थशास्त्र और राजनीति पढ़ाते थे। अनेक स्थानों पर पुराण, धर्मशास्त्र, तर्क, मीमांसा, आयुर्वेद, धनुर्वेद और गन्धर्व वेद की भी शिक्षा दी जाती थी। १०५८ ई० में नागई एक घटिका थी जिसमें २०० विद्यार्थी वेद का और ५० शास्त्रों का अध्ययन करते थे। तीन आचार्य वेद पढ़ाते थे और तीन शास्त्र। इस प्रकार के महाविद्यालय अन्य स्थानों पर भी थे। यादव राजा सिंहण (१२१०–१२४७ ई०) के राज्यकाल में प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य के पोते चांग देव ने ज्योतिष शास्त्र के अध्ययन के लिए एक महाविद्यालय की स्थापना की। शिल्पों की शिक्षा के लिए अलग संस्थाएँ न थीं। प्रायः पिता अपने पुत्र को घर पर ही शिल्प-सम्बन्धी शिक्षा देता था।

धनंजय ने 'राघव पाण्डवीय' नामक पुस्तक लिखी जिसमें राम की कथा का वर्णन है। पर, यदि उसे दाहिने हाथ से बायें हाथ की ओर पढ़ा जाय तो इसमें पाण्डवों की कथा का वर्णन मिलता है। एक दूसरे धनंजय ने भी 'राघव-पाण्डवीय' नामक ग्रन्थ की रचना की। वह कदम्ब कुल के राजा कामदेव के राज्यकाल में था। इसी प्रकार चालुक्य राजा सोमेश्वर तृतीय के राज्य-काल में 'पार्वती-रुक्मिणीय' नामक ग्रन्थ लिखा गया जिसमें शिव-पार्वती और कृष्ण रुक्मिणी का साथ-साथ वर्णन है। 'शतार्थकाव्य' की रचना सोमप्रभाचार्य ने की। इसमें एक श्लोक के सो अर्थ होते हैं। इस प्रकार इस काल के साहित्य में भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष को विशेष महत्त्व दिया गया।

धार्मिक अवस्था

वादामी के चालुक्य राजा ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी थे किन्तु उनके समय में जैन और बौद्ध धर्मावलम्बियों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता थी। ऐहोल प्रशस्ति का लेखक रविकीर्ति था जिसे पुलकेशिन द्वितीय ने राज्याश्रय दिया। विजयादित्य ने पण्डित उदयदेव को एक जैन मन्दिर का व्यय चलाने के लिए गाँव दान में दिया। विक्रमादित्य ने एक जैन मन्दिर की मरम्मत कराई और जयपण्डित नामक जैन विद्वान को अनुदान दिया। बौद्ध धर्म की अवनति हो रही थी पर चालुक्यों के राज्य में बहुत से मठ और स्तूप विद्यमान थे।

राष्ट्रकूटों की गुजरात शाखा का राजा कर्ण सुवर्ण स्वयं एक कट्टर शैव था पर उसने नवसारी में जैन विहार के लिए कुछ भूमि दान में दी थी। अमोघवर्ष प्रथम जैन धर्म का अनुयायी था। दन्तिदुर्ग हिन्दूधर्मावलम्बी था पर उसने बौद्ध

विहार के लिए एक गाँव दान में दिया था। हिन्दूधर्म के विभिन्न मतों में भी पूर्ण समन्वय था। राष्ट्रकूट ताम्रपत्र अभिलेखों के पहले श्लोक में शिव और विष्णु दोनों की आराधना की गयी है। उनकी मुहरों पर गरुड़ की आकृति या शिव को योगी के रूप में अंकित किया गया है। बीजापुर जिले में साल्तोगी के एक मन्दिर में ब्रह्मा, शिव और विष्णु की साथ-साथ पूजा होती थी। करगुद्रि के एक मन्दिर में शंकर विष्णु और भास्कर की पूजा की जाती थी।

मुसलमानों के साथ भी धार्मिक सहिष्णुता का व्यवहार किया जाता था। उन्हें अपने धर्म का अनुसरण करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। वे पूजा के लिए सब जगह मस्जिद बना सकते थे। मुसलमानों के धार्मिक और न्याय सम्बन्धी झगड़ों का निर्णय मुसलमान काजी करते थे।

हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान चरमसीमा पर पहुँच गया। कुमारिल ने निर्भीकता से पवित्र वैदिक धर्म का प्रतिपादन किया पर जनसाधारण पर उसके उपदेशों का विशेष प्रभाव न पड़ा। जनसाधारण ने पशु हिंसा वाले यज्ञों को अपनाया। ब्राह्मण स्मृतिधर्म के अनुयायी थे। पर ऐसा देखा जाता है कि प्रारम्भिक चालुक्य राजाओं ने राजसूय, वाजपेय और अग्निष्टोम आदि वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान कराया। हमें पता है कि चालुक्य राजा पुलकेशिन प्रथम ने अश्वमेध और वाजपेय आदि कई श्रौत यज्ञ किये। इन राजाओं का कुल चिह्न वराह था और उनके कार्य विष्णु के वराहावतार की वन्दना से प्रारम्भ होते थे।

शंकराचार्य ने हिन्दूधर्म के दार्शनिक रूप का समर्थन किया पर शंकर ने संन्यास लेने का जो उपदेश दिया उससे समाज में कोई उथल-पुथल न हुयी। उन्होंने जो मठ स्थापित किये, उनका भी इस समय के हिन्दू समाज पर कोई व्यापक प्रभाव न पड़ा। इस काल में हिन्दू समाज में स्मृतियों और पुराणों द्वारा प्रतिपादित हिन्दू धर्म का बहुत प्रचार हुआ पर इस समय के स्मृतिकारों ने हिन्दू धर्म को बहुत जटिल बना दिया।

दक्षिण भारत में व्रत बहुत लोकप्रिय हो गये। हिन्दू समाज में कुछ लोग प्रायश्चित्त भी करते थे। शिव और विष्णु की पूजा प्रायः सब जगह प्रचलित थी। चालुक्य राजाओं ने बहुत से विष्णु और शिव के मन्दिर बनवाये। कुछ लोग अपने पूर्वजों की स्मृति में शिवमन्दिर बनवाये। जनसाधारण कुछ अनार्य देवी-देवताओं की भी पूजा करते थे। मन्दिरों में मूर्तियों, उनके आभूषणों और पूजा पर बहुत धन व्यय किया जाता। कृष्ण प्रथम ने ऐलोरा मन्दिर की शिव की मूर्ति के लिए बहुत से सोने और मणियों के आभूषण दिये। गोविन्द चतुर्थ ने विभिन्न मन्दिरों को कुछ भूमि और गांव दान में दिये। बेलारी के आस-पास के प्रदेश में कार्त्तिकेय की पूजा बहुत लोक-प्रिय थी।

साधारणतया मन्दिरों में पुजारी ब्राह्मण होते थे पर कहीं-कहीं अब्राह्मण गुरव पुजारी भी होते थे। इन गुरवों को आजन्म ब्रह्मचारी रहना पड़ता था।

बहुत से मनुष्य तीर्थ यात्रा करने जाते तथा गाय पूज्य समझी जाती थी। बहुत से लोग तप भी करते। पुनर्जन्म, स्वर्ग और नरक में लोगों का विश्वास था। दान करना पुण्य का काम समझा जाता था।

बौद्धों के तीन तीर्थस्थल थे—कन्हेरी, काम्पिल्य और डम्बल। जैन धर्म की काफी प्रगति हुयी। हिन्दू धर्म के इतिहास में यह युग एक परिवर्तन का काल था। इस काल के अन्त में हिन्दू धर्म में पर्याप्त संकीर्णता आ गयी।

दसवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के बीच नाथमुनि ने वैष्णव धर्म का प्रचार किया। उनके पोते यमुनाचार्य ने नाथमुनि के सिद्धान्तों का ठीक प्रकार से प्रतिपादन किया। यमुनाचार्य के शिष्य प्रसिद्ध आचार्य रामानुज थे। उनका जन्म मद्रास के निकट श्री पेरुम्बुदुर नामक नगर में हुआ। उन्होंने आरम्भ में काँची के विद्वान् यादव प्रकाश से दर्शन-शास्त्र पढ़ा। पर इससे उन्हें सन्तोष न हुआ। रामानुज ने शंकराचार्य के मत का खण्डन किया और विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया। उनके मतानुसार प्रकृति और जीव ईश्वर द्वारा उसी तरह नियन्त्रित हैं जिस प्रकार शरीर। जीव द्वारा वास्तविक सुख आत्मा के परमात्मा के साथ सान्निध्य में है, न कि उसमें विलीन हो जाने से। उन्होंने मन्दिरों की पूजा-पद्धति में भी सुधार किया। बहुत से मन्दिरों में उन्होंने अछूतों को भी जाने दिया। उन्होंने उत्तर भारत में भी यात्रा करके वैष्णव धर्म का प्रचार किया। रामानुज ने होयसल राजा विष्णुवर्धन को, जो पहले जैन धर्मावलम्बी था, विष्णु का उपासक बनाया। दूसरे प्रमुख वैष्णव आचार्य निम्वार्क थे। ये वेलारी जिले में निबापुर के रहनेवाले थे। उन्होंने अपना अधिकतर समय वृन्दावन में व्यतीत किया। निम्वार्क ने गोपियों के साथ रास लीला करते हुये कृष्ण की पूजा पर जोर दिया। रामानुज और मध्व कृष्ण के इस रूप पर बल नहीं देते थे। मध्व या आनन्द तृतीय का जन्म १८०० ई० के लगभग दक्षिणी कनारा में हुआ था। वे मानते थे कि विष्णु और लक्ष्मी के रूप में ईश्वर विश्व का शासन करता है। वे भागवत में वर्णित कृष्ण के पुजारी थे पर सिद्धान्तों में राधा के लिए कोई स्थान न था। रामानुज के अनुयायियों की दो शाखाएँ हो गयीं। उत्तर की शाखा के नेता वेदान्तदेशिक थे और दक्षिण शाखा के पिल्ले लोकाचार्य। विष्णु के भक्तों में नामदेव का नाम भी उल्लेखनीय है। उनका विश्वास था कि भक्तिमार्ग से आत्मा का परमात्मा में विलय हो सकता है। उनके अनुयायी सब जातियों को बराबर समझते हैं और वे अपने धार्मिक समाजों में किसी को अस्पृश्य नहीं मानते।

दक्षिण की शैव सम्प्रदाय की शाखाओं में वीर शैव का, लिंगायतों का विशेष महत्त्व है। इस सम्प्रदाय का प्रचार कल्याणी के कलचुरि राजा बिज्जल के मन्त्री बसव ने किया। बसव के सम्प्रदाय पर शंकर और रामानुज दोनों के सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा। उसने शिवलिंग और शिव के वाहन नन्दी को बहुत महत्त्व दिया। बसव की शिक्षाओं में भक्ति और आत्मसमर्पण का विशेष महत्त्व है। सत्य, नैतिकता और स्वच्छता पर भी इस सम्प्रदाय वाले विशेष बल देते हैं। इस सम्प्रदाय वाले ब्राह्मण धर्म के सिद्धान्त को नहीं मानते हैं। वे यज्ञोपवीत का प्रयोग नहीं करते बल्कि रेशम के कपड़ों में बाँधकर लिंग धारण करते हैं। गायत्री मन्त्र के स्थान पर वे एक अन्य मन्त्र का पाठ करते हैं। विधवाओं को वे पुर्नविवाह करने की अनुमति देते हैं और जातियों में कोई भेदभाव नहीं मानते। तमिल देश के ६३ नायनार और ७७० अन्य सन्तों की वे पूजा करते हैं।

कला

जैसा कि हम जानते हैं कि दक्षिण भारत में इस काल में गुफा निर्माण की कला में बहुत उन्नति हुयी। ऐलोरा जगत्प्रसिद्ध है। चालुक्य राजाओं ने दरी गृह मन्दिरों का निर्माण किया। मंगलेश के राज्य काल में बादामी में विष्णु का एक सुन्दर दरीगृह मन्दिर बनाया गया। यह छठी शताब्दी ई० के अन्त में बनाया गया। अजन्ता के भित्ति चित्र में पुलकेशिन द्वितीय को फारस के राजा खुसरू द्वितीय के एक राजदूत का स्वागत करते हुए दिखलाया गया है। अजन्ता की कुछ गुफाएँ सम्भवतः चालुक्य राजाओं की बनवाई हुयी हैं।

चालुक्य राजाओं ने पत्थर के कई सुन्दर मन्दिर भी बनवाये। यहाँ के मन्दिरों पर उत्तर भारत की नागर शैली और दक्षिण भारत की द्राविड़ शैली दोनों का प्रभाव पड़ा। इन मन्दिरों की शैली बेसर शैली कहलाती है जिसका सबसे प्राचीन उदाहरण ऐहोल का 'लाध खाँ' मन्दिर है। इसका निर्माण लगभग ४५० ई० में हुआ। दुर्गा मन्दिर का निर्माण छठी शताब्दी ई० में हुआ।

राष्ट्रकूट राजाओं ने कला के विकास में कोई नया आविष्कार नहीं किया। उन्होंने भी बहुत से मन्दिर बनवाये। उनके समय की सबसे प्रसिद्ध इमारत ऐलोरा का कैलाश मन्दिर है। यह द्रविड़ शैली का उत्कृष्ट नमूना है। यह आठवीं शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्ध में कृष्ण प्रथम के राज्यकाल में बनवाया गया था। यह मन्दिर एक पहाड़ की चट्टान को ऊपर से काटकर बनवाया गया है। इसमें तक्षण कला के सुन्दर नमूने हैं।

गंग राजा जैन धर्म के अनुयायी थे। ९८४ ई० में राजा रायमल्ल चतुर्थ के राज्य काल में श्रवण बेलगोला नामक स्थान पर जैन साधु गोतमेश्वर की विशाल-

काय मूर्ति इस राजा के मन्त्री चामुण्डराय ने बनवाई। इसकी ऊँचाई ५६ फीट है। यह मूर्ति कला का उत्कृष्ट उदाहरण है।

दसवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के बीच दक्षिण में वास्तु कला की अनेक शैलियों का विकास हुआ। जैसा कि हम जानते हैं उत्तरकालीन चालुक्यों की राजधानी कल्याणी थी जहाँ अनेक मन्दिर बनवाये गये। इनमें बारीक रेशेवाले पत्थर का प्रयोग किया गया। इस कारण इसमें सुन्दर नक्काशी सम्भव हो सकी जो कि उत्तरकालीन चालुक्यों के मन्दिरों की विशेषता है। वृत्ताकार स्तम्भों की पालिश भी बहुत अच्छी है। इन मन्दिरों के विमानों में पूर्वकालीन चालुक्यों के मन्दिरों के विमानों और होयसल राजाओं के मन्दिरों के विमानों की शैलियों का सुन्दर समन्वय है। धारवाड़ जिले में सकुण्डि नामक स्थान का 'काशी विश्वेश्वर मन्दिर' बहुत सजा हुआ है। इससे ६ मील की दूरी पर इत्तगि नामक स्थान पर महादेव का मन्दिर है। यह काशी विश्वेश्वर से काफी बड़ा है और इसकी सजावट काशी विश्वेश्वर के मन्दिर से बहुत उच्च कोटि की है। कुरुपति का मल्लिकार्जुन मन्दिर भी उत्तरकालीन चालुक्य शैली का अच्छा उदाहरण है। गदग के छोटे से मन्दिर में कुछ बहुत ही अलंकृत स्तम्भ हैं। इन पर जो बारीक काम किया गया है वह मनोहारी है। इन मन्दिरों में अनेक अभिलेख और स्मारक पत्थर मिले हैं।

गंग राजा जैन धर्म के संरक्षक थे। मैसूर राज्य में श्रवण बेलगोला जैनों का प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ चन्द्रगिरि की पहाड़ी पर गंग राजा राजमल्ल चतुर्थ के मन्त्री चामुण्डराय ने ९८० ई० में 'चामुण्डराय वसादि' का निर्माण कराया। जैन मन्दिरों के सामने बनाये गये स्तम्भ कला के सुन्दर नमूने हैं। इनके शीर्ष देखने योग्य हैं।

दक्षिण भारत के उत्तर-पश्चिम में एक भिन्न शैली का विकास हुआ। इस शैली का सुन्दर उदाहरण थाना जिले में अम्बर नाथ का मन्दिर है। १०६० ई० के लगभग चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम के शिलाहार सामन्त मुम्मुनि ने इस मन्दिर को बनवाया। इसके शिखर में कई मंजिलें हैं जो दक्षिण भारत के मन्दिरों की विशेषता है। इनकी सजावट देखने योग्य है। खान देश के नौ मन्दिर भी इसी शैली के बने हैं। इनमें एक मन्दिर की शैली दक्षिण भारत के मन्दिरों की शैली के अनुरूप है। इसमें पाँच देवताओं की मूर्तियाँ हैं। प्रथम मूर्ति शिव की है। ग्वालियर क्षेत्र में उदयपुर का उदयेश्वर मन्दिर भी इसी शैली में बना है।

यादव राजा के मन्त्री हेमाद्रि ने तेरहवीं शताब्दी ई० में अनेक मन्दिर बनवाये। इन मन्दिरों में बाहर अधिक सजावट नहीं है। इसकी अलग शैली है। ये बहुत ठोस और स्थूल हैं। इस शैली के मन्दिर बराबर में मिलते हैं।

चालुक्यों के समय में धर्म और कला

चालुक्य वंश के शासन की प्रारम्भिक दो शताब्दियों में ब्राह्मण धर्म को प्रधानता प्राप्त थी। राजाओं और प्रजाजनों ने वैदिक धर्म को ग्रहण किया। इस काल के विचारकों ने वेदों की अपौरुषेयता और वैदिक आदेशों की पालनीयता का समर्थन किया। पौराणिक देवताओं का समाज में सम्मान था। वातापी और पत्रदफल में ब्रह्मा, विष्णु और महेश के विशाल मन्दिर बने थे। याज्ञिक क्रियाओं और अनुष्ठानों पर चालुक्य काल में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। पुलकेशिन द्वितीय ने अश्वमेध तथा वाजपेय आदि बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान किया था किन्तु चालुक्य राजाओं की धार्मिक सहिष्णुता के कारण दक्षिण में जैन धर्म को फलने-फूलने का अवसर प्राप्त हुआ। ऐहोल अभिलेख का रचयिता रविकीर्ति जैन धर्मानुयायी था और उसने जितेन्द्र का एक मन्दिर बनवाया फिर भी वह ब्राह्मण धर्मानुयायी पुलकेशिन द्वितीय का सर्वमान्य कृपापात्र था। विजयादित्य ने एक जैन मन्दिर के निर्वाह के लिए पण्डित उदय देव को एक ग्राम दान में दिया था। विक्रमादित्य द्वितीय ने भी अनेक जैन पण्डितों को प्रभूत दान दिया था। उसने जैन धर्म को राजाश्रय प्रदान किया। बौद्ध धर्म के प्रति चालुक्य राजाओं का क्या दृष्टिकोण था यह स्पष्ट नहीं है परन्तु उनके राज्यों में इस धर्म की क्या अवस्था थी इस पर ह्वेनसांग के लेख से प्रकाश पड़ता है। उसने लिखा है—"बौद्धविहारों की संख्या एक सौ से ऊपर थी और पाँच हजार से अधिक की संख्या में हीनयान और महायान सम्प्रदायों के भिक्षु वहाँ विद्यमान थे। राजधानी के भीतर और बाहर पाँच अशोक स्तूप थे जहाँ पिछले चार बुद्ध कभी बैठे थे और उन्होंने वायु सेवन किया था। वहाँ पर पत्थर और ईंटों के अन्य स्तूप भी थे।" किन्तु जैन और बौद्ध धर्मों की अत्यधिक उन्नति के कारण बौद्ध धर्म का विकास रुक गया।

चालुक्यों के शासन काल में कला की भी बड़ी उन्नति हुई। जैनों और बौद्धों के अनुकरण में हिन्दू देवताओं के लिए भी गुहा मन्दिरों का निर्माण चालुक्य कला की एक सफलता है। अजन्ता की बौद्धगुफायें अपने स्थापत्य और भित्ति चित्रों, विशेषतः बुद्ध भगवान का मोह और फारसी राजदूत के लिए प्रख्यात है। अजन्ता और ऐलोरा दोनों ही चालुक्य राज्य में अवस्थित थे। इनके कुछ चित्र चालुक्यों के समय में बनवाये गये थे। औरंगाबाद और नासिक में अनेक बौद्ध गुहा-स्थापत्य अब भी विद्यमान हैं। गुहा स्थापत्य की दृष्टि से उन चित्रों का महत्त्व विशेष अधिक है जो ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित हैं। औरंगाबाद के नजदीक ऐलोरा में कुछ विख्यात स्थापत्य चित्र हैं, कैलाश पर्वत के नीचे रावण, नृत्य करते हुये भगवान् शिव और हिरण्यकशिपु का वध करते हुये नरसिंह भगवान् प्रमुख हैं।

चालुक्य मन्दिर अलंकृत आधार पर स्थित होता था। इसके अनेक कोण होते थे और इसका नक्शा सितारानुमा हुआ करता था। इसका शिखर कलशमण्डित कोणात्मक स्तम्भ से अलंकृत था। राजनीतिक संघर्ष सांस्कृतिक विकास के कार्य में बाधक नहीं बना। भक्ति साहित्य और दार्शनिक विचारधारा का विकास इस काल में हुआ था। धार्मिक जागरण से प्रेरित होकर वास्तुकला, शिल्पकला, चित्रकला एवं संगीतकला के क्षेत्र में काफी विकास हुआ था।

वातापी में भगवान् विष्णु के नृसिंह और वाराह अवतारों की मूर्त्तियाँ कला की दृष्टि से बड़ी प्रशंसनीय हैं। ऐहोल, वादामी और पत्रक दल में इस कला के बने हुये मन्दिर हैं। विरूपाक्ष मन्दिर सबसे प्रसिद्ध है जिसमें भित्ति चित्रों द्वारा रामायण की कथाओं का दिग्दर्शन किया गया है। इस मन्दिर पर पल्लव कला की स्पष्ट छाप है। इसका निर्माण काँची के कैलाश नाथ मन्दिर की अनुकृति के आधार पर कराया गया था। दक्षिण में बौद्ध धर्म के ह्रासोपरान्त दक्कन का चालुक्य साम्राज्य पहला महान हिन्दू साम्राज्य था। चालुक्य शासकों के शासन का दक्षिणापथ के इतिहास में विशेष महत्त्व है। उनके समय में दक्षिणापथ में हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का अनुभव किया। चालुक्य राजाओं ने हिन्दू देवी, देवताओं के मन्दिर बनवाये और मन्दिरों को प्रचुर दान दिया। उनकी धार्मिक सहिष्णुता की नीति ने जैन धर्म को दक्षिणापथ में पनपने का अवसर प्रदान किया। अन्हिलवाड़ के जैन आचार्यों ने दक्कन में अपने मत का प्रचार किया। समाज में इन आचार्यों को आदर पूर्ण स्थान प्राप्त था और उन्होंने दक्षिणापथ में मराठी, कन्नड़ तथा तेलगू नामक प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य सृजन की नींव डाली। उन्होंने इन प्रान्तीय भाषायों में धार्मिक विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे। कालान्तर में भक्ति सम्प्रदायों के अनुयायियों ने भी जैन आचार्यों का अनुसरण करते हुये अपने मतों का प्रचार करने के लिए प्रान्तीय भाषाओं को ही अपनाया।

चालुक्यों के काल से दक्षिणापथ में उत्तर के अनेक क्षत्रिय परिवार गये और वहाँ पर उन्होंने शक्ति तथा प्रभुता प्राप्त कर ली। चालुक्य लोग छतीस राजवंशों में एक थे। पारसियों ने मुसलमानों के धार्मिक अत्याचारों से बचाने के लिए ७३५ ई० में थाना जिले में शरण ली। चालुक्य वंश के स्थानीय सरदार ने पारसियों का आदर-सत्कार तथा स्वागत किया और अपने राज्य में उन्हें अपना उपनिवेश स्थापित करने की आज्ञा दे दी। इस कार्य के लिए उस सरदार ने एक आज्ञा—विज्ञप्ति निकाली जिसमें पारसियों के प्रति इस प्रकार शुभ कामना प्रकट की गयी है—"ये पारसियों ईश्वर तुम्हें सन्तान सफलता और विजय प्रदान करे। अमर और पवित्र अग्नि तुम्हें सतत विजय देती रहे। तुम पापों से मुक्त रहो।

तुम सदा पवित्र रहो। तुम्हारे लिए भगवान् मार्तण्ड सदैव मंगलकारी बने रहे। तुम्हारी कामनायें पूरी हों। मेरे देश में तुम जो भी भू-भाग चाहो ले सकते हो। तुम्हारी प्रतिष्ठा निरन्तर वृद्धिगत होती रहे। ये पारसियों! यदि कोई भी दुर्बुधजन तुम्हें हानि पहुँचायेगा तो मैं उसका ध्वंस कर दूंगा। तुम्हारी भाग्य-लक्ष्मी प्रशस्त और स्थायिनी हो।" इस विज्ञप्ति-पत्र के बाद पारसी लोगों ने अपनी एक अलग बस्ती स्थापित कर ली और वे फारस से व्यापार करने लगे। यह महान् आदेश-पत्र एक औसतन हिन्दू नरेश के उन्नत आदर्शवाद और सार्वभौम सहिष्णुता का निदर्शन करता है। इस प्रकार की उदारता पूर्ण आज्ञाएँ इसी काल के निकट तथा बाद में दक्षिण के अन्य राजाओं द्वारा भी निकाली गई थीं।

ह्वेनसांग ने इस राज्य के विषय में अपनी अभिव्यक्ति इस प्रकार दी है—"मिट्टी अच्छी उपजाऊ है। यह बराबर जोती जाती है और इससे उपज भी बहुत अधिक होती है। यहाँ के लोग गर्वीले और युद्ध प्रिय हैं, उपकार के प्रति कृतज्ञ और अपकार के प्रति प्रतिशोधवृत्ति वाले हैं, शरण में आये हुये के प्रति आत्म बलिदान करने को तैयार रहते हैं और अपमान से रक्त पिपास हो जाते हैं, युद्ध में उनके नेता मद्य से मदमस्त होकर लड़ते हैं।"[1]

राष्ट्रकूट कालीन धर्म, कला, शिक्षा और साहित्य की अवस्था

धर्म

राष्ट्रकूट नरेशों के काल तक दक्कन में पौराणिक हिन्दू धर्म अच्छी तरह से जड़ जमा चुका था। राष्ट्रकूटों के दानपत्र शिव या विष्णु के नाम से प्रारम्भ होते हैं और उनकी मुहर पर या तो विष्णु के वाहन गरुड़ की आकृति होती है अथवा योगी मुद्रा में आसीन शिव की। उनके काल में देवताओं में समन्वय था। हम आज हिन्दू देवालयों में शिव, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य आदि विभिन्न देवताओं की मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठापित देखते हैं। यही बात हम राष्ट्रकूट काल के दक्षिणापथ में भी पाते हैं। एक ही मन्दिर में विभिन्न देवी देवताओं की प्रतिमायें होती थीं, जिनके चरणों में भक्तगण अपनी अर्चना समर्पित करते थे। दसवीं शताब्दी में बीजापुर जिले के साल्तोगी नामक स्थान में एक देवालय था जिसमें ब्रह्मदेव, शिव और विष्णु की सम्मिलित रूप से पूजा की जाती थी। करगुद्री में इसी प्रकार का दूसरा मन्दिर था जिसमें शंकर, विष्णु और सूर्य की पूजा का प्रबन्ध था। हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के साथ-साथ जैन तथा अन्य सम्प्रदायों के प्रति भी राष्ट्रकूट राजाओं तथा उनके प्रजाजनों का व्यवहार सहिष्णुतापूर्ण था। गुजरात शाखा का कर्क

---

१. राधाकृष्ण चौधरी, वही, पृ० ५८२

सुवर्ण स्वयं कट्टर शैव था, किन्तु नौसारी में उसने जैन बिहार को एक क्षेत्र दान में दिया। यह हम देख चुके हैं कि अमोघवर्ष ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था परन्तु हिन्दू धर्म की देवी महालक्ष्मी के प्रति उसके हृदय में इतनी अधिक श्रद्धा थी कि उसने देवी को प्रसन्न करने के लिए अपने बायें हाथ की उँगली काट कर चढ़ा दी थी। गुजरात शाखा का दन्तिवर्मन पैराणिक हिन्दू धर्म का अनुयायी था परन्तु उसने बौद्ध बिहार को एक ग्राम दान में दे दिया था। मलगुन्द के ब्राह्मण परिवारों में ६०२ ई० में जैन विहार को एक क्षेत्र दान किया था। इस काल की धार्मिक सहिष्णुता के सम्बन्ध में सौन्दत्ति के रट्टों के लेख बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। महासामन्त पृथ्वी राम ने, जो कृष्ण द्वितीय का समकालीन था, एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था। उसका पौत्र जैन था पर पृथ्वी राम के पौत्र का पौत्र हिन्दू था और उसने अपने गुरु की, जो तीन वेदों में पारंगत था, १२ निवर्तन भूमि दान में दे दी थी। उसके पुत्र श्री सेन ने एक जैन मन्दिर बनवाया था। राष्ट्रकूटों के उदार शासन के अधीन दक्षिणापथ में पौराणिक हिन्दू धर्म और जैन धर्म दोनों ही फूले-फले। परन्तु बौद्ध सम्प्रदाय का निस्सन्देह ह्रास हुआ और अमोघवर्ष प्रथम के कुछ अभिलेखों के अनुसार दक्कन में इस सम्प्रदाय का केन्द्र कन्हेरी था।[1]

राष्ट्रकूट राजाओं ने विदेशियों के साथ भी अपनी धार्मिक उदारता का परिचय दिया। जिस प्रकार चालुक्यों के समय में पारसियों को अपने उपनिवेश स्थापित करने की अनुमति प्राप्त हुई थी, उसी प्रकार राष्ट्रकूट राजाओं ने अरबों के प्रति उदारता बरती। परन्तु उन्होंने अरब व्यापारियों को व्यापारिक और धार्मिक सुविधाएँ ही प्रदान कीं, उनके साथ किसी प्रकार का राजनीतिक गठबन्धन नहीं किया। अल्तेकर का मत है कि इस बात के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता कि राष्ट्रकूट ने मुंगेर प्रतिहारों से युद्ध करने के लिए सिन्ध के अरब शासकों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया था।

कला

कला के क्षेत्र में राष्ट्रकूटों की कोई विशिष्ट तथा मौलिक देन हमें देखने को नहीं मिलती। अल्तेकर का कहना है कि मौर्यों, गुप्तों, चालुक्यों और पल्लवों की ललित कलाओं के क्षेत्र में अपनी-अपनी विशिष्ट तथा प्रशंसनीय देन रही है। पर राष्ट्रकूट युग के लिए इस प्रकार का कोई दावा नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि मालखण्ड राजसभा में ललित कलाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था, फिर भी कृष्ण प्रथम के समय में एलोरा के कैलाश मन्दिर का निर्माण कराया गया। यह मन्दिर चट्टानों को काट कर बनवाया गया है। इसकी

१. Rastrakut and their Time. p. 273.

अद्भूत निर्माण कुशलता वस्तुतः प्रशंसनीय है। एक राष्ट्रकूट लेख में इस मन्दिर की प्रशंसा इन शब्दों में की गई है—अपने रथों में समासीन देवगण आकाश में विचरण कर रहे थे कि वे इस मन्दिर को देखकर विस्मय विमुग्ध हो गए और उन्होंने कहा कि यह स्वमेव निर्मित हो गया होगा, मनुष्यों ने इसे नहीं बनाया होगा। एलोरा का कैलाश मन्दिर भगवान् शिव के निमित्त निर्मित किया गया है और इसकी भित्तियों पर अन्य देवी देवताओं की आकृतियाँ हैं। कुछ भिति चित्रों में गंगावतरण का दृश्य दिखलाया गया है और एक चित्र में रावण कैलाश पर्वत को उठाते हुए प्रदर्शित किया गया है। इस चित्र के विषय में प्रसिद्ध कला समालोचक स्व० आनन्द कुमार स्वामी का कथन है कि हमें पर्वत के हिलने की अनुभूति होती है और पार्वती शिव की ओर मुड़कर भय से उनका हाथ दृढ़तापूर्वक पकड़ लेती है। जब कि उनकी कुमारी भाग खड़ी होती है परन्तु महादेव बिलकुल स्थिर हैं और अपने चरण दबाकर निखिल पर्वत को सम्भाले हैं। एलोरा के मन्दिर पर चालुक्यों की मन्दिर निर्माण शैली का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगत होता है। अल्तेकर का अनुमान है कि यह मन्दिर सम्भवतः उन कलाकारों ने बनाया होगा जिनको काञ्ची से बुलवाया गया था। विन्सेन्ट स्मिथ ने लिखा है कि ठोस चट्टान को काटकर बनाया हुआ यह अद्भुत दरी मन्दिर भारत के वास्तु आश्चर्यों में सर्वाधिक विस्मय जनक है।[१]

शिक्षा

राष्ट्रकूट राजाओं के शासनकाल में शिक्षा और साहित्य की काफी उन्नति हुई। उनके राज्य में उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी। वे शिक्षा सम्बन्धी कार्यों के लिए प्रचुर दान दिया करते थे। अमोघवर्ष प्रथम के शासन काल में कन्हेरी के बौद्ध बिहार को भद्र विष्णु ने पुस्तकें खरीदने के लिए कुछ द्रव्य दान में दिया था। इससे यह स्पष्ट है कि वलभी के बौद्ध बिहार के समान कन्हेरी के बौद्ध बिहार में भी एक पुस्तकालय था। साल्तोगी (जिला बीजापुर) के एक अभिलेख से एक विद्यालय के विषय में हमें कुछ महत्त्वपूर्ण बातें मालूम होती हैं। इस विद्यालय में दूर-दूर से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे जिनके रहने के लिए उसमें २७ छात्रा-वास बने हुए थे। लगभग साठ एकड़ भूमि की [आय का उपयोग विद्यालय में प्रकाश का प्रबन्ध करने के लिए किया जाता था। २५० एकड़ भूमि की आय विद्यालय के प्रधानाचार्य को वेतन के रूप में प्राप्त होती थी। राष्ट्रकूटों के समय में शिक्षण संस्थाओं को राज्य तथा धनी-मानी लोगों से आर्थिक सहायता भी प्राप्त हुआ करती थी।

---

१. Early History of India, p. 445.

साहित्य

राष्ट्रकूट राजाओं के अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि उन अभिलेखों के रचयिता काव्य-कला से भली-भाँति परिचित थे। यह सत्य है कि वे गुप्तकालीन अभिलेखों के रचयिताओं की भाँति सिद्ध कवि नहीं थे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने संस्कृत साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों का सम्यक् रूपेण अध्ययन किया था। करिहार्न का कहना है कि राष्ट्रकूट राजाओं के शासकों की रचनाओं की शैली सुबन्धु रचित 'वासवदत्ता' तथा बाणप्रणीत 'कादम्बरी', एवं 'हर्षचरित' की शैलियों की पर्याप्त ऋणी है। राष्ट्रकूट राजाओं ने कवियों और साहित्यकारों को राजाश्रय प्रदान किया। अमोधवर्ष स्वयं लेखक था और उसने कन्नड़ भाषा में काव्य शास्त्र पर 'कवि राजमार्ग' नामक पुस्तक लिखी। राष्ट्रकूट राजाओं ने जैन पण्डितों का समादर किया और उन्हें अपनी राजसभा में स्थान दिया। जैन पण्डितों ने कई ग्रन्थों का प्रणयन किया। अमोघवर्ष प्रथम के गुरु जिनसेन ने 'हरिबंश' नामक ग्रन्थ का प्रणयन ७८३ ई० में समाप्त किया। उन्होंने 'आदिपुराण' लिखना प्रारम्भ किया था पर इसे समाप्त करने के पूर्व ही वे स्वर्ग सिधार गये। अपने 'पार्श्वाभ्युदय' नामक ग्रन्थ में उन्होंने पार्श्वनाथ का जीवन-चरित्र लिखा। इस ग्रन्थ में उन्होंने महाकवि कालिदास के अमर काव्य 'मेघदूत' के श्लोक ग्रहण किये हैं। अमोघवर्ष प्रथम के ही शासनकाल में 'अमोघवृत्ति' की रचना शाक्तायन ने की और वीराचार्य कृत गणित-सार संग्रह का प्रणयन भी इसी समय हुआ। पोन्ना नामक कवि कन्नड़ तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में रचना करता था अतएव उसे 'अभयकवि चक्रवर्तिन' की उपाधि दी गयी थी। पोन्ना की प्रमुख रचना 'शान्तिपुराण' है। पम्पा ने कृष्ण तृतीय के समय में 'भारत' लिखा। पोन्ना और पम्पा कन्नड़ भाषा के तीन रत्नों में से हैं। तीसरे कवि का नाम रन्ना है। इन तीनों कवियों का आज भी बड़े आदर के साथ कन्नड़ भाषा-भाषी लोग स्मरण करते हैं। राष्ट्रकूट-युग तक मराठी भाषा में साहित्य रचना का कार्य प्रारम्भ नहीं हुआ था।

३. सुदूर दक्षिण

उत्तर भारत के राजाओं के समान ही सुदूर दक्षिण के राजाओं के अधिकार और कर्तव्य थे। आन्तरिक व्यवस्था ठीक रखने के साथ ही विदेशी आक्रमणों से रक्षा करना शासकों का परम पुनीत कर्तव्य होता था। तत्कालीन पड़ोसी राज्यों को जीत लेना और उन्हें अपने राज्य में मिलाकर उन पर शासन करना भी राजा का एक कर्तव्य था। और, यही एक कारण था कि पल्लवों और चालुक्यों, पल्लवों और पाण्ड्यों तथा राष्ट्रकूटों और चोलों के कई युद्ध हुए। राज्य में राजा प्रधान न्यायाधीश तथा मुख्य सेनापति के भी रूप में जाना जाता था। पल्लव राजा

'भट्टारक' की भी उपाधि धारण करता था। युवराज 'युवमहाराज' भी कहलाते थे तथा राजकुमारों को शासन के अन्य कामों में प्रमुख भाग दिया जाता था।

राजकुमारों को साहित्य, विधि, दर्शन एवं सैनिक कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। जब राजा का पुत्र नहीं होता था तो भाई के पुत्र को राजा बनाया जाता था। रानियों को भी समान आदर दिया जाता था। राजा निरंकुश होते हुए भी निरंकुश नहीं हो पाता था। जैसा कि हम जानते हैं कि राजवंश के अन्य सदस्य भी शासन में भाग लेते थे तथा उन्हें राजा की नीति को प्रभावित करने का पर्याप्त अवसर मिलता था। राजा सामन्तों की सम्मति का भी आदर करता था। राज्य के कुछ अधिकारी वंशानुगत होते थे। उनकी सलाह का भी महत्त्व था।

पल्लवों का शासन-प्रबन्ध सुव्यवस्थित था और राजा के कार्यों में सहायता देने के लिए मन्त्री हुआ करते थे जो 'रहस्यादिकदा' कहलाते थे। राजा का व्यक्तिगत मन्त्री उसकी आज्ञाओं को कागज पर दर्ज करता था। पल्लव राजाओं का मन्त्रिमण्डल पर्याप्त प्रभावशाली था। पल्लव राजा नन्दिवर्मा के मन्त्रिमण्डल का वर्णन वैकुण्ठ पेरुमल अभिलेख में है। राजा के मौखिक आदेशों को लिखने वाला अधिकारी दक्षिण भारत में तिरुवक्केलवि और राजा सहित मन्त्रिपरिषद् के आदेशों को लिखने वाला तौम्मन्दिर ओलय कहलाता था।

प्राचीन प्रणाली के अनुसार अनेक अध्यक्षों और राजप्रमुखों के अधीन सारा केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन संगठित था। मुख्य अधिकारियों में राजकुमार, अमात्य, राष्ट्रिक (प्रान्तीय अथवा जिले का अधिकारी), देशाधिकृत (स्थानीय संरक्षक), ग्रामभोजक (गाँव का मुखिया), गौल्मिक (सेनानायक या जंगल का अधिकारी), दूतक (सन्देशवाहक), संगरन्तक (गुप्तचर), भट्टमनुष्य (सैनिक) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए सारा साम्राज्य कई प्रान्तों में बंटा था जिनको राष्ट्र या मण्डल कहते थे। शासन की इससे छोटी इकाइयाँ कोट्टम् ग्राम और नाडु थे। प्रान्त के ऊपर राजवंश या सामन्त वंश के पुरुष शासन करते थे। राष्ट्र और मण्डलों के ऊपर राष्ट्रिक और माण्डलिक का अधिकार होता था। ग्राम का प्रमुख अधिकारी मुखिया होता था।

ग्राम सभा को स्थानीय न्याय, रक्षा और सार्वजनिक हित के काम करने का अधिकार था। ग्राम सभा को स्थानीय-न्याय, रक्षा और सार्वजनिक हित के काम करने का अधिकार था। तमिल अभिलेखों में तीन प्रकार की ग्राम सभाओं का वर्णन मिलता है। सभी ग्रामवासियों की साधारण सभा को 'भर' कहा जाता था। जो गाँव ब्राह्मणों को दान में दिये गये थे उनके ब्राह्मण निवासियों की सभा को

'सभा' कहा जाता था। नगरों की ऐसी सभा जिसमें व्यापारियों और दूकानदारों का विशेष प्रभाव होता था 'नगरम्' कहलाती थी। ग्राम सभायें सिंचाई के अधिकारों का पालन करातीं, दान की सम्पत्ति का प्रबन्ध करतीं, सड़क और तालाबों की मरम्मत करातीं और मन्दिरों का प्रबन्ध करती थीं। राज्य को भूमि; उद्योग-धन्धों और व्यापार से आय होती थी। अट्ठारह प्रकार के करों का उल्लेख पल्लव लेखों में मिलता है। बहुत-सी वस्तुएँ करयुक्त थीं। किन्तु कुछ नाम मिलते हैं जिनपर कर लगाया जाता था। जैसे कोल्हू, करघा, विवाह, उलवियकूलि, कुम्हारों पर, पासी और गड़ेरियों पर, दूकान पर, दलालों पर, बाजार में बिकने वाली सुपारी आदि अनेक वस्तुओं पर कर लगता था। इससे होने वाली आय से राज्य का प्रबन्ध होता था। भूमि की माप, व्यवस्था और सिंचाई का प्रबन्ध सरकार करती थी। राज्य की ओर से ब्राह्मणों और शिक्षकों को वृत्ति मिलती थी और धार्मिक कृत्यों और दान के लिए व्यवस्था होती थी।

राजा एवं उनके सभासद् का जीवन बड़ा ही विलासी था। साधारण जनता सीधा-सादा जीवन बिताती थी। ब्राह्मण दान में प्राप्त धन से अपना निर्वाह करते थे और उनका समाज में काफी आदर था। वर्णव्यवस्था सर्वत्र प्रचलित थी। प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति से अपना कर्त्तव्य पूरा करने की आशा की जाती थी। कोई भी अधिकारों के लिए नहीं लड़ता था। गाँवों और शहरों में हर वर्ण के व्यक्ति अलग-अलग मुहल्लों में रहते थे और वहाँ वे अपने रीति-रिवाजों का अनुसरण करते थे। पल्लव राज्य में नमक और चीनी बनाने का सरकार को एकाधिकार था। जब सरकारी कर्मचारी दौरे पर जाते तो गाँव वाले उनके ठहरने और खाने-पीने की पूरी व्यवस्था करते थे। कुछ ब्राह्मणों को भूमि कर से मुक्त कर दी जाती थी।

साहित्य

साहित्य के क्षेत्र में इस काल में काफी प्रगति हुयी। संस्कृत राजभाषा के पद पर थी। पल्लव अभिलेख अधिकांशतः संस्कृत में हैं और तमिल अभिलेखों में संस्कृत का बहुत बड़ा भाग है। काँची प्राचीन काल से ही विद्या और कला का केन्द्र थी। वहाँ एक विश्वविद्यालय था। कदम्ब नरेश मयूरशर्मन ने यहीं वेद का अध्ययन समाप्त किया। विद्यालयों के खर्च उनके धनी उपासक चलाते थे। सिंहविष्णु के दरबार में भारवि और नरसिंह वर्मा द्वितीय के दरबार में दण्डिन रहता था। दण्डिन के समकालीन एक मातृदत्त का भी उल्लेख मिलता है। महेन्द्रवर्मन एक प्रतिष्ठित लेखक था और उसने 'मत्तविलास प्रहसन' की रचना की। पल्लव नरेश विद्वानों के संरक्षक थे। प्रथम महेन्द्रवर्मन ने विचित्र चित्र की उपाधि धारण की

थी। साहित्य तथा विविध शास्त्रों को पल्लव राजाओं से बहुत प्रोत्साहन मिला। तमिल भाषा का प्रयोग भी उनके समय में होता था। भास और शूद्रक के नाटकों के संक्षिप्त संस्करण अभिनय के लिए पल्लव राजाओं की सभा में तैयार हुये थे। महेन्द्रवर्मन ने पुरक्कोटा रियासत के वुडमियमलै का संगीत सम्बन्धी अभिलेख खुदवाया। आरियाक और आलवार आन्दोलनों का सूत्रपात भी इसी युग में हुआ। पल्लवों के समय में वैष्णव और शैवधर्म की प्रधानता थी पर जैनधर्म और बौद्धधर्म का भी समादर होता था। ह्वेनसांग के अनुसार कांची के १०० विहारों में लगभग १००,००० बौद्ध भिक्षु थे। महेन्द्रवर्मन पहले जैन था पीछे शैव हुआ।

पल्लव राजा संस्कृत साहित्य के पोषक थे। पल्लव राजाओं ने बाहूर (पाण्डिचेरी के निकट) की शिक्षण-संस्थाओं को दान दिया। यहाँ वेदों, वेदांगों, मीमांसा, न्याय, पुराणों और धर्मशास्त्र के अध्ययन की व्यवस्था थी। नृपतुंग वर्मा के एक मन्त्री ने एक महाविद्यालय को तीन गाँव दान में दिये। इस महाविद्यालय में वैदिक विद्या की चौदह शाखाएँ पढ़ाई जाती थीं। पल्लव राज्य के ब्राह्मण संस्कृत साहित्य का अध्ययन करते थे। कालिदास, वराहमिहिर और भारवि के काव्यों से यहाँ के लोग भली प्रकार परिचित थे। संस्कृत का अध्ययन और अध्यापन अधिकांशतः ब्राह्मण ही करते थे। अनेक विद्याओं में प्रवीण ब्राह्मण राजगुरु नियुक्त किये जाते थे। कुछ स्थानों पर ब्राह्मणों की संगठित संस्थाएँ थीं जैसे कि कांची की घटिका। नृपतुंग के राज्यकाल के कावेड़ी पाक्कम् नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख में एक वैष्णव मठ और उसके विद्वानों का वर्णन है।

नवीं शताब्दी के आरम्भ में शक्तिभद्र ने आश्चर्य चूड़ामणि नामक नाटक लिखा। दसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही जीवक चिन्तामणि नामक प्रसिद्ध तमिल महाकाव्य की रचना की। ९५० ई० के लगभग चेर (केरल) के राजा कुलशेखर ने तपतीसंवरण और सुभद्रा धनंजय नामक दो नाटक लिखे। उसने 'नलोदय' के लेखक वासुदेव को भी राज्याश्रय दिया। परान्तक प्रथम (९०७–९५५ ई०) के राज्य-काल में वेंकटमाधव ने 'ऋग्वेदार्थ दीपिका' नामक ऋग्वेद का प्रसिद्ध भाष्य लिखा। दसवीं शताब्दी में सम्भवतः दक्षिण भारत में भागवत पुराण की रचना हुयी जिसमें कृष्ण भक्ति और अद्वैत का सुन्दर समन्वय है। यह वैष्णवों का महाग्रन्थ है।

कला

पल्लव राजाओं ने कला का बहुत विकास किया। दक्षिण भारत की कला के इतिहास में पल्लवों के राज्य-काल का विशेष महत्त्व है। तमिल देश में पाषाण वास्तुकला का प्रारम्भ पल्लवों के समय में ही हुआ। पल्लव वास्तुकला के विकास

की रूपरेखा सुस्पष्ट है। सबसे पहले त्रिचनापल्ली में दरी मन्दिर बनवाये गये। इसके बाद महाबलिपुरम में रथ-मन्दिरों का निर्माण कराया गया। फिर महाबलिपुरम में शोर मन्दिर जैसे विशाल मन्दिर बनवाये गये। पल्लव धातु की चार विभिन्न शैलियों के नाम पल्लव राजाओं के नाम पर रखे गये थे :—

(१) महेन्द्रवर्मन प्रथम शैली,
(२) महामल्ल शैली,
(३) राजसिंह और नन्दिवर्मन द्वितीय शैली,
(४) अपराजित शैली।

इस बात का प्रमाण मिलता है कि पहले कलाकार—वास्तु-कला में काष्ठ का प्रयोग करते थे परन्तु बाद में पत्थर का प्रयोग भी निपुणता से करने लगे। चट्टानों को काटकर मन्दिर बनाने की कला दक्षिण में महेन्द्रवर्मन प्रथम के समय में प्रारम्भ हुयी। त्रिचनापल्ली और महामल्लपुरम् के मन्दिर दरी-मन्दिर हैं। पत्थर और चूने से ऊँचे-ऊँचे शिखरों और मण्डपों वाले मन्दिरों की दीवालों को विशिष्ट लक्षण चित्रों से समलंकृत किया गया था। सित्तनवासन में चित्रकारी के भी उदाहरण मिलते हैं। उस युग की चट्टानों में काटी हुयी अनेक गुफाएँ भी पायी जाती हैं। गुफाएँ विविध सुन्दरतम उत्कीर्ण आकृतियों से अलंकृत हैं। मन्दिर एक ही अखण्ड चट्टान में से काटकर बनाया गया है। गंगावतरण का दृश्य (जिसे अर्जुन का पश्चाताप भी कहा जाता है) अपूर्व है।

पल्लव वास्तु-शैली का प्रभाव सुदूरपूर्व के भारतीय उपनिवेशों पर भी पड़ा। शिखर-शैली का प्रभाव जावा, कम्बोडिया और अन्नाम की कलाओं पर आज भी हम पाते हैं। पल्लव मन्दिरों के अलंकरण विशिष्ट हैं और उनके स्तम्भों का अनुपात भी सुन्दरतम है। पल्लव कला का आदर्श उदाहरण काँची का कैलासनाथ मन्दिर तथा सप्त पैगोड़ों के दला का तट मन्दिर है। यहाँ प्रतिमा-प्रकोष्ठ पर पिरामिड के ढंग पर शिखर है और समतल छत का मण्डप है जिसके चतुर्दिक छोटे-छोटे प्रकोष्ठों की शृंखला है। द्राविड़ मन्दिरों का शिखर पिरामिडाकार होता है जिसमें सबसे ऊपर एक गुंबदाकार छत होती है जिसे विमान कहा जाता है। मण्डप में बहुत खंभे होते हैं। मन्दिरों की सब दीवारों पर शिखर से आधार तक मूर्त्तियाँ खुदी होती हैं। मन्दिर के मुख्य भवन से कुछ दूरी पर एक इतना अधिक ऊँचा द्वार होता है कि उसमें दो या तीन मील की दूरी से देखा जा सकता है जिसे गोपुरम् कहा जाता है। ये मन्दिर एक बहुत बड़े अहाते में बनाये जाते हैं जिसके चारों ओर दीवार होती है जिसे प्राकार कहा जाता है। कुछ मन्दिरों में राजा-रानियों का सजीव चित्रण हुआ है। महेन्द्रवर्मन के उत्तर अरकाट जिले में अपने नाम की झील के तट

पर एक विष्णु मन्दिर का निर्माण कराया। महेन्द्रवर्मन के मन्दिरों की विशेषता उनके त्रिमुखी स्तम्भों से थी। नरसिंहवर्मन द्वितीय ने विख्यात कैलासनाथ मन्दिर अथवा राजसिंहेश्वर का मन्दिर बनवाया। कांची का ऐरावतेश्वर तथा महाबलि-पुरम् का तथाकथित तट मन्दिर भी उसी के बनवाये हुये हैं। नरसिंहवर्मन प्रथम के महाबलिपुरम् में बनवाये हुए पाण्डवों और द्रौपदी के रथ पत्थर को काटकर बनाये वृषभ, सिंह और हाथी, कृष्ण द्वारा गोवर्धन धारण, अर्जुन की तपस्या तथा महिषासुर वध का चित्रण अद्वितीय है।

पल्लव कला दक्षिण भारत के लिये ही आदर्श नहीं रही बल्कि इसका प्रसार दक्षिण पूर्व एशिया के विभिन्न देशों पर भी पड़ा। राजसिंह (लगभग ७००–८०० ई०) के समय के बचे हुये मन्दिर मामल्लपुरम और काँची में देखे जा सकते हैं। नन्दिवर्मा के युग के मन्दिर आकार में छोटे हैं और उनकी वास्तुकला राजसिंह के राज्य काल की वास्तुकला से अच्छी नहीं है। अपराजित के समय लगभग ९०० ई० के मन्दिरों की वास्तुकला चोल राजाओं की वास्तुकला से बहुत मिलती है। इसमें हमें पल्लव कला का पूर्णतया विकसित रूप मिलता है।

मन्दिर केवल पूजा-स्थल ही नहीं था वरन् इनका महत्त्व सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन में काफी था। दैनिक प्रक्रिया में अनेक पुरोहितों, संगीतज्ञों, नर्तकियों, फूल वेचने वालों, रसोइयों तथा नौकरों को आजीविका अर्जन करने का अवसर मिलता था। मन्दिरों में चिकित्सालय और पाठशालाएँ थीं।

धार्मिक अवस्था

इस युग में वैष्णव धर्म और शैवधर्म की प्रधानता थी, किन्तु बौद्ध धर्म और जैन धर्म को भी प्रोत्साहन मिलता था। दस हजार भिक्षुओं का उल्लेख ह्वेनसांग ने किया है। धर्मपाल काँची का बासी था। विभिन्न शैवसम्प्रदायों का जन्म भी दक्षिण में इसी समय हुआ। शैव धर्म की प्रधानता बढ़ती गयी। शंकराचार्य का जन्म मालवार तट पर इसी काल में हुआ था। उन्होंने भारत की अगणित जनता के बीच शिव की पूजा को प्रिय बनाने के लिए बहुत कार्य किया। वे उत्कृष्ट वेदान्ती और अद्वैत सिद्धान्त के प्रवर्तक थे। उन्होंने मैसूर में शृंगेरी, काठियावाड़ में द्वारका, उड़ीसा में पुरी और हिमालय में वदरीनाथ मठ की स्थापना की।

पल्लव शासक महेन्द्रवर्मा पहले जैन धर्म का अनुयायी था, बाद में वह शिव का उपासक बन गया। नरसिंहवर्मा ने द्वितीय कूरम और काँची में शिव के मन्दिर बनवाये। चोल और पाण्ड्य राजा कट्टर शैव थे। उन्होंने जैनों के साथ अत्याचार किया। ऐसा कहा जाता है कि पाण्ड्य राजा सुन्दर ने ८००० जैनों को शूली पर चढ़ा दिया पर साधारणतया धर्म के विषय में सब जगह सहिष्णुता थी।

सुदूर दक्षिण के इन राज्यों में कुछ राजाओं ने दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच वैदिक यज्ञ किये। साथ ही शिव और वैष्णव धर्म की भी विशेष उन्नति हुयी। राजाधिराज ने अपनी विजयों के उपलक्ष में अश्वमेध यज्ञ किया।

चोल शासन प्रबन्ध

केन्द्रीय सरकार

चोलों की शासन प्रणाली भारतीय शासन पद्धति में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। चोलों ने अपना विशाल साम्राज्य स्थापित किया था और उसके शासन के अर्थ भी उन्होंने विधिवत प्रयास किये। साम्राज्य के विशिष्ट शासन के अतिरिक्त उनका ग्राम शासन अधिक सामान्य था जो प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति में असामान्य था।

चोल राजाओं के अनेक अभिलेख उनकी शासन व्यवस्था पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। उनकी भी शासन व्यवस्था सुसंगठित थी।[1]

चोल साम्राज्य की शासन व्यवस्था प्रमुखतः राजतन्त्रात्मक थी। चोल राज्य के एक विशाल साम्राज्य में परिणत हो जाने पर राजा का प्रभुत्व ठाटबाट तथा सम्मान बहुत अधिक बढ़ गया। सम्राट् विविध प्रकार से अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने की चेष्टा किया करता था। उसकी एक से अधिक राजधानी होती थी और उसकी राजसभा ऐश्वर्यमयी तथा तड़क भड़क से परिपूर्ण हुआ करती थी। वह अश्वमेधादि यज्ञों का अनुष्ठान करता था और इन अवसरों पर ब्राह्मणों को विपुल दक्षिणा दान में दिया करता था। इतना ही नहीं, विशेष मन्दिरों के नाम सम्राटों के नाम पर रख दिये जाते थे जैसे राज राजेश्वर मन्दिर और मन्दिरों में उसकी प्रतिमायें रखी जाती थीं। राजा स्वयं सरकार के प्रत्येक विभाग की देखभाल करता और उसके आदेशों को विभागीय सचिव लिखकर प्रतिनिधि शासकों को भेजते थे।

चोल साम्राज्य में उत्तराधिकार की व्यवस्था बड़ी ही उत्तम और सुस्पष्ट थी। सम्राट् अपने जीवन काल में ही अपना उत्तराधिकारी चुन लेता था जिसे युवराज कहा जाता था। युवराज अपने पिता को शासन कार्य में सहायता प्रदान करता था। सम्राट् को शासन कार्यों में सहायता देने के लिए कई कर्मचारी होते थे जिनको नकद वेतन नहीं बल्कि भू-भाग के रूप में पारितोषिक दिया जाता था। अभिलेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि चोल साम्राज्य में सिविल सर्विस का

---

१. In the history of the Tamil kingdoms the credit of having organised an excellent administrative system goes to the Cholas.

संगठन सुव्यवस्थित था। इस विभाग का अध्यक्ष 'ओ-लै-नायक' सम्राट् का प्राइवेट सेक्रेटरी होता था। यह एक उल्लेखनीय बात है कि चोल शासन पद्धति में मन्त्रि मण्डल नहीं था परन्तु इस अभाव की पूर्ति एक योग्य कर्मचारी वर्ग द्वारा हो जाती थी। इस कर्मचारी वर्ग के प्रमुख-प्रमुख सम्राट् के निकट सम्पर्क में रहा करते थे और उसे शासन कार्यों में परामर्श दिया करते थे। चोल राजा अपने साम्राज्य का दौरा किया करते थे जिससे शासन व्यवस्था शिथिल नहीं होने पाती थी।

सेना और जहाजी बेडा

चोल राजाओं ने अपने बड़े साम्राज्य की रक्षा के लिए शक्तिशाली सेना बनायी जिसमें धनुष बाण वाले योद्धा, वनों में लड़ने वाले योद्धा, चुने हुए घुड़सवार और हाथी सेना भी शामिल थी।

चोल सम्राटों के अधीन एक विशाल सेना थी। सेना में हाथी अश्वारोही और पैदल होते थे। अभिलेखों में सेना के सत्तर सैन्य दलों का उल्लेख मिलता है। प्रत्येक सैन्य दल का संगठन सहकारिता के सिद्धान्तों पर आधारित होता था। कुछ सैन्य दल नागरिक जीवन के कार्यों में भी भाग लेते थे और मन्दिरों को दानादि दिया करते थे। सैनिकों को शिक्षा तथा उनको अनुशासित रखने पर समुचित ध्यान दिया जाता था। इस कार्य के लिए विशिष्ट सैन्य शिविर (कडगम) हुआ करते थे। चोल सेना अस्त्रों तथा आरोही और अनारोही की दृष्टि से अनेक भागों में विभाजित थी। इस प्रकार उसकी सेना में एक स्कन्ध चुने हुए धनुर्धरों का समूह (विल्लिगड़) दूसरा शरीर रक्षक पदाति (वड़पेरी वैश्वकोलर) तीसरा दक्षिण पार्श्व के पदाति (वलेगै के वेलेवकारर) चौथा चुने हुए अश्वारोही (कुदिरैच्चेवगर) पाँचवाँ (आनैयारकल, कुजिर मल्लर) आदि थे।

चोलों का जहाजी वेड़ा अत्यन्त सुसंगठित था। इसी जहाजी वेड़े की सहायता से कदारम और श्रीविजय के राज्य विजित किये गये थे। चोल सेना के सैनिकों को अनुशासन की शिक्षा दी जाती थी। परन्तु विजित शत्रुओं के प्रति उनका व्यवहार कभी-कभी अशोभन और लज्जास्पद हो जाया करता था। पश्चिमी चालुक्य राज्य और पाण्ड्य देश पर आक्रमण करने के बाद चोल सेना के सैनिक निर्दोष नागरिकों को भी काफी क्षति पहुँचाते और स्त्रियों का अपमान किया करते।

चोल शासन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी की इन लोगों ने सामुद्रिक शक्ति के महत्त्व को सही ढंग से समझा और उसका पूर्ण रूपेण विकास किया। इन लोगों का व्यापारिक सम्बन्ध विदेशों से था जिनमें चीन, सुमात्रा, जावा, इसेवेला आदि देश प्रमुख थे और चोलों का राजनीतिक प्रभाव भी दक्षिण पूर्वी एशिया

पर था। पल्लव और चोलों के समय की यह सबसे बड़ी विशेषता रही है कि उस समय सामुद्रिक शक्ति पर विशेष बल दिया गया और उन लोगों ने उसके राजनीतिक, सामुद्रिक और व्यापारिक महत्त्व को ठीक समझा।

व्यावसायिक संगठनों का भी अपना अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क था और आर्थिक जीवन को सक्रिय बनाने में उनका भी विशेष योगदान रहता था।

राजनीतिक प्रसार के क्रम में चोलों ने अपने शत्रुओं के सामुद्रिक संगठनों, बन्दरगाहों और जहाजों को बर्बाद कर उसपर अपना आधिपत्य जमाया। राज-राज के तंजोर अभिलेख से इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। इस संघर्ष के पीछे भी आर्थिक कारण था। केरल, लंका और पाण्डय शासकों का प्रभुत्व पश्चिमी व्यापार पर था और अरब के लोग भी पश्चिमी तट पर अपना प्रभाव जमाये हुए थे। राज-राज इस प्रभुत्व को समाप्त करना चाहता था और यह तभी संभव हो सकता था जबकि चोलों के पास भी पर्याप्त मात्रा में सामुद्रिक शक्ति हो। ये लोग दक्षिण पूर्वी एशिया में भी अपना प्रभाव वढ़ाये हुए थे और चोलों का स्वार्थ वहाँ भी उन लोगों से टकराता था। चूँकि अरब लोग मालदीव द्वीप के व्यापार पर हावी थे इसलिए राज-राज ने उस द्वीप पर भी सामुद्रिक चढ़ाई किया। नौ सैनिक शक्ति का सही विकास राजेन्द्र चोल के समय में सम्भव हुआ। उसका नौ सैनिक अभियान भी काफी सफल रहा। दक्षिण पूर्वी एशिया में अपना साम्राज्य कायम करना चाहता था और इसके पीछे भी उसका आधार आर्थिक ही था। वह उस क्षेत्र में भारतीय व्यापारियों के स्वार्थ को सुरक्षित रखना चाहता था। उस समय दक्षिण पूर्वी एशिया में शैलेन्द्रों का बोल-बाला था। उत्तर-विजय से उत्प्रेरित होकर राजेन्द्र चोल दक्षिण पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति प्रदर्शित करना चाह रहा था और इसके लिए भारतीय व्यापारी वर्गों की स्वार्थ सुरक्षा का एक बहाना भी मिल गया। दक्षिण पूर्वी एशिया पर आधिपत्य कायम करके वह भारत और सुदूरपूर्व के बीच व्यापार पर नियन्त्रण रखना चाहता था।

उस समय चीन और दक्षिण भारत के बीच अच्छा व्यापार चल रहा था और यह भी कारण था जिसके लिए राजेन्द्र चोल अपनी सामुद्रिक शक्ति को मजबूत करना चाहता था। श्रीविजय और भारत के बीच चाइना ट्रेड को लेकर ही मतभेद चल रहा था। श्रीविजय स्थित भारतीय व्यापारियों को धमकी दी जाती थी और उन्हें तंग किया जाता था। श्रीविजय चाहता था कि चाइना ट्रेड का अन्तिम पोस्ट श्रीविजय रहे जहाँ के दलाल चीन से प्राप्त सामान जमा करें और वे ही भारत की ओर वितरण की व्यवस्था अपने एजेण्टों द्वारा करें। ऐसा होने से भारतीय व्यापारिक स्वार्थ को धक्का लगना स्वाभाविक था और भारतीय शासक का

हस्तक्षेप आवश्यक हो गया। अन्त में दोनों राज्यों के बीच युद्ध ने ही इसका निर्णय किया। इस युद्ध में चोलों को सफलता मिली और उन लोगों ने सामरिक महत्त्व के मुहाने पर कब्जा कर लिया। मोलुक्का मुहाना पर चोलों का कब्जा हुआ। दक्षिण भारत तथा दक्षिण पूर्वी एशिया एवं चीन के बीच अब व्यापार को प्रोत्साहन मिला। १०७७ ई० में कुलोतुंग ने ७८ सौदागरों का दूत-मण्डल चीन भेजा। महाबलीपुरम, कावेरी पट्टनम, शालपुर, कीरकोय तथा वकीलान बड़े-बड़े बन्दरगाहों में परिवर्तित हो गये और चोलों की नौसैनिक शक्ति काफी मजबूत हो गयी। व्यापार का नियन्त्रण सौदागरों से गिल्ड के हाथ में था। इसका कारण यह था कि उन्हें राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं थी। अतः शासकों को अपने अधिकार पर किसी प्रकार का खतरा नहीं महसूस होता था। सौदागर लोग अपनी सुरक्षा के लिए राजा से ही सैनिक और नौसैनिक सहायता की अपेक्षा रखते थे। चोल शासक ने बंगाल की खाड़ी, मलाया प्रायद्वीप, अण्डमन निकोवार, लंका, सुमात्रा आदि क्षेत्रों को जीतकर अपने अधीन किया और इस प्रकार अपने साम्राज्य का भी विस्तार किया।

नौसैनिक शक्तियों के संगठन तथा नौसैनिक युद्धों के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता है। अतः ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सौदागरों के जहाज द्वारा सेना भेजी जाती होगी।

भूमिकर और आयकर के साधन

चोल साम्राज्य की आय का प्रमुख भाग भूमिकर से प्राप्त होता था। भूमिकर ग्राम सभाएँ एकत्र करती थीं और किसानों को इस बात की सुविधा प्रदान की जाती थी कि वे अपनी इच्छानुसार कर नगद सिक्के अथवा उपजों के अंश द्वारा भुगतान करें। राज-राज प्रथम के समय में भूमिकर उपज का $\frac{1}{3}$ भाग निश्चित किया गया था। राज-राज प्रथम और कुलोतुंग प्रथम के शासन काल में चोल साम्राज्य भर में भूमि का माप कराया गया था। भूमिकर निश्चित करने के लिए समय-समय पर भूमि का वर्गीकरण किया जाता था। **दुर्भिक्ष** पड़ने अथवा बाढ़ आने के कारण फसल नष्ट होने पर भूमिकर माफ कर दिया जाता था। भूमिकर के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के करों से भी राजा की आय हुआ करती थी। व्यापार एवं व्यवसायों पर भी उपकर लगाये जाते थे। यहाँ राज्य में नमक कर, पानी कर, जुर्माना और चुंगी से भी सरकारी आय होती थी। हर गाँव के संघ या **कुर्रम** में सरकारी खजाना होता था। कर सोने में या अन्न में चुकाये जाते थे। मुख्य सिक्का सोने का या काँस था जो तौल में लगभग **५ माशे** का होता था। निम्नलिखित प्रकार के करों का उल्लेख तत्कालीन अभिलेखों में मिलता है। कर, करघा, कोल्हू

(शोक्केरियी), व्यापार (सेहिरयी), सुनारी (तत्रारपाहम्), पशु, ताल, नदी, नमक (उप्पायम्), चुंगी (वलिआयम्), बाट (इडैबरी), बाजार (अंगाडिपाहम्)। राजा सभी प्रकार के साधनों से अपना खजाना भर सकता था। सामन्त और अधीन राजाओं से वार्षिक कर मिलता था। छोटे-छोटे सामानों को खरीदने में कौड़ियों का व्यवहार भी होता था। सरकार अपनी आय को राजपरिवार, अधिकारियों के वेतन, नगरों और मन्दिरों के निर्माण तथा सिंचाई, सड़क, शिक्षा आदि अन्य परोपकारी कार्यों पर खर्च करती थी। सैन्य व्यवस्था पर राज्य का काफी खर्च था।

प्रत्येक गाँव और शहर में गाँव के बस्ती वाले भाग (उर) मन्दिर, तालाब, गाँव से होकर बहने वाली नदी, परच्चेरी (निम्न जाति की झोपड़ियों), कुमाण पेरी (शिल्पकारों के भवन), शुडुगोड (श्मशान घाट) आदि पर कर नहीं लगता था। सारी भूमि का क्षेत्रफल कर लगानेवाली भूमि से हटाकर ही कर लगाया जाता था। व्यक्तियों अथवा संस्थाओं को मिली 'भुक्तियों' तथा छूट का उल्लेख बड़ी सावधानी से किया जाता था। राजा को पूर्ण राजस्व चुकाने की जिम्मेदारी गाँव पर ही होती थी। वसूली का तरीका कभी-कभी कठोर भी होता था। लगान नगद या जिनिस के रूप में वसूल किया जाता था। श्रमिकों से बहुधा बेगारी कराई जाती थी। चोल इतिहास के परवर्ती युग में सामन्तों की शक्ति काफी बढ़ जाने से जनता के ऊपर का भार कुछ अधिक बढ़ गया। चोलों के राज्य काल में थोड़े-थोड़े समय बाद भूमि की नाप की जाती थी। राजा सड़क, पुल आदि बनवाने में काफी धन खर्च करते। सिंचाई की पूरी व्यवस्था थी। नदियों से बाँध बाँधकर नहरें निकाली जातीं और कृत्रिम तालाबों और कुओं से भी सिंचाई की जाती थी।

प्रादेशिक विभाजन

चोल राजाओं ने अपने साम्राज्य को ६ प्रान्तों में बाँटा जो मण्डल कहलाता था। गुजरात प्रथम के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसका साम्राज्य आठ मण्डलों या प्रान्तों में बँटा हुआ था। मण्डलम् के उपविभाग को कोट्टम (कमिश्नरी) कहते थे और कोट्टम के उपविभाग को नाडु (जिला) तथा कुर्रम कहते थे। वलनाडु नामक शासन इकाई में कई जिले होते थे। बड़े-बड़े शहर स्वयं एक कुर्रम बन जाते थे। ये तनियूर या तकुरम कहलाते थे। प्रत्येक मण्डल के लिए एक शासक नियुक्त होता था जो बहुधा राजकुमार अथवा अभिजात कुलीन होता था। सामान्य राजाओं के भी कुछ राज्य थे जो केन्द्रीय सरकार को कर देते थे। मण्डलाधिकारियों में पराजित राजाओं के वंशज भी होते थे। ये राजा की आज्ञाओं

का पालन करते और राजा को उसकी सूचना भेजते थे। प्रत्येक प्रतिनिधि के अधीन बहुत से अधिकारी होते जो उसके आदेशों का पालन करते थे। सब सरकारी कागजों के रखने की उचित व्यवस्था थी। मण्डल के शासकों की अपनी सेनाएँ और न्यायालय होते थे।

शासन की दूसरी इकाइयों की देखरेख के लिए क्रमशः छोटे पदाधिकारियों की नियुक्ति होती थी। चोल शासन की सत्ताएँ महत्त्वपूर्ण थीं और उनमें सभा का बड़ा महत्त्व था। सम्पूर्ण मण्डल की जनता के लिए सभा होती थी। इसके अतिरिक्त अभिलेखों में नाडु (जिला) की जनता की 'नाहर' नाम की सभा तथा नगरम् के व्यापारिक वर्गों की नगस्तार नाम सभा के भी उल्लेख मिलते हैं। 'नाहर' और 'नगस्तार' सम्भवतः क्रमशः जनपद और पौर हैं। इनके विधान तथा कार्यक्रम का हमें विस्तृत ज्ञान नहीं है। इनके अतिरिक्त श्रेणी और पूग तथा इस प्रकार के अन्य जन-सत्ता के संगठनों द्वारा भी स्थानीय शासन व्यवस्था को सहायता मिलती थी। श्रेणी और पूग आदि इस प्रकार की संस्थाएँ थीं जिनके एक ही शिल्प के शिल्पी सदस्य होते थे।

चोल शासन-व्यवस्था में स्थानीय शासन का विशेष महत्त्व है। ग्राम-सभाओं की कार्य-प्रणाली का विवरण अभिलेखों द्वारा कुछ अधिक परिमाण में प्राप्त होता है। ग्राम दो प्रकार के थे। कुछ साधारण प्रकार के ग्राम होते थे जो 'उर' कहलाते थे और इनकी सभा को 'उरार' कहते थे। कुछ ग्राम सम्राटों द्वारा विद्वान् ब्राह्मणों को दान में दे दिए गये थे जो 'चतुवेदि मंगलम्' कहलाते थे। ग्राम की जन सत्ताक संस्था को 'सभा' कहते थे। इन जन-संस्थाओं उरार और सभा की सदस्यता समस्त ग्राम निवासियों के लिए थी अथवा यह सदस्यता एक निम्न सामपत्तिक अधिकार अथवा शैक्षिक योग्यता पर आधारित थी। उत्तर मरूर अभिलेखों से ग्राम-सभा की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें हमें मालूम होती हैं। इन अभिलेखों में ग्राम महासभा द्वारा स्वीकृत दो प्रस्तावों का उल्लेख किया गया है। एक प्रस्ताव को देखने से यह विदित होता है कि ग्राम को तीस भागों में विभाजित कर दिया जाता था। प्रत्येक भाग के निवासी कुछ व्यक्तियों को चुनते थे जिनमें निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक था :—

(१) एक चौथाई वेलि (डेढ़ एकड़ के लगभग) से कुछ अधिक की भूमि का स्वामित्व।

(२) अपनी ही भूमि पर बनवाये हुये मकान में रहना।

(३) ३५ वर्ष से लेकर ७० वर्ष तक की आयु होना और वैदिक मन्त्रों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों का सम्यक् ज्ञान होना।

यदि किसी व्यक्ति में इस योग्यता का अभाव होता था तो उसे कम से कम एक वेद तथा एक भाष्य का ज्ञान और उसे १½ वेलि भूमि का स्वामी होना आवश्यक था।

गाँवों के संगठन को जैसा कि हम जानते हैं 'कुर्रम' और नगरों के संगठन को 'तरल कुर्रम' कहा जाता था। प्रत्येक कुर्रम शासन की पूर्ण इकाई थी। इनकी महासभा शासन चलाती थी तथा इसके सदस्यों का चुनाव जनता करती। इसकी आठ उपसमितियाँ होती जो बागों, सिंचाई के तालाबों, खेतों, गाँवों, शिक्षा, सड़कों तथा हिसाब की देखभाल के अतिरिक्त भूमि के बँटवारे का प्रबन्ध करती। सारे कर को गांव की महासभा इकट्ठा करती। खर्च के बाद की शेष राशि सरकारी खजाने में जमा कर दिया जाता था। जिस भूमि का कोई स्वामी न होता, महासभा उसकी स्वामिनी मानी जाती। राजा के सम्बन्धियों और राजकर्मचारियों को भी गाँव की भूमि मन्दिरों को दान में देने के लिए गाँव की महासभा के नियमों का पालन करना पड़ता। गाँव की सभा कृषि योग्य भूमि में खेती कराती और उसके बड़े भाग के छोटे टुकड़े काटती थी। वही सिंचाई का प्रबन्ध करती, सड़कें बनातीं, गाँवों में शान्ति व्यवस्था रखती तथा अपराधियों को दण्ड देती थी। मृत्यु दण्ड की दशा में अपराधी को अपील करने का अधिकार था। अतः केन्द्रीय सरकार को गाँवों के शासन में बहुत कम हस्तक्षेप करने की आवश्यकता पड़ती थी।

जैसा कि हम जानते हैं कि नगरों को तालकुर्रम कहा जाता था। प्रत्येक तालकुर्रम में बहुत से वार्ड होते थे। उत्तर मेरुर नामक तालकुर्रम में ३० वार्ड थे। जैसा कि हम जानते हैं कि उपर्युक्त चार योग्यताओं के होने पर भी निम्नलिखित व्यक्तियों को सदस्यता से वंचित कर दिया जाता था—

(१) जो किसी भी उपसमिति में ३ वर्षों से रह चुका हो।

(२) जो किसी उपसमिति का सदस्य रहा हो और हिसाब न दे सका हो।

(३) जो व्यभिचार तथा इसी प्रकार के अन्य भयंकर अपराधों का अपराधी हो।

(४) जो दूसरों का धन चुराने का अपराधी हो।

(५) जो निम्न जाति के सम्पर्क में आ चुका हो परन्तु शुद्ध क्रियाओं का अनुष्ठान नहीं करता हो।

ग्राम सभा शासन कार्यों के संचालन के लिए कई समितियों का संगठन करती थी जैसे—

(१) सामान्य प्रबन्ध समिति
(२) उपवन समिति
(३) सिंचाई समिति
(४) कृषि समिति
(५) लेखा जोखा-समिति
(६) शिक्षा समिति
(७) भूमि प्रबन्ध समिति
(८) मार्ग समिति
(९) न्याय समिति
(१०) देवालय समिति

ग्राम सभा की समिति को 'वेरियम' कहा जाता था। समिति में कभी-कभी स्त्रियों को भी लिया जाता था। सभा के सदस्यों द्वारा ही समितियों के सदस्य निर्वाचित होते थे। राज्य के सभी कार्य प्रायः ग्राम सभाओं को करना पड़ता था। केवल ग्राम सभाओं के अधिकार में स्थायी सेना नहीं रहती थी। मन्दिर, सार्वजनिक संस्थाओं की देखरेख, यातायात, राजपथ, शिक्षा आदि ऐसा कोई भी काम न था जो ग्राम सभा के अन्तर्गत न हो। विभिन्न समितियों के कार्यों की प्रतिवर्ष जाँच करने के लिए एक अन्य समिति होती थी। दो सभाओं में परस्पर विवाद उठने पर राज्य हस्तक्षेप करता था। चोलों के समय एक योग्य नौकरशाही तथा सक्रिय स्थानीय संस्थाओं के माध्यम से शासन की शुद्धता उच्च आदर्श प्राप्त हो गया था।

न्याय

चोल सम्राटों के अधीन न्याय-शासन की उत्तम व्यवस्था थी। राजा सर्वोच्च न्यायाधिकारी होता था। नियमित रूप से गठित राजकीय न्यायालयों द्वारा न्याय की व्यवस्था थी। ग्राम न्यायालय तथा जातीय पंचायत का भी अपना विधान था। प्रमाण के रूप में प्रथा, दस्तावेज तथा गवाह पेश करने की अनुमति थी। जहाँ किसी प्रकार का माननीय प्रमाण नहीं मिल पाता था वहाँ अग्नि-परीक्षा अथवा किसी कठिन परीक्षा का सहारा लिया जाता था। राजद्रोह के अपराध का निर्णय राजा स्वयं करते थे। इसमें मृत्यु दण्ड के साथ-साथ सम्पत्ति की जप्ती भी होती थी। न्यायिक जुर्माने और जेल की व्यवस्था सामान्य अपराधों के लिए थी। चीनी यात्री चाऊ ता कुआ लिखता है[1]—

---

१. Herth and Rockhill-Chou tu Kua, St Petusburg, 1912.

"जब कोई अपराध करता है, तब राजदरबार का कोई मन्त्री उसे दण्ड दे सकता है। सामान्य अपराध में अपराधी को एक लोहे के चौखट में बांध दिया जाता है और सौ तक दण्डप्रहार किया जाता है। जघन्य अपराध के लिए सिर उड़ा देने अथवा हाथी के पैर के नीचे डाल कर मार डालने की सजा भी दी जाती है।"

उत्तर मेरुर अभिलेखों के अनुसार व्यभिचार, धोखेबाजी, चोरी इत्यादि गम्भीर अपराध करने वाले व्यक्ति को गधे पर बैठाकर घुमाया जाता था। किसी व्यक्ति के अपराध का फैसला स्थानीय जनसत्ताक संस्थाएं किया करती थीं।

सामाजिक अवस्था

चोल युग के दक्षिण भारत का सामाजिक संगठन जाति-व्यवस्था पर आधारित था पर विभिन्न जातियों में पारस्परिक सहयोग रहा करता था। उद्योग-व्यवसाय करने वाली जातियों का विभाजन बलगाई तथा इदगाई नामक वर्गों में हो गया था। किंवदन्तियों के अनुसार इन दोनों वर्गों का उद्भव करिकाल चोल के समय में हुआ करता था जबकि समाज के औद्योगिक वर्ग के दो प्रकार के लोग उस राजा के दायें तथा बायीं ओर खड़े उससे अपनी कठिनाइयाँ कहने लगे थे। बलगाई लोग दाहिने हाथ की ओर खड़े हुये और इदगाई बायें हाथ की ओर, इसलिए उनका यह नाम पड़ा। कुलोत्तुंग तृतीय के समय में इदगाई लोगों ने अपने को अग्निकुल का घोषित कर दिया और एक अभिलेख में इस वर्ग के ९८ उपवर्गों का उल्लेख मिलता है।

सामाजिक अधिकारों का वितरण इस युग में समान नहीं था। कुछ वर्गों को 'विशेष अधिकार प्रदान कर दिये जाते थे, जबकि इसके ठीक विपरीत अन्य वर्गों के ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये जाते थे। ब्राह्मणों ने अन्य जातियों के प्रति अपनी परिवर्त्तन प्रवृत्ति का परिचय देते हुए अपनी बस्तियाँ अलग बसानी शुरू कर दीं। परन्तु इन बातों के बावजूद सामाजिक जीवन सहयोग और सद्भावना पूर्ण था। सामान्य उद्देश्यों की प्रतिपूर्त्ति के लिए विभिन्न जातियों तथा वर्गों के लोग परस्पर एक दूसरे से मिल जुल सकते थे। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के कारण समाज में कुछ मिश्रित जातियाँ उत्पन्न हो गयीं थीं इसका प्रमाण हमें चोल सम्राटों के अभिलेखों से प्राप्त होता है।

नारी

दक्षिण भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान काफी ऊँचा था। उसके सामाजिक जीवन तथा कार्यों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता था यद्यपि लोगों की दृष्टि में लज्जाशीलता नारी का सबसे प्रधान गुण था। अभिलेखों में

इस बात के काफी प्रमाण मिलते हैं कि उच्च कुलों की स्त्रियाँ सम्पत्ति की स्वामिनी होती थीं और वे अपनी इच्छानुसार उसे बेच भी सकती थीं। नृपतिगण तथा उनके सामन्त अनेक स्त्रियों से अपने अन्तःपुरों को परिपूर्ण रखा करते थे परन्तु साधारण लोग एक पत्नी व्रत का नियमपूर्वक पालन करते थे।

तामिल समाज में सती प्रथा का प्रचार तो अवश्य था परन्तु अभिलेखों में उसके उल्लेख इतने कम मिलते हैं कि इसके व्यापक रूप में प्रचलित होने का आभास नहीं किया जा सकता।

परान्तक द्वितीय की रानी वन्वन महादेवी अपने पति की मृत्यु पर चिता में जलकर सती हो गयी थीं। प्राचीन यूनान की भाँति दक्षिण भारत में नर्तकियों (देवदासियों) का एक वर्ग था ये देवदासियाँ नृत्यगीतादि सकल कलाओं में निपुण होती थीं और रागरंगप्रिय व्यक्तियों को उनके कलापूर्ण हास विलास में सहायता प्रदान किया करती थीं। इन्हें पुरुषों से मिलने जुलने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती थी और अपने विविध गुणों के द्वारा उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करती थीं। ये विशेष अवसरों पर नृत्य द्वारा देवी-देवताओं को प्रसन्न किया करती थीं। मुस्लिम यात्रियों के अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है कि देवदासियाँ समाज में अनाचार फैलाती थीं। परन्तु अभिलेखों से सिद्ध होता है कि तामिल समाज में उनका स्तर गिरा हुआ नहीं था। अनेक गुणशीला नर्तकियों ने अपनी उदारता तथा दानशीलता के कारण समाज में ख्याति प्राप्त कर ली थी। कुछ देवदासियों द्वारा विवाह करके गृहिणी जीवन व्यतीत किये जाने का भी उल्लेख मिलता है।

चोलयुगीन दक्षिण भारतीय समाज में दास प्रथा का प्रचलन था। इस काल के साहित्य से इस बात का प्रमाण मिलता है कि कृषि कार्य करने वाले श्रम जीवियों का जीवन दासता के ही बराबर था। दासी की विभिन्न श्रेणियाँ हुआ करती थीं। अन्न तथा जीवन की अन्य वस्तुओं के अभाव में विपन्नता ग्रस्त हो जाने के कारण स्वतन्त्र व्यक्ति स्वयं ही सम्पन्न व्यक्तियों का दास हो जाना अपने लिए अधिक लाभकर समझते थे।

आर्थिक अवस्था

दक्षिण भारत में व्यापार की अवस्था उन्नत और समृद्ध थी फिर भी आर्थिक जीवन का आधार कृषि था। जनसंख्या का अधिकांश भाग ग्रामों में निवास करता था और कृषि कर्म ही मुख्य पेशा था। कृषक भूमि का स्वामी होता था और भूमि का स्वामित्व समाज में सम्मान का कारण समझा जाता था। भूमि पर व्यक्तियों और समुदायों का अधिकार रहता था। कृषि की उन्नति के लिए राज्य सचेष्ट रहता था। कावेरी नदी से अनेक नहरें निकलवायी गयी थीं। करिकाल चोल

के समय में कावेरी नदी पर बाँध बँधवाया गया था। कावेरी नदी के जल का सदुपयोग कराने के अतिरिक्त चोल शासक बड़े-बड़े जलाशय बनवाया करते थे।

परान्तक ने वीर चोलन नामक तालाव खुदवाया था और 'मुन्दिकोन्डन' का निर्माण बाद में हुआ था। ग्राम-महासभाओं के प्रमुख कर्त्तव्यों में से एक कर्त्तव्य ग्राम के तालाबों तथा सिंचाई के अन्य साधनों की देख-रेख करना भी था जिससे यह सिद्ध होता है कि खेती की उन्नति के लिए राजा तथा प्रजा दोनों के द्वारा विविध प्रकार के प्रयत्न किये जाते थे। राज्य की ओर से समय-समय पर भूमि का माप तथा वर्गीकरण कराया जाता था। यद्यपि दुर्भिक्ष पड़ने के कारण कई उल्लेख मिलते हैं। दुर्भिक्ष के समय या बाढ़ द्वारा फसल नष्ट हो जाने पर राज्य की ओर से कृषकों के लिए भूमिकर में माफी स्वीकृत हो जाती थी। कृषि कर्म के साथ पशु-पालन का व्यवसाय भी समुन्नत दशा में था। पशु-पालन का व्यवसाय करने वाले 'मंत्रादि' कहलाते थे। मन्त्रादियों ने अपने को एक व्यावसायिक वर्ग में संगठित कर लिया था।

विभिन्न उद्योग-धन्धों में दक्षिण भारत के निवासियों ने काफी उन्नति कर ली थी। सुवर्णकार भाँति-भाँति के बढ़िया आभूषण बनाते थे और मूर्त्तियों की माँग के कारण धातुकारों की कला उन्नति पर पहुँच गयी थी। काँची में वस्त्र व्यवसाय का एक प्रमुख केन्द्र था। कुमारी अन्तरीप लरक नाम (दक्षिणी अरकाट) तथा समुद्र तट के निकटवर्त्ती अन्य स्थानों में नमक तैयार करने का व्यवसाय होता था।

चोल शासक अपने साम्राज्य में राजमार्गों का निर्माण कराते थे जिससे आन्तरिक व्यापार काफी सुविधापूर्ण हुआ करता था। 'पेरूवलि' या राज मार्गों द्वारा आन्ध्र पश्चिमी चालुक्य और कोन्भूदेश एक दूसरे से मिले रहते थे। व्यापारियों की अनेक श्रेणियाँ थीं जो व्यापार का निरीक्षण करती थीं। नाभादेश तिसैयापरितु अपन्नुरुरुवर नामक एक विशाल व्यापारिक श्रेणी का उल्लेख मिलता है जो विजयालयवंशीय चोलों के उदय के पूर्व से ही स्थापित थी। इस व्यापारिक श्रेणी के सदस्य समुद्रपार के देशों से व्यापार किया करते थे। यह हम जानते हैं कि चीन, मलाया, पूर्वी द्वीप समूह तथा फारस की खाड़ी इत्यादि देशों से दक्षिण भारत के निवासियों का व्यापारिक सम्बन्ध था। आन्तरिक व्यापार में वस्तु विनिमय का बहुधा प्रयोग किया जाता था। चोल शासकों ने १०२५ ई०, १०३३ ई० और १०७७ ई० में चीन में अपने विशिष्ट मण्डल भेजे थे।

धार्मिक अवस्था

संगम युगीन दक्षिण भारत में ही शैव, वैष्णव, जैन तथा बौद्ध मतों का प्रचार हो चुका था। पल्लव युग में उत्तर भारत की धार्मिक विचारधारा ने दक्षिण में

अपनी जड़ जमा ली थी। इस युग में दक्षिण में वैष्णव और शैव मतों की जो उन्नति हुयी उसका क्रम चोल शासकों के समय में सवेग जारी रहा। विजयालय वंशीय चोल शासकों का शासन काल दक्षिण में एक महान् धार्मिक उत्साह का काल था। उनकी सहिष्णुतापूर्ण धार्मिक नीति के कारण चोल साम्राज्य में शैव और वैष्णव मतों को समान रूप से फलने-फूलने का अवसर प्राप्त हुआ। विजयालय के वंशज चोल शासकों के समय में ही दक्षिण भारत के शैव और वैष्णव मतों का 'रजत युग' प्रारम्भ हुआ। सम्भवतः नायन्मार और आल्वार सन्तों के पवित्र गीतों का एक निश्चित नियमानुसार संकलन ग्यारहवीं शताब्दी में ही किया गया था।

चोल राजाओं के संरक्षण में शैवमत का सुदूर दक्षिण भारत में बहुत प्रचार हुआ। उन्होंने अनेक शैव मन्दिर और मठ बनवाये।

चोल राजा वैष्णव धर्म के विरोधी थे। कुलोत्तुंग द्वितीय ने चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर से विष्णु की मूर्त्ति हटवा दी थी। इसीलिए रामानुज को मैसूर में आश्रय लेना पड़ा था। इस काल की प्रमुख धार्मिक प्रवृत्तियाँ दो थीं—जनसाधारण में शिव और विष्णु की भक्ति का प्रचार और बौद्धों तथा जैनियों के सिद्धान्तों का खण्डन।

शैव और वैष्णव मतों के कारण वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का महत्त्व कुछ कम हो चला। संगमयुग के साहित्य में इस बात के उल्लेख प्रचुरता से मिलते हैं कि चोल शासकों ने वैदिक यज्ञों का अनुष्टान किया था। परन्तु विजयालयवंशीय चोल सम्राटों में केवल राजाधिराज के अभिलेखों में ही अश्वमेध का संकेत मिलता है। वैदिक यज्ञों का स्थान सम्भवतः दान ने लिया था। परवर्ती चोल शासक ब्राह्मणों को प्रभूत दान दिया करते थे। मन्दिरों में वेद-पाठ कराये जाने की व्यवस्था रहती थी। विष्णु और शिव दोनों ही के मन्दिरों में कुछ ब्राह्मण सस्वर पाठ करने के लिए नियुक्त किये जाते थे। अभिलेखों में वेद-पाठ प्रतियोगिता के भी उल्लेख मिलते हैं। इन प्रतियोगिताओं में जो सफलता प्राप्त करते थे उनको पुरस्कृत किया जाता था।

चोल कालीन दक्षिण भारत के धार्मिक जीवन में मन्दिरों का स्थान काफी महत्त्वपूर्ण था। इस काल के मन्दिर लोगों के धार्मिक और सामाजिक कार्यों के प्रमुख केन्द्र थे। नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार मन्दिरों के स्वामित्व में भूभाग होते थ। इसकी अधीनता में कर्मचारी हुआ करते थे। वे बैंक, शिक्षालय, चिकित्सालय और रंगशाला का कार्य करते थे। संक्षेप में ये एक केन्द्रस्थान के रूप में थे जहाँ सुसभ्य जीवन की कलाओं का सर्वोत्तम रूप एकत्र किया जाता था और जो धर्म की

आत्मा द्वारा प्रसूत मानव-भावना से उनको (कलाओं को) संचालित करते थे। लोगों के सांस्कृतिक जीवन में मन्दिरों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। मन्दिरों और उनमें प्रतिष्ठापित की जानेवाली प्रतिमाओं के निर्माण से कितने ही लोगों को जीविका प्राप्त होती थी और कलाकारों को अपनी निपुणता दिखलाने का अवसर भी मिलता था। धातुकारों और सुवर्णकारों को मन्दिरों से बहुत लाभ होता था। समय-समय पर मन्दिरों द्वारा धार्मिक सामाजिक महत्त्व के पर्वों और मेलों का आयोजन किया जाता था जिनमें पुरोहितों, विद्वान पण्डितों, गायकों, नर्तकी और कवियों के साथ साधारण जन भी भाग लिया करते थे। इन मेलों में एक ओर विद्वान् पण्डित परस्पर शास्त्रार्थ करते थे और दूसरी ओर जादूगर अपनी कलाबाजियों का प्रदर्शन करते थे। मन्दिर के विशाल कक्ष में नाटकों और नृत्य कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता था। केन्द्रीय सरकार के उच्च पदाधिकारी कभी-कभी मन्दिरों के कार्यक्रमों और प्रबन्ध विधि की देखरेख करने के लिए इनका मुआयना किया करते थे जिससे यह सिद्ध होता है कि चोल सम्राट् मन्दिरों के सामाजिक महत्त्व और इनके कार्य संचालन की देख-रेख की आवश्यकताओं को भली प्रकार जानते थे।

ग्यारहवीं शताब्दी में त्रिचनापल्ली के निकट इस्लाम धर्म का प्रचार तुर्कों के एक सैयद राजकुमार नथदवली ने किया। इब्नबतूता ने भी यह लिखा है कि होयसल राजा बल्लाल तृतीय की सेना में २०,००० मुसलमान थे।

आठवीं शताब्दी में ही मालावार तट पर बहुत से भारतीय ईसाई हो गये थे। बगदाद, निनवेह और जेरुसलम से भी बहुत से ईसाई यहाँ आकर बस गये थे।

साहित्य

चोल सम्राटों का शासन काल ८५०–१२०० ई० तामिल संस्कृति का स्वर्ण युग था। साहित्य के क्षेत्र में काव्य के प्रबन्ध रूप की प्रधानता रही और शैव सिद्धान्त दर्शन का शास्त्रीय निरूपण प्रारम्भ हुआ। प्रसिद्ध तमिल महाकाव्य 'जीवक चिन्तामणि' की रचना दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुई। इस ग्रन्थ की शैली तथा काव्य सुषमा श्लाध्य है। इससे तामिल भाषा के महाकवि कम्बन बहुत अधिक प्रभावित हुए। 'जीवक चिन्तामणि' के प्रणेता तिरुत्वकदेवर नामक जैन पण्डित थे और जनमत के सिद्धान्त ही इस मनोरम काव्य की भावभूमि का निर्माण करते हैं। तोलामोक्ति नामक जैन लेखक ने शूलमणि नामक पुस्तक लिखा जिसकी गणना तमिल के पाँच लघु काव्यों में की जाती थी। चोल राजसभा के कवि जयन्गोन्दार ने कलिंग तुप्पणि नामक युद्ध काव्य में कुलोतुंग प्रथम के कलिंग युद्ध का वर्णन किया है। कुलोतुंग तृतीय के समय में कम्बन हुए जिनका सुप्रसिद्ध काव्य

रामावतारम है। कम्बन ने अपने काव्य की कथा वस्तु महा कवि वाल्मीकि से ग्रहण की है परन्तु कहीं-कहीं उन्होंने अपनी मौलिकता का भी परिचय दिया है। दसवीं शताब्दी में ही किसी बौद्ध कवि कुण्डलकेशि नामक काव्य तथा कल्लदनर नामक कवि ने अपना ग्रन्थ कल्लदम लिखा है। अमृत सागर नामक जैन विद्वान ने काव्य रचना पद्धति पर एक पुस्तक का प्रणयन किया। ग्यारहवीं शताब्दी में विख्यात बौद्ध विद्वान बुद्धमित्र हुए जिन्होंने रसोलियम नामक व्याकरण ग्रन्थ लिखा। काव्य के क्षेत्र में पुगलेन्दि का नाम भुलाया नहीं जा सकता जिनका नलनेम्ब एक महान काव्य है। इस काव्य में राजा नल का जीवन चरित वर्णित है। सेक्किलर प्रणीत पेरियापुराणम में शैव सिद्धान्तों का निरूपण है। काव्य-शास्त्रों के प्रसिद्ध लेखक दण्डिन् की पुस्तकें काव्यादर्श के आधार पर तमिल में 'दण्डियलंगारम्' नामक ग्रन्थ की रचना की गयी। इस पुस्तक के लेखक का नाम अज्ञात है। कुलोत्तुंग तृतीय के शासन काल में जैन विद्वान पवनान्दि ने नन्नूल नामक व्याकरण ग्रन्थ लिखा यद्यपि चोल शासकों ने अपने साम्राज्य में संस्कृत भाषा और संस्कृत के पठन-पाठनार्थ विद्यालय स्थापित कराये थे तथापि संस्कृत साहित्य-सम्वर्द्धन में उनका योगदान अत्यन्त ही स्वल्प है। उनके कुछ अभिलेख संस्कृत में हैं परन्तु वे वर्णनशैली की दृष्टि से तमिल अभिलेखों की तुलना नहीं कर सकते। परान्तक प्रथम के शासन काल में वेंकट माधव ने ऋग्वेद पर अपना प्रसिद्ध भविष्य लिखा। राज-राज द्वितीय की आज्ञा से केशव स्वामिन ने संस्कृत में 'नानार्थार्णव अज्ञेय' नामक कोष का सम्पादन किया।

निर्माण कार्य और कला

चोल नरेशों ने लोकहित के अनेक निर्माण कार्य किये। सिंचाई के लिए उन्होंने कुयें और तालाब खुदवाये तथा अन्य नदियों के प्रवाह को रोककर पत्थर से बँधे अनेक डैम (नलराशी) बनवाये और उनमें सुविस्तृत भूखण्डों की सिंचाई के लिए नहरें खुदवाईं। राजेन्द्र प्रथम ने अपनी राजधानी गंगै कोण्ड चोलपुरम के निकट एक विशाल झील खुदवाईं जिसमें कोलोसन और वेलगर नदियों का जल भरवाया गया। इस झील पर जो बाँध बँधवाया गया था उसकी लम्बाई सोलह मील थी और इसमें प्रस्तर प्रणालिकाएँ तथा नहरें काटकर निकाली गई थीं। चोल शासकों ने पल्लवों की मन्दिर निर्माण परम्परा को जारी रखा। प्रारम्भिक चोल नरेशों के सभी मन्दिर आकार में लघु और पाषाण निर्मित हैं। पुदुकोट्टि में इस प्रकार के अनेक मन्दिर हैं। नार्ता मलाई में विजयालयचोलेश्वर मन्दिर इस प्रकार के मन्दिरों का एक सुन्दर नमूना है। कुम्बकोनम के बाहरी ओर स्त्री-पुरुष के सजीव तक्षण चित्र उत्कीर्ण हैं। इन चित्रों की तुलना सहज ही भारत की

सर्वोत्तम तक्षण कृतियों से की जा सकती है। परान्तक प्रथम द्वारा निर्मित कोरंगनाथ और परान्तक द्वितीय का भुवरकोविल मन्दिर प्रारम्भिक चोल शैली के अनुपम उदाहरण हैं। चोल राजा कला प्रेमी थे। उन्होंने पल्लव शैली को अपनाया। नार्त्तामिलम में विजयालय चोलेश्वर का प्रसिद्ध मन्दिर है। कुम्भकोणम में नागेश्वर के मन्दिर में गर्भगृह के बाहर मनुष्यों और स्त्रियों की मूर्त्तियाँ खुदी हुई हैं।

चोल साम्राज्य के गौरव और साधनों में वृद्धि होने पर विशाल तथा प्रभावोत्पादक मन्दिर बनवाये जाने लगे। राज-राज प्रथम द्वारा निर्मित तंजोर के राज-राजेश्वर मन्दिर का उल्लेख किया जा चुका है। यह मन्दिर इतना विशाल और आकर्षक है कि इसको देखने वाले के मन पर बड़ा ही गम्भीर प्रभाव पड़ता है। राज-राज प्रथम तिन्नवेली जिले के ब्रह्मदेशम् नामक स्थान में तिरुवालिश्वरम् मन्दिर का भी निर्माण कराया था। इसके दुमंजिले विमान पर अनेक तक्षण चित्र खुदे हैं। इसके विस्तार पर मूर्त्तिकला और पच्चीकारी का काम बहुत सुन्दर है। राजेन्द्र प्रथम ने अपनी राजधानी गंगै कोण्ड चोल पुरम में तंजोर के राज-राजेश्वर मन्दिर के समान एक अत्यन्त सुविशाल मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर के स्थापत्य में राज-राजेश्वर मन्दिर के स्थापत्य की अपेक्षा अधिक परिपक्वता है। राज-राज द्वितीय के समय के ऐरावतेश्वर मन्दिर तथा कोलोतुंग तृतीय के शासन काल के कम्प हरेश्वर मन्दिर द्वारा चोलों की मन्दिर निर्माण शैली जारी रही।

दक्षिण भारत में चोल काल सुन्दर कांस्य प्रतिमाओं के निर्माण के लिए प्रमुख तथा उल्लेखनीय है। भगवान नटराज, नृत्य करते हुए शिव की विशाल प्रतिमाओं का कलात्मक सौन्दर्य निस्सन्देह अनुपमेय है। शंकर भगवान् के अन्य रूपों की मूर्त्तियाँ भी कलाकारों ने गढ़ी। ब्रह्मा, सप्त मातायें, भू देवी तथा लक्ष्मी के साथ विष्णु भगवान्, अपने अनुचरों के साथ राम और सीता तथा शैव सन्तों की धातु मूर्त्तियाँ भी बनवाई गईं। कालिय दमन प्रदर्शित करने वाली मूर्त्तियाँ बड़ी ही लोकप्रिय थीं।

चोल राजाओं के शासन काल में काँसे की अन्य मूर्त्तियाँ बनाई गयी हैं। कालिय नाग के सिर पर नृत्य करते हुए बालकृष्ण की मूर्त्ति भी बहुत सुन्दर बनी है।

चोल काल की सांस्कृतिक उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत के इतिहास में यह सबसे अधिक सृजनशील युग था। नीलकण्ठ शास्त्री का मत है कि दक्षिण भारतीय इतिहास के

सबसे अधिक सृजनशील युग चोलों के समय में सबसे पहली बार सम्पूर्ण भारत एक ही सरकार के अधीन हुआ और नूतन अवस्थाओं से उत्पन्न होने वाली सार्वजनिक शासन की समस्याओं का सामना करने तथा उनका हल ढूंढ़ने का एक गम्भीर प्रयत्न किया गया। स्थानीय शासन, कला, धर्म तथा विद्या में तामिल देश श्रेष्ठता की उस सीमा पर पहुँच गया जहाँ तक आनेवाले युग कभी पहुँच न सके। इन सभी क्षेत्रों में और विदेशी व्यापार तथा सामुद्रिक क्रियाशीलता में चोल युग उन सभी क्रियाओं के लिए चरम परिणति का काल था जिनका प्रारम्भ पल्लवों के अधीन एक पूर्वतर युग में हुआ था।



अध्याय ८

भारत पर मुसलमानों के आक्रमण और प्रसार

मुसलमानों के आगमन से पूर्व भारत की अवस्था

आठवीं शताब्दी के आरम्भ से ही मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हो गये। ये आक्रमण विदेशी आक्रमण थे। इनके पहले प्रायः चार-पाँच सौ वर्ष तक भारत विदेशी आक्रमण से मुक्त था। यह मुक्ति भारत के लिए वरदान और अभिशाप दोनों बन गयी। वरदान यह इसलिए कही जायगी कि चार-पाँच सौ वर्षों तक कोई विदेशी चढ़ाई नहीं हुई। शान्ति के इतने लम्बे समय में भारतीय धन-धान्य की उन्नति हुयी और भारतीय सुखी रहे। व्यापार तथा शिल्प की उन्नति हुई और भारतीयों ने निकटवर्त्ती देशों में जाकर उपनिवेश स्थापित किये।

इतने दिनों तक भारत विदेशी आक्रमण से दूर रहा और देश में एक प्रकार की शान्ति रही। इसका दुर्भाग्यवश बुरा परिणाम भी हुआ। भारतीय अधिकांश लापरवाह हो गये। सैन्य-संगठन ढीला पड़ जाने के कारण देश की रक्षा खतरे में पड़ गयी। यह किसी से छिपा नहीं है कि विदेशी संकट उपस्थित न होने पर राष्ट्रीय एकता ढीली पड़ जाती है। उस समय राजनीतिक हालत इतनी पतली हो गयी थी कि भारतीयों के हृदय में देश-प्रेम लगभग समाप्त हो चुका था।

हिन्दू अभिमानी हो गये थे। अनेक बेसिर-पैर की बातें उनके दिमाग में भर गयी थीं— हम सबसे अच्छे हैं, हमारा देश सबसे अच्छा है, हमारा धर्म सबसे अच्छा है। हमारी जाति सबसे अच्छी है, हमारा ज्ञान-विज्ञान सबसे ऊँचा है। विदेशी बुरा है तथा उसकी सारी चीजें बुरी हैं। इन्हीं भ्रमपूर्ण धारणाओं के कारण उस काल के हिन्दू विदेशों से अपना नाता तोड़ बैठे। एक समय था, जब भारत के हिन्दुओं ने यूनानी, शक, यूची, हूण आदि विदेशी जातियों को हिन्दू बनाकर अपने में इस प्रकार मिला लिया था कि आज उन्हें हिन्दू जाति के बीच पहचान पाना भी असम्भव है।

मुसलमानों के आगमन के समय हिन्दू जाति इतनी कठोर बन गयी थी कि तमाम विदेशियों को बुरा बताकर, उन्हें हिन्दू जाति में परिवर्तन करना असम्भव मान लिया। इतना ही नहीं जो हिन्दू किसी कारण विधर्मी हो गया, तो उसे अपने समाज में फिर से लौटा लेना भी उस काल की हिन्दू जाति ने असम्भव समझ लिया।

कहा जाता है कि जाति जीवित और शक्तिशाली तब रहती है जब उसमें समय-समय पर नया खून मिलता रहता है। अन्य जाति के लोग उसमें शामिल होते रहते हैं और सभ्यता भी तब उन्नति करती है जब दूसरी-दूसरी सभ्यताओं से उसका संघर्ष होता रहता है। उस समय के हिन्दुओं ने, जो अपना दरवाजा बन्द कर लिया, उसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-जाति, निर्जीव होने लगी और उसकी सभ्यता का भी पतन आरम्भ हो गया। ऐसी बेखबर और भ्रान्त हिन्दू-जाति को यदि विदेशी तमाचे लगें तो इसमें आश्चर्य क्या? तत्कालीन हिन्दुओं के पतन का इतिहास यहीं पर खतम नहीं हो जाता। ये अधिकांश में भाग्यवादी बन गये थे। उन्हें विश्वास था कि कोई विदेशी संकट या तो आ ही नहीं सकता, यदि आया भी तो भगवान उसकी रक्षा कर देगा।[1]

हिन्दुओं के पतन के चिह्न तत्कालीन 'साहित्य' तथा कलाओं में भी मिलते हैं। साहित्य में शृंगार की प्रधानता होने लगी। लोगों का नैतिक पतन उस सीमा तक पहुँच गया था कि देव मन्दिरों के पत्थरों में अश्लील मूर्त्तियाँ खुदी हैं। राज-दरबारों, मन्दिरों और तीर्थ स्थानों में भी व्यभिचार होने लगे। इनके अतिरिक्त अनेक कुप्रथायें समाज में घुस गयीं।

भारतीय समाज में कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय स्थापित हो गये थे, जिन्होंने, मांस, मछली, मदिरा आदि का व्यवहार अच्छा समझा। इतना ही नहीं धर्म के नाम पर नर-बलि करना भी कुछ लोगों ने अच्छा समझा। नर-मांस तक का व्यवहार पूजा में किया गया। आज ये बातें कोई चाहे भी तो नहीं कर सकता। कानून की नजर में यह जुर्म समझा जायेगा और उसे बड़ी सजा दी जायेगी।[2]

उच्च वर्गों के बीच विधवा-विवाह की प्रथा नहीं थी, किन्तु निम्न जातियों में यह प्रचलित थी। आज भी इससे कुछ मिलती-जुलती अवस्था हिन्दुओं के बीच पायी जाती है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो विधवा-विवाह को बुरा बताते हैं।

भारत धनी था, पर भारतीय निर्धन। साधारण जनता गरीब थी, गाँव में रहने वाली जनता तो विशेषकर गरीब थी। सम्भव है, उस काल के ग्रामीण निर्धन होकर भी आज के ग्रामीणों की तरह निर्धन न रहे हों, क्योंकि उस समय भारत की आबादी आज की अपेक्षा बहुत कम थी। तब दौलत थी कहाँ? वह तो सिमटकर चन्द अमीरों के घरों में निवास कर रही थी। समाज में जो बड़ा था, वह जररूरत से ज्यादा बड़ा और जो छोटा था, वह बेहिसाब छोटा। इस प्रकार समाज में बड़ों का एक छोटा-सा दल था, और छोटों (गरीबों) का

---

१. हेग—कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खण्ड ३, पृ० ५५
२. वैद्य, सी० वी०, अर्ली मेडियवल हिस्ट्री, पृ० ५५

एक बहुत बड़ा दल। समाज की इस घोर विषमता के कारण भी देश दुर्बल हो गया था। इन्हीं विषमताओं को चकनाचूर करने पर आज भी भारतीय सरकार तुली हुई है।

राजनीतिक दृष्टि से भी देश का पतन हो गया था। भारतीय साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था। सारा देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। इनके बीच भयानक पैंतरेबाजी चली हुई थी। एक-दूसरे के विनाश में संलग्न था। फूट का बाजार गर्म था। विलासिता राजमहलों में चूर-चूर कर भरी हुई थी। रानीतिक एकता स्वप्न बन गयी थी। समाज विश्रृंखल हो गया था। इसकी कड़ियाँ एक-एक कर टूटती जा रही थीं। आपसी ईर्ष्या-द्वेष के कारण राष्ट्र जर्जर हो रहा था। ऊँच-नीच की भावनाओं के कारण हिन्दू जाति बलहीन बन गयी थी। मिथ्याभिमान, रूढ़िवादिता तथा भाग्यवादिता के कारण समाज में घुन लग गया था।

भारतीय राष्ट्र के ऐसे ही सूर्यास्त के समय मुसलमानों का हमला शुरू हुआ। एक ओर यह हालत थी और दूसरी ओर, सदियों की सोई मुस्लिम जाति एक-एक कर जाग उठी।[1] नया धर्म, नई जान, नया जोश, नई उमंग, नया संगठन, नई एकता, नया अरमान, नई जीत। ऐसी परिस्थिति में यदि विदेशियों की दाल गली तो, तो इसमें आश्चर्य नहीं।

आश्चर्य तो इस बात का है कि विदेशी चोट से भी भारतीय समाज में कानों पर जूँ नहीं रेंगी। इसकी जर्जरता का और कौन-सा दूसरा अच्छा प्रमाण दिया जा सकता है? हिन्दू और बौद्ध एक-दूसरे की टाँग खींचने में लगे थे। इनकी अक्ल इस हद तक मारी गयी कि अपने ही भाइयों के विनाश के लिए विदेशियों को इन्होंने उत्साहित ही नहीं किया बल्कि सहायता भी दी। मूर्खता और अदूरदर्शिता पराकाष्ठा को पहुँच गयी थी। अपने कुकर्मों के परिणाम स्वरूप तो वो खुद गये ही, दूसरों को भी ले डूबे।

इसलाम का उदय तथा प्रारम्भिक रूप

जिस समय भारतवर्ष में हर्ष और पुलकेशिन द्वितीय शासन कर रहे थे, उस समय इस्लाम के रूप में एक नयी शक्ति का उदय हुआ। इसके पहले अरब के निवासी कई जातियों में बँटे हुए थे, जो आपस में लड़ा करते थे, उनमें अज्ञान बहुत था और वे जड़ पदार्थों और देवी-देवताओं को पूजते थे। ५७१ ई० में हजरत मुहम्मद का मक्का नामक स्थान में जन्म हुआ। उसे ऐसा माना जाता है कि ईश्वर के तरफ से उन्हें सच्चे धर्म की प्रेरणा हुई है। इसलिए वे अपने को ईश्वर का पैगम्बर कहते थे। उन्होंने ईश्वर की एकता (तौहीद) और उसके मानने वाले सभी मनुष्यों की

---

१. सिन्हा, बी० पी० —डिक्लाइन ऑफ दि किंगडम् ऑफ मगध, पृ० ७२

समता का उपदेश दिया। उन्होंने अल्लाह (ईश्वर) और उसके पैगम्बर को न मानने वाले को काफिर (अपराधी) बतलाया। इस नये धर्म का नाम इस्लाम (शान्ति) का और उसमें विश्वास करने वाले को मुसलमान कहते थे। उस धर्म के उपदेशों ने अरबों में एक अपूर्व शक्ति और साहस का संचार कर दिया। पहले हजरत मुहम्मद का विरोध हुआ और उन्हें मक्का छोड़कर मदीना ६२२ ई० भागना पड़ा। इस घटना को हजरत (पलायन) कहते हैं और हिजरी सन् इस समय प्रारम्भ हुआ। किन्तु थोड़े ही दिनों में इस्लाम का सम्मान अरब में छा गया। ६३२ ई० में हजरत का देहान्त हुआ।[1]

इसके बाद अबूबकर, उमर, उस्मान और अली नामक चार खलीफाओं ने इसलाम धर्म और उसकी राजनीतिक शक्ति का प्रसार किया। आस-पास के देशों पर बिजली की तरह इसलाम की सत्ता स्थापित होने लगी। खलीफा उमर के समय (६२४–४३ ई०) में पूर्व के देशों की तरफ-इसलाम की शक्ति बढ़ने लगी। अरबों ने ६३६–३७ ई० में ईरान के पारसी राजा यज्दगुर्ज को हराकर ईरान पर अपना अधिकार कर लिया। बहुत से लोग बलात् मुसलमान बनाये गये, कुछ लोग वहाँ से भागकर भारत वर्ष में चले आये जो फारसी कहलाते हैं। बहुत शीघ्र ही विलोचिस्तान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया में इसलाम फैल गया और उन देशों की प्राचीन संस्कृति और राज्य नष्ट हो गये।

अरब भारत सम्बन्ध

अरब लोग भारतीय समुद्र में भी व्यापार करते थे। इसलाम धर्म की उत्पत्ति के बाद में व्यापारी अब अपने धर्म के प्रचारक बन गये। अरबों की समुद्री शक्ति काफी बढ़ चुकी थी। खलीफा उमर के समय ही भारत के पश्चिमी तट पर अरबों ने समुद्री धावे मारे।[2] पुलकेशिन द्वितीय के हाथ अरबों की बुरी तरह हार हुई और फिर दूसरे हमले भी असफल हुए। उस समय पश्चिम में हेलमन्द नदी तक भारत की सीमा मानी जाती थी। अरब लोग उस समय उसी नदी तक बराबर पहुँचते थे।

अरबों का भारत से बहुत पुराना सम्बन्ध था। हिन्दुस्तान के पश्चिमी तट पर खम्भात (बाम्बे) से लेकर दक्षिण चोल, कलान, सोपारा आदि स्थानों तक उनकी बस्तियाँ थीं। इन स्थानों में अरबों का व्यापार खूब चलता था। अरब सौदागरों ने मालाबार तट पर अपने धर्म का प्रसार करना भी प्रारम्भ कर दिया।

---

१. सिन्हा, बी० पी०—प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ५०३ देखिये—सैयद सुलेमान दवी–अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० ६६

२. अहसानुल्लाह–हिस्ट्री ऑव द मुस्लिम वर्ल्ड, पृ० ७४

वे लोग भारतीय औरतों से विवाह भी करते थे। इस मामले में उन्हें हिन्दू राजाओं (वल्लभी और कालीकर) से बड़ी सहायता मिली। इनके प्रोत्साहन से अरब लोग—खम्भात, कालीकट आदि स्थानों में बस गये। वहाँ उन्होंने मस्जिदें बनवायीं। अब मालावार तट पर उनके उपनिवेश बसने शुरू हो गये। नीच जातियों ने इस्लाम धर्म स्वीकार करना शुरू कर दिया क्योंकि कट्टर ब्राह्मण के कारण, भारतीय संस्कृति का लचीलापन समाप्त हो चुका था और इसमें संकीर्णता आ गयी थी।[1]

अन्ध-विश्वास, संकीर्णता और कट्टरता भारतीय समाज में प्रबल हो गयी थी और अब प्राचीन भारतीय उदारता मात्र इतिहास का विषय रह गयी थी। ऊँच-नीच का भेद-भाव बहुत बढ़ गया था। द्विजेतर जातियों के साथ अमानुषिक व्यवहार हुआ करते थे। पददलित जातियाँ इसलाम धर्म की उदारता से प्रभावित होकर, उस धर्म को सहर्ष ग्रहण करने लगी। इसलाम में समानता की भावना थी। सिन्ध पर अरब आक्रमण के पूर्व भारतीय क्षेत्रों में मुसलमानों की टुकड़ियाँ स्थापित हो चुकी थीं।

सिन्ध पर अरब आक्रमण तथा उसका कारण

प्राचीन काल में सिन्धु-सौवीर (उत्तर सिन्धु) के प्रसिद्ध प्रदेश थे। महाभारत युग में सौवीर का राजा जयद्रथ कौरवों का मित्र और अभिमन्यु का हन्ता था। यवन आक्रमण के समय में महत्त्वपूर्ण सैनिक मार्ग यहाँ से होकर जाता था। शक और हूण आक्रमण के समय यह प्रदेश ध्वस्त था गुप्त साम्राज्य के समय में इसका उल्लेख नहीं मिलता, अवन्ति राष्ट्र अथवा सौराष्ट्र में वह सम्मिलित था। पुष्यमूर्त्ति वंश के प्रभाकर वर्धन दिग्विजय के समय वह एक स्वतन्त्र राज्य था जिसको उसने त्रस्त किया था (सिन्धु-राजज्वरे)। हर्ष के मरने के बाद पश्चिमोत्तर भारत में जो पहला राज्य स्वतन्त्र हुआ वह था सिन्धु[2]।

ह्वेनसांग के अनुसार हर्ष के समय में एक शूद्रवंशी राजा शासन करता था जिसकी राजधानी अलौर (आधुनिक रोरी के पास) थी। उस वंश के राजाओं कीं उपाधि राय थी। हर्ष के वाद चार पीढ़ी तक उस वंश का राज्य रहा।

सातवीं शताब्दी के आरम्भ में वहाँ सहसी राय का पुत्र साहिराय राज्य करता था। राज्य के मध्य का हिस्सा तो स्वयं राजा के हाथ में था और वाकी देश चार सूबों में बँटा था। प्रत्येक सूबे पर सूबेदार शासन करता था। साहिराय फारस के एक सूबेदार नीम रोज के साथ संघर्ष करता हुआ मारा गया। उसके

१. हिस्ट्री-हिस्ट्री ऑव द अरब्स, पृ० ७४
२. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, खण्ड १, पृष्ठ ६४०

बाद उसका पुत्र राय सहसी द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसके राज्य में चाच नामक एक ब्राह्मण राज्यकर्मचारी था, जो शीघ्र ही राज्यमन्त्री के पद पर पहुँच गया। राजा के मरने के बाद वह स्वयं गद्दी पर बैठ गया और राय सहसी की विधवा रानी से उसने विवाह भी कर लिया। इस रानी से उसे दो बेटे और एक बेटी पैदा हुई। एक बेटे का नाम दारसिय और दूसरे का दाहिर था। सूबेदारों ने पहले चाच का शासन मानना इनकार कर दिया। चाच उनसे लड़कर, उन्हें अपने अधीन में किया। इस प्रकार वहाँ एक ब्राह्मण राजवंश की स्थापना हुई। उसने ४० वर्ष तक शासन किया। उसके बाद उसका पुत्र दाहिर शासक हुआ।

सिन्ध का ऐतिहासिक महत्त्व

अरब के इतिहास में ७११ ई० में न किसी बड़े राज्य की स्थापना हुई और न किसी शक्ति का विघटन। फिर भी उसे भारतीय इतिहास का महत्त्वपूर्ण वर्ष माना जाता है क्योंकि इसी वर्ष अरब लोग अपने सेनापति मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में सिन्ध में प्रवेश किये और दबेल बन्दरगाह को अधिकृत कर, उन्होंने ब्राह्मण चाच वंश का मूलोच्छेद कर दिया। अरबों ने ६३६ ई० से ही यह काम शुरू किया था और भारत के तटीय एवं सीमान्त प्रदेशों पर लूट-खसोट करने लगे थे। फिर उनका कोई असर भारतीय इतिहास पर नहीं हुआ। ७११–१२ ई० में भारत के एक छोटे कोने में अरबों ने अपने पैर जमाया। उस समय वे भारत के राजनीतिक क्षितिज पर एक छोटे से धब्बे के रूप में प्रकट हुए[1]।

जिस मुस्लिम प्रभुत्व की शुरुआत सिन्ध में हुई, उसे देश व्यापी विस्तार में १०० वर्ष लगे। सिन्ध में वे चाहे व्यापारियों के रूप में आये हों या विजेताओं के रूप में, अपने आगमन के बाद शीघ्र ही भारतीय राजनीति के अंग बन गये। जब वे व्यापारी के रूप में आते थे और वे जब शासक हुए तब दोनों में काफी अन्तर था। प्रारम्भ में उन्होंने सहिष्णुता की नीति अपनायी थी। राष्ट्रकूटों के साथ उनका सम्बन्ध बहुत ही अच्छा था।

उनके प्रारम्भिक सम्बन्ध चाहे जितने भी अच्छे रहे हों, किन्तु युद्ध जनित अत्याचार, आर्थिक शोषण तथा यदा-कदा उबल पड़ने वाली धर्म कट्टरता के कारण इस मेल-जोल के भाव को गहरा आघात पहुँचा। महमूद गजनवी के समय यह छोटा धब्बा काले बादलों के रूप में घनीभूत हो गया। उसके १७० वर्ष बाद महमूद गोरी आया। उसकी सफलता के बाद भी दक्षिण भारत एक शताब्दी तक अछूता रहा। यद्यपि मुसलमान भारत में काफी अन्तराल देकर आये, तथापि भारत में उनके प्रभुत्व के प्रसार की नींव ७११ ई० में ही पड़ी।

---

१. नेगी—ग्राउण्ड वर्क आफ एनसियेण्ट इन्डियन हिस्ट्री, पृष्ठ ५४

सिन्ध पर आक्रमण का कारण

चाचनामा के अनुसार सिन्ध एक शक्तिशाली और सुसंगठित राज्य था, किन्तु वस्तुतः यह तत्कालीन भारत का ही एक छोटा रूप था। आपस की फूट के कारण ही सिन्ध का पतन हुआ। वहाँ राष्ट्रीयता का अभाव था और राज-विद्रोह की भावना बढ़ती जा रही थी। जिस समय अरबों का प्रसार भारत के समीपवर्ती क्षेत्रों पर हो रहा था, उस समय सिन्ध आपसी संघर्ष में फँसा हुआ था। सिन्ध में ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म प्रचलित थे। साहिराय के वंशज बौद्ध थे और चाच के लोग ब्राह्मण।

चाच के समय बौद्ध लोग शक्तिशाली थे और उनमें बहुत से प्रान्तों के शासक भी थे, जिनका वहाँ की जनता पर काफी प्रभाव था। ब्राह्मण और बौद्धों में गहरा वैमनस्य था। चाच ने इन लोगों को अपनी शक्ति से पराजित किया और उनपर अपना प्रभुत्व जमाया। ब्राह्मणवाद का शासक स्वयम् बौद्ध था, जिसे चाच को लड़ाई कर दबाना पड़ा। इस वैमनस्य का प्रभाव यह हुआ कि बौद्धों और अरबों में घनिष्ठता बढ़ी। बौद्धों ने इराक के बादशाह हज्जाज के पास दूत भेजकर अभयदान ले लिया।

सिन्ध की निर्बलता का दूसरा कारण यह था कि उसका निकटस्थ राज्यों कश्मीर, कन्नौज आदि में बराबर झगड़ा रहता था। अरब आक्रमण के समय भी दाहिर रमल के राजा से लड़ रहा था।

तीसरा कारण यह था कि चाच ने जिस पुराने राजवंश को हड़प लिया था, उसके बहुत से शासक और पदाधिकारी उसके विरोधी हो गये थे।

चौथा कारण यह था कि उसके (दाहिर के) भाई चन्द्र की मृत्यु के बाद जो तीस वर्षों तक राज्य दो भागों में बँटा रहा, उससे राज्य संगठन की शक्ति पर बड़ा बुरा असर पड़ा।

पंचम कारण यह था कि सिन्ध के अन्तिम हिन्दू राजाओं ने अपनी जाट और मेड़ प्रजा का बड़ा दमन किया था, इसलिये उन लोगों ने भी अरबों का साथ दिया था।

दाहिर को यहाँ के लोग असली शासक नहीं मानते थे। कर्मचारी राज्य के विरोधी हो गये थे। आपसी फूट तो थी ही और 'घर फूटे गँवार लूटे' वाली कहावत पूर्णरूपेण चरितार्थ हो रही थी। सब अपनी-अपनी डफली बजा रहे थे और विदेशी आक्रमण से किसी के कान पर जूँ तक नहीं रेंग रही थी। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता की कहावत प्रसिद्ध है और बेचारा दाहिर उसी कहावत को चरितार्थ कर रहा था।

वीर बलवान और योद्धा होते हुए भी दाहिर दूरदर्शी, राजनीतिज्ञ नहीं था। इतने बड़े समुद्र तट के बगल में रहने के बावजूद, उसके पास जल सेना का सर्वथा अभाव था। इन सब कारणों से सिन्ध की स्थिति अच्छी नहीं थी और उसमें यह शक्ति नहीं रह गयी थी कि वह बाहरी आक्रमणकारियों का सफलतापूर्वक सामना कर सके।

हेग के मतानुसार सिन्ध के आक्रमण का तत्कालीन कारण यह था कि सिन्ध के समुद्री डाकुओं ने देवल के किनारे जट्टा नामक स्थान के पास अरब जहाजों को लूट लिया था। इसका वर्णन विभिन्न लेखकों ने किया है।[1]

एक लेखक के अनुसार आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अरबों की बढ़ती हुई शक्ति को स्थल के रास्ते सिन्ध पर आक्रमण करने का बहाना मिल गया। सिंहल का राजा (जो मुसलमान हो गया था) जहाज़ से खलीफा के लिए उपहार भेज रहा था, वह सिन्ध के बन्दरगाह देवल में लूट लिया गया और जहाज के लोगों को देवल अथवा करांची के बन्दरगाह में बन्द कर दिया।

कुछ व्यक्तियों की यह धारणा है कि सिंहल में अरब निवासियों की मृत्यु हुई। ये व्यापारी ईराक के निवासी थे। सिंहल के राजा ने इन मृतक व्यक्तियों की अनाथ स्त्रियों को जहाज में बिठाकर ईराक के मुसलमान गवर्नर हज्जाज के पास भेजा। जब यह जहाज भारतीय सीमा से गुजर रही थी तब डाकुओं ने जहाज पर छापा मारा और सामान तथा अनाथ कन्याओं को लूट लिया।

एक मत यह भी है कि खलीफा ने दासियों तथा अन्य कुछ वस्तुओं के क्रय के लिए अपने कुछ सेवकों को भारत भेजा था। जब ये सब जहाज में जा रहे थे तो उन्हें समुद्री डाकुओं ने लूट लिए। हज्जाज की क्रोध की सीमा न रही। उसने दाहिर से इन कन्याओं की माँग और क्षतिपूर्त्ति के लिए कहा। दाहिर उस माँग को न कर सका और उसी का नतीजा हुआ अरबों का आक्रमण।

खलीफाओं की आँख भारत पर लगी हुयी थी। लूट का माल और दासों का लालच भी बढ़ता गया। उनके नेताओं की राज्य स्थापित करने की इच्छा भी प्रबल होती गयी। खलीफा उमर जलमार्ग से बहुत डरता था, इस कारण उसने इस देश पर चढ़ाई नहीं की। सर्वप्रथम खलीफा उसमान ने भारत पर आक्रमण करने की तैयारियाँ की। उसने यहाँ की परिस्थिति जानने के लिए एक दूत भजा उसकी सूचना आशा जनक न थी। इससे उसमान ने भी चढ़ाई का विचार छोड़ दिया।

खलीफा वलीद के काल में सिन्ध के विजेता मुहम्मद जिन-कासिम और उसके स्वामी ईराक के शासक हज्जाक में जो पत्र-व्यवार हुआ, उससे स्पष्ट हो जाता है

---

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, खण्ड ३, पृ० १८२

कि चढ़ाई का उद्देश्य मूर्त्तिपूजा का अन्त कर इसलाम की स्थापना करना था।

हज्जाज वहुत प्रतापी, वलशाली और साम्राज्यवादी शासक था। समुद्री डाकुओं द्वारा देवल के पास लूटे हुए जहाजों के सम्बन्ध में दाहिर सिर्फ इतना ही उत्तर दिया था कि समुद्री डाकू उसके वश में नहीं थे।

इस उत्तर ने हज्जाज को क्रोधित कर दिया। उसने तुरन्त खलीफा वाहिद से सिन्ध पर आक्रमण करने की अनुमति प्राप्त करके, देवल पर दोबारा चढ़ाई की, परन्तु दोनों में उसकी फौज हारी और सेनाएँ मारी गयीं, इस पर अल-हज्जाक ने भारतीय राजा को दण्ड देने के लिए अपने भतीजे और दामाद मुहम्मद जीन कासिम की नियुक्ति किया।[1]

पश्चिमोत्तर सीमा पर तीन हिन्दू राज्य थे। उत्तर में कपिशा (काबुल), दक्षिण में सिन्ध और इन दोनों के बीच साओ कूट या साओली। कपिशा-राज्य हिन्दू कुश और वामिआन से लेकर सिन्धु नदी तक फैला हुआ था। चीन से कपिशा का घनिष्ठ सम्पर्क था और अलबेरुनी के अनुसार उस समय वहाँ दहिया वंश का राज्य था। मुलतान के नीचे सिन्धुनदी की घाटी के दक्षिणार्ध में फैला हुआ सिन्ध का राज्य था। उसके पश्चिम किरमान, मकरान, मुलतान इत्यादि सिन्ध राज्य के अधीन थे। [साओली या साओकूट तीसरा प्रमुख राज्य था। इसके दक्षिण में सिन्ध, दक्षिणपूर्व में बन्नू और किकानात था और उत्तर में कपिशा था। इसको अरब लोग जुबुलुस्तान या जाबुल कहते हैं। यह पहले हेलमण्ड नदी की ऊपरी घाटी में बसा हुआ था। इस क्षेत्र पर भी सम्भवतः शाहिया वंश का राज्य था। खुरासान के लिए इस वंश का फारस से बराबर झगड़ा चलता था। इन सीमावर्त्ती राज्यों में अरबों का प्रभाव दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा था। ६४९ ई० के बाद से ही अरब लोग इन क्षेत्रों में आने लगे थे। अली और मुआविया के समय में हाकिम अब्दुर्रहमान की बहादुरी और चतुराई से काबुल और जाबुल दोनों पर अरबों की विजय हुई। यह घटना सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में घटी।

अब अब्दुर्रहमान के पश्चात् और ६७० ई० के बाद फिर अरवों की हार इन क्षेत्रों में होने लगी। ७०० ई० तक लगातार युद्ध करने के बाद अरवों का यह पूरा विश्वास हो गया कि इन देशों को जीतना उनकी शक्ति के बाहर है। उसके बाद काफी समय तक, ये सभी देश स्वतन्त्र रहे और कभी-कभी अब्बासीड-खलीफा उनसे कुछ कर वसूल लिया करता था।

सर्वप्रथम खलीफा उमर के समय (६३४–४३ ई०) में कोंकण के तट पर अरबों के समुद्री हमले हुए, किन्तु चालुक्यों की सेना ने उन्हें बुरी तरह पराजित

१. टामस पी०—दी अरब्स, पृ० ४४

किया। दूसरे समुद्री आक्रमणों में भी अरब लोग पराजित हुए। सीमावर्ती तीन राज्यों में सिन्ध पर अरबों के आक्रमण प्रबल और देर तक हुए।

मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण

मुहम्मद बिन कासिम ने ६०० फौज, ६००० चुने हुये सीरियन तथा ईराकी घुड़सवार, इतनी ही संख्या में ऊँटसेना और ३००० सामान ढोने वाले ऊँट लेकर भारत की ओर प्रस्थान किया। मकरान के समीप मुहम्मद हारू के नेतृत्व में एक सैनिक टुकड़ी उससे आकर मिल गई। देवल के समीप समुद्रीमार्ग द्वारा भेजा हुआ उसका तोपखाना भी उससे आ मिला।[1] उन अरब सैनिकों के अतिरिक्त सिन्ध राज्य के असन्तुष्ट जाट और मेड़ जातियाँ भी कासिम से आ मिलीं। परन्तु अभागे दाहिर के पास न उतनी विशाल सेना ही थी और न तोपखाना ही।

मुहम्मद बिन कासिम योग्य, वीर और बुद्धिमान युवक था। वह शीराज के रास्ते मकरान होता हुआ और बीच के नगरों को जीतता हुआ ७११–१२ ई० में देवल पहुँचा, और उस पर घेरा डाल दिया।

सन् ७११ ई० में जाड़े के मौसम में मुहम्मद बिन कासिम ने देवल पर आक्रमण कर दिया। अरबों ने अपने तोपखाने से नगर की चहारदीवारी को तोड़ दिया और घमासान युद्ध हुआ। हिन्दू सेना ने मुसलमानों का वीरतापूर्वक सामना किया, किन्तु अन्त में असफल रहे। अब अरबों ने नगर में प्रवेश करके उसे खूब लूटा। नगर का शासक भाग गया और अपना खजाना अरबों के लिये खुला छोड़ दिया।[2] नगर को मनमाने ढंग से लूट लेने के पश्चात् मुसलमानों ने नगर में निवासियों के सम्मुख इस्लाम स्वीकार करो या मृत्यु के लिये तैयार हो जाओ का प्रस्ताव रखा। कहते हैं कि इस्लाम धर्म स्वीकार न करने के कारण अरबों ने हिन्दुओं को ७२ घण्टे तक कत्ल किया। जो बच रहे उन्हें गुलाम बना लिया गया और मन्दिरों को ध्वस्त करके मस्जिदों का निर्माण कराया।

अब मुहम्मद बिन कासिम ने अपनी सिन्ध विजय तथा आतंक का ब्योरा शाह हज्जाज के पास भेजा। पत्र के उत्तर में हज्जाज ने लिखा कि, ईश्वर की आज्ञा है कि काफिरों को शरण मत दो बल्कि उनका बध कर दो।

देवल पर अधिकार जमा लेने के उपरान्त मुहम्मद बिन कासिम ने निरून की ओर प्रस्थान किया जहाँ अधिकांश जनता बौद्ध थी। इस नगर पर भी आसानी से कब्जा कर लिया गया।

---

१. ब्रोकेलमान, सी—हिस्ट्री ऑफ दि इस्लामिक पिपुल्स, पृ० ७४

२. सिन्हा बी० पी० एवं सहाय, शिवस्वरूप—प्राचीन भारत का इतिहास; पृ० ५०४

उसके उपरान्त सेहसान एवं जाटों के सीसम को विजय करता हुआ, मुहम्मद बिन कासिम ब्राह्मणवाद पर पहुँचा जहाँ उसका राजा दाहिर से युद्ध हुआ। २० जून ७१२ ई० को घमासान युद्ध हुआ। इस युद्ध के विषय में अलविलासपुरी ने लिखा है कि ऐसा संघर्ष कभी नहीं सुना गया था। भीषण युद्ध के दौरान राजा दाहिर के हाथी के हौदे में एक ऐसा तीर लगा जिसने हौदे में आग लगा दी। अग्नि को शान्त करने के उद्देश्य से हाथी पानी में कूद पड़ा, जिससे दाहिर की सेना में निराशा होने लगी किन्तु हाथी शीघ्र ही पानी से लौटाया गया। दाहिर ने फिर अरबों का भीषण नर-संहार कर अपनी शक्ति का परिचय दिया। किन्तु अचानक उसकी आँखों में तीर लग जाने के कारण वह हाथी से गिर पड़ा। फिर भी उसने हिम्मत न हारी और पुनः घोड़े पर सवार होकर शत्रु से युद्ध करने लगा। इस बीच वह बुरी तरह घायल हो गया था और परलोक सिधार गया। अपने शासक की अनुपस्थिति में उसकी सेना आकुल होकर रणभूमि से भाग खड़ी हुई जिसका अरबों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया।

अब राजा दाहिर की धर्मपत्नी रानी बाई ने शत्रु से बदला लेने का निश्चय किया। १५ हजार की सहायता से उसने शत्रु सेना पर पत्थरों तथा चक्रों से भीषण प्रहार किया। परन्तु शत्रु की संख्या बहुत अधिक होने के कारण हिन्दुओं को निराशा के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त न हो सका। अपनी सम्मान की रक्षा करने के लिए रानी को अन्य स्त्रियों के साथ जौहर करना पड़ा।

आक्रमणकारी सेना ब्राह्मणवाद और अलोर की ओर बढ़ी। वहाँ के लोगों ने आत्मसमर्पण किया और तब मुलतान की बारी आयी। सिन्धु की तराई के सम्पूर्ण निचले भाग में अरबों की प्रधानता बढ़ी।

चाचनाम में लिखा है कि एक ब्राह्मण ने आकर कासिम को बताया कि जब तक मन्दिर के गुम्बद का झंडा न गिराया जायगा तब तक उसकी जीत न होगी। मुहम्मद बिन कासिम ने झण्डा गिरवा दिया, जिससे नगर के निवासी भयभीत हो गये।[1]

उसके बाद बिन कासिम नेरुण पहुँचा। वहाँ के बौद्ध पुजारी पहले ही राजद्रोही बनकर हज्जाज से मिल चुके थे। उन्होंने कासिम का स्वागत किया और उसको रसद पहुँचायी। इस प्रकार अनेक शहरों को जीतता हुआ सेहबान पहुँचा। उसने वहाँ के सरदारों को घूस देकर अपनी ओर मिला लिया। वेट के किलेदारों ने भी आक्रमकारियों की सहायता की। ऐसी परिस्थिति में दाहिर की हार निश्चित थी। दाहिर के पुत्र जयसिंह ने अलोर और ब्राह्मणवाद में कासिम के तैयारियाँ की;

१. कैम्ब्रिज मेडियल हिस्ट्री, पृ० १४

परन्तु इसी समय उसका मन्त्री कासिम से जा मिला। शहर के कुछ और बड़े-बड़े लोग भी कासिम से आ मिले अन्त में मुसलमानों की जीत हुई। मुलतान-कासिम की अन्तिम जीत थी। इसके बाद दो चार छोटे-छोटे स्थान लिए और तब कन्नौज पर चढ़ाई करने के लिए एक सेना भेजी। इसी समय ७१४ ई० में हज्जाज की मृत्यु हो गयी और ७१५ ई० में खलीफा ललिद की।

आठवीं शताब्दी के मध्य अब्बासी वंश के खलीफा ने फिर से सिन्धु को जीतने का प्रयत्न किया। सिन्ध के मुसलमान सुबेदार ने कश्मीर पर चढ़ाई की किन्तु ललितादित्य मुक्तापीड़ ने उसे परास्त किया। अब्बासी वंश के पतन काल में सिन्ध का मुस्लिम शासक स्वतन्त्र होकर राज्य करने लगे और अन्त में दो स्वतन्त्र मुस्लिम अमीर एक ब्राह्मणवाद में और दूसरा मुलतान में राज्य करने लगे।

मुहम्मद बिनकासिम के समय ही समीप के प्रान्तों पर चढ़ाइयाँ हुई। पीछे एक अधिकारी जुनैव ने भाखाड़, मन्दोर, भड़ोच, उज्जैन, मालवा, गुर्ज्जर आदि प्रान्तों के विरुद्ध आक्रमण किया। इन अरबों ने सिन्ध, कच्छ, सुराष्ट्र, गुजरात आदि प्रान्तों पर धावा करना शुरु किया, परन्तु इनके प्रसार को दक्षिण में चालुक्यों, पूर्व में प्रतिधरों और उत्तर में करकोट शासकों ने रोक दिया। विजित प्रदेशों से जजिया लेकर मुहम्मद बिनकासिम ने प्रजा को प्रजावत छोड़ दिया। राज्य के कार्य और करों की वसूली उसने पुराने सरदारों के हाथ में रहने दी।

युद्ध का परिणाम

अरबों ने जितनी शीघ्रता से सिन्ध पर अपना प्रभुत्व जमाया उतनी शीघ्रता से वे अपनी शक्ति का संचय न कर सके। भारत में उनका राज्य केवल सिन्ध तक ही सीमित रहा। उनका शासन लगभग भारत में डेढ़ सौ वर्षों तक क्षतविक्षत अवस्था में चलता रहा किन्तु वे भारत पर कोई अक्षुण्ण प्रभाव न डाल सके। उन्होंने भारत में हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों की उपस्थिति में इसलाम धर्म का प्रचार अवश्य किया और अनेक हिन्दुओं को इस्लाम धर्म को स्वीकार करने पर विवश किया। इसके अतिरिक्त भारतीय जीवन पर उनकी और कोई छाप नहीं पड़ी।

अतः लेन पूल की धारणा है कि[1]:—

"अरब निवासियों की सिन्ध विजय इस्लाम तथा भारत के इतिहास में केवल एक घटना मात्र थी जिसका कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम नहीं हुआ।"

हेग ने भी लेनपूल के विचारों का समर्थन किया है। उनका कथन है कि अरबों की सिन्ध विजय के सम्बन्ध में इससे अधिक और कुछ कहने को नहीं है।

१. कै० हि० इ०, खण्ड ३, पृष्ठ–७४

भारत के इतिहास में यह एक गौण तथा महत्त्वहीन घटना थी और इस विशाल देश के एक कोने पर ही उसका प्रभाव पड़ा। इसने एक सीमान्त प्रदेश में इस धर्म का सूत्रपात किया जिसने आगे चलकर लगभग पाँच शताब्दियों तक भारत के अधिकांश भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित रखा; परन्तु इसके वे दूरगामी प्रभाव नहीं पड़े, जिनका टॉड ने "एनत्स आफ राजस्थान" में उल्लेख किया है।

टॉड महोदय का यह मत मान्य नहीं है, क्योंकि राजनीति दृष्टिकोण से अरबों का विशेष विस्तार, तत्काल उस आक्रमण के फलस्वरूप नहीं हुआ, वल्कि भारत में पूर्ववतः सब कार्य चलता रहा।

इसलामी ज्वार सिन्ध तथा निचले पंजाब को आप्लवित करके पीछे लौट गया और पीछे कुछ चिह्न छोड़ गया। रेगिस्तान के दूसरे पार स्थित राज्यों के शासकों को आतंकित होने का कोई कारण नहीं था। उन पर तो संकट बाद में आया और उनके शत्रु अरब नहीं बल्कि तुर्क थे और अपने साथ वे अरब पैगम्बर धर्म को उसने अधिक भयावह रूप में लाये जिसमें उसे स्वयं अरबों ने प्रस्तुत किया था।

उपर्युक्त धारणा का अनुमोदन कई इतिहासकारों ने किया है, परन्तु इस घटना को केवल यह कहकर ही नहीं टाला जा सकता। चाहे यह विजय कितनी ही महत्त्वहीन बनकर रह गई हो, कितनी ही क्षणिक क्यों न हों, किन्तु प्रत्येक घटना का कुछ न कुछ प्रभाव आवश्य पड़ता है। अतः अरबों की इस सिन्धी विजय के प्रभावों को हम राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। जिनका वर्णन निम्नलिखित है :—

यद्यपि अरब लोग राजनीतिक, शासन प्रबन्ध तथा सांस्कृतिक में भारतीयों से किसी भी दशा में कठोर नहीं थे। फिर भी उनके निम्नलिखित प्रभाव उल्लेखनीय है :—

अरबों की सिन्ध विजय से भारत में इस्लाम धर्म का बीजारोपण हुआ जिससे देश की एकता भंग हो गयी। भारत में आगे चलकर इस्लाम धर्म का अधिक प्रचार हो जाने पर हिन्दू-मुस्लिम समस्या एक उग्र रूप धारण कर गयी तथा अन्ततः देश की राजनीति एकता का बलिदान करके पाकिस्तान के निर्माण में सहायक सिद्ध हुई।

प्रो० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव का कथन है कि अरबों की सिन्ध विजय ही पहली घटना थी जिसके परिणाम स्वरूप पाकिस्तान का निर्माण हुआ। भारतीय राजनीतिज्ञों के सम्पर्क में आकर अरबों की राजनीति में परिवर्तन हुआ। नये धर्म; नयी रीति-रीवाज तथा नयी परम्परा ने विदेशियों के लिये भारत में आने जाने का मार्ग खोल दिया।

आर्थिक प्रभाव

अरब लोग बड़े निर्धन थे। अतः धन के लोभ में उन्होंने सिन्ध प्रदेश में खूब लूट-मार की तथा यहाँ के मन्दिरों को नष्ट कर सोना-चाँदी तथा जवाहिरात पर्याप्त मात्रा में प्राप्त किये। यहीं नहीं बल्कि उन्होंने देश की भव्य इमारतों को भी नष्ट किया जिससे देश को आर्थिक क्षति उठानी पड़ी।

अरबों ने भारत का धन अपहरण करने के उद्देश्य से पश्चिम के लिए मार्ग खोल दिया जिससे देश की आर्थिक स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ा।

समाजिक प्रभाव

भारत में इस्लाम धर्म के प्रचार से हमारे रीति-रिवाजों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। दास प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, जौहर की प्रथा, हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव; साम्प्रदायिकता आदि को बढ़ावा मिला।

अरब सौदागरों ने हिन्दू औरतों से विवाह किया जिसके फलस्वरूप भारत में मुसलमानों की संख्या अधिक बढ़ने लगी।

सांस्कृतिक प्रभाव

प्रो० एस० आर० शर्मा—के शब्दों में—"आक्रमणकारियों को भारत की लूट में सबसे मूल्यवान वस्तु भारत की सांस्कृतिक वस्तु मिली"।

मुश्लिम संस्कृति पर इस विजय का बहुत गम्भीर एवम् सुदूर व्यापी प्रभाव पड़ा। इस देश की उच्चत्तर सभ्यता से अरब निवासी आश्चर्यचकित हो गये।

हैवेल के अनुसार इस्लाम की युवावस्था ही उसका गुरु था जिसने उसे अनेक विधाये सिखलायी और उसके साहित्य और कला को विशेष रूप दिये। हारुन-अल-रसीद (७०६ ई०) के समय सैकड़ों विद्वान भारत की विद्यायें और कलायें सीखने के लिये भेजे गये। चिकित्सा शल्य, गणित (इलम्–ए–हिन्दी–सा) ज्योतिष (नजूम), रसायन (कीमियो), भू-गर्भ, भूगोल, अध्यात्म विद्या इत्यादि अनेक विधाये उन्होंने यहाँ आकर सीखी। हजारों संस्कृत विद्या और पुस्तकों का अरबों में अनुवाद हुआ। भारत में विद्वानों को बुलाकर अनुवाद का स्वतन्त्र विभाग स्थापित किया गया।

अरबों के माध्यम से भारत की यह विद्या यूरोप पहुँची और रोम आदि की सभ्यताओं पर उसका प्रभाव पड़ा। ईरान और भारत की सभ्यताओं ने अरबों को प्रभावित किया और उसकी क्रूर तथा संहार की प्रकृति समाप्त होने लगी।

भारतीय साहित्य का अनुवाद भी अरबी भाषा में हुआ और इसके फलस्वरूप कथा साहित्य का भी वहाँ विकास हुआ। "खण्डखाद्य" और ब्रह्म-सिद्धान्त जैसे कठिन ग्रन्थों का अरबी अनुवाद हुआ।

लेनपूल के अनुसार अरबों ने भारतीय सम्पर्क से सांस्कृतिक लाभ उठाया। भारतीय संगीतज्ञ, चित्रकार, कलाकार और कारीगरों को बगदाद ले जाया गया। बगदाद के दरबार में भारतीय वैद्य और चिकित्सकों की नियुक्ति हुई।

इस प्रकार संस्कृति के क्षेत्र में भारत ने अरबों को बहुत कुछ सिखाया। इस प्रकार स्टेनली लेनपूल के इस कथन से हम सहमत हैं कि सिन्ध विजय का भारत पर कोई स्थायी राजनीतिक प्रभाव न पड़ा, किन्तु इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दुओं की शासनपद्धति, विद्वत्ता एवम् संस्कृति में अरबवासियों ने बहुत लाभ उठाया।

सिन्ध पर अरबों का शासन

कासिम का अधिक समय लड़ाई में बीता तथा लगातार आक्रमणों के कारण; वह शासन-प्रबन्ध में अपना पूरा समय न दे सका। पर उसे अपने जीते हुए प्रदेशों के लिए शासन की व्यवस्था करनी पड़ी। मुसलमानी सिद्धान्तों के आधार पर शासन करना कठिन था, अतः उसे अपने नियमों की कड़ाई कम करनी पड़ी। उसे पुराने हिन्दू शासकों से सहायता लेनी पड़ी। कर वसूलने का काम ब्राह्मणों के हाथ रखा गया।

सरकार के आय के मुख्य स्रोत तीन थे

१. **लड़ाई की लूट**:—जिसका पाँचवाँ भाग खलीफा को भेजा जाता था।

२. **भूमिकर**:—यदि सरकारी नहरों से खेत सींचा जाता था तो उससे पैदावार का ४० फीसदी लगान में लिया जाता था। अन्यथा २५ फीसदी। फलों की पैदावार पर ⅓ भाग और वस्तुओं पर ⅕ भाग कर के रूप में लिया जाता था। इसके अतिरिक्त अन्य छोटे-छोटे कर भी थे जिन्हें ठेके पर नीलाम कर उगाहा जाता था।

३. **जजिया**:—जो लोग इस्लाम धर्म नहीं ग्रहण करते थे उनसे उनकी हैसियत के अनुसार जजिया वसूल किया जाता था। चुंगी इत्यादि भी हिन्दुओं को मुसलमानों से दूनी देनी पड़ती थी।

न्याय:—न्याय का काम काजीलोग कुरान विधान के अनुसार न्याय करते थे। अमीर और सरदार अपने-अपने प्रान्तों में अपराधियों को प्राणदण्ड भी देते थे। राजनीतिक और सामाजिक अपराधी के लिये कुरान का कानून ही प्रयुक्त होता था, किन्तु सम्पत्ति, उत्तराधिकारी, दुराचार इत्यादि पर हिन्दू लोगों की पंचायत फैसला करती थी। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच न्याय करने का कोई प्रबन्ध नहीं था। राजा और प्रजा में परस्पर स्नेह और विश्वास का सर्वथा अभाव था।

कृषि :—हिन्दुओं को कृषि-कार्य वहन करना पड़ता था। मुसलमान सैनिकों की कृषि कार्य अथवा खेत जोतने का अधिकार नहीं दिया गया था। कुछ सैनिकों को अनुदान के रूप में भूमि मिलती थी पर अधिकांश लोगों को उनका निश्चित वेतन ही खजाने से मिलता था। महात्मा, फकीर, साधु-सन्त आदि को अनुदान के रूप में भूमि दी जाती थी। कृषिकार्य चलाने का प्रबन्ध भी दिया जाता था।

सैनिक अनेक स्थानों पर यहाँ बस गये थे और उन्होंने यहाँ की स्त्रियों से विवाह कर अपने उपनिदेश बना लिये थे। मनसुरा मुल्तान आदि नगर इसी प्रकार बसे थे। विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करने के कारण अरबों की सैनिक शक्ति निर्बल हो गयी। धीरे-धीरे वे इतने शक्तिहीन हो गये कि आवश्यकता पड़ने पर बाहर से सेना माँगनी पड़ती थी। प्रारम्भिक आक्रमणों में अरबों ने असहिष्णुता का परिचय दिया था, जबर्दस्ती लोगों को मुसलमान बनाया था और औरतों, बच्चों को दास बनाकर बेचा था। किन्तु बाद में उन्होंने नरमी का व्यवहार किया और जो अधिकार उन्होंने पश्चिम में यहूदियों और ईसाइयों को दिये थे वे ही अधिकार उन्होंने यहाँ भी दिये। हिन्दुओं को अपने मन्दिरों में पूजा करने का अधिकार पूर्व की भाँति रहने दिया गया अगर वे जजिया-कर देते थे तब। मुसलमान यात्रियों को तीन दिन अपने पास ठहराना और उनके भोजन का प्रबन्ध करना हिन्दू प्रजा का कर्तव्य था। किसानों की अवस्था दासों से कुछ अच्छी नहीं थी। इस सम्बन्ध में कासिम ने कुछ सुधार नहीं किया। व्यापारिक दृष्टि से सिन्ध का महत्त्व काफी बढ़ गया। जल और स्थल दोनों मार्गों से सिन्ध का व्यापार होने लगा। लंका, मलाबार और अन्य दक्षिणी प्रदेशों का खुरासान, तुर्किस्तान आदि देशों से व्यापार सिन्ध के मार्गों से भी होता था। अरब से घोड़े और शस्त्र यहाँ भेजे जाते थे। सिन्ध के किनारे बहुत-से अरबी बस गये थे। अरब सैनिकों ने व्यापारियों का रूप धारण किया।

अरबों ने यहाँ की स्थानीय संस्थाओं के हाथ शासनभार सौंप दिया क्योंकि वे लोग स्थानीय कानून रीति-रिवाज तथा परम्पराओं से पूर्ण अनभिज्ञ थे। दाहिर के हार जाने के कारण, शासन व्यवस्था में उथल-पुथल हो गयी थी। अतः उन्होंने इस ओर ध्यान दिया और यहाँ के लोगों के साथ मिलकर उसे सम्पन्न किया। किन्तु यहाँ अरब शासन स्थायी नहीं हो सका। वे लोग हिन्दू प्रजा को सन्तुष्ट नहीं कर सके। जब उनका जोश ठण्डा पड़ा तब उनके घरेलू झगड़े पुनः प्रारम्भ हो गये और उनके अमीर और सरदार स्वतन्त्र होने के प्रयास में लग गये। मोहम्मद बिन कासिम के बाद कोई योग्य शासक भी नहीं हुआ और खिलाफत स्वयम् झगड़े में फंस गयी। खिलाफत की निर्बलता से सिन्ध पर अरबों का नियन्त्रण

ढीला पड़ गया था। उनका प्रभावक्षेत्र सिन्धु तथा मुलतान तक ही बहुत दिनों तक सीमित रहा।

भारतीय संस्कृति का अरबों पर प्रभाव

अरब संस्कृति और साहित्य ही भारतीय संस्कृति से प्रभावित हुआ। हर्वल ने लिखा है कि इस्लाम की युवावस्था में भारत ही उसका गुरु था, जिसने उसे अनेक विद्याएँ सिखलायी और उसकी साहित्य और कला को विशेष रूप दिया। हारून और रशीद (७८६–८०९ ई०) के जमाने में सैकड़ों विद्वान् भारत की विद्याएँ और कलाएँ सीखने के लिये यहाँ भेजे गये। चिकित्सा, शल्य, गणित (इल्म-ए-हिन्द सा), ज्योतिष (नज्जुम), रसायन (कीमिया), भूगर्भ, भूगोल, अध्यात्म विद्या आदि अनेक विद्याएँ उन्होंने यहाँ आकर सीखीं। हजारों संस्कृत विद्याओं और पुस्तकों का अरबी में अनुवाद कराया गया। भारत से विद्वानों को बुलाकर अनुवाद का एक स्वतन्त्र विभाग स्थापित किया गया। अरबों के द्वारा भारत की यह विद्या यूरोप पहुँची और रोम इत्यादि की सभ्यताओं पर उसका काफी प्रभाव पड़ा। ईरान और भारत की सभ्यताओं ने अरबों को प्रभावित किया और उनकी क्रूर तथा संहारक प्रकृति समाप्त होने लगी। भारतीय साहित्य का अनुवाद भी अरबी भाषा में हुआ और उनके फलस्वरूप कथा-साहित्य का भी विकास हुआ। खण्डखाद्यक और ब्रह्मसिद्धान्त जैसे कठिन ग्रन्थों का अरबी अनुवाद हुआ। लेनपुल के अनुसार अरबों ने भारतीय सम्पर्क से सांस्कृतिक लाभ उठाया। भारतीय संगीतज्ञ, चित्रकार, कलाकार और कारीगरों को बगदाद ले जाया गया। बगदाद के दरबार में भारतीय वैद्य और चिकित्सकों की नियुक्ति हुई। हारून-अर-रसीद (७८६–८०९ ई०) के समय हिन्दू संस्कृति के प्रवाह से बगदाद का दरबार आप्लावित हो उठा था। बलक नामक एक व्यक्ति—जो बलख का था—का प्रभाव बगदाद के दरबार में था और वह भारत-भक्त था। हारून-अर-रशीद भारतीय विद्वानों को बगदाद बुलाता था और वहाँ के अरब विद्यार्थियों को पढ़ने के लिए भारत भेजता था।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि राजनीतिक दृष्टिकोण से सिन्ध-विजय भारतीय इतिहास और इस्लाम के लिए महत्त्वहीन रही। सिन्ध पर विजय उन विभिन्न इस्लामी जातियों द्वारा की गयी जिन्हें राजनीतिक रूप में एक सूत्र में बाँधना असम्भव था। यही कारण था कि जब धार्मिक उत्साह कम हुआ तब वे अलग-अलग अपनी डफली अपना राग अलापने लगे। चारो ओर से शक्तिशाली राज्यों से घिरे होने के कारण वे सिन्ध में शक्तिशाली राज्य की स्थापना में असमर्थ थे। अरबों ने भारत में अपनी बिरासत भी नहीं छोड़ी—कला, साहित्य, दर्शन और

चिन्तन के क्षेत्र में उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। उन्हें एकेश्वरवाद का घमण्ड था, किन्तु यहाँ आकर उन्होंने देखा कि भारतीय भी इस सिद्धान्त से परिचित हैं। राजनीतिक और सांस्कृतिक तौर पर उनका कोई प्रभाव भारत पर नहीं पड़ा, बल्कि वे ही भारतीय संस्कृति से प्रभावित हुए। अबू भाशर नामक एक विद्वान बनारस में ज्योतिष पढ़ने के लिए आया। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरब आक्रमण का कोई व्यापक प्रभाव भारतीय इतिहास पर नहीं पड़ा।

राज्य स्थापना का काल

सुबुक्तगीन

अरब लोग सिन्धु के पश्चिमी किनारे से आगे नहीं बढ़े। उन्होंने मुलतान और मन्सूर पर ही अपना राज्य स्थापित किया और शेष भारत पर उससे कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ सका। खिलाफत में हेरफेर होने से वहाँ अरब के स्थान पर फारस की प्रधानता हुई। खिलाफत का साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर टुकड़ों में विभक्त हो गया। फारस और तुर्किस्तान में नये राज्य की स्थापना हुई। इन राज्यों में सबसे महत्त्वपूर्ण राज्य समनी वंश का था। जिसे समन निवासी अमीर इश्माइल ने ६११ ई० में बुखारा में स्थापित किया था। दसवीं शताब्दी के मध्य तक तुर्कों ने लगभग सारे विभागों से फारस वालों को भगा दिया। पूरब के देशों में इस्लाम की पताखा ले जाने वाले यही तुर्क लोग थे। ९५० ई० तक अरबों और ईरानियों के अधीन जो तुर्क सरदार थे वे फिर सिर उठाने लगे और कुछ ही दिनों में तुर्क-प्रभुत्व उन सब देशों पर छा गया जो पहले खिलाफत के अधीन थे। इसी समय अलप्तगीन नामक एक तुर्क ने गजनी में एक छोटी-सी तुर्क जागीर की नींव डाली। वह पहले बुखारा के अमीर के यहाँ हाजीब और द्वारपाल था। गजनी का बुखारा के अमीरों ने ही कुछ पहले छीना था।

अलप्तगीन के बाद उसका पुत्र सुबुक्तगीन (९७७–९९७ ई०) गजनी का स्वामी बना। प्रारम्भ में वह खुरासान के सरहदी तुर्क का गुलाम था। ९७७ ई० में गजनी पर अधिकार कर वह स्वतन्त्र हो गया और अपना साम्राज्य पूरब तथा पश्चिम में फैलाने लगा। उसका उद्देश्य राजनीतिक था और अपने साम्राज्य के क्रम में उसने मुसलमानों को भी नहीं छोड़ा। अपने राज्य में उसने शान्ति तथा न्याय की स्थापना की। उसके बाद उसने भारतीय सीमा पर आक्रमण किया और भारतीय राजाओं से उसे मुठभेड़ हुयी। उस समय अफगानिस्तान शाही-राज्य जयपाल के अधीन था। जब मुसलमानी सेना लमगान तक पहुँची तब जयपाल अपनी सेना लेकर उसका सामना करने के लिए वहाँ पहुँच गया। दोनों के साथ घमासान युद्ध हुआ। प्राकृतिक परिस्थितियों से बाध्य होकर जयपाल को सन्धि

करनी पड़ी। सुबुक्तगीन को दसलाख दरहम और पचास हाथियों का वादा मिला। किन्तु लाहौर जाकर जयपाल ने अपना वचन पुरा नहीं किया। पुनः सुबुक्तगीन लमगान में लूटपाट प्रारम्भ कर दी। कालिंजर, कन्नौज, अजमेर आदि के राजाओं के साथ मिलकर जयपाल ने सुबुक्तगीन का सामना किया, किन्तु जीत उसके हाथ नहीं लगी। लमगान और पेशावर तक का देश गजनी के राज्यों में चला गया। सुबुक्तगीन ने कर नियत कर पेशावर की रक्षा के लिए २००० सैनिक रख दिये। कुछ ही दिनों के बाद खुरासान भी गजनी राज्य में मिल गया। उसके बाद ही उसने भारत पर विजय की योजना बनायी। इस सिलसिले में उसका जयपाल से संघर्ष हुआ और ९९१ ई० में उसने जयपाल के सीमान्त दुर्गों पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार भारत के एक विशिष्ट हिस्से पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। ९९७ ई० में सुबुक्तगीन की मृत्यु हो गयी। उस समय उसके साम्राज्य के अन्तर्गत अफगानिस्तान, खुरासान, बल्ख तथा भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के कुछ प्रदेश थे। इस प्रकार सुबुक्तगीन एक विशाल एवं दृढ़ राज्य की स्थापना करने में सफल हुआ।

महमूद गजनबी

जीवन चरित्र एवं उसका व्यक्तित्व—सुबुक्तगीन के बाद उसका पुत्र महमूद गजनी उस वंश का सबसे प्रतापी राजा हुआ। उसका जन्म १ नवम्बर ९७१ ई० को हुआ था। राज्यारोहण के बाद उसने एक विशाल साम्राज्य की योजना बनायी। जिसे कार्यान्वित करने में पूर्णतयाः सफल हुआ। राज्यारोहण के एक वर्ष बाद ही समनी वंश के उत्तराधिकारी के पक्ष पर झगड़ा प्रारम्भ हो गया। महमूद ने इसका लाभ उठाकर ख्याती प्राप्त की। धन प्राप्त करने के लोभ से वह भारत पर आक्रमण की योजना बनाई। १००० ई० से १०२६ ई० तक उसने सिन्ध एवम् गंगा नदी के मैदानों में कम से कम १६ आक्रमण किये। प्रतिवर्ष १६ बार आक्रमण भारत पर करता नगरों एवं महलों को लूटता और गाजी (विजयी) तथा बुतशिकन (मूर्तिभंजक) उपाधियों को प्राप्तकर चला जाता।

महमूद का व्यक्तित्व आकर्षक नहीं था। वह कुरूप था, किन्तु उसका शारीरिक गठन अच्छा था। वह बड़ा ही साहसी था। वह एक योग्य सैनिक के साथ ही युद्ध कला में प्रवीन था। वह एक कुशल सेना नायक था और विश्व के महान सेनापतियों के साथ उसकी तुलना की जा सकती है। वह दूरदर्शी तथा व्यावहारिक व्यक्ति था। वह अपने प्रतिज्ञा के लिए प्रयत्नशील एवं दृढ़ विचार का स्वामी था। युद्ध से उसे प्रेम था। उसके आक्रमण इतनी शीघ्रता से होता था कि उसके शत्रु आश्चर्यचकित रह जाते थे। उसे कभी हार नहीं हुयी और सदा सफल ही रहा। वह एक विजेता था, बर्बर नहीं। यह सत्य है कि उसने धन प्राप्ति के लिए

मन्दिरों को लूटा और बरबाद किया। किन्तु उसने सदा ही स्त्रियों के साथ सद्व्यवहार किया।

वह एक महान सम्राट था। उसने गजनी राज्य की सीमा का विस्तार किया और अपने पिता की साम्राज्यवादी योजना को पूर्ण किया अपनी योग्यता तथा शक्ति के आधार पर उसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, जिसके चलते उसकी गणना एशिया के महान सम्राट् में की जाती थी। प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन उसकी गणना विश्व के महान सम्राटों में करता है। वह उच्चकोटि का शासक और नीतिज्ञ था और साथ ही दूरदर्शी भी। उसके कार्यों तथा चरित्र-बल के कारण इतिहास में उसका स्थान बहुत ऊँचा है। वह एक योग्य नेता, कुशल सेनापति, न्यायप्रिय तथा उदार शासक, साहित्य, और कला का प्रेमी तथा विद्वानों और कवियों का आश्रयदाता था। वह इस तत्त्व से बना था जिससे शहीद बनते हैं। वह उन व्यक्तियों में से था जिसे प्रकृति समय-समय पर स्वतः निर्माण करती है। उसकी गणना विश्व की महान विभूतियों में की जाती है।

महमूद ने सर्वप्रथम पंजाब के राजा जयपाल पर चढ़ाई की। पेशावर के नजदीक दोनों सेनाओं के बीच खुलकर लड़ाई हुयी। महमूद जीत गया और जयपाल को छोड़ दिया गया। पुनः १००१ ई० में महमूद ने सीमान्त नगरों तथा दुर्गों पर चढ़ाई कर उन प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया तथा वहाँ अपने शासकों को बैठा दिया। १००३ ई० में झेलम नदी के किनारे भेरा नामक स्थान पर आक्रमण किया और वहाँ के शासक को पराजित कर उसे अपने राज्य में मिला लिया। मुल्तान पर उसका आक्रमण १००५ ई० में हुआ। वहाँ का शासक उस समय अब्दुल फतह दाऊद था। महमूद ने पंजाब के राजा आनन्दपाल से (जयपाल का पुत्र) सेना के जाने के लिए अनुमति माँगी। आनन्दपाल स्वयं महमूद से सामना करने के लिए एक विशाल सेना लेकर बढ़ा। युद्ध हुआ तथा आनन्दपाल हार गया और भागकर कश्मीर में शरण ली। इसके बाद महमूद ने मुल्तान की ओर प्रस्थान किया तथा वहाँ के शासक को हराया। दाऊद ने वार्षिक कर देने का वचन दिया तथा तत्काल ही एक बड़ी राशि उसे पहुँचा दी।

अब महमूद आनन्दपाल के पुत्र सेवकपाल को उस राज्य का शासक नियुक्त कर दिया जिसे उसके पिता से उसने जीता था। गजनी लौटने का मुख्य कारण यह था कि उसकी अनुपस्थिति में काशगर के सुलतान ने गजनी पर आक्रमण कर दिया था। महमूद के चले जाने पर सेवकपाल अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। महमूद ने पुनः उसपर आक्रमण कर दिया और उसे कैद कर दिया। उधर आनन्दपाल ने मुल्तान के शासक दाऊद को स्वतन्त्र कराने में मदद की तथा उत्तरी भारत के राजाओं का मुसलमानों की सत्ता का अन्त करने के अभिप्राय से एक

संघ निर्मित किया था। महमूद ने शीघ्र ही उसकी राजधानी लाहौर पर आक्रमण किया।

महमूद इस बात को समझता था कि जबतक आनन्दपाल को वह समाप्त नहीं कर देता है, वह भारत में ठीक से प्रवेश नहीं पा सकता है। १००८ ई० में महमूद ने पुनः आनन्दपाल पर आक्रमण किया। आनन्दपाल ने ग्वालियर, कालिंजर कन्नौज, अजमेर और उज्जैन के राजाओं से अपनी-अपनी सेना भेजने का आग्रह किया। मुल्तान के खोखर लोगों की भी एक बड़ी सेना सहायता के लिए आ गयी। सारे देश के लोगों ने इसमें सहायता की। मुसलमान लेखकों ने तो यहाँ तक लिखा है कि हिन्दू औरतों ने अपने जेवर बेचकर सहायता की। चालीसदिनों तक दोनों सेनाएँ आमने सामने रहीं। उन्द नामक स्थान जो झेलम के किनारे था युद्ध हुआ। पर जीत महमूद की हुयी। १०१० ई० में भी तलवाड़ी के युद्ध में भी महमूद ने हिन्दू शासकों को हरा दिया और काफी धन लेकर स्वदेश लौट गया।

महमूद का आक्रमण कांगड़ा नागरकोट पर भी हुआ तथा उसे अपने राज्य में मिला लिया। आनन्दपाल का दूसरा पुत्र त्रिलोचनपाल ने महमूद को वार्षिक कर देने का वचन दिया तथा अपनी दो हजार सैनिकों की सेना को सुलतान की सेना में उपस्थित किया। उसके बाद महमूद ने गुजरात पर आक्रमण किया। आनन्दपाल को उससे सन्धि करनी पड़ी। उसके बाद उसने मुल्तान को जीत लिया तथा थानेश्वर के सैकड़ों मन्दिर नष्ट कर दिये। वहाँ का राय नगर छोड़कर भाग गया। महमूद वहाँ के लोगों को गुलाम बनाकर ले गया और बहुतों को अपनी सेना में बहाल किया। १०१२-१३ ई० में उसने खलीफा से खुरासान माँग लिया और समरकन्द पर अपना अधिकार जमा लिया।

त्रिलोचनपाल और महमूद के बीच चार वर्षों तक सन्धि बनी रही। पर १०१४ ई० में महमूद ने फिर त्रिलोचनपाल पर आक्रमण कर दिया। कश्मीर के राजा संग्रामराज ने अपने सेनापति तुंग को त्रिलोचनपाल की सहायता के लिए भेजा। त्रिलोचनपाल हार गया और कश्मीर चला गया। उसका बेटा भीमपाल बड़ा ही बहादुर था। उसने महमूद के साथ युद्ध किया पर हार गया। जैसा कि हम जानते हैं कि जयपाल, आनन्दपाल, त्रिलोचनपाल और भीमपाल ने भारत के राजाओं का संगठन बनाकर महमूद गजनवी का सामना किया पर इस वंश के अथक प्रयास के बावजूद भी महमूद हारा नहीं।

भीम को पकड़ने के लिए सुलतान कश्मीर की ओर जाना चाहता था परन्तु लोहकोट के किले पर वह ठहरा। उसने ख्वारिजा को अपने राज्य में मिला लिया। पुनः वह यमुना पार कर बुलन्दशहर पहुँच गया। हरदत्त जो वहाँ का शासक था;

उसके डर से मुसलमान हो गया। महमूद पुनः मतबन पहुँचा। वहाँ का राजा कुलचन्द्र युद्ध में हार गया और उसके बाद उसने आत्महत्या कर ली। महमूद वहाँ से मथुरा आया। इस नगर की शोभा से वह काफी प्रसन्न हुआ पर उसने मथुरा को भी ध्वस्त कर काफी सोना चाँदी हड़प लिया। वृन्दावन के किले को भी उसने ध्वस्त कर लूटा। तत्पश्चात् वह कन्नौज पहुँचा। कन्नौज शहर के चारों ओर सात दीवारें थीं। यहाँ का राजा राज्यपाल था जो डर से भाग गया। एक ही दिन में महमूद का कब्जा नगर पर हो गया। उसकी इन विजयों पर मुस्लिम जगत में काफी खुशियाँ मनाई गयीं। उसकी विजय घोषणा और स्वागत के लिए खलीफा ने एक विशेष दरबार लगायी। उसके बाद महमूद का आक्रमण कालिंजर पर हुआ। पहले तो वहाँ के राजा नन्द की सेना से महमूद भयभीत हुआ पर रात ही में नन्द की सेना भाग गयी जिस कारण महमूद ही लूट-मार कर जल्दी लौट गया।

उसने भारत के मुख्य स्थानों पर अपनी सेनाएँ रखीं तथा प्रान्तीय अधिकारियों की नियुक्ति की। भारत में सबसे महत्त्वपूर्ण आक्रमण उसका सोमनाथ पर हुआ। यह मन्दिर काठियावाड़ में सरस्वती नदी के किनारे के पास अरब सागर के किनारे था। मन्दिर का खर्च १०,००० गाँवों की आमदनी से चलता था। जब महमूद की सेना वहाँ पहुँच रही थी तो मन्दिर के पुजारी यही कहते रहे कि सोमनाथ इनको एक पल में नष्ट कर देंगे। महमूद ने मन्दिर के अन्दर का सारा धन ले लिया। लूट का माल वह गजनी ले गया। लौटते समय उसने अन्हिलवाड के राजा को लूटा। सोमनाथ में शिवलिंग को रिश्वत लेकर छोड़ देने से उसने साफ इन्कार कर दिया। उसने इसके कई टुकड़े किये और उन टुकड़ों को गजनी के जामा मस्जिद की दहलीज में लगवाया।

उसने मुल्तान के जाटों को भी तंग किया। १०२७ ई० में जाटों पर आक्रमण भारत में उसका अन्तिम आक्रमण था। इसके बाद वह पश्चिम में सल्जूक तुर्कों से लड़ता रहा और १०३० ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

उसके आक्रमण से भारतीय नरेशों की सैनिक शक्ति को गहरा धक्का पहुँचा। भारत की राजनीतिक और सैनिक दुर्बलता का पता विदेशियों को लग गया था। भारत की अतुल सम्पत्ति यहाँ से बाहर चली गयी तथा महमूद भी इस सम्पत्ति का उपयोग अपनी पश्चिम विजय में किया। प्राचीन मन्दिरों के टूटने से स्थापत्य कला को बड़ा आघात पहुँचा। उसने बाद के आक्रमणकारियों के लिए अग्रदूत का काम किया। राधाकृष्ण चौधरी के मतानुसार मुसलमानी आक्रमण के लिए एक नया मार्ग खुल गया जो अरबों द्वारा खोले मार्ग से ज्यादा सुगम और अच्छा था। मुसलमानों को उत्तरी भारत का अच्छा ज्ञान प्राप्त हो गया।[1]

१. वही, पृ० ६९४

राज्य-संघटन और राज्य प्रबन्ध के काम की ओर उसकी विशेष रुचि न थी। यह काम उसने अपने अन्य कर्मचारियों पर छोड़ दिया था, जो बड़ी मिहनत और ईमानदारी से देखते थे। इन कर्मचारियों में राजनीतिज्ञों की दूरदर्शिता और तीक्षण बुद्धि का अभाव था, इसलिए वे एक स्थिर और उदार संघटन स्थापित न कर सके।

उसके वजीरों ने शासन में किसी प्रकार का सुधार नहीं किया केवल कर कड़ाई से वसूला जाता था। उसने आन्तरिक शान्ति एवं सुव्यवस्था की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। उसके राज्य में पुलिस का कोई प्रबन्ध नहीं था। उसने साम्राज्य के लिए किसी प्रकार के नियम नहीं बनाये फिर भी उसे इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने मुसलमानों को स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना सिखलाया। वह पहला मुसलमान था जिसने सुलतान की उपाधि धारण की थी।

वह एक उदार व्यक्तित्व का आदमी था। उसकी सेना में हिन्दु, अफगान, तुर्क आदि भरती किये जाते थे और किसी को अपने धर्मपालन में कोई रुकावट नहीं थी। व्यक्तिगत रूप से उसका विश्वास अपने समयानुसार था। यद्यपि वह स्वयं पक्का एकेश्वरवादी था, फिर भी वह मुक्तिवादियों (रैशनलिस्ट) के विरुद्ध न था। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह तत्कालिन राजाओं के सामान ही था और उसकी धार्मिक भावनायें उसे मदिरा और भोगविलास से नहीं बचा सकती थी। वह धर्मान्ध था और ईश्वर में दृढ़ विश्वास था। युद्धारम्भ के पूर्व वह ईश्वर की उपासना किया करता था और कभी-कभी कुरान से भी शकुन लिया करता था।

वह लोभी था और उसे धन से विशेष प्रेम था। धन का व्यय भी वह दिल खोलकर करता था। उसके धन प्रेम के सम्बन्ध में निजामुद्दीन तथा फरिश्ता का कथन है कि मरते समय उसने अपनी समस्त सम्पत्ति अपनी आँखों के सामने रखवा ली। उसने फिरदौसी से शाहनामा ग्रन्थ की रचना करवायी और उसे लिखने के लिए साठ हजार सोने के सिक्के देने का वचन दिया। पुस्तक तैयार होने पर सुल्तान ने सोने के सिक्के के बदले चाँदी के सिक्के दिये। फिरदौसी को बड़ी निराशा हुई और वह अपने घर लौट गया। बाद में जब सोने के सिक्के भेजे गये तब तक वह दुःख के कारण मर चुका था। महमूद निर्धनों एवम् शिक्षण संस्थाओं को भी दान दिया करता था। अन्याय तथा व्यभिचार से उसे घृणा थी। एक बार उसने अपने भतिजे का सिर इस अपराध पर कटवा दिया था कि उसका एक स्त्री से नाजायज सम्बन्ध था। इस माने में उसका न्याय बहुत कठोर था।

स्वयं अशिक्षित होते हुये भी वह विद्वानों का आदर किया करता था। उसके दरबार में प्रसिद्ध विद्वान रहा करते थे। वह उन्हें आश्रय प्रदान करता था तथा उनकी हर सम्भव सहायता करने को तैयार रहता था। वह उनकी रचनाओं को बड़े चाव और प्रेम से सुनता था। उसके दरबार में अलबेरुनी, उनषी, उजटी;

फिरदौसी, फरुक्की, आसजवी आदि विद्वान कवि और साहित्यकार रहा करते थे। समनी वंश फारसी साहित्य का पोषक था। महमूद ने गजनी में एक विश्व-विद्यालय, एक पुस्तकालय तथा आजायबघर की स्थापना की और इन्हें उन समस्त सुन्दर तथा बहुमूल्य वस्तुएँ से सुसज्जित किया जिन्हें उसने विभिन्न आक्रमणों में विभिन्न प्रदेशों से प्राप्त किया था। उसके प्रयत्न से ही गजनी एक प्रसिद्ध नगर बन सका। उसने वहाँ राजभवनों का भी निर्माण करवाया। मथुरा के मन्दिरों से प्रभावित होकर वह वहाँ के कारीगरों को गजनी ले गया और उसने वहाँ शानदार मस्जिदें और इमारते बनवायी। उसके चाँदी के सिक्के पर संस्कृत में कलमा लिखा हुआ पाया गया है। साहित्य देवकला का गुणग्राही महमूद सुशिक्षित था, उसकी बुद्धि तीक्ष्ण थी और मस्तिष्क विशाल।

उसका सर्वोच्च गुण था, युद्धकौशल और सेना की नेतृत्व की योग्यता। उसमें उसके समान उसका कोई समकालीन नहीं था। गजनी एक छोटा-सा राज्य था। महमूद ने इएफहान से बुन्देलखण्ड तक और समरकन्द से गुजरात तक समस्त देशों को जीत डाला। महमूद का महत्त्व उसका युद्ध कौशल था। एक सैनिक के सभी गुण उसमें मौजूद थे। भिन्न जातियों की मेल से बनी सेना को ऐसे नियन्त्रण और संघटन में ढालना कि वह एक नेता की आज्ञा माने, तेजी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाये—यह नायकत्व पर्याप्त मात्रा में उसमें विद्यमान था। आलस्य उसके पास नहीं फटकता था। जहाँ से अच्छे योद्धा मिलते थे वहाँ वह अपनी सेना में भरती कर लेता था। वह कोई भी काम निर्भयता से करता था। वह एक साम्राज्य निर्माता था। उसके इतने बड़े साम्राज्य में भिन्न-भिन्न जातियाँ सुसंगठन से नहीं बल्कि उसके सैनिक बल से बँधी थी। उसका प्रयास निरुद्देश्य और निष्फल रहा। फिर भी वह एक वीर, योग्य, साहसी, बलवान और कुशल विजेता था, जिसने अपनी योग्यता से इतने बड़े साम्राज्य का निर्माण किया और अपने समय का अद्वितीय सेनापति था।

महमूद के मरने के पश्चात् उसके वंश में गद्दी के लिए संघर्ष शुरु हुआ। उसके बाद उसका बड़ा बेटा गद्दी पर बैठा। उसने गजनी के बजाय बल्ल को राजधानी बनाया और लाहौर के प्रान्त में कई शासक नियुक्त किये। उनमें अहमद नियाल्तगीन ने बनारस पर आक्रमण किया और फिर अपने को स्वतन्त्र करना चाहा। महमूद के बेटे मसूद (१०३०–१०४० ई०) के समय तिलक्का नाम का एक हिन्दु अफगान पंजाब का शासक था। महमूद के बाद सेल्युफ तुर्कों ने ईरान और मध्य एशिया पर अधिकार कर लिया। उधर पंजाब से कई आक्रमण कन्नौज सम्राज्य और राजस्थान पर होते रहे। गहरवार अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कन्नौज के शासक प्रजा से तुवष्कदण्ड वसूल करते थे और शायद गजनी के तुर्कों के

पास भेजते थे। ११६० ई० तक महमूद के वंशजों के पास केवल पंजाब रह गया था। ११९२ ई० में सयनी वंश का अन्त हो गया। इस बीच (१०३०–११९२ ई०) भारत विदेशी आक्रमणों से करीब-करीब मुक्त रहा। इस समय आक्रमणकारियों की प्रगति नहीं हुई यद्यपि उनके लूट से प्रेरित आतंक का परिणाम स्थायी रहा। गजनी राज्य में उत्तराधिकारी के लिए आपसी संघर्ष चल रहा था। बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भारत का राजनीतिक आकाश फिर विपत्ति के बादलों से घिर गया अरबों और गजनबियों के बीच तीन शताब्दियों का अन्तराल था। गजनबियों के एक सौ सत्तर साल बाद भारत पर गौरी वंश का आक्रमण हुआ। उसका वेग उतना प्रचण्ड था कि १२०६ ई० में उत्तर भारत के विशेष हिन्दु राज्य इस प्रलय ज्वार से समाहित हो चूके थे। उसने अपने आक्रमणों के थपेड़ों से समस्त उत्तरी भारत को त्रस्त कर दिया था। उसने महमूद के वंशजों को हराकर अपना राज्य स्थापित किया था।

मुहम्मदगोरी का आक्रमण

भारत की राजनीतिक अवस्था

मुसलमानी राज्य का प्रसार मुहम्मदगोरी के समय तक पंजाब से आगे नहीं बढ़ पाया था पर कभी-कभी मुसलमानी आक्रमण होते रहते थे। देश में विकेन्द्रीकरण की भावना चरमोत्कर्ष पर चली जा रही थी। इसका प्रारम्भ ६४७ ई० के बाद से ही हो गया था। भारत अब भी छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। प्रतिहारों में अरबों की प्रगति को रोक रहा था पर धीरे-धीरे उनकी भी शक्ति क्षीण होती जा रही थी।

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में शाकम्भरी के चौहान पृथ्वीराज प्रथम का पुत्र अजयदेव बड़ा प्रतापी हुआ और उसने अजमेर को अपनी राजधानी बनाया। उसका पुत्र अरणोराज हुआ जिसने अजमेर में अणासागर झील और आणाँबोध बंधवाया था। वीसलदेव या विग्रहराज चतुर्थ बड़ा प्रतापी राजा हुआ। जिसने उत्तर की ओर साम्राज्य विस्तार प्रारम्भ किया। उसके बाद सोमेश्वर राजा हुआ और तब पृथ्वीराज। पृथ्वीराज दिल्ली में एक किला बनवाया और कन्नोज से भारतीय राजनीति के नेतृत्व को समाप्त कर दिया।

कन्नोज में इस समय गहड़वालों का शासन था। जयचन्द्र वहाँ का शासक था। पाल, सेन और कर्णारवंशीय (मिथिला) बिहार में शासन कर रहे थे। चन्दोल का शासन बुन्देलखण्ड में था और उनका राजा बलाल था पर भाई था। उसकी सेना में बनाकरवंश के दो बीर आल्हा और ऊदल थ जिनका वर्णन चन्दवरदाई ने ने 'पृथ्वीराज रासो' के महावंशक में किया है। पृथ्वीराज ने बलाल को हरा

दिया। इस समय तक चेदि और परमालवंश के राजा भी कमजोर हो गये थे। मेवाड़ में सामन्त वंश का राज्य था। गुजरात का अहिलाबाड़ा राज्य भी निर्बल हो गया था। समस्त राजपूत राज्यों में पृथ्वीराज महान था जिसने अपने बल के अहंकार से कन्नौज आदि के राजाओं को अपना शत्रु बना लिया था।

११६३ ई० में गजनी को समाप्त करने वाले अलाउद्दीन का भतीजा बहाउद्दीन साम का लड़का गयायुद्दीन मुहम्मद बिन साम गद्दी पर बैठा। ११७३ ई० में उसने गजनी से तुर्कों को भगा दिया और वहाँ अपने भाई शाहाउद्दीन मुहम्मद को गद्दी पर बैठाया। इसी का नाम बाद में मुईनुद्दीन था जो मुहम्मद गोर हुआ।

११७५ ई० में गोरी ने मुलतान के इस्लामियों को वहाँ से निकाल कर एक कट्टर मुसलमान शासक नियुक्त किया। ११७८ ई० में उसने मुलतान के रास्ते से गुजरात के अहिलावाड पर आक्रमण किया। उस समय वहाँ मूलराज शासन कर रह था वहाँ गोरी को सफलता नहीं मिली। गजनी पहुँचते-पहुँचते बहुत से लोग मर गये। ११७९ ई० में गोरी ने पेशावर पर और ११८१ ई० में लाहौर पर चढ़ाई किया। उस समय जम्मू में राजा चन्द्रदेव का शासन था और लाहौर के गजनवी अमीर खुसेरा से उसकी नहीं बनती थी। खुसरो ने खोखटो से दोस्ती कर चन्द्रदेव को कर देना बन्द कर दिया। इसी को दण्ड देने के लिए चन्द्रदेव ने गोरी को आमन्त्रित किया। ११८६ ई० में जब गोरी ने पुनः पंजाब पर आक्रमण किया तब चन्द्रदेव के पुत्र विजयदेव ने उसकी सहायता की। खुसरो घर गया और कैदी हो गया तथा पंजाब पर गोरी का अधिकार हो गया। ११९०–९१ ई० में उसने बड़ी सेना लेकर चढ़ाई की और सरहिन्द को कब्जा में कर लिया।

गोरी और पृथ्वीराज

पृथ्वीराज की सीमा पर सरहिन्द एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। पृथ्वीराज उस समय उत्तरी भारत का सबसे शक्तिशाली शासक था। गोरी ने ११८९ ई० में फरिण्डा पर आक्रमण किया। दुर्ग के लोगों ने आत्मसमर्पण कर दिया और उसके तुरत बाद मुहम्मद गोरी जियाउद्दीन को वहाँ छोड़ स्वयम् सेना लेने गजनी चला गया। इसी बीच पृथ्वीराज भटिण्डा की ओर बढ़ा और इस समाचार को पाते ही गोरी वापस चला आया। ११९१ ई० में तराइन के मैदान में दोनों की सेना में मुठभेड़ हुई। जयचन्द ने पृथ्वीराज का साथ नहीं दिया। पृथ्वीराज को सफलता मिली। उसने भटिण्डा पर आधिपत्य कर लिया। उसे तराइन की पहली लड़ाई कहते हैं। सुलतान पराजित होकर भाग गया था। दुबारा गोरी की विजय की खबर पाते ही पृथ्वीराज एक बहुत बड़ी सेना लेकर उस ओर चल पड़ा। थानेश्वर से बारह मील और तरावडी गाँव से तीन मील के फासले पर नरहिया नामक गाँव

के निकट दोनों की सेनाओं में मुठभेड़ हुयी। पृथ्वीराज शत्रुसेना के दाहिने और बायें पार्श्वों को मारकर पीछे हटा दिया और गोरी का सामना पृथ्वीराज के भाई गोविन्द से हुआ, गोरी घायल होकर भागा। एक मत यह भी है कि गोरी पकड़ा गया और ३० हाथी ५०० घोड़े देकर छुटकारा पा सका।

पृथ्वीराज ने सरहिन्द के किले पर घेरा डाला और तेरह महीने के बाद उसे कब्जे में कर लिया। गोरी अपनी पराजय को भूल न सका। ११९२ ई० में गोरी फिर एक बड़ी सेना लेकर (एक लाख बीस हजार अश्वारोही) भारत की ओर बढ़ आया। इधर पृथ्वीराज पूरी तैयारी की और सब राजपूत राजाओं को देश और धर्म की रक्षा के लिए आह्वान किया। १५० छोटे-बड़े राजपूत राजा इस समय इकट्ठे हुये। लाहौर से मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज के पास अपना दूत भेजा और उसने कहा कि वह उसकी अधीनता स्वीकार कर ले। किन्तु पृथ्वीराज ने यह संवाद को ठुकरा दिया। गोरी और राजपूत पुनः तारावडी के क्षेत्र में मिले। राजपूतों ने मुसमानी सेना को आगे बढ़ने से रोक दिया। गोरी ने अपनी सेना को पाँच हिस्से में बाँटा और इस बार उसने युद्ध में चातुरी से काम लिया। गोरी की चतुराई के सामने राजपूतों की वीरता व्यर्थ रही। उनकी हार हुयी। तराइन की दूसरी लड़ाई में पृथ्वीराज हार गया। पृथ्वीराज बन्दी हुआ और मार डाला गया। सम्भव है कि जयचन्द की गद्दारी के कारण पृथ्वीराज की ऐसी अवस्था हुयी किन्तु इस हार के बाद बहुत दिनों तक राजपूत राजा लोग एक झण्डे के नीचे नहीं आ सके और उनकी हिम्मत टूट गयी। सिरसुति, समाना, हाँसी आदि के किले पर बिना किसी रोक-टोक गोरी ने अधिकार कर लिया। इसके बाद वह अजमेर पहुँचा और उसे भी लूटा। मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण हुआ। पृथ्वीराज के एक पुत्र को कर देने की शर्त पर अजमेर का शासक नियुक्त किया गया। उसके तुर्कगुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और उसको अपनी राजधानी बनाया। तराइन का दूसरा युद्ध भारत के लिए युगान्तरकारी और निर्णायक सिद्ध हुआ। उसके परिणाम स्वरूप विदेशी आक्रमणों के प्रतिरोध करने के लिए भारतीय शक्ति एकत्र करने का उत्साह अब किसी में नहीं रह गया। इसके बाद भी ऐसे अनेक आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह होते रहे।

कन्नौज

उस सय कन्नौज राज्य बड़ा ही विस्तृत था। दिल्ली की सीमा से विधर तक कन्नौज का राज्य फैला हुआ था। इस समय कन्नौज का राजा जयचन्द्र था। वह अपनी सेना लेकर आगे बढ़ा और चन्दवर के पास यमुना के किनारे मुसलमानी सेना से उसकी सेना का आमना-सामना हुआ। मुसलमानों की हार में कुछ देर न थी कि

इतने में जयचन्द्र की आँखों में एक तीर लगा और वह तुरत अपने हाथी के नीचे गिर गया। उसकी सेना में भगदड़ मच गयी। मुसलमानी सेना कन्नौज पहुँची और वहाँ उसके कोष को लूटा। कुछ दिनों तक जयचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र ने कन्नौज को सुरक्षित रखा और अन्त में कन्नौज पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। वहाँ से मुसलमानी सेना बनारस पहुँची।

अजमेर से मुसलमान शासकों को निकालकर पृथ्वीराज का बेटा हेमराज राजा बना। पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने ११९२ ई० में चम्बल के किनारे रणथम्भोर में चौहानों की राजधानी बनायी। ११९५ ई० में ऐबक ने गुजरात के राजापर आक्रमण किया और अपने मालिक की पहली हार का पूरा बदला चूकाया। ग्वालियर, वनापा आदि स्थानों को उसने अपने शासन में कर लिया। इस विजय के बाद सुलतान ने ऐबक को सम्मानित किया। ग्वालियर के राजा ने वार्षिक कर देने का वचन दिया। ११९७ ई० में अजमेर प्रान्त के मेड़ों ने विद्रोह कर दिया और गुजरात के राजा भीम से मदद माँगी। ऐबक अजमेर में था और उसने मेडों पर आक्रमण कर दिया। मेड़ बड़ी बहादुरी से लड़ते रहे और दूसरे दिन भीम से बदला लेने के लिए ऐबक ने गुजरात पर चढ़ाई कर दिया। आबु भी तलहटी में दोनों की मुठभेड़ हुयी। दिनभर घमासान युद्ध हुआ और अन्त में हार हिन्दुओं की हुयी। इसके बाद सुलतान पाँच वर्षों तक भारत न आ सका और यहाँ पूर्ण शान्ति रही। इस समय भी बंगाल में इख्तियारुद्दीन बराबर चढ़ाई करता रहा। १२०२ ई० में ऐबक ने विजय कार्य प्रारम्भ किया और चन्देल राज अजय देव से कालिंजर छीना तथा महोबा पर अधिकार कर लिया। उधर बदायूँ और अवध को भी मुसलमानों ने जीत चुके थे और बख्तियार खिलजी ने बिहार, बंगाल, असम, और तिब्बत पर अपना अभियान शुरु कर दिया था। १२०५ ई० में झेलम और चिनाव के बीच खोखरों से भी बड़ी भारी लड़ाई हुई। ऐबक भी सहायता से खोखटो को परास्त किया गया। गजनी लौटने के समय मुहम्मदगोरी ने कुतुबुद्दीन को भारतीय प्रान्त का शासक नियुक्त किया। इस प्रकार मुहम्मदगोरी ने अपनी विजयों के द्वारा उत्तरी भारत के बहुत बड़े हिस्से पर मुसलमानी शासन स्थापित किया।

हिन्दुओं के पतन और मुसलमानों की सफलता के कारण

हम देखते हैं कि हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद देश में विकेन्द्रीकरण की भावना दिन-पर-दिन बढ़ती गयी। ७११–१२ ई० में जब अरबों ने भारत के सिन्ध और मुलतान पर अपना अधिकार कायम कर लिया, उस समय भारत के विभिन्न राजवंश न तो सचेत हुए, और न संगठित होकर उन्होंने इस आक्रमण का सामना

किया। अरब आक्रमण के बाद भारत पर एक पर्याप्त समय तक किसी विदेशी जाति का आक्रमण नहीं हुआ। इसके कारण भारतीयों ने अपनी उत्तरी पश्चिमी सीमा को सुरक्षित करने की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया तथा उनलोगों ने अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग पारस्परिक संघर्षों में किया। राज्यों में राष्ट्रीय गौरव का सर्वथा अभाव था। उस समय भारत में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जो उनका ध्यान इस ओर आकृष्ट करता और उन्हें यह शिक्षा प्रदान करता कि इस समय भारतवर्ष के प्रत्येक व्यक्ति से अपने कर्त्तव्य के पालन की अपेक्षा करता है। इसके अभाव में परिणाम स्पष्ट था।

कोई भी राजपूत वंश भारत में राजनीतिक एकता की स्थापना में समर्थ नहीं था। राजनीतिक एकता के अभाव के कारण वे लोग बहुतकाल तक विदेशी आक्रमणों से भारत को सुरक्षित नहीं रख सके और न अपने राज्य को स्थायी कर सके राजपूतों के पतन के मुख्य कारण इस प्रकार है :—

राजपूतों में वंश-परम्परा का महत्व था—शासक एक दूसरे के विरोधी तथा दूर्व्यसनी होते थे और प्रजा के हित से पूर्णतया उदासीन रहते थे। वंश परम्परा में योग्य अयोग्य का विचार नहीं होता था। अपनी कमजोरियों के कारण वे अपने पड़ोस की रक्षा नहीं कर सकते थे। उनके अधिकांश राजकीय पदों पर ब्राह्मण और क्षत्रियों के वंशज रहते थे और राजा की तरह ये लोग भी अन्य वर्णों के प्रति उदासीन रहते थे। साधारण जनता को राज्य में कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। ऐसी उदासीन प्रजा संकट के समय में राजा को साथ नहीं देती थी। राजा को जनता का समर्थन प्राप्त नहीं होता था। अरबों के जाने के बाद जब भारत में ईस्लाम का प्रचार हुआ, उस समय निम्न स्तर के लोग उसके प्रजातान्त्रिक रूप से प्रभावित हुये और सिन्ध तथा मुलतान में बहुत से लोग मुसलमान भी बने।

युद्धकला में कुशल होते हुए भी राजपूत लोग हार गये। यह भी एक विडम्बना है। वे अपनी वीरता का प्रदर्शन अपनी पारस्परिक युद्धों में किया करते थे। जयचन्द्र विद्यालंकार के अनुसार राजपूतों की वीरता सदा रक्षापरक युद्धों में ही प्रगट हुयी। उनमें महत्वाकांक्षी की वह प्रेरणा, विशाल दृष्टि का वह स्वप्न, वह ऊंची साध कभी न होती थी जो मनुष्यों को नयी भूमि खोजने और जितने की खतरे के लिए आगे बढ़ाती है। आक्रामकों को उनके घर पर ही रोके रहना सबसे उत्तम रक्षा है। किन्तु इनमें राजपूत पिछे थे। भारत में विदेशी आक्रमणकारियों का विरोध समान्य जनता ने कभी नहीं किया क्योंकि वह राजा और उसके सामन्तों के शोषण से त्रस्त थी। सिन्ध के राजा के अत्याचार से तंग आकर जाटों ने भी अरबों का साथ दिया था। ऐसा कहा जाता था कि तुर्क अच्छे सैनिक

थे क्योंकि वे शीत प्रदेश के निवासी थे, मांसाहारी और युद्धप्रिय भी थे, किन्तु यह कोई तर्क मालुम नहीं पड़ता है। इसके बजाय यह कहना अधिक उचित होगा कि यहाँ के शासकों ने अपनी गलतियों से कुछ सीखा ही नहीं। युद्ध के बाद पृथ्वीराज को असावधान नहीं रहना चाहिए था यदि उसी समय वे पंजाब जितने का प्रयास करते तो स्थिति दूसरी होती।

भारत में सामन्त-प्रथा का विकास इस समय तक हो चुका था। इस प्रथा ने राज्यों के पतन में विशेष रूप से सहयोग दिया। सामन्त अपने प्रदेश में शासन करते थे और केन्द्रीय शक्ति के शिथिल होने पर वे स्वतन्त्र हो जाया करते थे। सामन्तों में विद्रोह की भावना प्रबल थी। राज्यों में आन्तरिक कलह एवं द्वेष बराबर बना रहता था। राजा लोग उन्हीं के दमन में इतना व्यस्त रहते थे कि वे विदेशीक नीति की ओर अथवा विदेशी आक्रमणकारियों की ओर अपना विशेष ध्यान नहीं दे सकते थे। इन्हीं कारणों से अपनी सीमाओं की सुरक्षा करने में असमर्थ थे। उनकी सैनिक शक्ति आन्तरिक झगड़ों में लग जाती थी और विदेसियों का सफलतापूर्वक सामना करने में वे असमर्थ थे। सामन्तवादी व्यवस्था में जनता की लड़ाई से अलग रखने का प्रयास भी भारतीय इतिहास के लिए घातक सिद्ध हुआ। मालिकों के परिवर्तनों में जनता की अभिरुचि नहीं रह गयी। सामन्त अपनी-अपनी सामन्ती सुरक्षा में ही तल्लीन रहने लगे और आपसी युद्ध में वीरता दिखलाना ही वे लोग अपना धर्म समझते थे इन सब कारणों से देश में राजनीतिक एकता का सर्वथा अभाव हो गया अयोग्य सैनिक संगठन भी पतन का एक प्रमुख कारण था। हिन्दुओं की सेना में पैदल की संख्या अधिक थी। उनकी सेना में गतिशीलता का अभाव था। राजपूतों में हाथी सेना का विशेष महत्व था और वे हाथियों को ही आगे रखते थे। उनकी युद्ध शैली प्राचीन थी। उन्हें अपनी तलवार और भाले पर विशेष भरोसा था। उनका युद्ध सम्बन्धी आदर्श उच्च था। वे धार्मिक युद्ध में विश्वास रखते थे और उसी अधार पर युद्ध में जीत की आकांक्षा रखते थे। छल द्वारा वे युद्ध में विजय होना नहीं चाहते थे। उनके अस्त्र-शस्त्र सभी पुराने थे। मुसलमानों की सेना में अश्वारोहियों की संख्या बहुत अधिक थी। वे बड़ी गतिशील होते थे और राजपूतों की पैदल सेना उनका सामना नहीं कर सकती थी। मुसलमानों का आक्रमण बड़े वेग एवम् उत्साह के साथ होता था वे लोग तेज तीरों का व्यवहार करते थे और हाथियों का व्यवहार दुर्ग तोड़ने के लिए करते थे। शत्रुओं की प्रगति रोकने के लिए भी वे लोग हथियारों का प्रयोग करते थे। राजपूत लोग विदेशी तीरंदाज के सामने नहीं ठहर सके। वे अपनी सुरक्षा का ध्यान नहीं रखते थं। समस्त सेना एक ही बार युद्ध में उतर जाती थी। तुर्कों में इससे भिन्न व्यवस्था थी। वे आवश्यकता पड़ने पर अपनी सुरक्षा सेना का

प्रयोग किया करते थे। तुर्कों के पास नये-नये अस्त्र-शस्त्र भी थे। राजपूत की सेना अव्यवस्थित थी।

ऐसा कहा जाता है कि सामाजिक कारणों से राजपूतों का पतन हुआ था। वे विभिन्न जातियों एवम् उपजातियों में बँटे हुये थे। उनमें आपसी एकता का तो सर्वथा अभाव था ही, ऊँच-नीच का भाव उनमें विशेष रूप से वर्त्तमान था। वे अपने वंश को विशेष महत्त्व देते थे। जिसका परिणाम यह होता था कि सेनापति के नेतृत्व में कार्य करना राजपूत लोग अपना अपमान समझते थे। उनका सामाजिक एवम् नैतिक स्तर बहुत गिर गया था क्योंकि उनमें मद्यपान, द्यूत-क्रीडा, बहु-विवाह, बाल-विवाह जैसी कुरीतियाँ छा गयी थीं। वे लोग भाग्यवादी हो गये थे और भाग्य के भरोसे ही वे चलते थे। इसके चलते उनमें आत्मविश्वास का लोप हो गया था। योग्य नेताओं का भी उनमें अभाव था। उस समय एक ऐसे नेता की आवश्यकता थी जो संकट के समय में देश की एकता को एक सूत्र में बाँधकर विदेशी आक्रमणकारियों का सफलतापूर्वक सामना कर सकें। वीरता और उत्साह के बावजूद उनमें दूरदर्शिता का अभाव था। युद्ध में वीरगति प्राप्त कर स्वर्ग में ये अपना स्थान सुरक्षित रखना चाहते थे।

इस समय तक जातिबन्धन जटिल हो गया था और उसका आधार कर्म न होकर पूर्णतया जन्म हो गया था। बाह्य देशों में होनेवाली घटनाओं से भारतीय सर्वथा अनभिज्ञ रहा करते थे। फरिश्ता ने यह लिखा है कि :—

इससे आगे जानेवाला हिन्दू पतित माना जाता था। हिन्दुओं का धार्मिक संस्कार विकृत हो गया। भारत की राष्ट्रीयता को सबसे बड़ा बाधक जातिवाद और सम्प्रदाय हुआ। विदेशी लेखक विल-ड्यूरो के अनुसार जात-पाँत के भेद-भाव से दुर्बल हो जाने के कारण भारत आक्रमणकारियों के सामने विवश रहा। उन्हें जब विरोध का कोई पथ नहीं सूझा तब वे अलौकिक बातों में विश्वास करने लगे। ईश्वर और माया-मोह के जाल फँसकर वे जीवन को क्षण-भंगुर समझने लगे और अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना भी भूल गये। उन्हें विदेशी राजनीति, उथल-पुथल, सैनिक-संगठन तथा अन्य बातों का ज्ञान नहीं हो पाता था। राजा अपने भोग-विलास में व्यस्त रहते थे। समाज विभिन्न श्रेणियों में बटा था और समाज में ऊँच-नीच की भावना भी बढ़ने लगी। ब्राह्मणबौद्ध-संघर्ष भी काफी तीव्र हो गया था। अबुजैद के अनुसार धर्म और विज्ञान के सम्बद्ध काम करने वाले व्यक्ति ब्राह्मण कहलाते थे। उत्पादक यन्त्रों पर उनका नियन्त्रण था। अतः समाज पर इनका नियन्त्रण होना अनिवार्य था। ब्राह्मण अपने को अन्य वर्णों से अलग रखते थे। वर्णों के अन्दर उपजातियाँ बनने लगी थी। क्षत्रिय सामन्तवाद के प्रतिष्ठापक और रक्षक थे। इब्न खुरदाद ने तत्कालीन भारतीय समाज को सात

भागों में बाँट रखा है। समस्त वर्णों में उपजातियों की संख्या काफी बढ़ गयी थी। विज्ञानेश्वर ने पन्द्रह प्रकार के दासों का उल्लेख किया है। इतनी उपजातियों के विकास से एकता का सूत्र टूट गया और संकीर्णता की भावना बढ़ गयी। अतुल सम्पत्ति के कारण मन्दिर भी भ्रष्टाचार के अड्डे हो गये थे। इन सब कारणों से विदेशी आक्रमणकारियों की दृष्टि मन्दिरों पर लगी रहती थी। भारत की स्थिति से मुसलमानों ने लाभ उठाया और एक-एक कर सम्पूर्ण भारत पर आधिपत्य कर लिया। सामन्तवादी प्रथा के कारण भारतीय शासकगण स्थायी सेना नहीं रखते थे। उन्हें अपने सामन्तों पर निर्भर रहना पड़ता था। मुसलमान इस दृष्टिकोण से विशेष चतुर थे। वे लोग सारी सेना एक साथ नहीं उतारते थे। उनके सैनिक राजनीति के अतिरिक्त धर्म से भी प्रभावित थे। साधारण मुसलमानों में जो उत्साह था उसका अभाव भारत के साधारण लोगों में हम पाते हैं। भारत के पश्चिमोत्तर सीमा के प्रान्तों पर उस समय के शासकों ने ध्यान नहीं दिया।

यद्यपि हिन्दुओं की हार हुई, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनमें लड़ने की क्षमता नहीं थी। राजा और प्रजा में देश-प्रेम की कमी नहीं थी, कमी थी संगठन की अनुशासन की राष्ट्रीयता की उस भाव की जो व्यक्तिगत झगड़ों और स्वार्थ के ऊपर उठकर सर्वोपरि देश और जाति के लाभ और हानि की चिन्ता करता है। उनके संकुचित विचार और पारस्परिक कलह के कारण व्यापक राष्ट्रीयता और उच्च आदर्श का लोप हो गया था। देश की रक्षा वे करना चाहते थे किन्तु यह नहीं जानते थे कि इस कार्य में सफल होने का मूलमन्त्र क्या है। तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक संगठन ही इस प्रकार का था जिनमें राजनीतिक एकता की आवश्यकता का वे अनुभव ही नहीं कर सकते थे। उसके प्रतिकूल मुसलमानों में विनय, अनुशासन, उद्देश्य की एकता, परस्पर भेदभाव का अभाव, एक नेता का नेतृत्व आदि सभी आवश्यक गुण विद्यमान थे।

हिन्दुओं में वीरता, शारीरिक शक्ति, आत्मत्याग, कठोर सहन आदि गुण मुसलमानों से किसी प्रकार कम न थे। स्वदेश तथा स्वधर्म के प्रति श्रद्धा एवम् प्रेम की कमी नहीं थी वे एक होकर लड़ने के लिए भी तैयार हो जाते थे किन्तु उनमें नितान्त अभाव था एक मौलिक गुण का जिसके कारण उनके सब गुण समाप्त हो जाते थे। उनमें अभाव था उस विवेक और दूरदर्शिता का जिसके बिना वे राजनीतिक राष्ट्रीय एकता का मौलिक सिद्धान्त भूल गये थे। प्राचीन क्षत्रिय धर्म का पालन उन्होंने आपस में संघर्ष कर लिया।

उस समय ब्राह्मण धर्म ने उस जाति के समस्त जीवन एवं विचारों को इतना शिथिल एवं रूढ बना दिया था कि जातीय जीवन में इसका विनाशकारी प्रभाव पड़ा। हिन्दू लोग देश की सीमा के बाहर जाने पर धर्म और जाति के नष्ट होने के

सिद्धान्त को मानने लगे। बौद्धों में प्रतिहिंसा और ईर्ष्या के कारण ब्राह्मणों हिन्दुओं का उन अन्तरदेशीय प्रान्तों तक जाना धर्म के नाम पर वर्जित कर दिया। सीमा तक पहुँचाना या किसी भवन से छू जाने से उनका धर्म नष्ट हो जाता था। इहलोक की अपेक्षा उन्हें अपना परलोक बनाने की अधिक चिन्ता थी। जातिभेद और अन्धविश्वास भी उन लोगों में घर कर गया था। फिर भी जनता प्रायः उदासीन थी। सामाजिक त्रुटियों के कारण इनकी सामाजिक स्थिति अत्यन्त निर्बल थी।

युद्ध में मुहम्मद गोरी ने अपने विवेक का परिचय दिया। उसका विवेक परिचय इस प्रकार मिलता है। तरावड़ी की लड़ाई में उसने सेना को पाँच भागों में बाँटा और उनमें चार को आज्ञा हुई कि शत्रुओं को चारो दिशाओं दायें, बायें, आगे, पीछे से हमले कर खूब तंग करे और बारी-बारी से इस प्रकार पीछे हट जाय कि मानों डरकर भाग रहे हैं। जब फिर से राजपूत सेना इकट्ठी हो जाय तो फिर सब हमला बोल दो। पाँचवाँ हिस्सा इस काल के लिए कि जब राजपूत परेशान हो जायँ तो एकाएक उनके केन्द्र पर धावा बोला जाय। इस प्रकार की चतुराई से गोरी ने काम लिया था। किन्तु राजपूतों ने पुराने अनुभव से कुछ नहीं सीखा था। इस चतुराई के सामने उनकी वीरता और शौर्य बेकार सिद्ध हुआ। उनकी हार हुई। इस हार के बाद किसी राजपूत राजा का साहस नहीं हुआ कि सब राजाओं को झण्डे के नीचे कर विदेशियों का विरोध करे। राजपूतों को यह न सूझी कि इस आये दिन के आफत से अपने देश की रक्षा का एक मात्र उपाय यह था कि शत्रुओं के अड्डे पर जाकर उन्हें समूल नष्ट कर दिया जाय और अपनी सीमा को इतना सुदृढ़ बनाया जाय कि कोई आक्रामक देश में घुस ही न पाये। स्थायी सेना तो उनके पास थी ही नहीं। उनका धन सेवा की योग्यता बढ़ाने में कम लगता था और मन्दिरों तथा देवस्थलों में अधिक। युद्ध में वे धार्मिक रूढ़ियों को नहीं त्याग सकते थे। एक हमले के बाद ही उन्हें सतर्क हो जाना चाहिए था पर वे हमेशा दूसरे युद्ध के इन्तजार करते थे। इसके स्थायी निराकरण का उपाय वे कभी नहीं सोचते थे। सीमा-प्रदेश की सुरक्षा आवश्यक था और दृढ़ प्रबन्ध करना तथा शत्रुओं को अपने घर में प्रवेश करने के पूर्व ही रोकना भी आवश्यक था। सीमा प्रदेशों में आक्रामक के घुसने के बाद ही उनकी नींद खुलती थी।

इस राजनीतिक पतनकाल में हिन्दू लोग अपनी स्वाधीनता भूले नहीं और उसकी पूर्ति के लिए लगातार प्रयास करते रहे। किन्तु वे अपने प्रयास में विफल होते रहे। इसका मूल कारण यह था कि वे एकता व सामुहिक शक्ति, सहयोग और संगठन का महत्त्व भूल गये। सैकड़ों सरदारों और राजपूत वीरों ने अलग-अलग स्वतन्त्र दोनों का प्रयास किया और वीरता, कष्ट-सहन, निर्भीकता एवं आत्मत्याग से शत्रुदल को भी चकित कर दिया तथा इस प्रकार उन लोगों ने

अपना नाम अमर कर लिया। यदि उनमें एकता, संगठन और नये युग के अनुसार युद्ध-कला में संशोधन करने की क्षमता होती और यदि वे छोटे-मोटे स्वार्थ और संकीर्णता से ऊपर उठ सकते तो अपने प्रयास में सफल हो सकते थे। विजयी मुसलमान प्रोत्साहित होते थें और पराजित हिन्दू हतोत्साह। जिस समय उनकी सीमा पर साम्राज्यविस्तार का ताण्डवनृत्य हो रहा था, उस समय ये अपने वंशगत और जातिगत अभिमान का निबटारा कर रहे थे। स्थानीय एवं संकुचित देशभक्ति से ही इस प्रकार का वातावरण पैदा हुआ था। इन्हीं सब कारणों से भारत में हिन्दुओं का पतन हुआ और मुसलमानों की जीत।

अलबेरुनी का भारत वर्णन

अलबेरुनी खीवा का रहनेवाला और महमूद गजनवी के साथ भारत आया था। वह प्रकाण्ड विद्वान था। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक का नाम है किताबुलहिन्द। उसने भारत में गणित और ज्योतिष का अध्ययन किया था। उसने तहकीके-स-हिन्द नामक पुस्तक लिखी थी। भारतीय जीवन में संकीर्णता का प्रवेश हो चुका था। सामाजिक ऊँच-नीच के जितने जात-पाँत के रूप में रूढ हो चुके। खान-पान और जात-पाँत के नियमों को भी न्योछावर करने लगे थे। अलबेरुनी लिखता है—मैं ने कई बार सुना है कि जब युद्ध में कैद हुए हिन्दू छूटने के बाद अपने देश और धर्म में वापस जाते हैं तब हिन्दू उन्हें प्रायश्चित्त के रूप में उपवास करने का आदेश देते हैं। फिर वे उन्हें गोबर-मूत्र और दूध में नियत दिनों तक दबाये रखते हैं। फिर उन्हें वही मल खिलाते हैं। हिन्दुओं को इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गयी है उसे शुद्ध कर पुनः ग्रहण कर ले। मूर्खता ऐसा रोग है, जिसकी कोई जाति, कोई दवा नहीं है। हिन्दुओं का विश्वास है कि उनके समान कोई सम्राट्, कोई धर्म, कोई विद्या नहीं। उनके पूर्वज ऐसे विचार वाले नहीं थे। यदि तुम खुरासान, ईरान आदि के शास्त्रों और विद्वानों के बारे में बात करोगे तो तुम्हें मूर्ख ही नहीं मिथ्यावादी भी समझेंगे। यदि वे प्रवास करें और दूसरों से मिलें-जुलें तो उनकी यह प्रवृत्ति नहीं रहेगी, कारण, उनके पूर्वज ऐसे संकुचित विचार के नहीं थे।

अलबेरुनी के विवरण से यह पता चलता है कि उस समय पतित मनुष्यों को जाति में फिर से मिलाने का रिवाज हिन्दू में नहीं था। यों देवलस्मृति (१०वीं शदी) में इसका विधान है। यद्यपि इसका व्यावहारिक रूप क्या था कहना कठिन है। अलबेरुनी के अनुसार, भारतीय उग्र स्वभाव के होते थे और विदेशियों को म्लेच्छ कहकर पुकारते थे। वे मूर्त्ति-पूजक भी थे और उनके मन्दिरों में अपार धन-राशि थी। उसने बाल-विवाह का भी उल्लेख किया है। सती-प्रथा उस समय भी प्रचलित थी। विधवाओं का पुनः विवाह नहीं होता था। विवाह में माता-पिता

की स्वीकृति आवश्यक था। विदेशियों से भारतीय सम्पर्क स्थापित करना हिन्दू नहीं चाहते थे। देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था और वे राज्य आपस में हमेशा लड़ा करते थे और एक-दूसरे से ईर्ष्या-द्वेष का भाव रखते थे।

कश्मीर, मालवा, सिन्ध, कन्नौज, बंगाल आदि बड़े राज्य थे। राजा प्रजा से षड्भाग ($\frac{1}{6}$) लिया करता था। ब्राह्मणों को प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था। अलबेरुनी ने कई मेलों का भी वर्णन किया है। विदेशियों के लिए मन्दिर आकर्षण केन्द्र थे। क्योंकि वहाँ अपार धन-राशि रहती थी। मन्दिरों के लूटने वालों में मुसलमानों के अतिरिक्त हिन्दू भी सम्मिलित थे। ब्राह्मण लोग स्वयम् इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे किन्तु वे अन्य वर्णों के लिए कहा करते थे कि ऐसे व्यक्ति के लिए कोई भी प्रायश्चित सम्भव नहीं जो एक बार बन्दी हो चुका हो। पर्दा-प्रथा नहीं थी। विवाह लड़कियों की सयानी होने पर होता था। शिक्षा का प्रचार भी स्त्रियों में था।

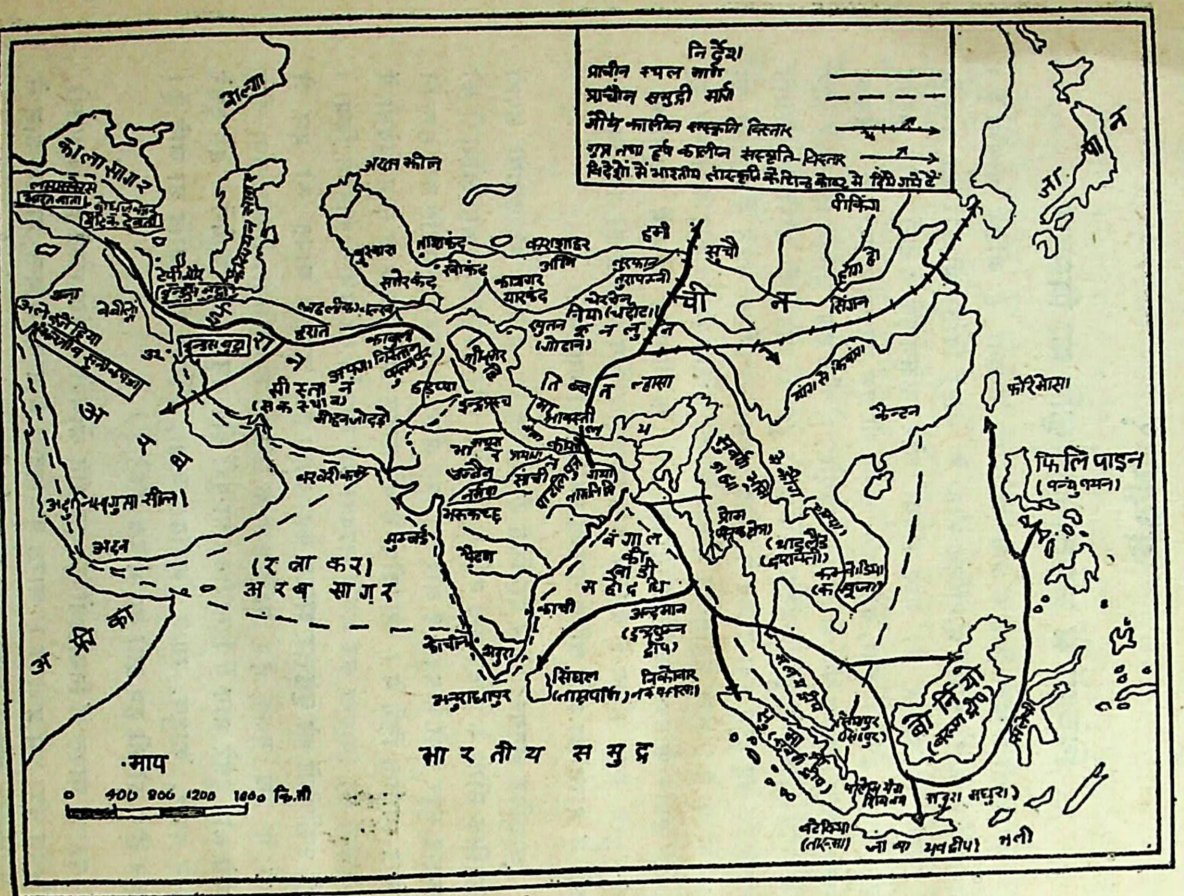
अध्याय ९

विदेशों में भारतीय संस्कृति का विस्तार

भारत की सभ्यता विश्व के अन्य देशों की सभ्यता से अधिक प्राचीन है। भारतीय संस्कृति वर्तमान भौगोलिक सीमा के बाहर विस्तृत थी और इस संस्कृति के प्रभाव का फैलाव जो मध्य एशिया और दक्षिण-पूर्व के देशों और प्रशांत महासागर के द्वीपों में हुआ, वह अपने समय की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसका विस्तार उत्तर-पश्चिम मार्ग से होकर मध्यएशिया, चीन तथा जापान तक हुआ और दक्षिण-पूर्व एशिया में पूर्वी बन्दरगाहों के द्वारा हुआ। भारत की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि वह पूरब तथा पश्चिम में घनिष्ठ सम्वध स्थापित करने में शृंखला का काम करता है। हिन्द महासागर में इस देश की केन्द्रीय स्थिति होने के कारण यह प्राचीन संसार के सभ्य देशों के सामुद्रिक मार्ग के बिल्कुल बीच में रहता था। अतः पूरब एवं पश्चिम के देशों के साथ अत्यन्त प्राचीन काल से ही जल तथा थल मार्गों से भारत का अति घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया था।

आधुनिक अनुसन्धानों से यह सिद्ध हो गया है कि प्राचीन भारतवासी अपनी भौगोलिक सीमा के अन्दर बन्द नहीं थे, वे पर्वत और समुद्र की चहारदीवारी को लाँघकर सुदूर देशों में पहुँचे थे और वहाँ पर अपने व्यापार, राजनीति तथा संस्कृति के केन्द्र स्थापित किये थे। भारतीयों ने बड़े साहस एवं उत्साह के साथ विदेशों में उपनिवेशों की स्थापना कर अपनी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार आरम्भ किया। इन्हीं उपनिवेशों को **वृहत्तर भारत** कहा जाता है। बृहत्तर भारत को हम दो भागों में रख सकते हैं। पहले भाग के अन्तर्गत मध्यएशिया, तिब्बत तथा चीन आयेंगे और दूसरे भाग में हिन्दचीन तथा पूर्वी द्वीप समूह रखे जायेंगे। इस दूसरे वर्ग में चम्पा, काबुल, स्याम, मलाया, जावा, बोर्नियो, बर्मा आदि आ जाते हैं। सिंहल द्वीप को भी हम इसी वर्ग में रख सकते हैं।

बृहत्तर भारत के निर्माताओं को हम तीन श्रेणियों में रख सकते हैं—व्यापारी, उपनिवेश तथा धर्म प्रचारक। भारत का विदेशों के साथ अत्यन्त प्राचीन काल से ही व्यापारिक सम्बन्ध चलता रहा। सुवर्ण की आकांक्षा, भारत-चीन सम्बन्ध तथा नाविक विद्या के प्रचलन आदि ने व्यापारिक सम्बन्ध को जन्म दिया। बौद्ध जातकों में प्राप्त अनेक कथाएँ इस कथन की पुष्टि भी करती हैं कि धनवृद्धि में यहाँ लोग जाया करते थे। भारतवासी पश्चिम में सिकन्दरिया और पूरब में चीन के समुद्र:



विदेशों में भारतीय संस्कृति का विस्तार

तक व्यापार के लिये जाया करते थे। लोगों का ऐसा विश्वास था कि बर्मा, मलाया, जावा, सुमात्रा आदि में सोने की खानें थी। इसलिये इस देश को सुवर्ण-भूमि तथा सुवर्ण द्वीप के नामों से पुकारा जाता था। इस व्यापारिक यात्रा में वे अपनी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिये क्योंकि उनका सम्पर्क असभ्य जातियों के लोगों से होता था। विदेशों में उपनिवेशों की स्थापना कौण्डिन्य एवं अगस्त्य ने किया था तथा उनके अतिरिक्त क्षत्रिय राजकुमारों ने भी किया जो विदेशी आक्रमण या अन्य प्रकार की आपत्तियों के कारण देश को छोड़ कर विदेशों में चले गये और वहाँ पर अपना राज्य स्थापित कर स्थायी रूप से निवास करने लगे। भारतीय धर्माचार्यों ने भी भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति फैलायी थी। इन धर्म दूतों ने लोक-कल्याण की कामना से प्रेरित होकर इस कठिन कार्य को किया था। अशोक महान् की धर्म-विजय की नीति ने विदेशों में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार में बड़ा योगदान दिया। व्यापारी विदेशों में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का बीज बोते थे तथा राजसंस्थापक उसकी सुरक्षा तथा सम्बन्ध की व्यवस्था करते थे पर चीन एवं मंगोलिया में धर्मदूतों ने केवल आत्म बल से धर्मालोक को फैलाया था।

दक्षिण-पूर्वी सागरों पर भारतीय संस्कृति के विस्तार का इतिहास पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से चौदहवीं शताब्दी ईसवी तक का है। [इस संस्कृति को ले जाने का श्रेय भारतीय व्यापारियों को है, जो वाणिज्य-व्यापार की श्रीवृद्धि के लिए उन देशों में गये, किन्तु वाणिज्य, सांस्कृतिक, धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त अपनी स्थलीय सीमा के उस पार भारत का जो प्रभाव फैला था, उसमें राजनीतिक प्रभाव भी कम नहीं था और ईसा की प्रथम शताब्दी से ही यह बात हमें देखने को मिलती है कि अनाम, कोचीन चीन और प्रशान्त महासागरीय द्वीपों में हिन्दू राज्य अथवा हिन्दू प्रभाववर्त्ती राज्य थे। रामायण में हमें जावा और सुमात्रा के बारे में उल्लेख मिलता है। ईसवी सन् के आरम्भ होने के पहले से ही दक्षिण भारत के बन्दरगाहों और प्रशान्तसागरीय द्वीपों के बीच आवागमन जारी था। लेकिन लोगों का भारत से जाकर इन द्वीपों में बसने का ठोस प्रमाण ईसा की पहली शताब्दी में ही मिलता है। वहाँ तक पहुँचने के लिये भारत से दो मार्ग ही अनुकूल रहे होंगे, प्रथम कोटि में स्थल मार्ग मलय होते हुए जाता होगा और दूसरा जल-मार्ग जो सिंगापुर की जल-प्रणाली से होकर गुजरता रहा होगा। प्राचीन काल का कटाहा आज का केयाह मालूम पड़ता है और यह स्थान जलीय मार्ग के लिये पहला पड़ाव रहा होगा। कथा-सरित्सागर की कहानियों से हमें ऐसा पता चलता है कि सातवाहन काल में जलयान दक्षिण भारत से चलकर सीधे कटाहा पहुँचते थे और इस सम्बन्ध में देवस्मित की कहानी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

हमने ऊपर देखा है कि भारतीय व्यापारी दक्षिण-पूर्व के देशों की यात्रा के लिए जिन पथों का अनुसरण करते थे, वे मलाया प्रायद्वीप तथा समुद्र दोनों होकर गुजरते थे। स्थल-मार्ग मलाया के तट होकर मेकौंग घाटी तक जाता था और समुद्री मार्ग मलक्का की जल-प्रणाली होकर गुजरता था। ये व्यापारिक लोग साहसिक यात्राओं को तय कर दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में पहुँचा करते थे और वहाँ जाकर उन्होंने अपना उपनिवेश बसाया और क्रमशः सांस्कृतिक बातों का फैलाव किया। बर्मा से कम्बोडिया और जावा से बोर्नियो तक विस्तृत यह हिन्दू राज्य अनेक शताब्दियों तक प्रशान्त के हिन्दूकरण की दीर्घ प्रक्रिया के साथी रह चुके हैं। दक्षिण पूर्व एशिया के अधिकांश देश भारत में सम्मिलित थे तथा भारतीय वैश्य-व्यापारियों, क्षत्रिय, ब्राह्मण पुजारियों और बौद्ध भिक्षुओं के लगातार आवागमन ने वहाँ उपनिवेशों की नींव डाल दी और इन्हीं से शताब्दियों के काल क्रम में सुवर्णद्वीप, फूनान, चम्पा, ताम्रलिग, द्वारावती, श्रीविजय और मजपहित जैसे महान् हिन्दू साम्राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ। भारत के बाहर इन देशों में जाने वाले प्रवासियों का प्रवाह, जिसने भारत और चीन के भूखण्डों के बीच एक द्वितीय भारत का निर्माण किया जिसे द्वीपान्तर कहा जाता था, चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक जारी रहा। पन्द्रहवीं शताब्दी में मुसलमान अरबों ने मलयेशिया में प्रवेश किया तथा अधिकांश राज्यों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया, साथ ही पुर्तगालियों ने भारतीय वाणिज्य और नौ-परिवहन का विनाश कर दिया जिसके कारण दक्षिण पूर्व एशिया के हिन्दूकरण की दीर्घकालीन प्रक्रिया रुक गई।

एशिया के दक्षिण-पूर्वी भाग में चम्पा, मलय, अनाम, बोर्नियो, कम्बोडिया, जावा, वाली, वर्मा आदि देशों में अभिलेख पर्याप्त संख्या में मिले हैं। अभिलेखों के अध्ययन से उन देशों के राजनीतिक इतिहास का ही ज्ञान नहीं होता किन्तु उनके समान, साहित्य तथा अन्य विचारधाराओं की जानकारी भी होती हैं। उन देशों के इतिहास, उपनिवेश का प्रारम्भ, भारतीय संस्कृति के विभिन्न अङ्गों का प्रसार आदि बातों की जानकारी हमें लेखों से हो जाती है। उपनिवेश स्थापित हो जाने पर वहाँ भारतीय सामाजिक रीति-रिवाज का प्रसार हुआ, स्वभावतः उन द्वीप समूहों में हिन्दू धर्म व साहित्य की ओर लोगों का ध्यान गया क्योंकि हम यह जानते हैं कि धर्म ही सामाजिक जीवन के कार्यों और व्यक्ति के उद्देश्यों का निर्धारण करता है और उसके जीवन के लिये एक मापदण्ड भी स्थिर करता है। वहाँ के सामाजिक, धार्मिक तथा कला का इतिहास इस बात को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करता है कि भारतीय संस्कृति का विस्तार किस रूप में हुआ था। वहाँ के खण्डहर तथा भग्नावशेष ऐसे अकाट्य प्रमाण हैं जिनके आधार पर भारतीय संस्कृति के स्वरूप तथा उसके विस्तार का परिज्ञान हो जाता है।

हम इस बात को भूलने लगते हैं कि ब्राह्मण बौद्ध और तान्त्रिक कला के कारण ही मध्य और दक्षिण-पूर्व एशिया का भारतीयकरण सम्भव हो सका था। अर्द्धविकसित जनता जनार्दन के सम्मुख जब भी किसी नये धर्म का प्रचार किया गया, तो कला ने ही उस धर्म की कल्पना और सिद्धान्तों को विलक्षण सुन्दरता एवं संवेदनीयता प्रदान की। कम्बोडिया के अंगकोर थौम के भव्य विशाल मन्दिर की भारतीय कला और वास्तु ने उन शीर्षों को स्पर्श किया जो वे भारत में भी नहीं कर पाई थीं।[1]

अब भारतीयों के बाह्य सम्पर्क, सम्बन्ध और प्रसार का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

विदेशों से प्रारम्भिक सम्बन्ध

प्राचीन काल में भारत की सभ्यता और संस्कृति ने अन्य देशों की संस्कृति पर गहरा प्रभाव डाला था। उत्तर-पाषाण काल के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं; उनसे यह पता लगता है पश्चिमी, एशिया, मध्यएशिया, चीन हिन्दचीन एवं पूर्वी द्वीप समूह के लोगों से भारतीयों का उस समय भी सम्पर्क था। कालान्तर में जब सिन्धु की घाटी की सभ्यता का प्रसार हुआ तो उन दिनों भारत का मध्य एशिया तथा पाश्चात्य देशों के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। हड़प्पा एवं मोहेनजोदड़ों में जो अवशेष मिले हैं उनसे यह प्रतीत होता है कि भारत का बलुचिस्तान, फारस, अरब एवं मिश्र आदि देशों के साथ बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। बहुत से इतिहासकारों की ऐसी धारणा है कि आर्य एवं द्रविड़ लोग भारत के आदिवासी नहीं थे, उन लोगों ने विदेशों से भारत में प्रवेश किया, अतः यह स्वाभाविक है कि अपने मूल-स्थान के प्रदेशों के साथ उनका सम्बन्ध ही बहुत दिनों तक चलता रहा होगा।

पौराणिक अनुश्रुतियों में भारतीयो का बाहर के साथ सम्पर्क का उल्लेख मिलता है। इन अनुश्रुतियों से भारत के विस्तार तथा भारतीय आर्यों के विदेशों में जाने का विवरण मिलता है। 'मत्स्यपुराण' में भारत के नौ भेद बतलाये गये हैं जो समुद्र से एक-दूसरे से अलग थे तथा आसमुद्रहिमाचल भारत उनका केन्द्र था। शिवपुराण से ऐसा ज्ञात होता है कि मनु के पुत्र नरिष्यन्त के वंशज पश्चिमोत्तर के पर्वतीय भागों को पार कर उत्तर की ओर गये तथा शक आदि जातियों के पूर्वज

---

१. महेश कुमार शरण—"प्राचीन कम्बोज के संस्कृत अभिलेख"—मागधी, द्वितीय अङ्क, १९७१, पृ० १–६, विस्तृत विवरण के लिए देखिये—M. K. Sharan—Studies in Sanskrit Inscriptions of Ancient Combodia, Delhi, 1974, Chapter–I.

कहलाये। इसी भाँति इक्ष्वाकु के ज्येष्ठ पुत्र विकुक्षि के पन्द्रह वंशजों ने, सुमेरिया के उत्तर के प्रदेशों में और ११४ वंशजों ने सुमेरु के दक्षिण के प्रदेशों में अपने उपनिवेश बनाये। वायुपुराण में ऐसा लिखा है कि चन्द्रवंशी आर्यों में से द्रह्यु-वंश के राजा प्रचेतस् के सौ वंशजों ने पश्चिमोत्तर भारत (गान्धार) से निकलकर उत्तर की ओर प्रस्थान किया और मध्यएशिया के म्लेच्छ राष्ट्रों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। इन उपनिवेशों के द्वारा संस्कृत भाषा और आर्य संस्कृति का प्रभाव पश्चिमोत्तर के देशों में हुआ।

मेसोपोटामिया में प्राप्त बोगाच-फुई अभिलेख से यह स्पष्ट होता है कि प्रागैतिहासिक काल में भी भारत का बाह्य देशों से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसके अतिरिक्त व्यापारिक वस्तुओं के भारतीय नामों से भी यह ज्ञात होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही सुमेरिया, बेबीलोनिया, सीरिया तथा मिस्र से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। इस व्यापारिक सम्बन्ध से न केवल वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था बल्कि संस्कृति और विचारों का भी। सीरिया के एक लेखक जेनोब ने अरमीनिया के सम्राट् वलरसेसिस के यहाँ दो भारतीय राजकुमारों के शरण लेने की बात लिखी है। इन राजकुमारों को सम्राट् ने वॉन झील के पश्चिमी पर्वताञ्चल के एक भाग में बस जाने की आज्ञा दे दी। वहाँ उन्होंने गिसाने (कृष्ण) और डिमिटर के मन्दिर बनवाये तथा उनके वंशज वहाँ राज्य करते रहे। कहा जाता है कि लगभग ३०४ ई० में सेन्ट जार्ज ने ईसाई धर्म के प्रचार के सिलसिले में इन मन्दिरों को तोड़वाकर इनके स्थान पर चर्च बनवाया। वहाँ इन मन्दिरों में पूजा करने वाले लगभग ५००० व्यक्ति थे, जो सब मारे गये और ४३८ केवल बच गये थे, उनका सिर मुड़वाकर कैस्पियन के किनारे की ओर भेज दिया गया।

ईसवी पूर्व छठी शताब्दी में ये सम्बन्ध उस समय और घनिष्ठ हो गये जब ईरानी साम्राज्य का विस्तार भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग तक हो गया। राजनीतिक सम्बन्ध से सांस्कृतिक घनिष्ठता और दृढ़ हो गयी। भारतीय सिपाही ईरानी बनकर ग्रीस की भूमि पर लड़ने जाते थे। इस समय से ही भारतीय राजाओं और इन पश्चिमी देशों से दौत्य सम्बन्ध स्थापित होने लगे।

मौर्य कालीन सम्बन्ध

ईरानी साम्राज्य के बाद यूनान के सिकन्दर महान् ने भारत में पंजाब तक अपना साम्राज्य स्थापित कर पश्चिमी दक्षिणी एवं मध्य एशिया को भारत के और निकट ला दिया। जल एवं स्थल मार्गों से व्यापार में वृद्धि होने के साथ-साथ राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो गये। सिकन्दर के बाद के एशिया एवं उत्तरी अफ्रीका के सम्राटों के साथ भारतीय

राज्यों का दौत्य सम्बन्ध और बढ़ गया। इसी काल में पाटलिपुत्र के राजदरबार में यूनानी दूत रहते थे। सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के आदर्शों और भावनाओं का प्रचार करने के लिए एशिया के पश्चिमी, मध्य एवं दक्षिणी देशों में धर्म-प्रचारक भेजना प्रारम्भ किया। इन देशों में बौद्ध धर्म का प्रभाव ईसा के जन्म के पहले तक तथा इस्लाम के उदय तक बना रहा। यह बात अलबेरुनी के कथन से सिद्ध होता है: 'पहले खुरासान, पर्सिया, ईराक, मोसुल एवं सीरिया की सीमा तक के देश बौद्ध थे।" महावंश एवं दीपवंश नामक बौद्ध ग्रन्थों से लंका में अशोक द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार का वर्णन मिलता है। अशोक के पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री संघमित्रा ने बौद्ध धर्म एवं पालि भाषा का प्रचार लंका में किया। सुराष्ट्र के राजकुमार विजय ने इसके पूर्व ही लंका को जीता था तथा उसके पिता सिंह के नाम पर लंका का दूसरा नाम सिंघल पड़ा था तथा वहाँ की भाषा सिंहली कहलाई। लंका एवं बरमा में थेरवादी बौद्ध धर्म अशोक के ही काल में पहुँचा था। तिब्बती ग्रन्थों से यह पता चलता है कि कुस्तन ने खोतान (मध्य एशिया) में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था।

पश्चिमी एशिया के साथ ही मध्य एशिया से भी भारत का बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्यापारिक सम्बन्ध था। व्यापारिक दृष्टिकोण से यह प्रदेश पूरब, पश्चिम तथा दक्षिण से आने वालों के लिए संगम-स्थान था। इस व्यापारिक सम्बन्ध के अतिरिक्त इन प्रदेशों में राजनीतिक केन्द्र भी स्थापित हुए जिनसे भारतीय धर्म एवं संस्कृत सुरक्षित रूप से उन प्रदेशों को प्रवाहित कर सकी। भारतीय, तिब्बती एवं खोतानी स्रोतों से ऐसा पता चलता है कि भारतवासियों ने खोतान तक विजय करके वहाँ पर एक राज्य की स्थापना किया था। मध्य एशिया के उत्खनन से सर ऑरिल स्टेन ने बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ प्राप्त कीं, जिनसे ऊपर की बातें सिद्ध होती हैं। सिक्कों, लेखों एवं पाण्डुलिपियों से यह ज्ञात होता है कि तीसरी शती ईसवी के मध्य तक खोतान में भारतीय लिपि एवं भाषा का शासन-कार्य में प्रयोग होत था। उनमें मिले पदाधिकारियों के नाम वंगसेन, भीम, नन्दसेन एवं उनके पदनामा जैसे चर, दूत, लेखाहारक, राजद्वार पुरस्थित आदि मूल रूप में भारतीय हैं।

पश्चिम में भारतीय धर्म एवं संस्कृति ने ईसाई धर्म को बहुत प्रभावित किया जिसकी पुष्टि बहुत से समान तत्वों से होती है। उसी प्रकार मध्य एशिया की संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। स्टेन ने यहाँ के खँडहरों को देखकर यह कहा था कि—"इन स्थानों को देखते हुये यही ख्याल हो आता था कि मैं पंजाब के किसी पुराने शहर के खण्डहर में ही घूम रहा हूँ।" मध्यएशिया में मौर्य एवं कुषाण काल के बहुत से लोग जाकर बस गये थे। ये भारतीय उपनिवेश फाह्यान एवं ह्वेनसांग के समय तक समृद्ध अवस्था में थे।

यूनान एवं रोम

मिस्र में निवास करने वाला एक यूनानी नाविक पहली शताब्दी ई० में लालसागर तथा अरब सागर से होता हुआ भारत आया था। इसकी पुस्तक 'दि पेरिप्लुस ऑफ दि एरिथ्रियन सी' से मालूम होता है कि वे रीगाना (भड़ौंच) आदि भारतीय बन्दरगाहों से बड़ी-बड़ी नावों पर लादकर बहुत-सा भारतीय सामान मिस्र, यूनान एवं रोम तक पहुँचता था तथा पश्चिम में कई द्वीपों में व्यापार के लिये भारतीय बसे हुये थे। ऐसे उपनिवेशों में सोकोत्रा प्रसिद्ध था। प्लिनी के विवरण से हमें भारत एवं रोम के बीच होने वाले व्यापार का पता चलता है। पाण्ड्य राजा ने रोम के सम्राट् अगस्टस के पास एक राजदूत २६ ई० पू० में भेजा था। तत्पश्चात् तीन और राजदूत भेजे गये थे। दक्षिण के सामुद्रिक बन्दरगाहों से मिस्र, यूनान, सीरिया तथा रोमन साम्राज्य से भारत का व्यापार काफी होता था। भारतीय बन्दरगाहों से मोती, बहुमूल्य रत्न, मसाले, हाथी दाँत का सामान, सूती कपड़े आदि विदेशों को जाते थे एवं बदले में सोना-चाँदी तथा अन्य सामान आता था। बहुत-सी रोमन मुद्रायें भारत में मिली हैं जिनसे पता चलता है कि रोमन साम्राज्य के साथ भारत का सबसे अधिक व्यापार होता था।

इन देशों में हमारे व्यापार के साथ-साथ वहाँ भारतीय संस्कृति का प्रसार भी खूब हुआ। भारतवासियों ने यूनान तथा रोम वालों से मुद्रा निर्माण तथा भवन निर्माण-कला की कई शैलियाँ सीखीं। अरबों से सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर उन्होंने पाश्चात्य देशों में भारतीय सभ्यता का प्रसार किया। अरबों ने ही इन देशों में भारतीय औषधियों तथा दशमलव पद्धति का प्रचार किया था। दूसरी शती के एक लेखक बडियो क्रिस्टोसोम ने लिखा है कि भारतीय बड़ी संख्या में अलेक्जाण्ड्रिया में व्यापार करने आते थे जिनसे उसे मालूम हुआ कि होमर की कविताओं का भारतीय भाषाओं में अनुवाद होता था। अलेक्जाण्ड्रिया में रहने वाले क्लीमेंट ने ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों की अलग-अलग वर्णन किया है तथा उनके विश्वासों और आचार का वह स्पस्ट वर्णन करता है। बेबीलोनिया के बर्दसेनेस ने भारतीय दार्शनिकों पर एक भारतीय सेण्डाने के कहने के आधार पर, जो सीरिया में एक दूत-मण्डल में आया था, एक ग्रन्थ लिखा।

इस तरह भारत ने अपने धर्म, दर्शन आदि से पश्चिमी धर्म, दर्शन और साहित्य को प्रभावित किया पर इसी तरह अनेक प्रकार से वह भी उन देशों से प्रभावित हुआ।

चीन

मध्य एशिया से बौद्ध धर्म का प्रचार चीन में हो गया। चीन और भारत का

सम्बन्ध प्राचीन काल में पूर्णतया व्यापारिक था। किन्तु भारत में बौद्ध धर्म के उदय के बाद भारत और चीन का सम्बन्ध और भी घनिष्ट हो गया। चीन में बौद्ध धर्म को फैलाने का श्रेय बौद्ध भिक्षु कश्यप, मातंग तथा धर्मरत्न को दिया जाता है। यहाँ की अनगिनत जनता ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया और चीन की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग आज भी बौद्ध धर्म का अनुयायी है। चीन के सम्राट् मिगटी ने इनके लिये राजधानी में पो मा सी नामक विहार बनवाया था। अपने देश की सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार करने के लिये इन भारतीय धर्मदूतों ने बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का रूपान्तर किया। तीसरी शताब्दी से छठी शताब्दी तक चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ। बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति का चीन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। बौद्ध धर्म सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिये अनेक चीनी यात्रियों ने भारत की यात्रा की और अपने साथ सैकड़ों बौद्ध ग्रन्थों को ले गये जिनका चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। इन यात्रियों ने न केवल स्वयं संस्कृत एवं पालि का अध्ययन किया बल्कि भारतीय पण्डितों को चीन ले गये जिन्होंने बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद में सहायता दी। सैकड़ों भारतीय विद्वान चीन में बस गये और इस कार्य में लग गये। बहुत से मूल ग्रन्थ जो भारत में लुप्त हो गये हैं, चीन में अनुवादरूप में पाये जाते हैं। चीन तथा भारत के इस धार्मिक सम्बन्ध के फलस्वरूप इन दोनों देशों में राजनीतिक तथा व्यावसायिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया और जल तथा स्थल दोनों मार्गों से व्यापार होना प्रारम्भ हो गया। इन सम्बन्धों का सामूहिक प्रभाव यह पड़ा कि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का चीन में खूब प्रचार हुआ।

कोरिया एवं जापान

कोरिया प्रायद्वीप में बौद्ध धर्म चीन से पहुँचा। पाँचवीं शती तक सारा कोरिया बुद्ध का उपासक बन चुका था। ५२२ ई० में कोरिया के एक राजा ने जापानी सम्राट् के साथ मैत्री स्थापित करने के लिए बौद्ध धर्म के ग्रन्थ एवं कुछ मूर्त्तियाँ उपहारस्वरूप भेजा। इसके अतिरिक्त एक अलग पत्र लिखकर उससे बौद्ध धर्म स्वीकार करने के लिये निवेदन किया। प्रारम्भ में जापान में इसका विरोध हुआ। सम्राट् शोमू ने अपार धनराशि खर्च करके बुद्ध की एक बहुत बड़ी कांस्य प्रतिमा बनवायी जिसकी ऊँचाई ५३½ फुट है। इन दोनों देशों की संस्कृति और जीवन को बौद्ध धर्म ने प्रभावित किया और बारहवीं शताब्दी तक एक प्रबल शक्ति के रूप में विकसित हुआ। इन देशों में आज भी बौद्ध धर्म जीता जागता है। जापान का जेन बुद्धिज्म ध्यानप्रधान भारतीय बौद्ध धर्म का रूपान्तर है। वहाँ की कला और साहित्य दोनों भारत के ऋणी हैं।

तिब्बत

तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार सातवीं शताब्दी में वहाँ के राजा द्वारा हुआ। स्रोंग-चन-गम्पों नामक इस राजा ने चीन तथा नेपाल की राजकुमारी के साथ विवाह किया जिसके परिणामस्वरूप इस राजा पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा। बुद्ध की पूजा के लिये उसने राजधानी में बुद्ध-विहार बनवाये। जब उसे यह अनुभव हुआ कि बिना लिपि एवं साहित्य के स्थायी-सभ्यता का निर्माण नहीं हो सकता तो उसने सोलह साथियों के साथ थोन सम्भोट को बौद्ध साहित्य एवं वर्णमाला लाने के लिये कश्मीर भेजा। उसने तिब्बत लौटकर अपनी भाषा की आवश्यकता के अनुसार लिपि तैयार की, साथ ही तिब्बती का पहला व्याकरण बनाया और बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद किया। इससे धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति का जड़ तिब्बत में जमने लगी। आठवीं शती से तिब्बती राजाओं ने भारतीय राजाओं को तिब्बत में बुलाना प्रारम्भ किया। रिवस्रोंग लदे वचन् (जो बौद्ध धर्म का कट्टर अनुयायी था) ने नालन्दा के आचार्य शान्तिरक्षित को निमन्त्रित किया। हां वे अपनी वृद्धावस्था में गये। तिब्बत में इस आचार्य ने उदन्तपुरी के समान ही पहला सम्ये नामक बिहार बनवाया। इन्होंने तिब्बतियों को बौद्धभिक्षु बनाया एवं बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती अनुवाद कराया। इसी समय पद्मसम्भव ने भारतीय तन्त्रवाद द्वारा तिब्बत में बौद्धधर्म को लोकप्रिय बनाया। आचार्य द्वीपंकर श्रीज्ञान १०२८ ई० में तिब्बत गये तथा उन्होंने वज्रयान का प्रचार किया। गौतम बुद्ध के बाद तिब्बत में इन्हीं का स्थान है। ये सुवर्ण द्वीप में चन्द्रकीर्त्ति से विद्या प्राप्त कर लंका होते हुये भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। बाद में ये विक्रमशिला के प्रधान हुये। ये भारतीय विद्या, सम्मान और संस्कृति के प्रतीक हैं। इनकी मृत्यु लासा में हुयी। मध्यकाल में तिब्बती राजाओं का स्थान विहारों ने ले लिया। १४०० ई० से तिब्बत में लामावाद का उद्भव हुआ। १३वीं शताब्दी में कुबलाखाँ ने तिब्वती लिपि को अपने साम्राज्य की लिपि के रूप में अंगीकार कर लिया।

फारस तथा अफगानिस्तान

फारस तथा अफगानिस्तान में आर्य जाति के बसने के कारण भारतीयों का इन देशों से भी सम्बन्ध रहा। भौगोलिक दृष्टिकोण से अफगानिस्तान भारत का अंग माना जाता था। फारस भी भारत से अधिक दूर नहीं था। अतः वहाँ पर भी भारतीय सभ्यता का प्रवाह पहुँचा। जिस समय फाह्यान और ह्वेनसांग भारत में आये थे उन दिनों अफगानिस्तान में बौद्ध धर्म का प्रचार था। दसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में सुबुक्तगीन की चढ़ाई के समय काबुल में हिन्दू धर्म का प्रचार था।

अलबेरुनी के कथनानुसार इस्लाम धर्म के पूर्व फारस, खुरासान, ईराक, मोसल तथा सीरिया के कई भागों में बौद्ध धर्म प्रचलित था। अफगानिस्तान की खुदाइयों से बहुत से स्तूप, विहार तथा मूर्त्तियाँ मिली हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस्लाम धर्म के प्रचार के पूर्व सम्पूर्ण अफगानिस्तान में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार था। फारस के साथ भी भारत का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। पारसी लोग पह्लवी भाषा का प्रयोग करते थे जिसका संस्कृत से सम्बन्ध था। हिन्दुओं की ही तरह पारसी लोग अग्नि की पूजा करते हैं। इस्लाम धर्म के उद्भव के पूर्व भी फारस पर भी सभ्यता तथा संस्कृति का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था।

कम्बोडिया

फ्रांसीसी इन्डोचाइना (हिन्द चीन) में भारतीय राज्य कम्बुज था जिसे आजकल कम्बोडिया कहा जाता है। यहाँ तीसरी से सातवीं शताब्दी तक फूनान तथा बाद में चलकर कम्बुज साम्राज्यों का उत्कर्ष हुआ। कुछ इतिहासकारों ने यह संदेह प्रकट किया है कि भारत के पश्चिमोत्तर कम्बोज से आकर वहाँ के लोगों ने इस राज्य की स्थापना की थी। यह घटना ईसवीसन् की प्रथम शताब्दी की है। फूनान में पहले जंगली जातियाँ रहती थीं जो असभ्य थीं और नंगे रहा करती थीं। हुरान-तियन या कौण्डिन्य नामक एक भारतीय ब्राह्मण ने वहाँ जाकर नाग कन्या सोभा से विवाह कर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार किया; साथ ही १०० वर्षों तक उसके वंशजों ने फूनान में राज्य किया। चौथी शती के अन्त या पाँचवीं शती के प्रारम्भ में कौण्डिन्य नामक दूसरा ब्राह्मण भारत से आया। इस समय कम्बुज में शैव धर्म का बोलबाला था। छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कम्बोडिया के उत्तर-पूरब के कम्बुज राजाओं ने फूनान का अन्त कर अपनी प्रभुता स्थापित की। शैव धर्म के साथ-साथ वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ और बाद में बौद्ध धर्म का। भारत की भाँति इन राज्यों में भी उस समय संस्कृत भाषा का प्रयोग होता था। वहाँ के मन्दिरों में रामायण-महाभारत के अखण्ड पाठ हुआ करते थे। वहाँ की कला पर भारतीय प्रभाव प्रत्यक्ष है। लगभग पाँच शताब्दियों तक धार्मिक विश्वास एवं पौराणिक कथाएँ भारतीय रहीं और ब्राह्मण एवं बौद्धों के सभी देवता उनमें सम्मिलित रहे। अंगकोरवाट का मन्दिर कला का उत्कृष्टतम नमूना है। एक लेख के अनुसार कम्बोडिया का एक राजपुरोहित ने शंकराचार्य के धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया था। राजा यशोवर्मन ने भारतीय तपोवनों और गुरुकुलों के ढंग पर कम्बुज में आश्रमों की स्थापना की थी। उन्होंने पातंजलि के महाभाष्य पर टीका लिखी थी। कम्बुज में ये आश्रम हिन्दू संस्कृति के प्रधान गढ़ थे। कम्बोडिया में अंगोर थोम एवं अंगकोरवाट के अतिरिक्त अन्य बहुत

अवशेष मिले हैं जो भग्न मन्दिरों, राजप्रासादों और अन्य उजड़ी हुयी बस्तियों के के रूप में हैं। ये सब अवशेष जिस काल के स्मारक हैं, उसमें कम्बोडिया पूर्ण रूप से भारतीय उपनिवेश था और उसकी भाषा, धर्म, संस्कृति आदि सब भारतीय थे। इस देश के धर्म में पहले पौराणिक हिन्दू धर्म की प्रधानता थी पर बाद में इस धर्म का ह्रास होकर बौद्ध धर्म का जोर बढ़ गया और वहाँ के राजवंशों ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। १३वीं शती से कम्बुज का ह्रास होने लगा।

चम्पा

प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्थापित हिन्द चीन के क्षेत्रों में चम्पा भारत का सबसे प्राचीन उपनिवेश था। पर चीनी स्रोतों से यह पता चलता है कि चम्पा के भारतीय उपनिवेश की स्थापना लगभग १९२ ई० में हुयी थी। यह उपनिवेश आधुनिक अनाम के दक्षिण तथा पूर्वोत्तर कम्बुज प्रदेश के उत्तर में स्थित था। इस बात का अभी तक ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया है कि चम्पा में हिन्दू राज्य की स्थापना किस प्रकार हुई। दूसरी सदी में हिन्दू राजा श्रीमार ने यहाँ राज्य स्थापित किया। चम्पा के राजाओं के नाम 'वर्मन' उपनाम से अन्त होते हैं। भद्रवर्मन, जयपरमेश्वर वर्मनदेव, रुद्रवर्मन, महाराधिराज श्री इन्द्रवर्मन के नाम उल्लेखनीय हैं। चम्पा में भारतीयों ने वर्णाश्रम धर्म को समाज का आधार बनाये रखा। पर क्षत्रिय श्रेष्ठ समझे जाते थे। वहाँ अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित थे। सती प्रथा का भी प्रचलन था। उनके शव-संस्कार, नृत्यसंगीत भारतीय परम्परा के अनुकूल थे। राजकीय भाषा संस्कृत थी। सौ से अधिक अभिलेख चम्पा में मिले हैं। अनेक राजा वेद इत्यादि धर्म-ग्रन्थों में पारंगत थे। हिन्दू एवं बौद्ध दर्शन का प्रचार था। रामायण, महाभारत, पुराण और स्मृतियों का अध्ययन होता था। शैव धर्म की प्रधानता थी। पर बौद्ध धर्म को राजकीय प्रोत्साहन मिला था। महायान बौद्ध धर्म ही प्रचलित था। इन्द्रवर्मन ने बौद्ध संघ के लिये विहार बनवाया था। पर उसका अनुराग शैव धर्म में भी था। गुप्त काल के आदर्श पर यहाँ बड़े-बड़े मन्दिर बने थे।

सुवर्णभूमि या बर्मा

सम्राट् अशोक ने इस देश में भी धर्मप्रचारकों को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये भेजा था। इसी समय से बर्मा का सम्बन्ध भारत से हुआ। भारत की लिपि एवं सभ्यता का प्रचार यहाँ पर भी हुआ। इस समय भी इस देश का प्रधान धर्म बौद्ध धर्म है। मिस्री भूगोलवेत्ता टालमी ने बर्मा के अनेक स्थलों के संस्कृत नाम देकर यह सिद्ध कर दिया कि बर्मा में भारतीयकरण उसके समय के पहले ही काफी प्रगति कर चुका था। वहाँ अनेक प्राचीन लेख, मूर्त्तियाँ मिले हैं जिसमें उत्तर और

भारत की लिपियाँ और हिन्दू तथा बौद्ध देवताओं की मूर्त्तियाँ मिली हैं। लिपि के आधार पर यह पता चलता है कि तीसरी सदी से दसवीं सदी तक संस्कृत और पालि साहित्य और भारतीय धर्म वर्मा में प्रचलित रहे।

स्याम

पहली दूसरी सदी या उसके पूर्व से ही भारतीय अधिकार यहाँ स्थापित हो चुका था। प्राचीन स्थानों की खुदाई से अनेक बौद्ध मूर्त्तियों की प्राप्ति हुई है, जिनकी कला गुप्त कला से प्रभावित है। पहले यहाँ महायान का प्रचार हुआ पर बाद में हीनयान सम्प्रदाय का भी प्रचार हुआ। यहाँ अब भी बौद्ध धर्म का प्राबल्य है तथा स्यामी भाषा, लिपि तथा संस्कृति पर हिन्दू छाप है।

बाली एवं बोर्नियो

यहाँ पर भी भारतीय उपनिवेश स्थापित किये गये। बाली में हिन्दू राज्य की स्थापना का इतिहास ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इतिहासकारों का ऐसा मत है कि सातवीं शताब्दी ई० में लगभग हिन्दू राज्य की स्थापना यहाँ हो गयी थी, जिनको बाद में जावा के राजा ने जीत लिया। १६वीं शताब्दी में जावा के हिन्दुओं ने मुसलमान-आक्रमणों के भय से बाली में शरण ली थी और वहाँ हिन्दू-राज्य स्थापित किया था जिसके प्रभाव से आज बाली अकेले हिन्दू-धर्म एवं संस्कृति का केन्द्र है। यहाँ का हिन्दू धर्म का ही एक प्रकार है और यहाँ पर मन्दिरों में देव-मूर्त्तियों की पूजा होती है जिनमें दुर्गा एवं शिव प्रमुख हैं। कर्मकाण्ड एवं पूजा पद्धति बिल्कुल हिन्दू है। इसमें जलपात्र, माला, कुश, तिल, घी, मधु, अक्षत, धूप, दीप, घण्टी और मन्त्रों का प्रयोग होता है। हिन्दू-संस्कारों का प्रभाव हमें जातियों, नामकरण, विवाह एवं अन्त्येष्टि क्रिया में मिलता है।

बोर्नियो में पहले असभ्य लोगों का वास था। यहाँ चौथी शताब्दी ई० में हिन्दू राज्य की स्थापना हुयी। कुटेई से प्राप्त चार अभिलेखों से ऐसा ज्ञात होता हैं कि मूलवर्मन नामक एक भारतीय राजा चौथी शताब्दी में शासन करता था जो दान देने में प्रवीण एवं परम भक्त था। वहाँ के उत्खनन से महादेव, नन्दी, गणेश, कार्त्तिकेय, अगस्त्य, ब्रह्मा एवं स्कन्द की मूर्त्तियाँ मिली हैं। बोर्नियो में प्राप्त खँडहरों एवं चीनी स्रोतों से यह निस्सन्देह सिद्ध होता है कि चौदहवीं शताब्दी तक यहाँ हिन्दू राज्य बने रहे तथा अन्त में जावा ने अपने अधीन कर लिया।

मलाया

दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों की भाँति प्राचीन काल में मलयद्वीप (मलाया) में भी भारतीयों ने अनेक उपनिवेशों की स्थापना की। ऐतिहासिक

किंवदन्तियों के आधार पर ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी में पाटलिपुत्र के एक राजकुमार ने समुद्र के मार्ग से मलाया में पहुँचकर वहाँ अपना उपनिवेश स्थापित कर लिया था। यह राजकुमार यहाँ मारोङ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कालान्तर में महापोसिव (महाबोधिसत्व) और श्री महावंश नामक राजाओं ने शासन किया। मारोङ द्वारा स्थापित इस भारतीय उपनिवेश—लंकाशुक के अतिरिक्त यहाँ पर दूसरे अन्य भारतीय राज्य भी थे। यहाँ भी ऐसे अनेक अवशेष मिले हैं जिनका भारतीय संस्कृति और धर्मों से अविच्छिन्न सम्बन्ध मालूम पड़ता है। आधुनिक गुनोङ जिरोई नामक स्थान के निकट सुइंगवत रियासत में अनेक पत्थर की मूर्तियाँ एवं एक हिन्दू मन्दिर के अवशेष मिले हैं। यहाँ के वेज्जली जिले में बौद्ध मन्दिरों के अनेक स्तम्भ मिले हैं जिनके उत्कीर्ण अक्षरों से यह स्पष्ट होता है कि इस मन्दिर का निर्माण लगभग चौथी या पाँचवीं शताब्दी में हुआ था। गरुड़ पर बैठे भगवान् विष्णु की भी मूर्त्ति मिली है जो एक स्वर्णाभूषण धारण किये हुए थी। सुंगइयत के पास चतुर्थ शताब्दी ई० में निर्मित एक बौद्ध मन्दिर के खण्डहर उपलब्ध हुये हैं। इनमें एक संस्कृत भाषा का शिलालेख विशेष उल्लेखनीय है।

इन उपर्युक्त भग्नावशेषों से इस बात की पुष्टि मिलती है कि प्राचीन काल में मलयद्वीप अथवा मलाया में भारतीय धर्म, भाषा, लिपि एवं संस्कृति का अत्यधिक प्रचार था।

यवद्वीप या जावा

लगभग दूसरी शताब्दी तक 'यवद्वीप' में भी भारतीय लोग स्थायी रूप से निवास करने लगे थे पर चीनी स्रोतों से यह पता लगता है कि भारतीय इससे भी पहले यहाँ पर आकर बस गये थे। पाँचवीं शताब्दी में जब चीनी यात्री फाह्यान भारत से वापस अपने देश जा रहा था, तो रास्ते में उसने यवद्वीप में विश्राम किया था। उसके यात्रा-विवरण से यह स्पष्ट होता है कि उसके साथ इस यात्रा में लगभग २०० व्यापारी सुवर्णभूमि में अपने व्यापार के लिये भारत से जलयान द्वारा गये थे। जावा में उसने पर्याप्त संख्या में ऐसे भारतीयों को देखा जो शैव धर्म के अनुयायी थे। इसी शताब्दी में कश्मीर के राजा संघानन्द के भिक्षुपुत्र गुणवर्मन ने लगभग ३२ वर्ष की अवस्था में लंका और सुवर्णभूमि की धर्म यात्रा की थी। उसने जावा की राजमहिषी को प्रभावित करके बौद्ध धर्म में दीक्षित कर लिया तथा अपने पुत्र को बौद्ध धर्म में दीक्षा दिलायी। गुणवर्मन उच्च श्रेणी का विद्वान भिक्षु था। यवद्वीप में अनेक शिला-लेख मिले हैं जो शुद्ध संस्कृत भाषा में है। इनमें चार लेख राजा पूर्णवर्मन के हैं जो पाँचवीं शताब्दी में उत्कीर्ण कराये गये थे। इसके पूर्वजों ने चन्द्रभागा नहर खुदवायी थी जो समुद्र से मिली हुयी थी। पूर्णवर्मन ने

भी गोमती नामक नहर खुदवायी थी। ये नाम गोमती एवं चन्द्रभागा उनके निर्माताओं के भारतीय एवं भारतीय संस्कृति के विशुद्ध प्रेमी होने की बात प्रमाणित करते हैं।

मलक्का

पन्द्रहवीं शताब्दी ई० के आरम्भ में यहाँ एक हिन्दू सामन्त ने जो जावा से भागकर आया था, हिन्दू राज्य की स्थापना की। थोड़े ही दिनों में यह एक शक्तिशाली राज्य बन गया और मलक्का व्यापारिक केन्द्र बन गया। पर इस वंश के दूसरे राजा ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया। इसका प्रभाव पड़ोस के राज्यों पर भी पड़ा।

सुवर्णद्वीप अथवा सुमात्रा

आजकल जिस प्रदेश को इण्डोनेसिया या हिन्द-पूर्वी द्वीप समूह कहा जाता है उसका प्राचीन नाम सुवर्णद्वीप है। प्राचीन काल में इसमें जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि टापुओं के अतिरिक्त मलाया प्रायद्वीप भी सम्मिलित था। सुवर्णद्वीप के ३०० टापुओं को दो प्रधान भागों में बाँटा जाता है :—(१) महासुन्दद्वीप—जिनमें जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, मदुरा और सेलिबीन के टापू आते हैं। (२) लघुसुन्द-द्वीप—इसमें बाली, लोम्बोक, टिमोर मोल्कश, न्यूगिनी का पश्चिमी भाग आता है। जावा का महत्त्व इस द्वीपसमूह में सबसे अधिक है क्योंकि उसका वर्णन रामायण में है। सुवर्णद्वीप की प्राचीन राजधानी श्रीविजय थी। कंपर नदी के किनारे इस राजधानी की स्थापना ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में हो चुकी थी। सप्तम शताब्दी में सुवर्णद्वीप के राजसिंहासन का स्वामी बौद्धधर्मावलम्बी जयनाग था जिसने ६८६ ई० में जावा द्वीप पर आक्रमण किया। इसी काल में यहाँ पर चीनी यात्री इत्सिंग ने सात वर्ष तक रहकर संस्कृत भाषा का अध्ययन किया था। उसके अनुसार सुवर्णद्वीप भारतीय धर्म, भाषा और संस्कृति का इतना सुविख्यात केन्द्र था कि भारत को आनेवाले चीनी यात्री पहले श्रीविजय में ही रहकर भारतीय धर्मों तथा संस्कृत भाषा का अध्ययन करते थे। यहाँ पर संस्कृत भाषा के अनेक लेख मिले हैं जो इस द्वीप के भारतीय नरेशों के ऐश्वर्यशाली जीवन पर विस्तृत प्रकाश डालते हैं। सातवीं शताब्दी में यहाँ शैलेन्द्र वंश के शासक थे।

शैलेन्द्रवंश

सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक शैलेन्द्रवंश के शासकों ने राज्य किया। इन राजाओं के पास एक विशेष जल-सेना थी जिसकी सहायता से इन्होंने जावा, बोर्नियो, बाली, सेलिबीज, फिलीपाइन्स, लंका तथा फारमोसा को विजय करके

अपने राज्य में मिला लिया। ग्यारहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत के चोलवंश के राजा राजेन्द्र चोल ने इस राज्य पर आक्रमण किया तथा चोल-शैलेन्द्र युद्ध लगभग १०० वर्षों तक बारी-बारी से जारी रहा। इसके बाद इस राज्य का पतन होने लगा। पन्द्रहवीं शताब्दी में यहाँ के राजा ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया।

आरम्भ में यहाँ वैष्णव एवं शैव धर्म का प्रचार था। पर सातवीं शताब्दी में यहाँ पर बौद्ध धर्म बड़ी तेजी से फैला। शैलेन्द्रवंश के राजा महायान बुद्ध धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने अनेक स्तूप, मन्दिर तथा बुद्ध की मूर्त्तियाँ बनवाईं। संस्कृत भाषा का काफी प्रचार था। शैलेन्द्रसम्राट् ने नालन्दा में तारादेवी का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया था। नालन्दा की खुदाई में बहुत-सी ऐसी मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं; जो जावा की कला-शैली में बनी हुयी है।

सिंहल द्वीप

लंका एवं भारत का सम्बन्ध भगवान् रामचन्द्र के समय से ही है। पर भारतीयों ने लंका में उपनिवेश की स्थापना छठी शताब्दी में काठियावाड़ के राजकुमार विजय के द्वारा की थी। सम्राट् अशोक ने अपने पुत्र एवं पुत्री को वहाँ भेजकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इस धर्म के प्रचार के बाद पालि भाषा तथा ब्राह्मी लिपि का ज्ञान प्राप्त किया।

भारतवासियों ने जो अपने उपनिवेश स्थापित किये, वहाँ पर भारतीय धर्म; साहित्य, कला और सामाजिक रीति-रिवाज खूब फैले। जावा, बोर्नियो, अनाम, कम्बोडिया, मलाया आदि द्वीपों के निवासी भारतीय साहित्य, धर्म और राजनैतिक तथा सामाजिक संस्थाओं से काफी प्रभावित थे। उनके लेखों से ही इनका प्रमाण मिल जाता है। चम्पा और फूनान के लेखों से भी यह पता चलता है कि यहाँ के लोग भारतवर्ष की पौराणिक कथाओं से खूब परिचित थे। इसी प्रकार पश्चिमी जावा में भी कुछ ऐसे अभिलेख मिले हैं जिनसे यह पता चलता है कि यहाँ के निवासी भारतीय संस्कृति से बहुत प्रभावित थे। यहाँ की कुछ नदियों के नाम जैसे गोमती, चन्द्रभागा आदि बिल्कुल भारतीय हैं। बोर्नियो एवं मलाया द्वीप में भारतीय धर्म का प्रभाव काफी मात्रा में देखने को मिला है। कुछ भारतीय देवताओं की मूर्त्तियाँ बोर्नियो एवं मलाया में मिली हैं। मूर्त्तियों के साथ जो अस्त्र-शस्त्र भारत में देखने को मिलते हैं, वही यहाँ भी देखने को मिले हैं। यहाँ भी शिवजी के साथ में त्रिशूल और विष्णु के हाथ में चक्र, शंख, गदा तथा पद्म दिखाया गया है। ब्राह्मण धर्म के साथ-साथ यहाँ बौद्ध धर्म का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है।

इन उपनिवेशों में भारतीय कला भी देखने को मिलती है। जावा के प्रसिद्ध बोरो बोदुर के स्थापत्य चित्रों में महात्मा गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित घटनायें चित्रित हैं। यह पूर्णरूपेण भारतीय कला का प्रभाव ही है। जावा के सामाजिक जीवन पर भी भारतीय प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। उनकी शासन पद्धति भी हमारे देश से प्रभावित थी। चम्पा के नृत्य तथा संगीत पर भी भारतीय प्रभाव पड़ा है। यहाँ संस्कृत भाषा का काफी प्रचार था तथा चम्पा की राज-भाषा थी।

कम्बोडिया की कला पर भी भारतीय कला का प्रभाव पड़ा है। यहाँ का सुप्रसिद्ध मन्दिर अंगकोरवाट भारतीय मन्दिरों में से काफी मिलता जुलता है। स्थापत्य चित्रों पर भारतीय प्रभाव और भी अधिक पड़ा है। ऐसा कहा जाता है कि यहाँ की अनेक मूर्त्तियों का निर्माण भारतीय कलाकारों ने ही किया था। कलिंग निवासियों ने मलाया और उसके समस्त द्वीपों में भारतीय सभ्यता का प्रसार किया था। सुमात्रा बौद्ध धर्म का प्रधान केन्द्र बन गया था। यहाँ लगभग १००० बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। मलाया के सभी लेख संस्कृत भाषा में है।

बृहत्तर भारत के संक्षिप्त इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मातृभूमि भारत ने इन राज्यों पर अपनी राजनीतिक प्रभुता नहीं स्थापित की। ये देश कभी भी भारत से शासित नहीं हुये और न भारत के खजाने भरने के लिये इनका आर्थिक शोषण होता था। चोलों के एकमात्र विजय को छोड़कर कभी भी भारत के किसी राज्य ने दक्षिण-पूर्व एशिया के भारतीय निवासियों द्वारा स्थापित राज्यों के स्वामी होने का दावा नहीं किया। भारत ने इग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी की भाँति औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित नहीं किया। भारत के साहसी पुत्रों ने, व्यापारी और धर्म प्रचारकों ने दूर-दूर देशों में जाकर अपने धर्म और संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार किया। इनका सम्बन्ध इन देशों से केवल सांस्कृतिक और धार्मिक ही रहा। एक और महत्त्व की बात यह थी कि जो भारतीय इन देशों में गये वे वहाँ के निवासियों से अलग नहीं रहे और शादी-ब्याह रचाकर उनसे घुल मिल गये।





सहायक ग्रन्थों की सूची

(क) मौलिक ग्रन्थ

कामन्दक नीतिसार
पाणिनि अष्टाध्यायी
वायुपुराण
महाभारत
महावंस
रामायण
राजतरंगिणी
हर्षचरित

(ख) विदेशी यात्रियों तथा लेखकों के विवरण

अलबेरूनी—(किताब-उल-हिन्द, इ० सी० सखाउ का अंग्रेजी अनुवाद अलबेरूनी इण्डिया, लंडन, १९१४)
इत्सिग —(जे तकाकसु का अनुवाद, ऑक्सफोर्ड, १८९६)
तारानाथ—(एफ० ए० वॉन शेफनर का अनुवाद, सेंटपीटर्सबर्ग, १९६९)
फाहियान—(लेगे का अनुवाद, ऑक्सफोर्ड, १८८६)
मेगास्थनीज और एरियन—(ऐनसियन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगास्थनीज ऐण्ड एरियन, मैकिंडल, जे डब्ल्यू, कलकत्ता)
ह्वेनसांग—(वाटर्स युवान च्वांग, ट्रैवेल्स इन इण्डिया, लण्डन, १८०४–१८०५

(ग) मुद्राएँ

ऐलन, जे० —ब्रिटिश म्युजियम मुद्रासूची, गुप्तवंश
अल्तेकर, अ० स०—गुप्त मुद्राएँ
—क्वायनेज ऑव गुप्त इम्पायर
उपाध्याय, वासुदेव—भारतीय सिक्के
कनिंघम, ऐ० —क्वायन्स ऑव ऐनसियन्ट इण्डिया
स्मिथ, वी० ए० —इण्डियन म्युजियम कैटलॉग
शरण, एम० के० —ट्राइबल क्वायन्स-ए स्टडी, न्यू दिल्ली, १९७२

(घ) आधुनिक ग्रन्थ

अल्तेकर, अ० स० —राष्ट्रकूट ऐण्ड देयर टाइम्स

अग्रवाल, वा० श० —इण्डिया ऐज नोन टू पाणिनी, लखनऊ
—स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, वाराणसी, १९५३
—पाणिनीकालीन भारतवर्ष, इलाहाबाद

आयंगर, एस० के० —दि बिगनिंग्स ऑव साउथ इण्डियन हिस्ट्री,
ऐनसियन्ट इण्डिया, भाग १–२ पूना, १९४१

आयंगर —स्टडीज इन गुप्त हिस्ट्री,
ऐनसियन्ट हिस्ट्री ऑव डक्कन

उपाध्याय, वासुदेव —गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग १–२, इलाहाबाद
—गुप्त अभिलेख, पटना

उपाध्याय, भगवत शरण —प्राचीन भारत, पटना

ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद

कस्तूरिया, सत्यनारायण —सम्राट् हर्षवर्धन, वाराणसी

कृष्णराव, बी० वी० —ए हिस्ट्री ऑव द अर्ली डाइनेस्टिज ऑव
आन्ध्रप्रदेश, मद्रास, १९४२
साउथ इण्डियन इन्सक्रिपसन्स

गुप्त, पी० एल० —गुप्तसाम्राज्य, वाराणसी

गुप्ता, एस० सी० —प्राचीन भारत, मेरठ

गुप्ते, वाई० आर० —हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज

गांगुली, डी० सी० —दि ईस्टर्न चालुक्याज, वाराणसी, १९३७

चटर्जी, गौरीशंकर —हर्षवर्धन, इलाहाबाद, १९३८

चटर्जी, एस० के० —ओरिजिन ऐण्ड डेयलपमेंट ऑव बँगाली
सिविलिजेसन

चट्टोपाध्याय, एस० —अर्ली हिस्ट्री ऑव नौर्थ इण्डिया

चौधरी, राधाकृष्ण —प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक
इतिहास, पटना, १९७४

जायसवाल, के० पी० —इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया

ठाकुर, उपेन्द्र हूणाज इन इण्डिया, वाराणसी, १९६८
—Some Aspects of Ancient Indian
History and Culture, New Delli, 1974

डुबेल —ऐनसियन्ट हिस्ट्री ऑव डेक्कन

त्रिपाठी, आर० एस० —हिस्ट्री ऑव कन्नौज, वाराणसी
—हिस्ट्री ऑव ऐनसियन्ट इण्डिया, दिल्ली
—प्राचीन भारत का इतिहास
थापर, रोमिला —A History of India
दण्डेकर, आर० एन० —ए हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज
नाहर, रतिभानु सिंह —प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद, १९६७
पणिक्कर, के० एम० —ए सर्वे ऑव इण्डियन हिस्ट्री, भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण, बम्बई, १९५७
पुरी, बी० एन० —The Gurjara Pratihāra
पाण्डेय, चन्द्रभान आंध्र सातवाहन
पाण्डेय, राजवली —प्राचीन भारत, वाराणसी, १९६८
पाण्डेय, विनोदचन्द्र —प्राचीन भारत का इतिहास
पाण्डेय, विमलचन्द्र —प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद, १९७९
पाण्डेय, श्री नेत्र —भारत का बृहत् इतिहास, प्रयाग
फ्लीट, जे० एफ० —कॉरपस इन्सक्रीपसनम इण्डिकेरम, खण्ड-३ गुप्त इन्सक्रीपसन्स, वाराणसी, १९६३
बनर्जी —हैहयाज ऑव त्रिपुरी
बनर्जी, आर० डी० —दि एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, वाराणसी, १९३३
बरुआ, क० ल० —अर्ली हिस्ट्री ऑव कामरूप
बसाक, आर० जी० —हिस्ट्री ऑव नोर्थ ईस्टर्न इण्डिया, कलकत्ता, १९३४
बोस, एन० एस० —दि चण्डेलाज
बुद्धप्रकाश —स्टडीज इन इण्डियन :हिस्ट्री ऐण्ड सिविलीजेसन
भण्डारकर, आर० जी० —अर्ली हिस्ट्री ऑव द डेक्कन, कलकत्ता, १९२८
भण्डारकर, डी० आर० —डेकन ऑव द सातवाहन पिरियड
भाटिया, पी० —History of the Gurjara Pratihara.
मजूमदार, आर० सी० —प्राचीन भारत, दिल्ली, १९६२
क्लासिकल एज, बम्बई, १९६३

मजूमदार, आर० सी०
एवं
अल्तेकर, ए० एस —वाकाटक-गुप्त एज, दिल्ली, १९६०

मजूमदार, आर० सी०, राय चौधरी, एच० सी०
एवं दत्त, के० के० —ऐन ऐड वाँस्ड हिस्ट्री आँव इण्डिया, लण्डन, १९६३

मित्र, एस० के० —अर्ली रूलर्स आँव खजुराहो

मिराशी, वी० वी० —दि पाण्ड्य किंगडम

मुकर्जी, आर० के० —दि गुप्त इम्पायर, बम्बई, १९४८
—हर्ष

रमनप्पा, एम० एन० वेंकट —Qutline of South Indian History, Dilhi, 1975.

रायचौधरी, एच० सी० —पौलिटीकल हिस्ट्री आँव ऐनसियन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९५३
प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास (हिन्दी संस्करण), इलाहाबाद, १९७१

राय, एच० सी० —डाइनेस्टिक हिस्ट्री आँव नौदर्न इण्डिया, भाग १–२, कलकत्ता।

लेगे —रेकर्ड आँव द बुद्धिस्ट किंगडम

L. Petech —Medieval History of Nepal.

विद्यालंकार, जयचन्द्र —भारतीय इतिहास की रूपरेखा

विग्स, फिरिश्ता —हिस्ट्री आँव द राइज आँव द मोहम्मडन पावर

वैद्य, सी० वी० —एपिक इण्डिया, बम्बई, १९०७
—हिस्ट्री आँव मेडियवल हिन्दू इण्डिया, पूना, १९२४
—डाउनफोल आँव हिन्दू इण्डिया

शरण, महेश कुमार —स्टडीज इन संस्कृत इन्स्क्रीपसन्स आँव ऐनसियन्ट कम्बोडिया, नई दिल्ली, १९७४
भगवद्गीता ऐण्ड हिन्दू सोसीओलोजी, दिल्ली, १९७७

शामशास्त्री अर्थशास्त्र का हिन्दी अनुवाद

शास्त्री, के० ए० एन० —हिस्ट्री ऑव श्रीविजय, मद्रास, १९४९
दक्षिण भारत का इतिहास, पटना, १९७२

संकालिया, एच० डी० —दि युनिवर्सिटी ऑव नालन्दा, मद्रास, १९३४

सैलेटोर, आर० एन० —लाइफ इन द गुप्त राज, बम्बई, १९४३

सार्थिय नाथियर —स्टडीज इन द ऐनसियन्ट हिस्ट्री आव टोण्डमण्डलम

सिन्हा, बी० पी० दि डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध

सिन्हा, बी० पी० एवं सहाय, शिवस्वरूप —प्राचीन भारत का इतिहास, वाराणसी, १९६६

स्मिथ, बी० ए० —अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया

सिलवाँ, लेवी —मेगनेज चार्ल्स द हार्ल्स ऑक्सफोर्ड, १९२४

शोधपत्र

ऐनल भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इन्सटीच्युट
आर्केलौजिकल सर्वे ऑव इण्डिया रिपोर्ट
इण्डियन ऐन्टिक्वरी
इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली
इण्डियन म्युजियम कैटलग
एपिग्राफिया इण्डिका
एशियाटिक रिसर्चेज
कलकत्ता रिम्यु
जर्नल एशियाटिक सोसायटी ऑव बेंगाल
जर्नल ऑव द मिथिक सोसायटी
जर्नल बिहार ऐण्ड ओरिसा रिसर्च सोसायटी
जर्नल न्युमिसमेटिक सोसायटी ऑव इण्डिया
जर्नल न्युमिसमैटिक क्रौनिकल
जर्नल रॉयल एशियाटिक सोसायटी
जर्नल इण्डियन हिस्ट्री
बुलेटिन स्कूल ऑव ओरियंटल स्टडीज
बी० सी० लॉ वॉल्युम

मालवीय कौमेमोरेसन वॉल्युम
मागधी
डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, बिजिगापट्टम
डेकन कॉलेज बुलेटिन
हिन्दुस्तान रिम्यु



डॉ



१

की

भा

स्थ

पर

से

को

कॉ

in

va

A

((

म

दे

वि